वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय

-पण्डित शिवशङ्कर काव्यतीर्थ

ओ३म्

वेदतत्त्व-प्रकाश

वैदिक-इतिहासार्थ-निर्णय

लेखक :

पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

प्रकाशक :

सत्यधर्म प्रकाशन

चलभाष : ०९८१२५-६०२३३

प्रकाशक : **सत्यधर्म प्रकाशन**
चलभाष : ०९८१२५-६०२३३

प्राप्ति-स्थान : गुरुकुल भैयापुर लाढ़ौत, रोहतक (हरयाणा)

संस्करण : प्रथम, २०१० ई०

मूल्य : ३००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : **१. हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल, झज्जर-१२४१०३ (हरयाणा)
२. आर्यसमाज मन्दिर, काकरिया
रायेपुर दरवाजे से बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)
३. कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा
जिला ज्योतिनगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश
४. आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा,
अहमदाबाद (गुजरात)
५. दयानन्दमठ दीनानगर, जिला गुरदासपुर (पंजाब)
चलभाष : ०९४१७३-३६६७३

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

प्रकाशकीय

वैदिक काल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त भारतीय साहित्य-परम्परा वेदों को ईश्वरकृत मानती रही है और अब भी मानती है। उसके अनुसार—बिना ज्ञान प्राप्त किये मनुष्य का बौद्धिक विकास नहीं हो सकता, अतः सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने चार वेदों के माध्यम से चार वेदों का ज्ञान चार ऋषियों के अन्तःकरण में उद्भावित किया जिससे मनुष्य समाज में ज्ञान-विषयक उन्नति प्रारम्भ हुई।

भारतीय परम्परा की इस आस्था पर पाश्चात्य लेखकों ने कुठाराघात किया और व्यापक स्तर पर यह प्रचार किया कि वेद ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थ हैं और उनके साथ ईश्वरीय कृतित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। पाश्चात्यों ने इस प्रकार के लेखन के द्वारा जहाँ भारतीयों की वेदविषयक धारणाओं को मिटाने का प्रयत्न किया वहाँ दुरभिसन्धि करके वेदों के विषय में अनेक अन्य भ्रान्तियाँ भी प्रसारित कर दीं जिनमें वेदों में मानवीय इतिहास की स्थापना एक प्रमुख भ्रान्ति है।

लेखक ने इस विशाल ग्रन्थ में पाश्चात्यों द्वारा स्थापित भ्रान्तियों का सप्रमाण विद्वत्तापूर्ण निराकरण किया है और यह सिद्ध किया है कि वेदों में मानवीय इतिहास एवं भूगोल नहीं है। उन्होंने तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर यह दर्शाया है कि वेदों में कहीं भी जात-पात, मूर्ति पूजा, तीर्थाटन, सती प्रथा, पशु बलि, अवतारवाद, अनेकेश्वरवाद, षोड़शोपचार एवं नवग्रहादि की पूजा का विधान नहीं है। सायणादि द्वारा वेदों का जो घृणित एवं अश्लील अर्थ किया गया है उसकी भी महर्षि दयानन्द जी महाराज की मान्यता के आधार पर पं० जी ने सूक्तों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

वेदों का स्वाध्याय करने वाले व्यक्तियों, शोधकर्त्ताओं और विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है।

इसी भावना से इसका पुनः प्रकाशन किया गया है। पाठकों के लिए इसके स्वाध्याय का स्वर्ण अवसर है जिसका लाभ उठाया जाना चाहिए।

—आचार्य सत्यानन्द नैष्ठिक

विषय-सूची

विषय	पृ०सं०

ओं तत्सत्।

भूमिका

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना। ३१॥
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्। ३२॥

ऋग्वेद मण्डल ९। सूक्त ६७।

(ऋषिभिः) ब्रह्मवित्, ब्रह्मान्वेषणतत्पर, वेदविद्यामहत्वदर्शी, आत्मसंयमी, आत्मरत, आत्मक्रीड़, शान्त, जितेन्द्रिय, उद्यमी, निरालस्य, शान्तचित्त, परमोदारबुद्धि, समाधिसिद्ध, मितभाषी, निरन्तरमननशील, बोद्धा, प्रतिभाशाली, विविधगवेषणातत्पर, ऐसे-ऐसे अनेक सात्विक गुणों से युक्त ऋषियों के साथ निवास कर और ब्रह्मचर्यव्रतोपेत हो उन्हीं ऋषियों से (यः) जो कोई मङ्गलाभिलाषी जन (पावमानीः+अध्येति) परम-पवित्रा, पवित्र-कारिणी, परमस्वादु ऋचाओं का अध्ययन करता रहता है और (संभृतम्+रसम्) स्वयं परमात्मा से ऋचा २ में स्थापित रस का स्वाद लेता है (सः) वह (मातरिश्वना+स्वदितम्) स्वयं सर्वव्यापी ब्रह्म से स्वादित वैदिक विज्ञान का स्वाद लेता हुआ, मानो (सर्वम्+पूतम् अश्नाति) पृथिवी पर के सकल पवित्र पदार्थों का स्वाद लेता है। क्योंकि सर्व-स्वादों से ऋचाएँ पूर्ण हैं। ३१॥

(यः+ऋषिभिः पावमानीः+अध्येति) जो कोई ऋषियों के साथ निवास कर पवित्रकारिणी ऋचाओं का अध्ययन करता है और (संभृतम्+रसम्) उनमें स्थापित रस को पीता (तस्मै) उस अध्येता ब्रह्मचारी के लिए (सरस्वती) स्वयं वेद वाणी (क्षीरम्+सर्पिः+मधु+उदकम) क्षीर, घृत और अन्यान्य मधुर पदार्थ और मधुर जल अर्थात् अमृतरूप जल को (दुहे) दुहती है। अर्थात् वेद वाणी स्वयं उस पाठक पुरुष को विविध दुग्ध, घृत मधुर प्रभृति लौकिक पदार्थ दे परलोक में अमृत (मोक्ष) देती है। ३२॥

अतः मनुष्य मात्र को वेदाध्ययन सर्वथा करना चाहिये। यह शिक्षा वेदभगवान् दे रहे है।

ऋचाओं की गणना

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार वेद हैं। प्राचीन ऋषि मुनि,

वेदों को श्रुति, अनुश्रव, ऋषि, प्रत्यक्ष आम्नाय, समाम्नाय, आगम, निगम, छन्द, मन्त्र, त्रयी, स्वाध्याय इत्यादि नामों से जानते, जनाते, कहते, कहाते, सुनते, सुनाते चले आए हैं। आजकल के समय में बहुत-से नर नारियाँ वेद नाम ही सुन कर अनुमान करते हैं कि वेदों में कोटियों, अरबों, खर्बों, श्लोक होंगे। इस युग में अल्पायु होने के कारण चारों वेदों का सम्पूर्ण जीवन लगा के भी एक बार पाठ कोई नहीं कर सकता। ऐसा बोध केवल उन अपठित स्त्रियों और पुरुषों में ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक और पुराणपाठी आदि विद्वान् भी ऐसा ही समझते हैं। क्योंकि दुर्योगवश आज तक सहस्त्रों ग्रामीण अथवा बहुधा नागरिक विद्वानों को भी चारों वेदों का दर्शन तक भी नहीं हुआ है। मैं देखता हूँ कि ''वेद कितने हैं'' इस विषय में कृतविध पुरुष भी केवल आनुमानिक समयघातक व्यर्थ घोर संग्राम करते रहते हैं। यदि ये स्वयं आँखों से वेदों को देख लेते तो पुन: ऐसे व्यर्थ विवाद में निज समय कभी भी नष्ट नहीं करते। इस कारण मैं प्रथम वेदों का आकार बतलाना चाहता हूँ। चारों वेद मिल के वाल्मीकीय रामायण से अधिक नहीं हैं। अर्थात् चारों वेदों में २४००० श्लोक अथवा २४०००×३२=७६८००० अक्षरों से अधिक नहीं। चारों वेदों में ऋग्वेद बृहत् है और साम, लघु। मैं इसका लेखा यहाँ बतलाता हूँ। ऋग्वेद में १० मण्डल हैं। दशों मण्डलों में सूक्त १०२८ एक सहस्त्र अट्‌ठाईस हैं। इन सूक्तों में १०४०२ दस सहस्त्र, चार सौ दो ऋचाएँ हैं। इन ऋचाओं में १५३८२६ एक लक्ष तिरपन्न सहस्त्र, आठ सौ, छब्बीस, पद हैं। और इनमें ४३२००० चार लक्ष, बत्तीस सहस्त्र अक्षर हैं। अब यदि ४३२००० को ३२ से भाग दे लेवें तो अनुष्टुप् छन्द की संख्याएँ निकल आवेंगी क्योंकि ३२ अक्षरों का एक अनुष्टुप् श्लोक कहलाता है। ४३२००० भाग ३२=१३५००। अर्थात् सम्पूर्ण ऋग्वेद प्राय: १३५०० तेरह सहस्त्र पाँच सौ श्लोक के बराबर है। वाल्मीकीय रामायण के आधे से कुछ अधिक। वाल्मीकि रामायण में २४००० श्लोक हैं।

ऋग्वेद का पता दो प्रकार से लिखा जाता है एक तो मण्डल, सूक्त और ऋचा। इस क्रम से पता लिखने में बहुत सुविधा होती है। मैंने सम्पूर्ण ग्रन्थ में यही क्रम रखा है। कभी-कभी मण्डल, अनुवाक्, सूक्त, ऋचा इस क्रम से भी लिखते हैं। परन्तु अनुवाक् न रहे तो कोई क्षति नहीं। दूसरा-अष्टक, अध्याय और वर्ग ऐसा भी क्रम रखते हैं। इस क्रम से ऋग्वेद में अष्टक ८ आठ हैं, अध्याय ६४ चौसठ हैं। जिसमें आठ अध्याय हों वह अष्टक। अनुवाक् ७५ हैं। वर्ग की गणना नहीं की है। दोनों प्रकार के हिसाब से ऋचाओं, सूक्तों, पदों

और अक्षरों की संख्या में कोई भेद नहीं होता

मण्डल	अनुवाक	सूक्त	मण्डल	अनुवाक	सूक्त
१	२४	१९१	७	६	१०४
२	४	४३	८	१०	१०३
३	५	६२	९	७	११४
४	५	५८	१०	२२	१९१
५	६	८७		—	—
६	६	७५		९५	१०२८

ऋग्वेद में छन्दों की संख्याएँ इस प्रकार हैं।

छन्दों के नाम	संख्या	छन्दों के नाम	संख्या
१-गायत्री छन्द	२, ४५१	१२-अत्यष्टि छन्द	८४
२-उष्णिक् छन्द	३४१	१३-धृति छन्द	२
३-अनुष्टुप् छन्द	८५५	१४-अतिधृति छन्द	१
४-बृहती छन्द	१८१	१५-एकपदा छन्द	६
५-पंक्ति छन्द	३१२	१६-द्विपदा छन्द	१७
६-त्रिष्टुप् छन्द	४, २५३	१७-प्रगाथ बार्हत , ,	३८८
७-जगती छन्द	१, ३४८	१८-प्रगाथ ककुभ् , ,	११०
८-अतिजगती छन्द	१७	१९-महाबार्हत , ,	२
९-शक्करी छन्द	१९		——
१०-अतिशक्करी, ,	७		१०४०२
११-अष्टि , ,	६		

इस हिसाब से भी दश सहस्र चार सौ दो ऋचाएँ होती हैं। ऋचा आदि का हिसाब बृहदेवता और चरणव्यूह आदिक ग्रन्थों में भी है। परन्तु ग्रन्थ शुद्ध न छपने के कारण बहुत अशुद्ध प्रतीत होता है।

शौनकाचार्य कृत अनुवाकानुक्रमणी के ऋचादि सम्बन्धी ३८ से ४५ तक श्लोक अशुद्ध प्रतीत होते हैं। बहुत यह भी कहते हैं कि ये श्लोक किसी प्रति में मिलते, किसी में नहीं। अतः ये शौनककृत नहीं। ऋचा के सम्बन्ध में यह श्लोक है।

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च-

ऋचामशीतिः पादञ्च पारणं संप्रकीर्तितम्। अनुः ४३।

इस हिसाब से १०, ५८० ऋचाएँ होती हैं। परन्तु यह हिसाब स्वयं इनके ग्रन्थ से और सर्वानुक्रमणी आदि से अशुद्ध ठहरता है। अतः ये सब श्लोक अन्यकृत हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सामवेद—सामवेद में १५४९ पंद्रह सौ उन्नचास ऋचाएँ है। इन में से ७८ अठत्तर ऋचाओं को छोड़ अन्य सब ही ऋचाएँ ऋग्वेद में पाई जाती हैं। अतः सामवेद ऋग्वेद के अन्तर्गत ही समझा जाता है। अतः सामवेद को गणना के अनुसार ऋग्वेद ही समझना चाहिये। वही ऋचा जब गाई जाती है तब साम नाम से पुकारी जाती है।

यजुर्वेद—इस में ४० अध्याय हैं। इनमें १९७४ एक सहस्र नौ सौ और चौहत्तर कण्डिकाएँ और ऋचाएँ हैं प्रायः अर्धभाग ऋग्वेद के ही अन्तर्गत है। अतः ऋग्वेदीय मन्त्र यदि पृथक् कर दिए जावें तो यह अर्ध ही रह जायेगा।

अथर्ववेद—इस में २० बीस काण्ड हैं। सब काण्डों की सूक्त संख्या ७६० और इन में करीब ६००० छह सहस्र ऋचाएँ हैं। इन में भी ऋग्वेदीय ऋचाएँ बहुत हैं।

इस प्रकार यदि गणना कर देखते हैं तो चारों वेद वाल्मीकीय रामायण से अधिक नहीं हैं। इतने वेदों का अध्ययन अध्यापन भारतवासियों से अब नहीं हो सकता। कैसी शोकजनक वार्ता है। जिनके अधीन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं। इतना ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य, ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ से लेकर पुराण पर्यन्त वेदों से सम्बन्ध रखते हैं। इतना ही नहीं इससे भी अधिक। समस्त धार्मिक ग्रन्थों का मर्म और भाषाओं का तत्व वेदों के बिना ज्ञात नहीं हो सकता। भारतवर्ष में ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देवों की ही पूजा प्रधान है। वेदों के बिना इन तीनों के वास्तविक रूप का बोध हो ही नहीं सकता। शोक की बात है कि ऐसे परमोपयोगी मुक्ति प्रद वेदों का निरादर भारतवासी कर रहे हैं। यही भारत का सर्वस्व है इसकी रक्षा करना सब का परम धर्म है। वेद पढ़ने से विदित हो जाता है कि किस प्रकार भारतवासी काल्पनिक देव, इतिहास, पुराण प्रभृति-रूप महा समुद्र के तरंग में आन्दोलित हो रहे हैं। आह कैसी ईश्वर की महान् महिमा है। कैसी विचित्र मानव बुद्धि बनाई है। मिथ्या प्रवाह में बहते हुए को भी मिथ्या प्रतीत नहीं होती।

वैदिक देवताओं की संख्या

केवल ऋग्वेद में कितने देवों की चर्चा आई है उनके नाम नीचे लिखता हूँ। क्रमशः प्रथम सूक्त से देवताओं के नाम लिखे गये हैं यदि वही नाम

पुनः-पुनः आया है तो वह नहीं लिखा गया अर्थात् एक अग्नि पचासों सूक्त का देवता है। परन्तु नाम एक ही स्थान में लिखा गया है-

देवताओं के नाम

१. अग्नि २. वायु ३. इन्द्रवायु ४. इन्द्रावरुणौ ५. अश्विनौ ६. इन्द्र ७. विश्वेदेवाः ८. सरस्वती ९. मरुत् १०. इध्म ११. तनूनपात् १२. नराशंस १३. इड १४. बर्हि १५. देवीर्द्वार १६. उषासानक्ता १७. प्रचेतसौ १८. इला १९. भरती २०. त्वष्टा २१. वनस्पति २२. स्वाहाकृति २३. ऋतु २४. द्रविणोदा २५. ब्रह्मणस्पति २६. सोम २७. बृहस्पति २८. दक्षिणा २९. सदसस्पति ३०. नाराशंस ३१. ऋभु ३२. इन्द्राग्नी ३३. सविता ३४. देवी ३५. इन्द्राणी ३६. वरुणानी ३७. अग्नायी ३८. द्यावापृथिव्यौ ३९. पृथिवी ४०. विष्णु ४१. पूषा ४२. आपः ४३. प्रजापति ४४. भग ४५. वरुण ४६. यज्ञ ४७. उषा ४८. रात्रि ४९. अर्यमा ५०. आदित्य ५१. पूषा ५२. रुद्र ५३. सूर्य ५४. वैश्वानर ५५. अग्नीषोमौ ५६. दम्पती ५७. भावयव्य ५८. रोमशा ५९. मित्रावरुणौ ६०. वाक् ६१. शकधूम ६२. काल ६३. साध्य ६४. पर्जन्य ६५. सरस्वान् ६६. ओषधि ६७. आप्री ६८. अबोषधिसूर्या ६९. राका ७०. सिनीवाली ७१. अपान्नपात् ७२. कपिञ्जल ७३. यूप ७४. नदी ७५. इन्द्रापर्वतौ ७६. वाक् ७७. रक्षोहा अग्नि ७८. सोमक ७९. अदिति ८०. वामदेव ८१. दधिक्रा ८२. त्रसदस्यु ८३. इन्द्राबृहस्पती ८४. क्षेत्रपति ८५. शुन ८६. शुनासीरौ ८७. गौ ८८. घृत ८९. उशना ९०. अत्रि ९१. देवपत्नी ९२.वृवुतक्षा ९३. प्रस्तोक ९४. रथ ९५. दुन्दुभि ९६. पृश्नि ९७. इन्द्राविष्णू ९८. इन्द्रासोमौ ९९. सोमारुद्रौ १००. मनुष्य १०१. वर्म्म १०२. धनु १०३. ज्या १०४. अर्त्नी १०५. इषुधि १०६. सारथि १०७. रश्मि १०८. अश्व १०९. रथगोप ११०. इषु १११. प्रतोद ११२. हस्तघ्न ११३. कवच ११४. सुदास का दानस्तुति ११५. वसिष्ठ ११६. शक्ति ११७. वाजी ११८. वास्तोष्पति ११९. इन्द्राब्रह्मणस्पतौ १२०. मण्डूक १२१. ग्रावा १२२. आसङ्ग की दान स्तुति १२३. विभिन्दु की दान० १२४. पाकस्थामा की दान० १२५. कुरुङ्ग की दान० १२६ चैद्य कशु की दान० १२७. तिरिन्दिर पारशब्य की दान० १२८. वात १२९. त्रसदस्यु की दान० १३०. चित्र की दान० १३१. वरुसौषामा की दान० १३२. यजमान १३३. यजमान-पत्नी १३४. पृथुश्रवा कानीन की दान० १३५. प्रस्कण्व की दान० १३६. ऋत्विज् १३७. ऋक्ष की दान० १३८. अश्वमेध की दान० १३९. श्रुतर्वा आर्क्ष्य की दान० १४०. पवमान १४१. सोमपवमान १४२. अध्येतृस्तुति १४३. यम १४४. यमी १४५. हविर्धाने १४६. पितरः १४७. श्वानौ १४८. सरण्यू १४९. मृत्यु १५०. धाता १५१. पितृमेध १५२.

वसुक्र १५३. कुरुश्रवणत्रासदस्यव की दानस्तुति १५४. उपमश्रव १५५. कृषि-प्रशंसा १५६. अक्षकितवनिन्दा १५७. सूर्य १५८. इन्द्र बैकुण्ठ १५९. निर्ऋति १६०. असुनीति १६१. मनआवर्तन १६२. असमाति १६३. जीविताह्वान १६४. सावर्णि का दान स्तुति १६५. पथ्यास्वति १६६. ज्ञान १६७. विश्वकर्मा १६८. मन्यु १६९. सूर्य्याविवाह १७०. सीर्माकौ १७१. मन्त्र १७२. वधूवासः स्पर्श निन्दा १७३. यक्षनाशिनी दम्पन्त्योः निन्दा १७४. इन्द्राणी १७५. वृषाकपि १७६. पुरुष १७७. उर्वशी १७८. पुरूरवा १७९. हरिस्तुति १८०. ओषधि १८१. द्रुघण १८२. अप्वा १८३. पणि १८४. सरमा देवशुनी १८५. दानस्तुति १८६. इन्द्रलव १८७. क १८८. वेन १८९. रात्रि १९०. भाववृत्त (सृष्टि) १९१. सप्तकेशी १९२. सपत्नी-बाधन १९३. अरण्यानी १९४. श्रद्धा १९५. अलक्ष्मी १९६. शची पौलोमी १९७. राजयक्ष्मघ्न १९८. गर्भस्रावे प्रायश्चित्त १९९. यक्ष्मघ्न २००. दुःस्वप्नघ्न २०१. प्रायश्चित्त २०२. सपत्नघ्न २०३. राजस्तुति २०४. मायाभेद २०५. तार्क्ष्य २०६. होत्राशी २०७. गर्भार्थाशी २०८. सर्पराज्ञी २०९. संज्ञान।

जिस नाम से जिस विषय को वेद वर्णन करते हैं वही नाम उसका देवता कहलाता है। जहाँ अग्नि नाम से अग्नि वा परमात्मा का वर्णन करते वहाँ अग्नि देवता। जहाँ वैश्वानर नाम से वैश्वानर देवता। एवं जहाँ दम्पती, दान आदि नाम से तत्तत् विषय का वर्णन करते वहाँ दम्पति और दान आदि देवता हैं। इस प्रकार रथ, मण्डूक, ऋतु, नदी, दान, स्त्री, पुरुष, ज्ञान, विज्ञान, सूर्य, चन्द्र, जीवात्मा, परमात्मा सब ही देवता इस नाम से पुकारे जाते हैं। अर्थात् सब पदार्थ का एक नाम ही देवता है। यहाँ मैं कात्यायन, शौनक, यास्क, आदिकों का सिद्धान्त संक्षेप से लिखता हूँ। सब पदार्थों की स्थिति तीन ही स्थानों में कही जा सकती है। पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में। जहाँ हम निवास करते हैं वह पृथिवी। उससे ऊपर जहाँ मेघ बनता बिगड़ता, और स्थूल वायु की जहाँ तक गति है वह अन्तरिक्ष। और जहाँ चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि स्थित हैं वह द्युलोक। याज्ञिक समय में मुख्य तीन देवता माने जाते थे। पृथिवी पर अग्नि। अन्तरिक्ष में वायु अथवा मेघ। द्युलोक में सूर्य। यास्काचार्य कहते हैं कि जैसे भिन्न-भिन्न कर्म के कारण एक ही मनुष्य होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहा जा सकता है, तद्वत् भिन्न-भिन्न क्रियाओं के कारण इन तीनों में से एक-एक देवों के अनेक नाम हैं। **अग्निदेव के साथी ये हैं—** यह पृथिवीलोक। प्रातः सवन। वसन्तऋतु। गायत्री छन्द। त्रिवृत्स्तोम। रथन्तर साम। जो देवगण प्रथम स्थान में कहे गये हैं और अग्नायी, पृथिवी, इला तीन

स्त्रियाँ। ये सब अग्निदेव के साथ भाग लेने वाले हैं। हुत द्रव्यों को देवों के निकट पहुँचाना और देवों को बुला लाना इत्यादि अग्निदेव के कर्म हैं। इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु आदि देव अग्नि के स्तुतिपाठक हैं। **इन्द्रदेव के साथी ये हैं**—अन्तरिक्षलोक। माध्यन्दिन सवन। ग्रीष्म ऋतु। त्रिष्टुप् छन्द। पञ्चदशस्तोम। बृहत्साम। जो देव गण और स्त्रियाँ मध्यस्थान में उक्त हैं ये सब इन्द्र के साथ भाग लेने हारे है रसानुप्रदान, वृत्रवध और बल से जो जो कर्म हो सकते हैं, वे सब कर्म इन्द्र के ही हैं। अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु आदि देव इनके स्तुतिपाठक हैं। **आदित्य के ये साथी हैं**—द्युलोक। तृतीय सावन। वर्षाऋतु। जगती छन्द। सप्तदश स्तोम। वैरुपसाम और जो देवगण और स्त्रियाँ द्युलोक में परिगणित किये गये हैं इनका यह कर्म है-किरणों से रस लेना, रसों को धारण करना इत्यादि। इनके स्तुतिपाठक ये हैं-चन्द्रमा, वायु, संवत्सर। यास्क यह भी कहते हैं कि मुख्य एक ही देवता है। उसी के सब अंग हैं।

एकैव वा महानात्मा देवता। १। स सूर्य इत्याचक्षते। १५। स हि सर्वभूतात्मा। १६। तदुक्तमृषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थु-षश चेति। १७। तद्विभूतयोऽन्य देवताः। १८। तदप्येतदृचौक्तम्। १९। इन्द्रं मित्रं वरुण अग्निमाहुरिति। २०। सर्वानुक्रमणी।

सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में ही कात्यायन कहते हैं कि एक ही महान् आत्मा सम्पूर्ण वेद का देवता है। वेदवित् पुरुष उसको सूर्य कहते हैं क्योंकि वही सर्वभूतात्मा है। वेद भी 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस ऋचा द्वारा इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसकी विभूति अन्यान्य देवताएँ हैं। ऋचा भी 'इन्द्रं मित्रं वरुणामग्निमाहुः' इत्यादि वेदवाक्य से इसको कहती है।

कात्यायन के इस कथन से प्रतीत होता है कि सूर्य नाम परमात्मा का ही है क्योंकि वही सर्व-भूतात्मा है। यह दृश्यमान सूर्य नहीं। उस परम देवता की अन्यान्य अग्नि, सूर्य, पृथिवी आदिक असंख्येय विभूतियाँ हैं।

पृथिवी पर की देवताएँ

इस पृथिवी पर के पदार्थों का इन नामों से वर्णन प्रायः वेदों में आता है-

अग्नि। जातवेदा। वैश्वानर। द्रविणोदा। तनूनपात्। नराशंस। ईड। इत्यादि अग्नि के नाम। बहिर्द्वार। नक्तोषासा। होता। वनस्पति। अश्व। शकुनि। मण्डूक। ग्रावा। अक्ष। नाराशंस। रथ। दुन्दुभि। इषुधि। हस्तघ्न। अभीशु। धनु। ज्या। अश्वाजनी। वृषभ। द्रुघण। ऐल। पितु। उलूखल।

नदी। आपः। ओषधियाँ। रात्री। अग्नायी। अरण्यानी। श्रद्धा। इला। पृथिवी। उर्वी और द्विवचनयुक्त-रोदसी। मुशलोलूखलौ। हविधार्ने। जोष्ट्री ऊर्जाहुती। शुतुद्रीविपाशौ। शुनासौरौ। इत्यादि।

अन्तरिक्ष की देवताएँ

अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का वर्णन प्राय: इन नामों से आया है-

इन्द्र, पर्जन्य, रुद्र, वायु, वृहस्पति, वरुण, क, मृत्यु, ब्रह्मणस्पति, मन्यु, विश्वकर्मा, मित्र, क्षेत्रपति, यम, तार्क्ष्य, वास्तोष्पति, सरस्वान्, अपाँनपात्, दधिक्रा, सुपर्णा, पुरूरवाः, ऋतु, असुनीति, वेन; इन्दु, अदिति, त्वष्टा, सविता, वात, वाचस्पति, धाता, प्रजापति, अथर्वगण, भृगुगण, ऋगभुण, विधाता, अहिर्बुध्न, सोम, अहि, चन्द्रमा, मरुद्गण, अङ्गिगरोगण, पितृगण, दिव्यविमान, गन्धर्व, अप्सरा, राका, वाक्, सरमा, आप्या, अघ्न्या, सरस्वती, यमी उर्वशी, सिनीवाली, पथ्या, स्वति, उषा, कुहू, पृथिवी, अनुमति, धेनु, सीता, इला, गौ, गौरी, रोदसी, इन्द्राणी। इत्यादि।

द्युलोक के देवताएँ

द्युस्थानीय पदार्थों का वर्णन प्राय: इन नामों से आता है।

अश्विनौ। भग। पूषा। वृषाकपि। यम। वैश्वानर। विष्णु। वरुण। एकपादज। पृथिवी। समुद्रगण। देवगण। सप्तर्षि। आदित्यगण। साध्यगण। वसुगण। सविता। मनु। दध्यङ्। अथर्वा। विश्वेदेव। वाजो। देवपत्नियाँ। वृषाकपायी। सूर्या। उषा। सरण्यू। इत्यादि।

संक्षेप से विषयों का वर्णन

यथार्थ में वेदों का क्या स्वरूप है और इनमें कौन-कौन अमूल्य पदार्थ भरे पड़े हुए हैं। इन ऋचाओं के क्या-क्या गुप्त रहस्य हैं। इनकी किस प्रकार संगति लगती है। वेदों से क्या विधाएँ निकली हैं। इत्यादि शतशः विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ में रहेगा और यह ग्रन्थ ही वेदों की भूमिका स्वरूप होगा। इसलिये यहाँ भूमिका मैं नहीं लिखता। तथापि यहाँ प्रवेशार्थ कतिपय विषयों का नाम-निर्देश कर देता हूँ।

१. प्रशंसा—कहीं प्रशंसात्मक वाक्य हैं—

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायाऽऽस्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥

१०।१०७।१०

परिचारकगण दानी के लिए शीघ्रगामी अश्व प्रस्तुत करते हैं। दानी के लिए सुशोभमाना वस्त्राद्यलङ्कृता युवती प्राप्त होती हैं। दानी का ही गृह हृदयाह्लादकारक कमल विहगादि-विभूषित सरोवर के सदृश दीख पड़ता है। एवं वितानादिक पदार्थों में परिष्कृत और देव निर्म्मित, सुन्दर, चित्रविचित्र होता है।[१]

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु।

पर्जन्यइव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्त्रमयुता ददत्॥ ८।२१।१८॥

बुद्धि-रूपिणी सरस्वती नदी के तट पर तपस्या करते हुए प्राणरूप जो छोटे-छोटे राजगण हैं। उनको विविध धन-संयुक्त देदीप्यमान राजराजेश्वर यह जीवात्मा सहस्त्र, दशसहस्त्र धन देकर बहुत बढ़ा रहा है। जैसे पर्जन्य वृष्टि से पृथिवी को धन धान्य सम्पन्न करता है। तद्वत् यह राजराजेश्वर जीवात्मा इन प्राणों को बुद्धि-द्वारा कृतार्थ कर रहा है। इत्यादि प्रशंसा के द्वारा सत्पात्रों में दान धर्म की व्यवस्था की स्थापना वेदभगवान् करते हैं।

२. स्तुति—

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम्।

अस्य मेध्यस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम्॥ ८।१९।२॥

(विप्र+सोभरे) परमात्मा कहता है हे मेधाविन्! हे विद्या द्वारा भरणपोषण कर्ता ऋषे! (अध्वराय) आत्म और ज्ञान यज्ञ के लिये। (अग्निम्+ईम+प्र+ईडिष्व) परमात्मा की ही सब प्रकार से स्तुति करो जो (विभूतरातिम्+चित्रशोचिषम्) जो, प्रभूतधन, महातेजस्वी है। (अस्य सोम्यस्य+मेध्यस्य+यन्तुरम्) इस नाना-द्रव्यसंयुक्त, परम पवित्र यश का नियन्ता है (पूर्व्यम्) जो चिरन्तन शाश्वतदेव है। हे ऋषिगण! इसी की स्तुति करो। इत्यादि आज्ञा के द्वारा भगवान् ही, स्तुत्य, स्तवनीय, पूजनीय और उपास्य देव हैं अन्य नही॥ इस व्यवस्था को स्थापित करते हैं।

३. निन्दा—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

१०।११७।६

परमदेव कहता है कि मैं सत्य कहता हूँ कि अज्ञानी पुरूष व्यर्थ धनोपार्जन

---

१. इन सब ऋचाओं का पदार्थ सहित व्याख्यान पुस्तक के अपने-अपने स्थान में देखिये।

करता है। उसके लिए वह धन मृत्यु है। उस धन से न तो वह यज्ञ और न अपने सखा को पुष्ट करता है। स्वयंभक्षक केवल पापभक्षक होता है। इत्यादि निन्दा से भगवान् उपदेश देते हैं कि परस्पर सहायता करो। असमर्थ, अन्ध, मूक, पङ्गु, रोगी आदि को भोजन देकर रक्षा करो। दरिद्र प्रतिवासी को भूखे मरते हुए मत देखो। इत्यादि

४-याचना-यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः। राधस्तन्नोविदद्वस उभयाहस्त्या भर ५। ३९। १। हे इन्द्र! हे आश्चर्य! हे लब्धधन! परमात्मन्! आपके निकट प्रशंसनीय धन है। हे विघ्ननाशक! दोनों हाथों से लाके हमको पूर्ण धन दीजिये। इससे दिखलाया कि जीवात्मा परम धनाढ्य है। यदि इसके गुणों को जान और इसकी आज्ञा मान चलोगे तो तुम परम सुखी रहोगे। हे पुत्रियों! तुम केवल जीवात्मा और परमात्मा से ही याचना करो। मनुष्य के समीप दीन मत बनो। अदीन होओ।

५. आशीर्वाद—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्राण आयूँषि तारिषत्।

१०। १८६। १

हे परमात्मन्! आपसे यह आशीर्वाद चाहते हैं कि आपके अनुग्रह से यह वायु रोगनाशक, हृदय-सुखकारक औषध को हमारे लिये प्रवाहित करे। एवं हमारी आयु को बढ़ावे। इस आशीर्वाद की याचना से यह सिद्ध होता है कि, यह वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि सब पदार्थ, मनुष्य जाति के हित के हेतु उत्पन्न किये गये हैं। ये हमारे सदा सुखकारी होवें, यदि इसको मनुष्य ठीक-ठीक प्रयोग में लावें।

६. प्रश्न—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥

१। १६४। ३४

७. प्रति—वाक्य—(उत्तर)

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

१। १६४। ३५

इन प्रश्नोत्तर से भगवान् उपदेश देता है कि विद्वानों, आचार्यों, महात्माओं और गुरुओं से नम्रतापूर्वक बोध के लिए जिज्ञासा करें। और अपने परितःस्थित

पृथिवी, सूर्यादि के विषय में शङ्का समाधान करे। इन वस्तुओं के तत्व जानने के लिए सदा गवेषणा करता रहे और विद्वान् प्रयत्न कर तत्व ज्ञान लोगों को बतलाते रहें।

८. संशय—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी दुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥

१०।१२९।५

इन विविध सृष्टियों की धारण पोषण-कर्त्री महती शक्ति किस रूप से अवस्थित है? क्या तिर्यग् भाव से? क्या यह ऊपर अथवा नीचे है? कर्मभोक्ता जीव और भोज्य आकाशादि पदार्थ क्या प्रथम थे? क्या यह अवर भोज्य और वर भोक्ता दोनों ही नित्य और शाश्वत हैं? इससे 'जब तक ज्ञान नहीं हुआ है तब तक अवश्य संशय करे। जिसके हृदय में तर्क-विर्तक नहीं वह कुछ जान नहीं सकता। पदार्थ ज्ञान के हेतु जब तक उत्कट इच्छा चिन्ता जागृत नहीं होती तब तक बोद्धा नहीं होता' यह उपदेश देते हैं।

९. आत्मश्लाघा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहंकविरुशना पश्यता मा॥

४।२६।१।

जीवात्मा कहता है कि मैं ही मनु=मन्ता, मैं ही सूर्य=प्रेरक, मैं ही कक्षीवान्=उद्योगी, मैं ही ऋषि=मन्त्रद्रष्टा और विप्र=मेधावी हूँ। मैं ही रक्षार्थ वज्रधारी ज्ञानी को अलंकृत करता हूँ। मैं उशना=अभिलाषी कवि हूँ। हे मनुष्यो! मुझको देखो, जानो। इस प्रकार जीवात्मा स्वयं अपनी श्लाघा करता है। निःसन्देह, जीवात्मा महान् वस्तु है। यह जीवात्मा ही शरीर धारण कर वसिष्ठ, विश्वामित्र, राम, कृष्ण, पाणिनि, पतञ्जलि, बुद्ध, शङ्कर, दयानन्द हुआ है। परन्तु मूर्खजन व्यर्थ आत्मश्लाघा करते हैं, अपनी प्रशंसा में सदा रहते हैं। ज्ञानी जन सदा कार्य में तत्पर रहते हैं। अपनी प्रशंसा करना करवाना उचित नहीं समझते। परन्तु इनके गुण देख स्वयं जगत् प्रशंसा करता रहता है।

१०. नियोग=आज्ञाकरण—

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व।
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य॥

३।२१।१।

वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जा पते। सेमं नो अध्वरं यज। १।२६।१॥

हे अग्ने! मेरे इस यज्ञ को देवों में स्थापित करो। हे जातवेद! इन हव्य पदार्थों का ग्रहण कीजिये। हे अग्ने! घृत और स्निग्ध पदार्थ लो। हे होता! प्रथम ही आप बैठ के अच्छी प्रकार भोजन करो।

हे पवित्र! हे बलपते! तेजोरूप वस्त्रों को धारण करो। वह आप इस यज्ञ को संपादन करो।

११. अनुयोग—

इहब्रवीतु य उ तच्चिकेत्। १।३५।६।

जो उसको जानता है वह कहे। इन दोनों से ईश्वर उपदेश देता है कि परस्पर सहायता लेवें और देवें। ज्ञाता पुरुष को सदा उत्तमोत्तम कार्य में लगा उनसे उपकार ग्रहण करे।

१२. संलाप—

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका। १।१२६।७

स्वयं बुद्धि कहती है। ऐ उपासक! मनुष्य! तू मेरे निकट-निकट अतिशय स्पर्श कर। ''मेरे निकट स्वल्प पदार्थ हैं'' ऐसा मत समझ। मैं सम्पूर्णतया विविध धन रूप लोमों से संयुक्त हूँ। जैसे गन्धारी अर्थात् सस्यघासादि सम्पन्न भूमियों की मेषी रोमों से पूर्ण होती है तदवत्। हे उपासक! उद्योगी पुरुष! मुझे समझो। रोमशा प्रकरण में इसका बृहदर्थ देखो। इस प्रकार परस्पर संलाप कर जगत् को सुख पहुँचावे।

१३. प्रतिषेध और उपदेश—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मान्यमानः।
तत्र गावःकितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सविताऽयमर्यः॥

१०।३४।१३

साक्षात् जगन्नियन्ता परमात्मा मुझ जीव को उपदेश देता है कि ऐ कितव! (जूआरी) मेरी आज्ञा को मानता हुआ और मुझ पर विश्वास करता हुआ तू जूआ मत खेल। खेती कर। वित्त में रत हो। वित्त और खेती से गौएँ प्राप्त होती हैं। और सन्तान के लिए पत्नी मिलती है। इससे उपदेश दिया गया कि द्यूत आदि हानिकारी खेल सदा त्याज्य है।

१४. आख्यान—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन्॥

१०।९५।१

इससे परम पिता उपदेश देता है कि मानव सम्बन्धी सत्य, पक्षपातरहित इतिहास लिखे लिखवावे। सुने सुनवावे। प्रचार करे करवावे। इसी प्रकार सूर्य, पृथिवी, जल, साहित्यादि सम्बन्धी इतिहास भी लिखे जायें।

१५. विलाप—

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥

१।१७९।४

इससे उपदेश देते हैं कि यद्यपि मनुष्य का विलाप करने का स्वभाव है तथापि कार्याकार्य विचार धैर्य रखे।

१६. श्लाघा—

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

१०।८६।९

इससे उपदेश देते हैं कि स्त्री जाति को कभी क्लेश न पहुँचावे। इससे बड़ी-बड़ी हानियाँ हुई हैं और होती हैं।

१७. स्पृहा—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥

१०।९५।१४।

इसमें कामना की गई है कि पत्नी द्वारा परित्यक्त पति अत्यंत दूर के प्रदेश को जाने के लिए प्रयाण करे, भले ही वह दुर्गति का शिकार क्यों न बने।

१८. संकल्प—

यदिन्द्राहं यथात्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्॥
शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥

८।१४।१, २

हे इन्द्र! जैसे आप सम्पूर्ण धन के एक स्वामी हैं। यदि मैं भी वैसा धन का स्वामी होऊँ तो मेरा स्तुतिपाठक गोसखा होवे।१।

हे शक्तिमान् इन्द्र! 'इस मनीषी को दान दूँ' ऐसी इच्छा रखूँ और अभीष्ट दान दूँ। यदि मैं गोपति होऊँ। २।

इससे शुभ संकल्प करने की आज्ञा देते हैं।

१९. प्रमाद—

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति ॥

१०। ११९। ९।

मैं सम्भावना करता हूँ कि इस पृथिवी को उठा कर जहाँ चाहूँ वहाँ रख दूँ। मैंने बहुत बार सोमपान किया है। प्रमादी पुरुष सदा उपेक्ष्य है क्योंकि व्यर्थ प्रलाप करता है' ऐसी शिक्षा इससे प्राप्त होती है।

२०. सन्ताप—

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

१। १६४। ३७।

(यद्+इव+इदम्+अस्मि) 'जो यह मैं हूँ' ऐसा (न+विजानामि) मैं नहीं जानता (निणयः) क्योंकि अनर्हत अर्थात् मैं मूढ़चित्त हूँ। और (मनसा+संनद्धः+चरामि) चंचल मन से सम्यग् बद्ध हो के विचरण कर रहा हूँ। (यदा+मा+ऋतस्य+प्रथमजाः+अआगन्) जब मुझको सत्यस्वरूप परमात्मा का साक्षात् प्रथमानुभव प्राप्त होगा (आन्+इत्+अस्याः+वाचः+भागम्+अश्नुवे)तदन्तर मैं इस वाणी का सारभूत भजनीय परमात्मा को प्राप्त होऊँगा। आत्म-ज्ञानार्थ अवश्य चिन्ता करनी चाहिये। यह शिक्षा है।

२१. प्रेष=आज्ञा—

होता यक्षद्वनिनो वन्त। १। १३९। १०।

होता यज्ञ करें। अभिलाषी जन कामना करें।

२२. विस्मय—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

१०। १२९। ६

कौन जानता है कौन अच्छी प्रकार कह सकता है। ये विविध सृष्टियाँ कहाँ से आई। कैसी हैं। इत्यादि बातें विस्मय कर इससे यह शिक्षा है कि ईश्वर अचिन्त्यशक्ति हैं इसको जानने के लिए पूर्ण प्रयत्न करे।

२३. आचिख्यासा—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राव्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

१०।१२९।२।

इत्यादि वेदों में कल्याणार्थ सब प्रकार के उपदेश विद्यमान हैं। इसी वेद से समस्त विद्या निकली हैं। इस ग्रन्थ में वेदों के नाना रहस्य प्रकट किये गये हैं। उस महान् परमात्मा की ही अनुकम्पा से मैं इसके लिखने में समर्थ हुआ हूँ। मुझ में वेदार्थ करने की शक्ति नहीं। परन्तु परमात्मा की प्रेरणा से मैं इस महान् कार्य में प्रवृत हुआ हूँ। अतः उसी से बारम्बार प्रार्थना है कि बल देकर इस कार्य को पार लगवावें। सब विद्वानों के निकट नम्रता पूर्वक मेरा निवेदन है कि इसको देख वेदों के यथार्थ भाव को ग्रहण करें। और इस बात के लिए क्षमा करें कि मैंने यहाँ सायणादिकों के दोष दिखलाए हैं। मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि इन माध्यमिक और आधुनिक भाष्यकारों ने वेदों का भाष्य नहीं किया किन्तु भाष्य के ब्याज से वेदों को दूषित, कलङ्कित, दुर्गन्धित और भ्रष्ट कर दिया है। अतः आप विद्वानों से निवेदन है कि इस शैली पर वेदार्थ विचार कीजिये। तब देखिये इनमें से क्या-क्या रत्न आप प्राप्त कर सकते हैं। ठीक वेद कहते हैं कि—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्-
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। १०।७१।४

(त्वः+पश्यन्+उत+वाचम्+न ददर्श) कोई देखता हुआ भी वेदवाणी को नहीं देखता (त्वः+श्रृणवन्+उत+एनाम+न+श्रृणोति) कोई सुनता हुआ भी इसको नहीं सुनता। (त्वस्मै+उतो+तन्वम्+विसस्त्रे) वह वाणी किसी के लिए निज शरीर को प्रकाशित कर देती है। (उशती+सुवासाः+जाया+पत्ये+इव) जैसे इच्छावती सुवस्त्रधारिणी पत्नी पति के लिए सर्वस्वाङ्ग प्रकाशित करती है उत=भी। त्वः=एक कोई। उतो=भी। त्वस्मै=किसी के लिये। उशती= कामयमाना, इच्छावती। उश कान्तौ। ददर्श=''छन्दसि लुङ् लङ् लिटः'' ३। ४।६। धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वा स्युः'' इस सूत्र के अनुसार लुङ् लङ् और लिट् विकल्प से सब काल में होते हैं। अतः ''ददर्श'' आदि पदों का यदि ''पश्यति'' आदि अर्थ किया जाये तो कोई क्षति नहीं।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

१०।७१।७।

(अक्षण्वन्तः+कर्णवन्तः+सखायः) नयन, कर्ण, घ्राण जिह्वा, हस्त, पाद आदि तुल्य होने के कारण मनुष्यमात्र एक प्रकार से समान हैं, परन्तु (मनोजवेषु+असमाः+वभूवुः) आश्चर्य यह है कि मानसिक शक्तियों में प्रायः सब कोई असमान हैं। (त्वे+उ+आदघ्नासः+ह्रदाः+इव) कोई तो मुख तक जलवाले तड़ाग के तुल्य हैं (उपकक्षासः) कोई काँख तक जलवाले जलाशय के सम हैं (त्वे+उ+स्नात्वा+ददृश्रे) कोई स्नानार्ह अक्षोभ्य अगाध ह्रद के समान हैं। अक्षण्वन्तः=नयनवान् आँखवाले। कर्णवन्त=कान वाले। सखायः= समान, तुल्य। आदघ्न=आस्यदघ्न, मुख प्रमाण। यहाँ 'स्य' लुप्त है। 'प्रमाणो-द्वयसज् दघ्नञ्मात्रचः' ५। २। ३७।

इस सूत्र के अनुसार "आदघ्न" में प्रमाणार्थक दघ्न प्रत्यय है। कक्ष=कांख, "कक्षः स्मृतो भुजामूले कक्षोऽरणये च वीरुधि। कक्षः शुष्कतृणे प्रोक्तः कक्षः कच्छ उदाहृतः" ह्रद=तालाब, जलाशय, सरोवर। स्नात्वाः= स्नानार्हाः, स्नान योग्य। यहाँ कृत्यार्थ में त्वन् प्रत्यय।

यूरोपीय-विद्वान्

इस पृथिवी पर महाश्चर्य जनक वेद है। इन ऋचाओं द्वारा वेद जो कुछ मानव स्वभाव का वर्णन करते हैं उसको मैं प्रत्यक्ष रूप से देख रहा हूँ। स्वदेश के आधुनिक विद्वानों की मैं क्या चर्चा करूँ। वे सर्वथा नमस्य हैं। परन्तु यूरोप निवासी विद्वानों के विषय में किञ्चद् वक्तव्य है। एक ओर तो, यूरोप महाद्वीप के जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड प्रभृति देशों के निवासी विद्वानों की प्रतिभाशालिता और विद्वत्ता देख कर मैं अन्तःकरण से उनकी कीर्ति को गाता-गाता थक जाता हूँ और उन महात्माओं के दर्शनार्थ प्रतिक्षण उत्कण्ठित रहता हूँ। इनके नूतन-नूतन आविष्कार, विचार-गाम्भीर्य, ज्ञान-विज्ञान-प्रवीणता, विज्ञान-प्रवणता और निरन्तरगवेषणा-तत्परता आदि प्रशंसनीय अक्षोभ्य गुण देख चकित हो के मन में विचार उठता है कि क्या चिरन्तन मान्य ऋषि मुनिगण भारत को कुपुत्र देख अपने जन्म से यूरोप और अमेरिका को ही पवित्र कर रहे हैं। अन्यथा ऐसे-ऐसे मनस्वी मननशील मुनिगण वहाँ कहाँ से उत्पन्न होते। अथवा परम-पिता की ही ऐसी इच्छा है कि सम्प्रति ये दोनों महाद्वीप विद्यासमन्वित यशोन्वित हों। परन्तु जब दूसरी ओर कतिपय विद्वानों की अविवेकता और शीघ्र-कार्यकारिता देखता हूँ तो उतना ही लज्जित भी हो जाता हूँ। इसके अनेक कारण मैं समझता हूँ। प्रथम-ये समीक्षक विद्वान् अपने ऊपर इतना कार्य भार ले लेते हैं कि अवकाश के अभाव से वेदों की समीक्षा जैसे बहुकालापेक्षी और बहुपरिश्रमसाध्य कार्य को अच्छी प्रकार नहीं कर सकते। द्वितीय-"वेद जांगलिक और असभ्य

समय के वनी और कृषीवल [किसान] जनों का संगीत मात्र है इसमें उच्चभाव का अन्वेषण करना सर्वथा समयानभिज्ञ पुरुषों का कार्य है'' प्रथम ही ऐसा विचार और उस पर अचल और दृढ़ हो वेदों की परीक्षार्थ प्रवृत होते हैं। अत: वैदिक उच्चभावों को भी बिगाड़ स्वरूपान्तर में उनको प्रकट करने के लिए प्रयत्न करते हैं। और बहुधा इन्हें इसी कारण वेदों की अनुपम अतुलित परमहितकर उपदेश सूझते ही नहीं। तृतीय-मान्य पादरी महोदयगण एक तो वैदिक संस्कृत में परिश्रम करना ही नहीं चाहते। केवल अशुद्ध अपूर्ण अनुवाद को ही लेके सिद्धान्त स्थिर कर उपेक्षा बुद्धि से वेदों को देखते दिखाते और प्रचार करते करवाते हैं। दूसरी बात यह है कि ये इतने संकीर्ण-हृदय, बाइबिल के कल्पित मतों से निगडित और भारतवर्षीय अवैदिक विविध सम्प्रदायों को प्रचलित देख ''ये भी वेदप्रभव ही हैं अत: वेद भी ऐसे ही हों'' ऐसे अनुमानी बन स्वयं वेदों के खण्डन में तत्पर हो स्वदेश के बड़े-बड़े विद्वानों को भी इस पक्ष पर ला उनसे ग्रन्थ लिखवाते और लिखते रहते हैं। मैं अन्यान्य सब कारणों को बहु अंशों में गौण मानता हूँ क्योंकि ऐसे आत्मानुशासनवर्ती, स्वतन्त्रताप्रिय, मनस्वी और उदारधी पुरुषों के मन के ऊपर क्या अन्यान्य क्षणविध्वंसी लौकिक प्रभाव कदापि निज अधिकार स्थापित कर सकता है ? नहीं। परन्तु इसका मुख्य कारण जहाँ तक मैं अनुमान करता हूँ यही है कि ऐसे कार्य में निज समय बहुत न्यून लगाते हैं और सहसा कार्य में प्रवृत हो जाते हैं। इनकी शीघ्रकारिता न केवल भारतवर्ष पर ही नहीं किन्तु पृथिवी पर के समस्त सभ्य देशों पर वैज्ञानिक अन्वेषण में जितनी क्षतियाँ पहुँचाई हैं उनकी पूर्ति कई एक शताब्दियों के पश्चात् कदाचित् हो। क्योंकि इन विद्वानों ने वेदों पर हेत्वाभासयुक्त ऐसे बड़े-बड़े ग्रन्थ दो चार नहीं किन्तु सैकड़ों लिख डाले हैं और पठित पुरुषों के अन्त:करण में इस प्रकार खचित हो गये हैं कि उन हेत्वाभासित विचारों को निकाल बाहर करना कठिन कार्य है। भारतवर्ष में इन के ग्रन्थों से ऐसा विष फैल गया है सहस्रों मर गये, लक्षों हताहत हो रहे हैं और कब तक यह दशा रहेगी यह निश्चय नहीं। इन यूरोपनिवासी विद्वानों पर लोगों का अटूट विश्वास है। मेरी दृष्टि में तदनुकूल इनका कार्य नहीं हुआ। **पण्डित मैकडोनल्ड, पं० फिलिप्स, पं० मोनियर विलियम** आदि बहुत ही सहसा कार्य कर के अनेक प्रकार की त्रुटियाँ कर गये हैं। गत शताब्दी में अध्यापक श्रीमान् मैक्समूलरजी, नि:सन्देह, अधिक परिश्रम करते रहे। परन्तु शोक की बात है कि इन्होंने भी वेदों को आधुनिक यूरोपीय दृष्टि से देखा। यदि ये ऋषिभाव से देखते तो कदापि भी इनके प्रशंसनीय शरीर से भारत की

इतनी क्षति न होती।

भारत की क्षति

इसमें सन्देह नहीं कि भारत की अचिन्त्य क्षति हुई है। इस समय मेरे भाई भारतवासी प्राय: मेषबुद्धिक, आलसी, गवेषणाशक्तिरहित, गतानुगतिक, अदूरदर्शी, अपरिश्रमी, भोगविलासी, जलसश्रोता, शिशुवदनुकरणकर्ता, फोनोग्राफ, आत्मानभिज्ञ, आत्मगुणापरिचित, संस्कृतसाहित्यमर्म-शून्य, अधीर, अब्रह्मचारी हैं। जब सर विलियम जोन्स ने शकुन्तला का अनुवाद कर बतलाया कि ऐ भारतवासियो! तुम्हारे निकट नाटक के अच्छे-अच्छे सभ्यता-विद्वत्ता-सूचक ग्रन्थ हैं तब भारतवासियों की बुद्धि में आई कि हाँ, हमारे यहाँ भी शेक्सपीयर के सम विद्वान् हुए हैं। जबश्रीमान् गोल्डस्टकर ने पाणिनि के ऊपर लेख लिख कर कहा कि ऐ पृथिवी पर के मनुष्यो! क्या अष्टाध्यायी के समान भूमि पर अभी तक कोई शब्द-शास्त्र का ग्रन्थ आविर्भूत हुआ है। इसी प्रकार किन्होंने, वाल्मीकीय रामायण की, किन्होंने, भास्करीय ज्योतिष की, वैद्यक शास्त्र की इत्यादि-इत्यादि शास्त्रों की प्रशंसा की। तब यहाँ के इंग्लिश पढ़े बाबुओं की आँखें कुछ खुलीं, चकित हो के कहने लगे कि आह! हमारे पूर्वज भी ऐसे-ऐसे ग्रन्थ लिख गये हैं। और वे भी मान्य, गण्य, विद्वान् थे। देखें तो इन के ग्रन्थों में क्या है। यह विचार अनुकरणकर्त्ता भारत-सन्तान मूल न देख अनुवादों को ही देख-देख कर अपनी-अपनी खिचड़ी पकाते रहे। पुन: भारत के दुर्भाग्यवश यूरोप से एक देवी श्रीमती ऐनी बेसेन्ट जी का चरणारविन्द यहाँ पहुँचा। अब यह देवी जो कुछ कहती, सुनाती है। मेरे मेष बुद्धि भ्रातृगण उसको ब्रह्मवाक्यवत् शिर पर चढ़ा लेते हैं। ऐसे बालकवत् अनुकरणकर्ता भारतवासियों के हृदय में यूरोपीय विद्वानों की वह-वह सारी बात खचित होती गई। वेदों को उन्होंने जैसा दर्शाया वैसा ही मान लिया। परन्तु कभी वेदों की पुस्तकों के दर्शन के लिए परिश्रम नहीं किया। जिन कतिपय विद्वानों ने देखा सुना वे भी न तो वेदों का स्वतन्त्रतया अध्ययन ही करते और न यूरोपीय विरुद्ध कुछ भी मानने को तैयार ही हैं इससे भारत की क्या-क्या क्षति हुई है और होगी वह सब अगण्य है। एवमस्तु। अब आगे कोई यह प्रश्न करे कि जब यूरोप के विद्वान् वाल्मीकि रामायण, पाणिनि की अष्टाध्यायी भास्करज्योतिष और शकुन्तला आदि ग्रन्थों के तत्व जानते मानते और भर पेट प्रशंसा करते हैं, तो इस अवस्था में उनको वेदों से ही कौन-सा द्वेष है कि उनकी सदा निन्दा ही करते रहते? इसका भेद हमें विदित ही नहीं होता। समाधान-प्रथम यह हेतु ही ठीक नहीं। क्योंकि आज भारतवासी पण्डित

महाशय व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, वेदान्त और काव्य कोषादिकों के तत्त्वों को अच्छी प्रकार जानते हैं। परन्तु इनसे वेद की एक बात भी तो पूछिये। क्या उत्तर देते हैं तत्काल उत्तर देवेंगे कि मैं वेद नहीं जानता हूँ। मुझसे अन्य विषय जितने चाहे उतने पूछ लीजिये। परन्तु वेद में मुझ से कुछ न पूछें। क्यों ? ये समझते हैं कि वेदों का कुछ गूढ़ अर्थ है जब तक पूर्ण विचार न हो तब तक इस पर सम्मति प्रकाश करना महापाप और हानिकारक है। इत्यादि। निःसन्देह इतने संस्कृत जानते हुए भी ये वेद नहीं जानते। इत्यादि। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में निपुण होते हुए भी वैदिक संस्कृत में इन यूरोप-निवासियों का प्रवेश नहीं है। यह कहना कोई अनुचित नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि ये यूरोप के विद्वान् बड़े अन्वेषणशील हैं। इनको पूरा अन्वेषण करना था। ये यह भी जानते हैं और अपने-अपने ग्रन्थों के अनेक स्थलों में दृढ़ता पूर्वक लिख गये हैं कि सायण, महीधर, यास्क आदि पुरुष वेदों को अच्छी प्रकार नहीं जानते थे। यहीं तक नहीं किन्तु ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ, आदि ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेदों को अच्छी प्रकार नहीं समझते हैं ऐसी इन सबकी सम्मति है। ऐसे दूर तक पहुँचे हुए पुरुषों को उचित था कि कुछ और समय लगा के अपनी सम्मति प्रकाशित करते तो पृथिवी पर यथार्थ मानव इतिहास निकल आता। सो न हो के इनके कारण से पृथिवी पर सब कोई विपरीत ग्राही बन गये। एवं भारतवासी जैसे विश्वासी हैं, उनको तो पूर्ण विश्वास ही हो गया कि वेद केवल प्रस्तर की मूर्तिवत् प्रणाम्यमात्र हैं। इनकी धूप, दीप, ताम्बूल, अक्षत, पुष्पादि सामग्रियों से पूजा तो अवश्य त्रिकाल की जाये परन्तु इनको सदा के लिए बन्द ही रखो। इनसे कोई कार्य मत लो। ऐसा विचाररूप हलाहल विष के कारण यूरोप के विद्वान् ही हैं। क्योंकि मैं अभी लिख आया हूँ कि भारतवासी अभी केवल बालकवत् अनुकरण शीलमात्र हैं। जो कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मुखारविन्द से सुनते हैं उसको ब्रह्मवाक्यवत् स्वीकार कर लेते हैं। वेदार्थ के न जानने और न प्रचार होने से प्रथम ही बहुत कुछ क्षति हो चुकी है। जो विषय वेदों में नहीं हैं उनका प्रचार आज सर्वत्र हो रहा है। इससे आध्यात्मिक, सामाजिक हानियाँ जो-जो हुई हैं उनको कौन गिना सकता है ?

वेदों में क्या-क्या नहीं है।

सबसे प्रथम सती विधान ही लीजिये। इससे निरपराधा कितनी असंख्य स्त्रियों की हत्या हुई। क्या संपूर्ण पृथिवी भर के मनुष्य मिल कर भी इस अपराध की निष्कृति कर सकते हैं ? नहीं। वेदों में इसका विधान कहीं नहीं

है। परन्तु एक मन्त्र में कुछ परिवर्तन कर कहा गया कि वेदों में सती विधान का मन्त्र है। वह ऋचा यह है—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नी राञ्जननेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

१०।१८।७।

यहाँ ''योनिमग्रे'' के स्थान में ''योनिमग्नेः'' बना कर यह पिशाच-विधि चला दी गई।

आज कल वैष्णगण देह की द्वारका आदिक स्थानों में जा के दगाते हैं। वेद में इसकी भी चर्चा नहीं। परन्तु प्रजाओं को अनभिज्ञ देख इस पक्ष में इस मन्त्र का प्रमाण देने लगे हैं।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥

९।८३।१

इसी प्रकार पूर्व समय में मृतक के साथ चिता पर बकरा वा कोई अन्य पशु मार कर रख देते थे। इसकी भी कहीं वेदों में चर्चा नहीं। शोक की बात है कि इस पवित्र ऋचा को इस कार्य में लगाते थे।

सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्म्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतिष्ठा शरी रैः॥

१०।१६।३

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्।४॥

यह मरण समय की प्रार्थना है। इस शरीर का भाग जहाँ से जो आया है वह वहाँ जाये। चक्षुशक्ति सूर्य को, प्राण वायु को, और शरीर का अंश पृथ्वी को इत्यादि-इत्यादि अपने-अपने कारण में प्राप्त हो। और इस शरीर में जो अज=अजन्मा जीवात्मा है, उसकी आप रक्षा करो यह इसका भाव है। यहाँ अज पद देख बकरा मार कर चिता पर जलाने लगे। हर्ष की बात है कि भारत में अब यह विधि नहीं रही। इस प्रकार सम्पूर्ण वेदों के अर्थ नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। वेदों में आजकल की प्रचलित पूजा की विधि नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, भैरव, गरुड़, हंस, दुर्गा, काली आदि देवों की चर्चा नहीं है। षोड़शोपचार पूजा, महारुद्री आदि का कहीं वर्णन नहीं। पुरुष सूक्त और ''नमस्तेरुद्रमन्यवे'' इत्यादि सूक्त इन अर्थों के प्रतिपादक नहीं।

नवग्रहादि की पूजा का विधान नहीं। मुझे बहुत लज्जा आती है जब यहाँ के बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित बड़े-बड़े राज दरबार में।

''शन्नोदेवीरभिष्टये आपोभवन्तु पीतये। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः''

इस ऋचा को शनैश्चर का मन्त्र बतलाते हैं॥

वेदों में कहीं भी मूर्तिपूजा का विधान नहीं। गङ्गा, यमुना, प्रयाग, काशी, मथुरा, अयोध्या, हरिद्वार, गोमुखी, समुद्र, संगम, आदि तीर्थों का कहीं भी वर्णन नहीं। किसी भी मेला मन्दिर आदि का उल्लेख नहीं। आजकल जैसे तीर्थ यात्रा करते हैं वेदों में इसके लिए कोई आज्ञा नहीं। आज कल उपनयन होने पर भी पुनः अवैदिक मन्त्र ग्रहण करते हैं। ऐसी दीक्षा का कीर्तन वेदों में नहीं। किसी मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों का निरूपणं नहीं। इस प्रकार की जाति-पाति की सृष्टि वेदों में नहीं बालविवाह, आदि अनेक विवाह, वृद्धावस्था में विवाह, इत्यादि घृणित व्यवहार का स्थान वेदों में नहीं। समुद्रयात्रा, द्वीपद्वीपान्तर यात्रा का निषेध नहीं। स्पर्श दोष का वर्णन कहीं नहीं। मैं कहाँ तक गिनाऊँ आजकल भारतवर्ष के क्या धार्मिक क्या सामाजिक जितने व्यवहार प्रचलित हैं प्रायः शत ९० नब्बे वेद विरुद्ध हैं। परन्तु जब कहीं वेदों की चर्चा होती है, झट लोग कह देते हैं कि वेद अनन्त हैं कहीं यह भी होगा। शोक इस बात का है कि वेदों का अध्ययन अध्यापन एक प्रकार से लुप्त हो गया है। यदि भारतवासी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर वेदों का उद्धार कर लेवें तो निःसन्देह पृथिवी का उद्धार हो जाये।

सायण आदि कैसा अवाच्य, घृणित, अश्लील अर्थ वेदों का कर गये हैं, मैं दो चार उदाहरण सायण भाष्य से संस्कृत में ही लिखता हूँ। इनका भाषा अनुवाद करना मैं अनुचित समझता हूँ। केवल संस्कृत के विद्वान् देखें और विचारें कि क्या वेदों का यही अर्थ है ?। यह सम्मति केवल सायण की ही न समझनी किन्तु यास्क, कात्यायन, शौनक आदिकों की भी जाननी। क्योंकि 'यथा हरिस्तथाहरः' ऐ विद्वानो! उठो, जागो, देखो, वेदों की कैसी दुर्दशा हो रही है। इस आलस्य का कब तुम त्याग करोगे।

सायणभाष्य

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता। १। १२६। ६।
उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीण मिवाविका॥ ७।

संभोगाय प्रार्थितो भावयव्यः स्वभार्यां रोमशाम् अप्रौढेति बुध्या परिहसन्नाह—**भोज्या** भोगयोग्या एषा, आगधिता आसमन्ताद् गृहीता स्वीकृता, तथा **परिगधिता** परितो गृहीता आदरातिशयाय पुनर्वचनम् गध्यं गृह्णातेरिति यास्कः। यद्वा। **आगधिता** आसमन्तात् मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजननेन वाह्यं भुजादिभिरित्यर्थः। गध्यतिर्मिश्रीभावकर्म्मेतियास्कः। पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषस्य-प्राधान्यम्। उतरस्मिंस्तुयोषित इतिभेदः। कीदृशी सा। या **जंगहे** अत्यर्थं गृह्णाति कदापि न मुञ्चति। अत्यागे दृष्टान्तः। **कशीकेव** कशीका नाम सुतवत्सा नकुली सा यथा पत्या सह चिरकालं क्रीडति न कदाचिदपि मुंचति तथैषा अपि। किञ्च-भोज्येषा यादुरी या दुरित्युदकनाम रेतोलक्षणमुदकं प्रभुतं राति ददातीति यादुरी बहुरेतोयुक्तेत्यर्थः। तादृशी सती याशूनां संभोगानां यश इति प्रजनननाम तत्सम्बन्धीनि कर्माणि याशूनि भोगाः। तेषां शता शतान्य संख्यातानि मह्यं ददाति। ६।

रोमशा नाम बृहस्पतेः पुत्री ब्रह्मवादिनी परिहसन्तं स्वपतिं प्रत्याह- भोः पते मे मां "द्वितीयार्थेचतुर्थी" **उपोप** "द्वितीय उपशब्द पादपूरणः" उपेत्य परामृश सम्यक् स्पृश भोगयोग्यामवगच्छेत्यर्थः। यद्वा। मे मम गोपनीय मङ्गम् **उपोप परामृश** अत्यन्त मान्तरं स्पृश। परामर्शाभावशङ्कानिवारयति-मे मदङ्गानि रोमाणि **दभ्राणिमा मन्यथाः** अल्पानि मा बुध्यस्व। दभ्रमर्भकमित्यल्पस्येति दभ्रं दम्नोतेरितियास्कः। अदभ्रत्वमेवविशदयति **अहं रोमशा** बहुरोमयुक्तास्मि। यतोऽहमीदृशी अतः सर्वा सम्पूर्णावयवा अस्मि। रोमशत्वे दृष्टान्तः-**गन्धारीणाविकेव** गन्धराः देशाः तेषां सम्बन्धिनी अविजातिरिव तद्देशस्था अवयोमेषः यथारोमशाः तथाहमस्मि। यद्वा **गन्धारीणाम्** गर्भधारिणीनां स्त्रीणाम् अविका **अत्यर्थंतर्पयन्ती** योनिरिव तासां आप्रसवं रोमादि विकर्त्तनस्य शास्त्रनिषिद्धत्वात्। योनिः रोमशा भवति अतः सोपमीयते। यतोऽहमीदृशी अतोमाम् अप्रौढां मा बुध्यस्वेत्यर्थः। ७।

इन दोनों ऋचाओं का सत्यार्थ. पृष्ठ ३५४ में देखें।

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याहसुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि॥

८। १। ३४।

अयम् आसङ्गोराजा कदाचिद्देवशापेन नपुंसको बभूव। तस्य पत्नी शश्वती भर्तृर्नपुंसत्वेन खिन्ना सती महत्तपस्तेपे। तेन च तपसा स च पुंस्त्वं प्राप। प्राप्तपुंव्यञ्जनं तं रात्रौ उपलभ्य प्रीता शश्वती अनया तम् अस्तौत्। अस्य

आसङ्गस्य **पुरस्तात्** पुरोभागे गुह्यदेशे स्थूरम स्थूलं वृद्धंसत् पुंव्यञ्जनं **अनुददृशे** अनुदृश्यते। **अनस्थः** अस्थिरहितः स च अवयवः ऊरुः **ऊरुर्विस्तीर्णः, अवरम्बमाणः** अतिदीर्घत्वेन अवाङ्मुखं लम्बमानः। यद्वा, **ऊरुः** सुपांसुलुगिति द्विवचनस्य सुः ऊरु प्रति अवलम्बमानोभवति। **शश्वतीनाम** अङ्गिरसःसुता **नारी** तस्य आसंगस्य भार्या **अभिचक्ष्य** एवं भूतम् अवयवं निशि **दृष्ट्वा** हे **अर्य** स्वामिन् भर्तः! **सुभद्रम्** अतिशयेन कल्याणं **भोजनं** भोगसाधनं **बिभर्षि** धारयसि इति आह=ब्रूते। ३४।

इसका सत्यार्थ पृष्ठ.... में देखो।

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे।८।९१।५ ॥

इन्द्रेण किंकामयसे तद्दास्यामीतित्युक्ता सा वरमनया प्रार्थयते हे इन्द्र इमानि त्रीणि विष्टपा विष्टपानि स्थानानि सन्ति। तानि त्रीणि स्थानानि विरोहय उत्पादय। कानितानि। ततस्य मम पितुः रोमवर्जितं शिरः खलतिमित्यर्थः। तच्चापगमय रोमशं कुरु-इत्यर्थः। उर्वरां तस्य ऊषरं क्षेत्रं सर्वससाढ्यं कुरु। **आद्** अनन्तरं मे मम **उपोदरे** उप उदरस्य समीपे यदिदं स्थानं गुह्यमित्यर्थः। तच्च त्वग्दोषेसति असंजातरोमकम्। तदपि त्वग्दोषपरिहारेण रोमयुक्तं कुरु।५।

इसका सत्यार्थ पृष्ठ...... में देखो।

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृंभतो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
१०।८६।१६।

हे इन्द्र स जनो न ईशे मैथुनं कर्त्तु न ईष्टे न शक्नोति। यस्य जनस्य कपृत् शेपः प्रजननं सक्थ्या सक्थिनी अन्तरा रम्बते लम्बते। सेत् स एव स्त्रीजने ईशे मैथुनं कर्त्तुं शक्नोति यस्य जनस्य निषेदुषः शयानस्य रोमशम् उपस्थं विजृम्भते विवृतं भवति। यस्य च पतिरिन्द्रो विश्वस्मादुत्तरः।१६।

इसका अर्थ पृष्ठ.... में देखो।

ऋग्वेदीय ऋषियों के नाम—

१-मधुच्छन्दा	५-हिरणयस्तूप	९-नोधा
२-जेता	६-कण्व	१०-पराशर
३-मेधातिथि	७-प्रस्कण्व	११-गोतम
४-शुनःशेप	८-सव्य	१२-कुत्स

१३-कश्यप	४२-बुध	७१-सदापृण
१४-ऋज्राश्व	४३-गविष्ठिर	७२-प्रतिक्षत्र
१५-चित्र	४४-कुमार	७३-प्रतिरथ
१६-कक्षीवान्	४५-वृश	७४-प्रतिभानु
१७-भावयव्य	४६-वसुश्रुत	७५-प्रतिप्रभ
१८-रोमशा	४७-इष	७६-स्वति
१९-परुच्छेप	४८-गय	७७-श्यावाश्व
२०-दीर्घतमा	४९-सुतम्भर	७८-श्रुतवित्
२१-इन्द्र	५०-धरुण	७९-अर्चनाना
२२-मरुत्	५१-पुरु	८०-रातहव्य
२३-अगस्त्य	५२-द्वित	८१-यजत
२४-लोपामुद्रा	५३-वव्रि	८२-उरुचक्रि
२५-ब्रह्मचारी	५४-प्रयस्वान्	८३-बाहुवृक्त
२६-गृत्समद	५५-सस	८४-पौर
२७-कूर्म	५६-विश्वसामा	८५-सप्तवध्रि
२८-विश्वामित्र	५७-द्युम्न	८६-सत्यश्रवा
२९-ऋषभ	५८-विश्वचर्षणि	८७-एवयामरुत्
३०-उत्कील	५९-गौपायन	८८-भरद्वाज
३१-कत	६०-वसूयव	८९-वीतहव्य
३२-गाथी	६१-त्र्यरूण	९०-सुहोत्र
३३-देवश्रवा	६२-विश्ववारा	९१-शुनहोत्र
३४-देववात	६३-गौरिवीति	९२-नर
३५-नदी	६४-बभ्रू	९३-शंयु
३६-प्रजापति	६५-अवस्यु	९४-गर्ग
३७-वामदेव	६६-गातु	९५-ऋजिश्वा
३८-अदिति	६७-संवरण	९६-पायु
३९-त्रसदस्यु	६८-प्रभूवसु	९७-वसिष्ठ
४०-पुरुमीढ	६९-अत्रि	९८-शक्ति
४१-अजमीढ	७०-अवत्सार	९९-प्रगाथ

१००-मेधातिथि	१२९-मेध्य	१५८-नेम
१०१-मेध्यतिथि	१३०-मातरिश्वा	१५९-जमदग्नि
१०२-आसंग	१३१-कृश	१६०-प्रयोग
१०३-शश्वती	१३२-पृषध्र	१६१-पावक
१०४-प्रियमेध	१३३-सुपर्ण	१६२-गृहपति
१०५-देवातिथि	१३४-भर्ग	१६३-यविष्ठ
१०६-ब्रह्मातिथि	१३५-कलि	१६४-हिरणयस्तूप
१०७-वत्स	१३६-मत्स्य	१६५-असित
१०८-पुनर्वत्स	१३७-मान्य	१६६-देवल
१०९-सध्वंस	१३८-पुरुहन्मा	१६७-दृढ़च्युत
११०-शशकर्ण	१३९-सुदीति	१६८-इध्मवाह
१११-पर्वत	१४०-हर्य्यत	१६९-रहूगण
११२-नारद	१४१-गोपवन	१७०-बृहन्मति
११३-गोषूक्ती	१४२-कुरुसुति	१७१-अयास्य
११४-अश्वसूक्ती	१४३-कृत्नु	१७२-कवि
११५-इरिम्बिठि	१४४-एकद्यू	१७३-उचथ्य
११६-सोभरि	१४५-कुसीदी	१७४-अमहीयु
११७-विश्वमना	१४६-उशना	१७५-निध्रुवि
११८-मनु	१४७-कृष्ण	१७६-काश्यप
११९-सुबन्धु	१४८-विश्वक	१७७-भृगु
१२०-नीपातिथि	१४९-द्यूम्नीक	१७८-शत वैखानस
१२१-सहस्त्रवसुरोची	१५०-नृमेध	१७९-वत्सप्रि
१२२-नाभाक	१५१-अपाला	१८०-रेणु
१२३-विरूप	१५२-सुकक्ष	१८१-हरियन्त
१२४-त्रिशोक	१५३-बिन्दु	१८२-पवित्र
१२५-वशोऽश्व्य	१५४-पूतदक्ष	१८३-वसु
१२६-पुष्टिगु	१५५-तिरश्ची	१८४-प्रजापति
१२७-श्रुष्टिगु	१५६-द्युतान	१८५-वेन
१२८-आयु	१५७-रेभ	१८६-आकृष्टामाप

१८७-सिकतानिवावरी
१८८-पृश्नि
१८९-प्रतर्दन
१९०-इन्प्रमति
१९१-वृषगण
१९२-मन्यु
१९३-उपमन्यु
१९४-व्याघ्रपाद्
१९५-कर्णश्रुत्
१९६-मृडीक
१९७-वसुक
१९८-अम्बरीष
१९९-रेभसूनु
२००-अन्धीगु
२०१-ययाति
२०२-नहुष
२०३-अप्सरा
२०४-सप्तर्षि
२०५-अनातय
२०६-शिशु
२०७-त्रिशिरा
२०८-यमी
२०९-यम
२१०-हविर्धान
२११-विवस्वान्
२१२-शंख
२१३-दमन
२१४-देवश्रवा
२१५-संकुसुक
२१६-मार्थत
२१७-विमद
२१८-कवष
२१९-अक्ष
२२०-लुश
२२१-अभितपा
२२२-इन्द्र
२२३-घोषा
२२४-सुहस्त्य
२२५-सप्तगु
२२६-देव
२२७-बृहदुक्था
२२८-नाभानेदिष्ट
२२९-गय
२३०-वसुकर्ण
२३१-सुमित्र
२३२-बृहस्पति
२३३-अदिति
२३४-सिन्धुक्षित्
२३५-जरत्कर्ण
२३६-स्यूमरश्मि
२३७-सप्ति
२३८-विश्वकर्मा
२३९-मन्यु
२४०-सूर्या
२४१-वृषाकपि
२४२-पायु
२४३-मूर्धन्वान्
२४४-नारायण
२४५-अरुण
२४६-शार्य्यात
२४७-तान्व
२४८-अर्बुद
२४९-पुरूरवा
२५०-उर्वशी
२५१-वरु
२५२-सर्वहरि
२५३-भिषग्
२५४-देवापि
२५५-वम्र
२५६-दुवस्यु
२५७-बुध
२५८-मुद्गल
२५९-अप्रतिरथ
२६०-अष्टक
२६१-सुमित्र
२६२-दुर्म्मित्र
२६३-भूतांश
२६४-दिव्य
२६५-दक्षिणा
२६६-पणि
२६७-सरमा
२६८-जुहू
२६९-ऊर्ध्वनाभा
२७०-शम
२७१-अष्ट्रादंष्ट्र
२७२-नभः प्रभेदन
२७३-शतप्रभेदन

२७४-सध्रि
२७५-उपस्तुत
२७६-अग्नियुत
२७७-अग्नियूप
२७८-भिक्षु
२७९-उरुक्षय
२८०-लव
२८१-बृहद्दिव
२८२-हिरण्यगर्भ
२८३-चित्रमहा
२८४-निहव
२८५-बाग्
२८६-कुल्मलबर्हि
२८७-अहोमुक्
२८८-कुशिक
२८९-रात्रि
२९०-विहव्य
२९१-प्रजापति
२९२-यज्ञ
२९३-सुकीर्ति
२९४-शकपूत
२९५-सुदा
२९६-मान्धाता
२९७-गोधा
२९८-मुनि
२९९-अंग
३००-विश्वावसु
३०१-शार्ङ्ग
३०२-जरिता
३०३-द्रोण
३०४-सारिसक
३०५-स्तम्बमित्र
३०६-सुपर्ण
३०७-ऊर्ध्वकृशन
३०८-इन्द्राणी
३०९-देवमुनि
३१०-सुवेदा
३११-पृथु
३१२-अर्चन्
३१३-श्रद्धा
३१४-शास
३१५-इन्द्रमाता
३१६-शिरिम्बिठ
३१७-केतु
३१८-भुवन
३१९-साधन
३२०-चक्षु
३२१-शची
३२२-पूरण
३२३-यक्ष्मनाशन
३२४-रक्षोहा
३२५-विवृहा
३२६-प्रचेता
३२७-कपोत
३२८-अनिल
३२९-शबर
३३०-विभ्राट्
३३१-इट
३३२-संवर्त
३३३-ध्रुव
३३४-अभीवर्त
३३५-ऊर्ध्वग्रावा
३३६-सूनु
३३७-पतङ्ग
३३८-अरिष्टनेमि
३३९-शिवि
३४०-जय
३४१-प्रथ
३४२-सप्रथ
२४३-धर्म्म
३४४-तपुर्मूर्धा
३४५-प्रजावान्
३४६-त्वष्टा
३४७-विष्णु
३४८-सत्यधृति
३४९-उल
३५०-वत्स
३५१-श्येन
३५२-सार्पराज्ञी
३५३-अघमर्षण
३५४-संवन

महर्षि दयानन्द स्वामी

निर्भय, न्यायकर्ता, सर्वप्राणहितकर, दीर्घदर्शी, समदृष्टि, पक्षपातरहित, प्रभावशाली, प्रतिभावान्, महासमीक्षक, महासंशोधक, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, ब्रह्मवित्, ब्रह्मपरायण, बालब्रह्मचारी, ऊर्ध्वरेता, सुवक्ता, वाग्मी, जितेन्द्रिय, योगिराज़, आचार्यों का आचार्य, गुरुओं का गुरु, पूज्यों का भी पूज्य जगद्वन्द्य, प्रहसितवदन, प्रांशुबाहु, समुन्नतकाय, सदा आनन्द, निर्म्मल, निर्विकार समुद्रवत्गंभीर, पृथिवीवत् क्षमाशील, अग्निवत् देदीप्यमान, पर्वतवत् कर्तव्यस्थिर, सदागतिवायुवत् निरालस, रामवत्लोकहितकारी, परशुरामवत् अन्याय संहारी, बृहस्पतिवत् वेदवक्ता, वसिष्ठवत् वेदप्रचारक, असत्य का परमद्वेषी, सत्य का परमपक्षपाती, आर्यावर्त का मान्यपिता महर्षि दयानन्द था। इसके गुणों को कौन कवि लिख सकता है ? जगत् में महान् पुरुष कौन है ? जो निर्भय होके सत्य का प्रचार करे। वही महान् है। बड़े-बड़े सम्राट् भी लोकभय के कारण सत्य को छिपाए हुए रखते हैं। महामहोपाध्याय भी जनता के भयवश हो सत्य के प्रकाश करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिये जगत् के सुप्रसिद्ध संशोधकों और सत्य-पक्षपातियों को प्रथम निर्भय होना पड़ता है। पृथिवी विजेता को उतनी कठिनता झेलनी नहीं पड़ती जितनी एक संशोधक अथवा सत्य-पक्षपाती जन को। क्योंकि ऐसे धीर, शूर, महापुरुष को, प्रथम, माता, पिता, मित्र, बन्धु, बान्धव, पुत्र, कलत्र सब ही त्यागने लगते हैं। क्योंकि ये निःसार प्रचलित प्रवाह के अभिमुख खड़े नहीं हो सकते। देखिये ! जब किसी एक सत्यान्वेषी विद्वान् ने कहा कि पृथिवी गोल और चलती हुई है तब सब कोई इसके विरोधी बन गये और अन्त में इसके प्राण ले लिये। क्योंकि बाइबिल के विरुद्ध यह विचार था। जब किसी ने कहा कि बाइबिल के मिरैक्ल (आश्चर्यजनक कार्य) मिथ्या हैं। तत्काल वह मार दिया गया। किसी एक विद्वान् ने ग्रीस में कहा कि यह आत्मा अजर, अमर और बारम्बार जन्म लेता है। उस सत्यान्वेषी को विष पिलाया गया। जो मिथ्या प्रणाली चल पड़ती है, उसको महासम्राट् भी चाहे तो सहसा उठा नहीं सकता। परन्तु महापुरुष अपने ऊपर नाना दुःख सह कर मनुष्यों को समझा कर उस अविद्या का शीघ्र विध्वंस कर देते हैं। आज पंजाब में केश रखना एवं सम्पूर्ण भारत में मृतक के नाम पर केश कटवाना उसको पिण्ड देना इत्यादि अविद्याएँ फैली हुई हैं। क्या महापुरुष के बिना इस अविद्या को कोई भी दूर कर सकता है ? बड़े-बड़े सहस्त्रों पुरुष इसको अविद्या कर्तव्य जानते हुए भी लोकभय के कारण इसको अलग नहीं कर सकते। परन्तु महापुरुष प्राण तक दे देते हैं।

किन्तु जिसको मिथ्या समझ लिया उसको उसी समय त्याग देते हैं। संशोधक Reformer को प्रथम नास्तिक समझ उसके ऊपर पत्थर फेंकते हैं, थूक देते हैं, गाली दे-दे के मारने को दौड़ते है, यदि वश चलता तो खत्म भी कर देते हैं, परन्तु वह संशोधक कभी अपने पथ से विचलित नहीं होता। वह लोकोपकारार्थ नाना दुःख सह कर मर जाता है। किन्तु ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कल्पान्तस्थायी बीज छोड़ जाता है कि वह थोड़े ही दिनों में महावृक्ष हो के नाना फल फूलों से सबको तृप्त करने लगता है। अब वे ही घातक हाहाकार कर रोने लगते और समझने लगते कि ओः ! हम बड़े अज्ञानी और पातकी हैं। हमने अपने हितकारी पिता का घात किया है। इस प्रकार महापुरुष अपने चरित्र से दर्शा देते हैं कि बिना दुःख सहे जगत् में सुख नहीं फैलता। इसी कारण ऐसे संशोधक को पीछे अवतार वा अलौकिक पुरुष मानने लगते है।

इस आर्यावर्त में छह सहस्र वर्ष के अभ्यन्तर महर्षि दयानन्द के सदृश कोई संशोधक नहीं हुआ। बुद्ध महाराज संशोधक थे, परन्तु सर्वांश में शङ्कराचार्य संशोधक थे। परन्तु अपनी त्रुटियों को न निकाल सके।

जगद्वन्द्य श्री स्वामी शङ्कराचार्य बड़ी प्रबलता के साथ सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के और इतस्ततः पुराणों के सिद्धान्तों का भी निराकरण किया इसमें सन्देह नहीं। परन्तु साधारण पुरुषों में प्रचलित अज्ञान और अविद्याओं के विध्वंस करने के लिए अग्रसर नहीं हो सके। मूर्तिपूजा, शालग्राम और नर्मदेश्वर प्रस्तर की आराधना, काशी, प्रयागादि क्षेत्र में आत्महनन करना, अग्निप्रवेश, भृगुपतन ब्राह्मणक्षत्रियादिकों में भी स्पर्श दोष, द्विजों में भी अन्नाग्रहण, बालविवाह, सतीविधान आदि शतशः प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए एक अक्षर भी स्वयं न लिख गये। जिन दोषों के कारण उनके समय में ही देश रसातल को पहुँच चुका था। यदि इन सारे दोषों को निकालने के लिए कोई अग्रसर हुआ तो वह जगद्वन्द्य हितकारी, ज्ञानी, विज्ञानी, पिता दयानन्द था। इस कारण ऐ आर्यावर्त निवासी नर नारियो ! इस महापुरुष के गुणों को स्मरण रखो। इस पर विश्वास कर इसकी आज्ञा का विधिवत् पालन करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

हे भारतवासी नरनारियो ! तुम पूछते हो कि दयानन्द स्वामी हमारे लिए कौनसा महान् उपकार कर गया है जो इसकी कीर्ति गावें और उसके प्रदर्शित सिद्धान्त पर चलें। हे अनभिज्ञ मेरे प्यारे भाई बहिनो ! अभी तक तुमने उस महान् आत्मा को न जाना, न पहचाना और न इसको जानने के लिए प्रयत्न कर रहे हो। तुम्हारे लिये वह क्या-क्या कर गया, निःसन्देह तुम नहीं जानते

हो। मैं भी उसके गुणों की गणना में असमर्थ हूँ। ऐ भारतभूषण स्त्री पुरुषो! तुम अपनी दशा से भी अपरिचित हो। तुम मनुष्य से पशु बन चुके थे। तुम मरनेहारे ही थे। तुममें जीवन का शेष हो चुका था। क्षण में प्राण निकलनेहारे थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत देश जब अब तब में था, उस समय यह महर्षि आ के तुम्हारे ऊपर सुधा की वृष्टि करने लगा। तुम्हारे पुनः प्राण आने लगे। और तुममें से कुछ नर-नारियाँ उठ खड़ी हुईं। परन्तु तुम इस भेद को नहीं जानते हो। देखो! तुमसे पशुता स्वामी ने कैसे छुड़ाई। करीब पाँच सहस्त्र वर्ष से अधिक हुआ कि भारतवासियों का हृदय प्रस्तरमय हो गया था। स्वप्न में भी इनके निकट अनेक स्त्रियों का ब्याह लेना किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं समझा जाता था। बलीवर्द के समान ग्राम्य धर्म मे प्रवृत हो गये थे। दयानन्द ने वैदिक आज्ञानुसार स्थिर किया कि एक से अधिक विवाह जो करेगा वह पापिष्ठ ठहरेगा। जैसे जीवन भर एक स्त्री एक ही पति की सेवा करती है वैसे ही पुरुष भी एक ही स्त्री की सेवा करे। इससे विपरीताचारी दुष्ट समझा जायेगा। पतिव्रत और स्त्रीव्रत दोनों को समान भाव से स्थापित किया। अब तक कतिपय अनाचारी वेदविरोधी इस अत्याचार को नहीं त्यागते। अनेक विवाह कर लेने से स्त्री जाति को क्या-क्या असह्य वेदना और पाप की वृद्धि होती इसको केवल विचारशील पुरुष ही जान सकता है। पिछले लोग वेदविरुद्ध कहा करते थे कि स्त्रियों को वेदाधिकार नहीं, परन्तु स्वामी ने दिखलाया कि पूर्वकाल में ऋषिवत् अनेक ऋषिकाएँ भी है। स्त्रियों के ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर वेदाध्ययन करने की स्वयं वेद भगवान् आज्ञा देते हैं। इस प्रकार स्वामी ने पुत्रियों का पूर्ण अधिकार स्थापित किया। इससे बढ़कर कौनसी पशुता है कि स्त्रीजाति को अन्नवत् केवल भोग्यवस्तु समझ वह प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान से दूर रखी जाये। अब वैदिक आज्ञानुसार कार्य भी आरम्भ हो गया है। अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर जालन्धर प्रभृति कन्यामहाविद्यालयों में ब्रह्मचारिणी कन्याएँ वेदवेदाङ्ग अध्ययन कर रही हैं।

देवताओं के नाम पर पशुवध करना अब तक कितने पुरुषों के निकट पाप नही माना जाता। परन्तु यह महापातक है। वेद इसके सर्वथा विरुद्ध हैं। दयानन्द स्वामी ने ही प्रथम इसकी शिक्षा प्रबलता के साथ विस्तृत की। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी जहाँ तहाँ कहा कि यज्ञ में पशुवध पाप नहीं। परन्तु सर्वप्राणिहितकर वेदतत्ववित् पिता दयानन्द ने ललकार कर कहा कि "हे पुत्र पुत्रियो! तुम किस अज्ञानान्धकार में बहे जा रहे हो। मुझ पर विश्वास करो। तुम्हारे परमपिता जगदीश की यज्ञ में पशुवध करने की आज्ञा नहीं"। आज

भी कितने ही अविश्वासी पुरुष दुर्गा, काली गङ्गा, सूर्य आदि देव देवियों के नाम पर पशुवध कर रहे हैं। स्वामी ने वेदानुसार बड़ी कठिनता से जड़ पूजा छुड़ा चेतन की ओर झुकाया। इससे बढ़ कर कौनसीं पशुता है कि मनुष्य जन्म पा कर भी सर्प, वृश्चिक, गर्दभ, मत्स्य, कच्छ, गृद्ध, नील कण्ठ, खंजन, वृषभ, महिष, गङ्गा, यमुना, समुद्र, पर्वत, प्रस्तर मूर्ति, सुवर्ण मूर्त्ति, मृत्तिका मूर्ति इत्यादि-इत्यादि की पूजा उपासना करें, इनकी स्तुति गावें। जड़ पूजा के छुड़ाने से स्वामी ने भारत का महान् उपकार किया। परम पिता जगदीश को भूल कर सब कोई बैठ गये थे, उसकी जगह अयोग्य उपासना करने लगे थे। इस जड़ोपासना से भारत की जो हानि हुई थी वह अकथ्य है। अविद्या रूप महा समुद्र में डूबे हुए आर्य पुत्रों को स्वामी ने हाथ पकड़ के ऊपर किया इससे बढ़ कर महान् उपकार अन्य कौन हो सकता है ? न्याय कर्त्ता स्वामी ने मनुष्य मात्र को योग्यता के अनुसार अधिकार दिया। इससे बढ़ के कौनसा अत्याचार है कि वंश के वंश को शूद्र, अन्त्यज नीच आदि पदवी दे मनुष्यता से उसको बाहर निकाल दो और किसी एक वंश को महा मूर्ख निरक्षर रहने पर भी ब्राह्मण, द्विवेदी, चतुर्वेदी, श्रोत्रिय, अध्यापक, पाठक, आचार्य, गुरु आदि पदवी देते जाना और दूसरी ओर इसके विपरीत करते जाना। यह कौनसा न्याय था ? इस महान् अन्याय को भी स्वामी ने हटाया। यहाँ के लोग कूप-मण्डूक हो चुके थे। इनके यहाँ समुद्र यात्रा करना महापाप, विदेश यात्रा महा पातक, मनुष्य स्पर्श भी महा दोष जनक, परन्तु मत्स्य मांस खाना, वेश्यानृत्य देखना, दीप मालिका में द्यूत खेलना, फाल्गुन में अवाच्य कथन करना, यज्ञों में अश्लील बकना, पशु मारना, त्रिवेणी, काशी, जगन्नाथादि स्थानों में प्राण त्यागना, विधवाओं को जलाना, पुत्रियों का हनन करना इत्यादि शतशः वेद विरुद्ध बातें पुण्य जनक मानी जाती थीं। महर्षि ने ही इस कूप-मण्डूकता को भी नष्ट किया। मैं कहीं अन्यत्र इनके गुण गण की गणना करूँगा। यहाँ स्थान और समय नहीं। सबसे बढ़ कर स्वामी ने तुम्हें वेद दिए। यद्यपि अनादि काल से वेद चले आते हैं और सृष्टि के अन्त तक रहेंगे। तथापि पाँच-छह सहस्त्र वर्षों से वेद एक प्रकार से लुप्त हो गये थे। क्योंकि वेदों का अर्थ कोई नहीं पढ़ता था। साँपों के मन्त्रों की गति वेदों की हो चुकी थी। बौद्ध, जैन, क्रिश्चियन और महुम्मदीय इत्यादिकों के तीक्ष्ण प्रहारों से और तुम्हारे आलस्य और अज्ञानता से वेदों की अति-शोचनीय दशा होने लगी थी। जो वेद केवल तुम्हारे ही सर्वस्व नहीं किन्तु समस्त पृथिवी के सर्वस्व हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य में दिव्य वाणी का प्रचार हुआ, जिनसे निखिल सभ्यताएँ और ज्ञान-

विज्ञान शतशः शास्त्र निकले, जिनके अधीन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जिनके बिना भारतवासी द्विज नहीं कहा सकते, जिनसे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त शुभ कर्म करते करवाते, जिनके ज्ञान बिना ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, श्रौत-धर्म सूत्रों, षड्दर्शनों, महाभारत, रामायण, पुराणों इत्यादि-इत्यादि लौकिक भाषाओं के तत्व का बोध ही नहीं हो सकता। जिनको न जान कर पृथिवी पर फैले हुए जेन्दावस्ता और ग्रीस आदि के इतिहासों और शब्दों का पता नहीं लग सकता, जिन की रक्षा सदा से ऋषि, मुनि, आचार्य, विद्वान्, राजा, महाराजा करते कराते आये, जिनके ज्ञान बिना भारत वर्ष में परस्पर विरुद्ध अनेक अवैदिक संप्रदाय चल पड़े, वे वेद आज पृथ्वी पर से प्रस्थान करने हारे ही थे कि महर्षि ने आकर उन की पूर्ण रक्षा की। इन में सब को रुचि दिलाई। इनका महत्त्व दर्शाया। इनका वास्तविक रूप प्रकट कर पृथिवी पर के मनुष्यों का उद्धार किया। निःसंशय, बहुत से ब्राह्मण वेद पढ़ते पढ़ाते हैं। परन्तु इनका अध्ययन अनध्यन के तुल्य ही है, क्योंकि इन के अर्थो को नहीं पढ़ते एवं करीब पाँच छः सहस्र सम्वत्सरों से वेदों के अर्थ भी प्रायः लुप्त हो गये थे। सायण, महीधर, कात्यायन, आपस्तम्ब, शौनक, यास्क आदिक वेदों के अर्थ कर जो दुर्म्माजनीय, अकथनीय लाञ्छन वेदों पर लगा गये हैं, उनका निकालना दुःसाध्य-सा हो गया है। यदि ये सब वेदों पर टीका टिप्पणी न कर जाते तो अच्छा था। परन्तु अब इन पर लोगों का इतना विश्वास हो गया है और भारतवासी ब्राह्मण भी इतने आलसी हो गये हैं कि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण पूर्वक वेदों के सत्यार्थ की अन्वेषणा करने में असमर्थ हैं। ऐसी-ऐसी घोर अन्धकार की अवस्था में पिता दयानन्द ने ही वेदों की पुनः स्थापना की और वेदों के सत्यार्थ जानने के लिए पूर्ण विधि उपाय और संकेत बतला गये, जिनकी सहायता से आप भारतवासी वेदों के सत्यार्थ निकाल सकते हैं, यदि आप इस कार्य में तत्पर हो जायें।

हे नर नारियो! मैं उस महर्षि के कहाँ तक उपकार गिनाऊँ। उनके जीवन-चरित्र में इनकी सर्व लीलाओं का श्रवण करो। परन्तु मैं तुमको चेताता हूँ कि तुम्हारा यही न्यायकारी, पक्षपात रहित, सम दृष्टि, जीवन प्रद, उद्बोधयिता, दूरदर्शी, शुभ चिन्तक, हितकारी पिता है। यही सत्योपदेष्टा गुरु है। यही ज्ञानप्रद शिक्षक है। यही आचार्यों का आचार्य है। यही तुम्हारा मंगलाभिलाषी नेता है। यही परम मान्य और पूज्य है। निःसन्देह, यही वैदिक-मार्ग प्रदर्शक भेजा हुआ संन्यासी है। इसपर विश्वास रख वैदिक आज्ञा पर चलो इसी से तुम्हारा उद्धार है। इति।

आर्यसमाज

यदार्य्याणां मध्ये निखिलगुणयुक्ता नरवराः
श्रुतौ पूर्णश्रद्धा ऋषिविहित-कर्मानुकुशलाः।
जनिष्यन्ते विज्ञाः परहितरता नित्यमुदिताः-
तदोद्धारो ज्ञेयो विपदि पतितानां भुवि नृणाम्॥

उस लोक-शुभाभिलाषी महर्षि दयानन्द की अनुकम्पा से आजकल भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक विभाग में वेदों का विचार हो रहा है। निःसन्देह, उन पुरुषों के लिए आज भी वही मन्दातिमन्द धर्मविध्वंसक कलियुग है। परन्तु जिन आर्यसमाजों में वेदार्थ पर गूढ़ धीर विचार, वेदों के गुप्त रहस्यों का प्रकाश तदनुकूल आचरण-रचना, प्रात्यहिक उभय सन्धोपासन इत्यादि शुभकर्म हो रहे हैं वहाँ उस कलि का निवास कहाँ? जहाँ कृतयुगवत् स्त्री पुरुष सम्मिलित हो यज्ञ करते हैं। जहाँ नर-नारी दोनों समान भाव से वेदों के अध्ययन अध्यापन में तत्पर हैं। जहाँ लोपामुद्रा, रोमशा, विश्ववारा इत्यादि ब्रह्मवादिनी के समान देश देशान्तर में जाके आर्यवनिताएँ पुरुष और स्त्रियों के मध्य वेदोपदेश देतीं हैं। जहाँ कन्याओं के अध्ययन अध्यापन के लिए प्रायः प्रत्येक आर्य-समाज ने कन्या पाठशालाओं में प्रायः ३००/४०० ब्रह्मचारिणी कन्याएँ शिक्षाएँ पा रही हैं। जहाँ बालकवत् कन्याएँ भी ब्रह्मचारिणी बन निज गृह परित्याग कर अध्यापिका, आचार्य के निकट विधिपूर्वक वास करती हुई विद्योपार्जन कर रही हैं। जहाँ कृतयुगवत् अनेक ब्रह्मचर्याश्रम पञ्जाब गुरुकुल, संयुक्त प्रान्तस्थ गुरुकुल इत्यादि स्थापित किये गये हैं। जहाँ कांगड़ी गुरुकुल में निज पितृकुल त्याग इस कुल में आ विधिवत् ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर आर्षनियमों को पालन करते हुए २५० दो सौ पचास बालक ब्रह्मचारी श्रीमान् महात्मा आचार्य मुंशीराम प्रभृति के निकट वैदिक शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। जहाँ वसिष्ठ विश्वामित्रादिक ऋषियों के समान भ्रमण कर अनेक महोपदेशक सार्वदेशिक संन्यासी स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी नित्यानन्द, स्वामी सत्यानन्द, स्वामी ओङ्कारसच्चिदानन्द, पंजाबस्थ पण्डित पूर्णानन्द, संयुक्तप्रान्तस्थ पण्डित नन्दकिशोर, मुम्बई प्रान्तस्थ पण्डित बालकृष्ण, विहारस्थ पण्डित शिवनन्दन प्रभृति शतशः महापुरुष, वैदिक धर्म की विस्तृति में तत्पर हैं। जहाँ बुधवर श्रीमान् पञ्चाम्बु देशी रामकृष्ण, बिहारस्थ श्रीमान् वालकृष्ण, संयुक्तदेशी श्रीमन् भगवानदीन, राजस्थानस्थ श्रीमान् बंशीधर इत्यादि अनेक उदारचरित महाशय तन, मन, धन से वैदिक धर्म के प्रचार में दत्तचित्त हैं। जहाँ वेदों के महत्त्व प्रदर्शनार्थ नित्य नवीन ग्रन्थ

निर्माण होते हैं। जहाँ के पुरुष अजमेरस्थ अनाथालय आदि अनेक अनाथालय स्थापित कर अनाथ बालक बालिकाओं का भरण पोषण कर रहे हैं ईदृग् पवित्र स्थानों में उस कलियुग का निवास कैसे हो सकता है।

धन्य वे पुरुष हैं जो सत्य को जान ग्रहण करते करवाते और असत्य को उतनी ही घृणादृष्टि से देखते हैं। धन्य वे हैं जो न्याय मार्ग को लोभ से, भय से, मोह से कदापि त्याग नहीं करते। धन्य वे हैं जो नाना दु:ख सहकर भी वैदिकधर्म के प्रचार में तत्पर हैं। निश्चय, आजकल वैदिक पुरुषों को नाना क्लेश उठाना पड़ता है। वे अपनी गढ़ी हुई जाति से च्युत किये जाते है। अज्ञानी जन इनको नास्तिक कहकर पुकारते हैं। अपने मन्दिर में भी सुख-पूर्वक बैठ उपासना नहीं कर पाते। निखिल सम्प्रदायी निष्कारण इनसे द्वेष रखते हैं। इन पर पत्थर फेंकते हैं। महोपदेशकों को कष्ट पहुँचाने के लिए नाना प्रयत्न करते हैं। निश्चय, यह वैदिक धर्म का प्रताप है कि शूर, वीर, आर्य विविध आपत्तियाँ झेलते हुए भी वेदों के प्रचार में अहोरात्र लगे हुए हैं। उन पण्डितों, महामहोपध्यायों उन राजाओं और सम्राटों से उनको मैं श्रेष्ठ मानता हूँ जो छल कपट से सर्वथा निर्मुक्त हैं और जानने पर सत्य का शीघ्र ग्रहण असत्य का त्याग करते हैं। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ वह मूर्ख पुरुष अच्छा है जिसका हृदय शुद्ध और सत्यग्राही है। परन्तु वह पठित पुरुष निकृष्ट है जिसका हृदय मलिन और सत्य को जान करके भी ग्रहण नहीं करता। बहुत से सुप्रसिद्ध पुरुषों का तप्तमुद्रा, तुलसी, रुद्राक्ष, शालग्राम, छापा, माला, बलिदान, जड़पूजा, आदि में किञ्चन्मात्र भी विश्वास नहीं हैं, परन्तु अपनी हृदय दुर्बलता के कारण उन व्यवहारों को करते करवाते हैं। निश्चय मैं कहता हूँ कि ये उन ईषद्विद्य आर्यों से अच्छे हैं जो इन तप्तमुद्रादि को वेदविरुद्ध जान तत्काल त्याग देते हैं। आजकल जनता को सुप्रसन्न रखने के लिए जानकर भी शतश: आत्म-विरुद्ध आचरण करने हारे बड़े-बड़े नामधारी जन विचरण कर रहे हैं। निश्चय, ये धोखा खायेंगे। इस कारण मै उन आर्य पुरुषों को सहस्रश: धन्यवाद देता हूँ जो सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग करने में सदा उद्यत हैं और महर्षि दयानन्द की आज्ञा को मानते हुए निर्भय हो वेदों का प्रचार कर रहे हैं।

साधु सम्मेलन

मैं इस जीवन यात्रा में जहाँ गया हूँ और आर्य पुरुषों का सत्सङ्ग हुआ है जहाँ-जहाँ वार्षिकोत्सव, प्रचार आदि अवसर पर आर्य पुरुषों के दर्शन करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, वहाँ मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैं उस समय यही अनुभव करता हूँ कि पुन: वसिष्ठ, विश्वामित्रादिक का समय आ पहुँचा। पुन:

मनुष्यों पर भगवान् की परम कृपा दृष्टि हुई। पुनः वेदों की स्थापना हो गई पुनः वही कृत युग आ गया। निश्चय, आर्य पुरुषों का सम्मेलन बड़ा ही आनन्दप्रद होता है। निरन्तर प्रार्थना, उपासना, उपदेश, व्याख्यान विविध शङ्का समाधान, कठिन-कठिन धर्म प्रश्नों पर विचार लोक यात्रा का उपाय चिन्तन। मनुष्य के कल्याण के लिए विविध तर्क वितर्क अनेक लोकोपकारी, आत्म-प्रसादक, परमात्मचिन्तन हितकर, सद्-वार्ताओं को सुन सुना मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ है वह अवर्णनीय है। वे भारतवासी अब तक वञ्चित हैं जिन्होंने इस नयन से कांगड़ी गुरुकुलोत्सव, फरुक्खाबाद गुरुकुलोत्सव, लाहौर वार्षिकोत्सव, जालन्धर वार्षिकोत्सव, इत्यादि आर्योत्सवों को नहीं देखा और आर्य महापुरुषों के दर्शन से आत्मा को पवित्र नहीं किया।

मैंने १०-१५ वर्षों की यात्रा में जिन-जिन महात्मा, आर्य पुरुषों के दर्शन किये और विविध भारतवर्ष के दिव्य स्थानों को देखा उनसे जो कुछ आत्मशान्ति हुई है, इन सबकी गाथा मैं पीछे लिखूँगा। यह गाथा बहुत रोचक और शिक्षा प्रद होगी। इस समय केवल उन स्थानों और महापुरुषों के अति संक्षिप्त विवरण के साथ नाम कीर्त्तन कर देता हूँ जहाँ मेरा समय अधिक व्यतीत हुआ और जिनके साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इससे धर्म जिज्ञासु पुरुषों को ज्ञात हो जायेगा कि इस जीवन यात्रा में मुझे कहाँ-कहाँ सज्जन धार्मिक पुरुष मिले और वे किस प्रकार वैदिक धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

बाँकीपुर—१८९७ ई० के पूर्व तीन चार वर्ष यहाँ व्यतीत हुए। यहाँ श्रीमान् नीलाम्बर प्रसाद युवास्था में वैदिक धर्म ग्रहण कर निरन्तर सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, यजुर्वेद और आर्य पुरुष कृत अन्यान्य ग्रन्थों का अनुशीलन करते रहते हैं। अपनी कायस्थ जाति से च्युत किये गये। लोग बड़ी घृणा दृष्टि से देखने लगे। परन्तु वैदिक धर्म से अणु मात्र भी विचलित नहीं हुए। यहाँ ही श्री० मिथिलाशरण भी वैदिक धर्म के परम हितैषी क्रिया पारायण और बिहार आर्यसमाजों के मन्त्री पद पर नियुक्त हैं। बाँकीपुर के निकट दानापुर बहुत सुप्रसिद्ध स्थान है। यहाँ श्रीमान् जनकधारी लाल जी यथार्थ में योगी हैं। महर्षि दयानन्द के दर्शन से इन्होंने अपने आत्मा को पवित्र किया है। यद्यपि एक इन्ट्रेंस स्कूल स्थापित कर राजकीय नियमानुसार ग्रंथ पढ़ाते हैं, परन्तु यहाँ विशेष कर वैदिक धर्म की ही शिक्षा देते हैं। इनके बड़े-बड़े योग्य शिष्य निकले हैं। महर्षि के ये विश्वासी शिष्य हैं। इनका वैदिक धर्म प्रचार करना ही मुख्य कार्य है। यद्यपि यह कहीं बाहर जाते नहीं, परन्तु अपने शुद्धाचरण से शतशः पुरुषों को वैदिक पथ पर ले आए हैं। ये योग

शास्त्र में बहुत दूर तक पहुँचे हुए हैं। दानापुर के निकट मुस्ताफ़ापुर नाम का एक ग्राम है वहाँ पण्डित शिवनन्दनजी का परिवार बहुत शुद्ध है। यहाँ बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए हैं। शिवनन्दनजी के उद्योग से एक वह शास्त्रार्थ हुआ जिसमें सम्पूर्ण बिहार के धुरन्धर पौराणिक पण्डित और मथुरा के दिग्गज आचारी विद्वान् एकत्रित हुए थे। १०,००० दश सहस्र से न्यून दर्शक एकत्रित नहीं होते थे। निरन्तर चार दिवस शास्त्रार्थ होता रहा। आर्य पुरुषों की ओर से विद्वद्वर्य श्रीमान् रूद्रदत्तजी मुख्य वक्ता नियुक्त थे। मैं, श्री ब्रह्मानन्द जी, श्री० जनकधारीलाल, श्री० ठाकुरप्रसाद आदि सहायक थे। आर्यों की विजय हुई। शास्त्रार्थ का परिणाम देख प्रायः सब बिहारी दर्शकों को निश्चय हो गया कि वेदों में मूर्ति पूजा नहीं हैं। जिस आचारी ने शास्त्रार्थ करवाया था उसने पुनः मुख नहीं दिखाया। बिहार से भाग कहाँ चला गया मुझे पता नहीं लगा। मालूम होता है कि मूर्ति पूजा का मिथ्यात्व जान उसे त्याग कहीं तपश्चरण के लिए चला गया हो। पुनः वहाँ ही पण्डितों की अधोगति प्रदर्शक एक घटना १९०५ ई० में हुई। कोई महाधूर्त्त "अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठ सर्पिणं वायवे चाण्डालम्" इत्यादि यजुर्वेदीय ३०। २१ वीं कण्डिका में "आखुवाहनं गजाननाय" इतना पद मिला कर कहने सुनने लगा कि देखो, गणेश और चूहे की पूजा वेदों में लिखी हुई है। बड़ी कठिनता के साथ वह धूर्त्त अपने दण्डनीय दुष्कर्म से निवृत्त किया गया और बिहारी पुरुषों को पुनः निश्चय हुआ कि वेदों में निरर्थक वार्ता नहीं है। इत्यादि वेद प्रचार सम्बन्धी अनेक कार्य पण्डित शिवनन्दन जी के द्वारा हुए और होते रहते हैं। बाँकीपुर में श्रीमान् हजारीलाल और श्री श्रीकृष्णलाल ये दोनों पुरुष सदा वैदिक धर्म प्रचार में लगे रहते हैं।

श्रीमान् पण्डित ब्रह्मानन्दजी आज बिहार, बंगाल, राजपूताना, बम्बई और पंजाब के समाजों में सुप्रसिद्ध हैं। यह आरा निकटस्थ डुमरा ग्राम के निवासी हैं। इनके ऊपर ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है। इनके दर्शन में भक्ति टपकती है। ईश्वर पारायण, स्वामी के दृढ़ विश्वासी हैं। निःस्वार्थ भाव से आर्यसमाज की सेवा कर रहे हैं। मधुरभाषी, मधुरवक्ता हैं। जब ये ईश्वर की प्रार्थना करते हैं तो श्रोता सुनकर भगवत्तन्मय हो जाते हैं। आजकल श्रीमान् महात्मा मुंशीराम के निकट कांगड़ी गुरुकुल में निवास कर रहे हैं। इन्होंने वैदिकधर्म के लिए विविध कष्ट उठाये हैं।

रांची—यह बंग के अन्तर्गत छोटानागपुर में सुन्दर, रमणीय पर्वतावृत स्थान हैं। यहाँ बिहार बंग के प्रधान श्रीमान् मान्यवर बालकृष्णसहाय निवास करते हैं। १८९८ ई० से ले के दो तीन वर्षो से अधिक मैंने इनके साथ निवास

किया। इनके सङ्ग से मुझे जितना आत्म लाभ हुआ है उसका वर्णन यहाँ मैं नहीं कर सकता। वेदों का मनन और निदिध्यासन यहाँ ही यथार्थ रूप से आरम्भ हुआ। इन्होंने साप्ताहिक समाज में वेदों पर व्याख्यान और आर्यावर्त्त पत्र में लेख देने के लिए मुझे प्रेरित किया। अत: मुझे वेदो का मनन करने का अधिक अवसर मिला। मैं निरन्तर तीन चार वर्ष आर्यवर्त्त पत्र में वेद सम्बन्धी लेख देता रहा। श्रीमान् बालकृष्णसहाय के ऊपर वैदिकधर्म के ग्रहण के कारण अनेक आपत्तियाँ आई। जातिच्युत किये गये। नाई धोबी तक बन्द कर दिए गये। सब क्लेशों को सहते हुए धर्म में पर्वतवत् स्थिर रहे। नियमपूर्वक ईश्वरोपासना, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासनादि कर्म करते हैं। इनके उपदेश से रांची नगर पवित्र हो रहा हैं। वेश्याओं का नृत्य यहाँ अब नहीं होता। फाल्गुन में विरला ही कोई छिपकर अवाच्य गीत गाता है। इनके भय से कोई दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। यह स्वयं स्थान-स्थान पर जा के उपदेश द्वारा नगर वासियों को वैदिक पथपर लाते हैं इनके सहायक अनेक योग्य आर्य श्रीमान् जयनारायण सहाय आदि पुरुष हैं।

अजमेर—१९०३ से १९०६ तक यहाँ मेरा निवास था। अजमेर अनेक प्रकार से विख्यात स्थान हो गया है। पौराणिकों का परमपवित्र पुष्कर स्थान इसी के निकट है। यहाँ रेल पर से उतरकर लोग पुष्कर जाते हैं। भारतवर्ष में यहाँ ही ब्रह्मा की मूर्ति है। मुसलमानों का भी यह पवित्र स्थान है। ये इसको अजमेर शरीफ नाम से पुकारते हैं। मक्का से द्वितीय दर्जे पर इसी को मानते हैं। ख्वाजासाहब के नाम पर यहाँ बड़ा मेला लगता है। यहाँ ही जगद्वन्द्य महर्षि का शरीर पात हुआ था। यहाँ ही अब कई वर्षों से स्वामी-स्थापित वैदिक यन्त्रालय है जहाँ से स्वामी-कृत सर्वग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, जहाँ से चारों मूल वेद प्रकाशित हो स्वल्प मूल्य पर विक्रय होते हैं। यहाँ श्रीमान् वंशीधर जी, श्रीमान् रामविलास जी, श्री कन्हैयालाल जी, श्री रामचन्द्र जी, श्री गौरीशङ्कर जी तथा श्रीमान् ब्रह्मदत्त जी आदि अनेक पुरुष वैदिक धर्म में रत हैं। यहाँ के दो रत्न पद्मचन्दजी और शिवप्रसाद जी गतवर्ष में आर्य पुरुषों से बिछुड़ गये। यहाँ रहकर मैंने जयपुर, भरतपुर, अलवर, बूंदी, कोटा, इन्दौर, भरोंच आदि अनेक स्थानों में भ्रमण किया और छान्दोग्योपनिषद और बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य रचे।

पंजाब की यात्रा

अजमेर से प्रस्थान कर ईसवीय १९०६ अगस्त को पंजाब के जालन्धर नगर में मैं पहुँचा। पंजाब प्रतिनिधि की सहायता से यहाँ के प्रसिद्ध बड़े-बड़े

नगरों में मेरी यात्रा हुई। लाहौर; अमृतसर, रावलपिण्डी, मुलतान, पेशावर, डेरागाजी खाँ, डेरासमाइल खाँ, झंग, स्यालकोट, पटियाला, कालका, डरसाई, शिमला, बलूचिस्तान का कोटा, सिन्ध देश के शख्खर, कराची इत्यादि। इस प्रतिनिधि के अधीन १७५ समाज हैं। इस देश के मनुष्य स्वतन्त्रता प्रिय और परिश्रमी हैं। यहाँ राजस्थान, बंग, बिहार आदि के समान बारम्बार दुर्भिक्षदेव की कृपा नहीं होती। यहाँ के कृषक प्रायः सुखी हैं। सामान्य भाव से यहाँ के लोग प्रत्येक विषय में पटु हैं। इन्होंने अपने देश का व्यापार इस प्रकार संभाल रखा है कि मारवाड़ी और पारसी का आगमन बहुत कम होता है। राजकीय कार्य के प्रत्येक विभाग में पंजाबी नियत हैं। यहाँ आर्य पुरुषों का प्रताप सर्वत्र विराजमान हैं। बड़े-बड़े यहाँ उत्सव होते हैं जहाँ चालीस-चालीस पचास-पचास सहस्र नर नारियाँ एकत्रित होते हैं। लाहौर का और गुरुकुल काँगड़ी का उत्सव प्रसिद्ध है। जब से मैं यहाँ आया हूँ पंजाब प्रतिनिधि के प्रधान पद पर श्रीमान् रामकृष्ण जी ही विद्यमान हैं। मन्त्री पद पर श्रीमान् केदारनाथ जी, श्री० परमानन्द जी, तथा श्री० चिरंजीव भारद्वाज जी नियुक्त हुए। वर्तमान काल में श्रीमान् परमानन्द जी मन्त्री हैं। मेरी बहुत दिनों से वेद सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने की उत्कट इच्छा थी यद्यपि आर्यावर्त पत्र में वेद सम्बन्धी छोटे-छोटे कई लेख निकले थे परन्तु पुस्तकाकार में मुद्रित न होने से लोगों को उतने लाभदायक न हुए और वे बहुत थोड़े ही विषय थे। वेदों के विचार पर ही मैं सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। अतः अभी तक ऐसी कोई सुविधा नहीं हुई थी कि निश्चिन्त होके मैं इस महान् कार्य का आरम्भ करूँ। ईश्वर की कृपा से पंजाब देश में आजकल वैदिक धर्म का अधिक प्रचार है। यहाँ के प्रधान महाशय से इस विषय में वार्तालाप होने पर उन्होंने बड़े उत्साहपूर्वक कहा कि यह कार्य अवश्य होना चाहिये। जो-जो सहायता इस कार्य के लिए अपेक्षित होगी, मैं प्रतिनिधि की ओर से उसको पूर्ण करने के लिए प्रयत्न करूँगा। श्री प्रधान जी ने बहुत सा कार्य भार आर्य मुसाफिर उर्दू पत्र के सम्पादक श्री वजीरचन्द जी पर सौंपा। इनसे समय-समय पर मुझे बहुत सहायता मिलती रही।

पंजाब में बड़े-बड़े उच्च भाव के और आनुष्ठानिक आर्य पुरुष वास करते हैं। उन महापुरुषों के सच्चरित्र यहाँ स्थानाभाव से नहीं लिखता हूँ। जिनके साथ मेरा घनिष्ट सम्बन्ध हुआ है उनमें केवल दो चार महाशयों के नाम उत्कीर्तन करता हूँ। क्योंकि—

'नह्यम्मयानितीर्थानि-नदेवामृच्छिलामयाः'।
सन्तस्तीर्थानि देवाश्च-सन्तः सेव्या मुमुक्षुभिः ॥ १ ॥
विदित्वा सत्यमादत्ते-जहात्यसत्यमाशु यः।
सन्तः सन्निहितं प्राहुर्धर्म्मतत्व विचक्षणाः ॥ २ ॥

गङ्गा, यमुना आदि जलमय तीर्थ नहीं और न मिट्टी, पत्थर की मूर्तियाँ देव हैं। किन्तु सन्त ही तीर्थ और देव हैं। मुमुक्षु पुरुषों के सन्त ही सेव्य हैं। १।

जो जानकर सत्य ग्रहण करता और असत्य को शीघ्र त्यागता धर्मतत्त्वज्ञ सन्त महात्मा उसको 'सन्त' कहते हैं। २।

निःसन्देह सन्तों का सङ्ग संत पुरुष ही जानते हैं।

श्रीमान् महाशय रामकृष्ण जी

स ए वीरो महतां महिष्ठः स एव धीरो विदुषांगरिष्ठः।
स एव मान्यो मनुजैः सुपूज्यो-यः सत्यधाता च्छलहीनचेताः ॥

निश्चय श्रीमान् प्रधान रामकृष्णजी महाशय पंजाब के शिरोमणि हैं। लोग समुद्र को अगाध, स्थिर और अक्षोभ्य कहते हैं। परन्तु नहीं। श्री रामकृष्ण समान पुरुष ही गुणों से अगाध और अक्षोभ्य हैं। प्राचीनकाल में सत्यवादीमात्र युधिष्ठिर कहाते थे। परन्तु रामकृष्णजी केवल सत्यवादी ही नहीं किन्तु असत्य त्यागी और सत्यग्राही हैं। सुना जाता है कि नीति शास्त्र के विशारद बृहस्पति और चाणक्य आदि आचार्य हुए हैं! परन्तु आजकल मूर्तिमती नीति का दर्शन करना चाहते हैं तो इनके दर्शन से लाभ उठाइये। सुनते हैं कि बादशाह अकबर के दरबार में बीरबल नाम का पुरुष नीतिमान्, सुप्रबन्ध-कर्त्ता, राज्य-धुरंधर था परन्तु आज आर्यसमाज के साक्षात् वीरबल आप ही हैं। परीक्षित के समान आप कलि के विजेता हैं। ऐसे महापुरुषों के चरित्रों का उल्लेख करना सहज कार्य नहीं। क्योंकि कहा गया है—

कथंलिखेन्मानव चित्तवृतिं विभिन्नरूपा मपरैंरगभ्याम्।
भ्रमन्ति विज्ञा कवयोऽपि यत्र यतो नराः सन्ति समा न सर्वे।
अगाधमाहुश्चरितं नराणां मेधावतां शीलवतां बुधानां।
धर्मे सदास्थापित-मानसानां-परोपकारेऽर्पितवैभवानाम्॥

आप आजकल जालन्धर को सुभूषित कर रहे हैं। करीब २० वर्ष से लगातार वैदिक धर्म की सेवा में तन, मन, धन, से तत्पर हैं। निरभिमानी आप इतने हैं कि पंजाब प्रतिनिधि के प्रधान होने पर भी उत्सवों पर निज हाथ से कुर्सी, बैंच, फ़र्स लगाते हैं। एक साधारण सिपाही के समान सकल कार्य का

प्रबन्ध करते रहते हैं। लोकैषणा से ये इतने विरत हैं कि दाहिने हाथ से किये हुये शुभ कार्य को वाम हाथ को व वाम हाथ से किये हुये शुभ कार्य को दाहिने हाथ को जानने नहीं देते। ऐश्वर्यशाली रहने पर भी ऐसा सादा वेष रखते हैं कि एक साधारण गृहस्थ से प्रतीत होते हैं। भृत्यादि सेवक रहने पर भी अपने हाथ से प्रायः भृत्योचित कार्य कर लेते हैं। जैसे धनाढ्य पुरुष विविध वेष परिवर्तन करते रहते हैं वह अभ्यास आपमें नहीं। केवल स्वच्छ वेष के अनुरागी है। एक व्यसन ने भी इन के निकट आने का साहस नहीं किया है। पंजाब में हुक्का चिलम का व्यवहार अधिक है। परन्तु आप इससे सर्वथा निवृत हैं। आप बहुत ही सूत्रवत् सारगर्भित मितभाषी हैं। मुनिवत् मनन कर्त्ता हैं। प्रतिनिधि सम्बन्धी गूढ़-गूढ़ प्रश्नों का हल आपने किया है। जबसे आपने पंजाब के प्रधान-पद को सुशोभित किया है तब से इनके संभाले हुए कार्य में ढूँढ़ने पर भी एक छिद्र नहीं मिलता। एक प्रकार से पंजाब के समस्त आर्यसमाज इन सुयोग्य पुरुष पर समस्त कार्य भार देकर निश्चिन्त हो गये हैं। समाजों के बड़े-बड़े नीति विशारद और बड़े-बड़े उच्च भाव के पुरुष इनकी सम्मति सुन चकित हो जाते हैं और बड़ी शान्ति से इनके अधीन कार्य करते हैं। निःसन्देह, पंजाब प्रतिनिधियों की अन्तरङ्ग सभा को अपने अधीन में करके रखना प्रबल बुद्धिमान पुरुषों का कार्य है। जिस अन्तरङ्ग सभा में हाऊस ऑफ लार्डस और हाऊस आफ कामन्स दोनों सम्मिलित हैं। जिसमें बड़े-बड़े धार्मिक और नीतिशास्त्र के अन्त तक पहुँचे हुए महापुरुष बैठते हैं। उसको उचित रीति से किन्होंने यदि सन्तुष्ट रखा है तो आपका ही यह कार्य है। आर्यसमाजों के जान माल आप ही हैं। मैं विशेष क्या लिखूँ जहाँ तक मुझे मालूम है श्रीमान् महा० मुन्शीरामजी यदि किन्हीं की सम्मति को गौरवान्वित समझते हैं तो पंजाब में एकमात्र श्रीमान् रामकृष्णजी की वह सम्मति है। आप प्रत्येक कार्य में ऐसे निपुण हैं कि वर्षो का कार्य महीने में कर लेते हैं। आप बड़े हँसमुख और शान्त दर्शनी मूर्ति हैं। प्रायः इनका कोई शत्रु उत्पन्न ही नहीं हुआ। क्योंकि यह सबको अनेक तरह से कल्याण पहुँचा रहे हैं। किन्हीं को निज शुभ सम्मति से, किन्हीं को शारीरिक सहायता से, किन्हीं को आपत्ति में धनादि की सहायता से, किन्हीं को विपत्ति में धैर्य प्रदान से। जालन्धर का द्वाबा हाई स्कूल आपकी ही सहायता से चल रहा है। कन्या महाविद्यालय के भी प्रधान रह चुके हैं। आर्यों के लिए यह कोई प्रशंसा की बात नहीं कि प्रत्येक संशोधन के कार्यों में तत्पर रहते हैं। क्योंकि आर्य पुरुषों के इसी महान् कार्य के लिए जन्म कर्म हैं वैदिक धर्म का प्रचार करना करवाना, देश की

निखिल बुराइयों को दूर करना करवाना, न्याय को शरण देना दिलवाना, गरीबों और पतितों को ऊपर उठवाना, सबसे प्रथम अपने आचरण को शुद्ध करना, छल कपट को निर्मूल करने में तत्पर रहना, सत्य ग्रहण, असत्य त्याग में सदा उद्यत रहना, लोभ मोह परित्याग, जितेन्द्रियता, कर्म परायणता, आत्मनिर्भरता, ईश्वर में परमभक्ति, जीवात्मा में विश्वास इत्यादि गुण जैसे आर्य पुरुषों में होने चाहिये। श्रीमान् रामकृष्ण जी में किसी गुण की न्यूनता नहीं। आर्यसमाज के ये ऐसे महापुरुष हैं यदि इन पर कार्य भार दिया जाये तो एक भारत का क्या कई एक भारतों का सहजतया शासन कर सकते हैं। किमधिकम्।

वेदाय जीवनं यस्य तद्रक्षायैव वैभवम्।
मनस्तस्यैव संवृद्धये तत्सेवायै कलेवरम्॥ १ ॥

तस्य श्री रामकृष्णास्य सर्वलोक हितैषिणः।
पवित्र चरितं रम्यं सेव्यतां भुवि मानवाः॥ २ ॥

धर्मज्ञो नीतिमान् वीरो निर्विकारश्च निर्भयः।
शान्तो जितेन्द्रियो धीरः सत्याश्रयश्च निश्छलः॥ ३ ॥

आर्याणां नायकः श्रीमान् रामकृष्णो गुणैर्वरः।
अग्निहोत्री कर्मपरो विदुषामपि शिक्षकः॥ ४ ॥

ब्रूते मितं सूत्रवदर्थगूढ़-क्षिप्रंसुधीस्तत्त्वतलं प्रयाति।
पञ्चाँम्बुदेशस्य समाजमध्ये-प्रशस्ति सम्यग् जनतामुदाराम॥ ५ ॥

सर्वैगुणैः पूरितमानसोऽयंप्रशान्तधीर्धैर्य्यवतां वरिष्ठः।
अजातशत्रु निखिलैः सुपूज्यः श्रीरामकृष्णो जयतु प्रधानः॥ ६ ॥

यदाऽर्य्याणां मध्ये निखिलगुणयुक्ता नरवराः-
श्रुतौ पूर्णश्रद्धा ऋषिविहितकर्मानुकुशलाः।
जनिष्यन्ते विज्ञा परहितरता नित्यमुदिताः-
तदोद्धारो ज्ञेयो विपदि पतितानां भूवि नृणाम्।

श्रीमान् महात्मा मुन्शीराम जी।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशासि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

(भर्तृहरि)

वैदिकधर्म के एकमात्र जीवन, आर्यसमाज के प्राण स्वरूप, पुरुषार्थ की साक्षात् मूर्ति, धर्म दृढ़ता के शैल, शरीर धारी त्यागी, मूर्तिमान् विश्वास, स्मृतिमान्,

लक्ष्मीवान्, नीतिमान्, प्रतापी, प्रतिभाशाली, मेधा-सम्पन्न, जितेन्द्रिय, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी, अक्षोभ्य, अधर्षणीय, दयावान्, उन्नतकाय, प्रांशुबाहु श्रीमान् महात्मा मुन्शीराम जी के दर्शन से लाभ उठाना चाहते हैं तो हरिद्वार के निकटस्थ, पर्वताऽऽवृत, गङ्गाकूलस्थ, वनोपवन विभूषित, काँगड़ी गुरुकुल में अनेकाध्यापक-संयुक्त ब्रह्मचारिगण परिवेष्टित, आचार्य श्रीमान् मुन्शीराम जी के दर्शन से आत्मलाभ प्राप्त कीजिये।

कोधन्यः कृतिनां लोके-परार्थे यस्तु जीवति।

इस लोक में वैज्ञानिक पुरुषों के मध्य पुण्यवान् पुरुष कौन है ? दूसरों के लिए जो जीता है।

निश्चय, महर्षि के पुण्यदर्शन दिन से महात्मा श्रीमान् मुन्शीराम जी का सम्पूर्ण जीवन परार्थ में व्यतीत हो रहा है। परोपकार साधन में विघ्न न हो, सत्यता के ऊपर मेरी ओर से किञ्चिन्मात्र भी लाञ्छन न लगे और लोभवश धर्म की हानि न हो इत्यादि शुभकामना से प्रचुर धनप्रद वकालत को इन्होंने त्याग दिया। और जो कुछ वित्तोपार्जन किया था उन निखिल वित्तों को भी वैदिक धर्म के प्रचार में वितरण कर दिया। अन्त में कई एक सहस्त्र की सम्पत्ति छापाखाने को भी मङ्गलेच्छा से वेदप्रचार के सहायतार्थ पंजाब प्रतिनिधि के अधीन कर बड़ी उदारता दिखलाई। दानपात्र दीन पुरुष कोई भी कभी इनके यहाँ से निराश होके न लौटा। इनके बहुत से दान ऐसे हैं जिनको प्रायः ग्रहीता के सिवाय अन्य कोई नहीं जानता। शक्ति के अनुसार आर्यावर्त में दानी बहुत हैं। परन्तु सर्वस्व दाता विरले ही रघु उद्दालक आदि कभी हुए थे। लोकैषणा के वशीभूत हो प्रत्यक्षरूप से इन्होंने सर्वस्व त्यागात्मयाग नहीं किया किन्तु गुप्तरीत से वैदिक मर्यादा की रक्षा की इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि वेद कहता है कि जीवनभर में एक बार अवश्य सर्वस्व दक्षिणा नाम का अध्वर करें। स्वामी जी के पश्चात् आर्यसमाज को विधिवत् चलाने हारे स्वल्प पुरुष रह गये थे। पण्डित गुरुदत्त जी के देहान्त के अनन्तर इसकी रक्षा का कार्य दुस्तर हो गया था परन्तु स्वामी जी के सर्वकार्य को गुणी अनुभवी सुपुत्रवत् आपने ही सँभाल लिया। इसलिये सम्प्रति सर्व आर्यसमाजों के ये ही एकमात्र जीवनप्रद हैं यह कहना अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों से उन्होंने इस गुरुतर कार्य को सिद्ध कर दिखलाया। आर्यावर्त्त का सुप्रसिद्ध कोई समाज छूटा हुआ न होगा जहाँ जाके उपदेश, शिक्षा, अनुभव व्याख्यान और सुधार के लिए योग्य सम्मति देकर रक्षा न की हो। एक पूज्य पिता का लगाया हुआ वृक्ष नित्य पुष्पफलप्रद होता जाये "दिन दुगन रात चौगुन इसकी वृद्धि हो" ऐसा

शुभ मनोरथ कर पंडितों और संन्यासियों की मण्डली बना स्थान-स्थान जाके वैदिकधर्म की रक्षा में तत्पर हुए। केवल इतना ही नहीं किन्तु ''स्वामी की आज्ञा है कि वेदानुकूल सबसे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम यदि पृथिवी पर पुनः स्थापित हो तो यहाँ शीघ्र कल्याण हो'' अतः ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना का सौभाग्य कई सहस्त्र वर्षों के पश्चात् आपको ही प्राप्त हुआ। यद्यपि श्री स्वामीजी की ब्रह्मचर्याश्रम स्थापना की उत्कट इच्छा थी परन्तु ''कालो हि बलवत्तरः'' उस समय यह कार्य न हो सका। और कलियुग के सर्व धर्मशास्त्री कह गये थे कि इस युग में केवल एक गृहस्थाश्रम की ही विधि है ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीन आश्रमों की नहीं। अतएव इस अन्धकार के समय में इन आश्रमों के स्थान वैष्णव, गिरि, पुरी, उदासी आदिकों ने ले लिये थे। अतः प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना करना कितना कठिन कार्य था। ऐतिहासिक और अनुभवी पुरुष ही जान सकते हैं। सब कठिनाई को विध्वंस कर इस गुरुतर कार्य में भी आप ही प्रथम कृतकृत्य हुए। इसका पुष्ट साक्षी कांगड़ी गुरुकुल है। जहाँ २५० ब्रह्मचारी अध्ययन कर रहे हैं। 'स्वामी जी वेदानुसार आज्ञा दे गये थे कि किसी प्रकार का स्पर्शदोष जातिव्यवहार आदि न रहना चाहिये'। इसका भी आपने अच्छे प्रकार निर्वाह किया। जिन जातियों को आज वेदद्वेषी, अनभिज्ञ पुरुष अस्पृश्य कहकर उनसे अति घृणा करते हैं उन पंजाबी रहतिआ प्रभृति जातियों के पुरुषों को भी छाती से लगाने के लिए प्रथम आप ही अग्रसर हुए और उन्हें विधिवत् वैदिक धर्म में सम्मिलित कर उनके हाथों से खाते पीते गये। वसिष्ठादि सहित क्या भारतमुकुट श्री भरत महाराज ने निषाद (पतित) गुह के हाथ से अन्न ग्रहण नहीं किया था? इस पाखण्ड का भी विध्वंस करने का मौका प्रथम आपको उपलब्ध हुआ। इसके लिए कतिपय दुष्ट पुरुष उन्हें विविध कष्ट पहुँचा कर भी संतोष न कर सरकारी कचहरी तक उन्हें ले गये। अन्त में शत्रुओं का ऐसा मुख काला हुआ कि देश छोड़कर इधर उधर भाग गये।

इससे भी बढ़कर वैदिक आज्ञानुसार इन्होंने बड़ा संशोधन किया। भारतवर्ष में जब से अवैदिक जातियाँ बहुत सी बन गई तब से परस्पर खान, पान विवाहादि सम्बन्ध सर्वथा टूट गया, आधुनिक धर्मशास्त्रियों के कथनानुसार अनुलोम विवाह भी अब कहीं भारत में प्रचलित नहीं। प्रतिलोम की तो चर्चा ही क्या। परन्तु आपने प्रतिलोम सम्बन्ध करके दिखला दिया कि इस अवैदिक जातीय बन्धन को तोड़ने से ही वैदिक धर्म पृथ्वी पर फैल सकता है। पुत्री अमृतकला का विवाह आपने गुण कर्मानुसार परन्तु आधुनिक प्रतिलोम रीति

से करवाया। उस समय अतिनिकटस्थ सम्बन्धी एवं बहुत से दोस्त, मित्र भी इनसे विरुद्ध हो गये। परन्तु बड़े धैर्य से इस आपत्ति को भी सहन कर धीरता के साथ आर्यभाइयों को समझाया कि 'प्यारे आर्यभाइयो ! तुम वैदिक पथानुयायी हो करके भी अपनी निर्बलता दिखलाते हुए मुझको भी वेदपथ से दूर कर दुर्बल बनाना चाहते हो। यही वेद की आज्ञा है। तुम सब भी इस पर चलो'।

पंजाब प्रतिनिधि के मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता आप ही हैं। प्रथम नाममात्र का प्रतिनिधि था। आपने स्वामी ब्रह्मानन्द, पूर्णानन्द आर्यमुनि, लेखराम आदि अनेक विद्वानों की मण्डली बना पंजाब में भ्रमण कर प्रतिनिधि को दृढ़ किया। मांसभक्षण के उपद्रव को शान्त किया। पंजाब प्रतिनिधि का कोश, कालेज विभाग से पृथक् होने के समय, धन शून्य था प्रत्युत ऋण ग्रस्त था। आपके ही उद्योग से आज यह प्रतिनिधि कई लक्षों की सम्पत्ति की स्वामी है। प्यारे आर्य भाइयो ! मैं महात्माजी की जीवनी यहाँ नहीं लिखना चाहता, यह दिखलाना चाहता हूँ कि वैदिक धर्म के प्रचार में कौन-कौन महापुरुष लगे हुए हैं। और उनसे क्या-क्या परोपकार हो रहा है। महापुरुषों की कीर्त्ति के गान से भविष्यत् सन्तान को अनेक लाभ पहुँचता है। उन्हें कार्य करने की सीधी पद्धति मिल जाती है। इनकी बाधाएँ बहुत-सी नष्ट हो जाती हैं। अतः दो एक बातें यहाँ लिखे देता हूँ। काँगड़ी गुरुकुल-यह प्रायः सब आर्य भाई जानते हैं कि इस गुरुकुल के जनक आप ही हैं। थोड़े ही दिनों में क्या अद्‌भुत कार्य आपने करके दिखला दिया। निश्चय आपका पुरुषार्थ सर्व प्रकार से प्रशंसनीय है। संस्कृत भाषा केवल गिनती के ही पुरुषों में रह गई थी। पौरोहित्य वृत्ति वाले ही इसको किञ्चित् पढ़ते पढ़ाते थे। जब किसी सेठ, साहूकार, जमींदार, राजा, बाबू आदि से कहा जाता था कि संस्कृत अवश्य पढ़नी चाहिए तो तत्काल उत्तर मिलता था कि क्या सन्तान को भिक्षुक बनाना है। क्या हमें कहीं सत्यनारायण भागवत आदि की कथा कहनी है या श्राद्ध भोजन करना है जो हम अपने सन्तान को संस्कृत पढ़ावें। इसलिए सर्वसाधारण नर-नारियों में संस्कृत का प्रचार करना अति कठिन था। परन्तु वेदों के प्रचारार्थ प्रथम इसके प्रचार की बड़ी आवश्यकता थी। स्वामी जी की आज्ञा भी ऐसी ही थी। इस हेतु महान् दुःसाध्य कार्य में भी प्रथम आप ही अग्रसर हुए। अपने दोनों पुत्र चिरंजीव हरिश्चन्द्र और इन्द्र चन्द्र को प्रथम संस्कृत के अध्ययन में नियुक्त कर अन्यान्य आर्य भाइयों को इस ओर आकृष्ट करने लगे। ईश्वर की कृपा से इस कार्य में भी असाधारणतया कृतकृत्य हुए। संस्कृत विद्या के साथ-साथ ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना अति कठिन कार्य था। क्योंकि प्रथम

संस्कृत में ही किसी की रुचि नहीं, दूसरा-इसके अध्ययन से कोई नियत जीविका मिलने की आशा नहीं। तीसरा-१६, २४, ३२, ४८ वर्ष तक कौन धार्मिक दम्पती हृदयाह्लादकारी, जीवन स्वरूप सन्तान को अपने गृह से पृथक् रखना चाहते। चतुर्थ-आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के काशी, नवद्वीप, आदि संस्कृत क्षेत्रों में केवल ब्राह्मण कुमार ही संस्कृत अध्ययन करते है। अतः संस्कृत भाषा के साथ सर्वसाधारण को लेके ब्रह्मचर्याश्रम को खोलना कुछ सहज कार्य नहीं था। परन्तु आपने इन सब की किञ्चन्मात्र भी चिन्ता न करके स्वामी जी की आज्ञा देख इसकी स्थापना कर ही दी। इस समय यहाँ २५० ब्रह्मचारी वेद वेदाङ्ग अध्ययन कर रहे हैं। जहाँ कभी प्रायः सहस्रों वर्षो से किसी महात्मा का चरणारविन्द न पड़ा होगा, आज वहाँ वेदों की ध्वनि, उभयकाल अग्निहोत्र विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का ग्रहण और वेद वेदाङ्गों का मनन हो रहा है। इसके दर्शन से यही प्रतीत होता है कि ऋषियों का समय अब शीघ्र आने हारा है।

महात्मा जी में अनेक गुण अपूर्व रूप से स्थित हैं। यदि ये लोकैषणा के दास होते तो आज नैशनल कांग्रेस के लीडर बन कर बहुत सी पदवियाँ प्राप्त किये रहते। इसको इन्होंने अनुचित समझा। प्रिय भ्राताओ! मैं यहाँ पुनः-पुनः दुहराता हूँ कि यथार्थ लीडर वा नायकोत्तम वह है जो सत्य की सदा रक्षा करता है। जो मनुष्यों से अवगुणों को दूर करता है। जाति भेद, मूर्ति पूजा, श्राद्ध, आदिकों में विश्वास न रखते हुए भी और उनको मिथ्या जानते हुए भी कतिपय भारत के लीडर लोक-प्रसन्नार्थ उनको करते करवाते मानते मनवाते हैं। क्या यह वीरता शूरता है ? क्या एक उत्तम नायक को यह बात शोभित हो सकती है ? क्या इस ब्याज से मनुष्य जाति का उद्धार हो सकता है ?। एवमस्तु। महात्मा जी लोकैषणा के दास न होके वैदिक धर्म की रक्षा में तत्पर हैं। नियम पूर्वक दोनों काल सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रादि का सेवन करते हैं। आप व्याख्यान दाताओं में श्रेष्ठ हैं। तीन-तीन घण्टे लगातार एक स्वर से भाषण करते हैं। मधुरता का कहीं विच्छेद नहीं होता जिस रस का वर्णन करने लगते हैं उसकी साक्षात् मूर्ति दिखला देते हैं। आकर्षण-शक्ति इनमें अपूर्व है। जहाँ कहीं किसी ने इनका आगमन सुना इनके दर्शन के लिए झुण्ड के झुण्ड क्या विद्वान्, क्या मूर्ख, क्या धनी, क्या गरीब, क्या साधु, क्या गृहस्थ सब कोई इकट्ठे होने लगते हैं। इनके भाषण के समय तो सब चेतन चित्र में लिखित प्रतीत होते हैं। समाज पर जब-जब आपत्तियाँ आती हैं, सबसे प्रथम आप अग्रसर होते हैं। मुझे यहाँ स्थान नहीं कि मैं इनके पुण्य यश को गाऊँ। युवावस्था में ही इनको

पत्नी से वियोग हुआ परन्तु वैदिक धर्म की पूर्ण रीति से स्थापना के लिए ही आपने पुनः विवाह नहीं किया। किमधिकम्।

मुन्शीरामो रामारागैर्हीनः पूर्णः सर्वैः सौख्यैः।
लोकैर्गीतो मन्त्रैः पूतो धर्मैःख्यातोज्ञानैर्जातः ॥१ ॥
मुन्शीरामो रामैस्तुल्यो मान्योगण्यो मेधा धन्यः।
धर्मे शूराऽन्याये क्रूरो नीतौ विज्ञो शास्त्रे प्रज्ञः ॥२ ॥
सदाऽऽर्याणां रक्षाविधिपरिणतो धर्मनिरतः।
सदा जाग्रद् वेदोद्धरणपरिपाठ्यां प्रमुदितः ॥
सदा सत्यान्वेषी श्रुतिमनपूतोऽनलसधाः।
अयं मुन्शीरामोऽखिलविदितनामा गुणनिधिः ॥३ ॥
दयानन्देनोक्ते श्रुतिविहित-मार्गे दृढ़मतिः।
परेशे विश्वासीच्छलरहितधर्मे कृतरतिः ॥
सदा वेदेऽधीती विधिवदनुगीती च कुशली।
सुपात्रे संदाता व्रतबहुविधाता बुधमतः ॥४ ॥
स्वकीयैर्व्याख्यानैः सरलवचनैः सुन्दरपदैः।
सुशिक्षा-संयुक्तैर्ऋषिविहित-वाक्यैः श्रुतिमुखैः ॥
कृता धन्या येन प्रथितयशसा भूमिरखिला।
स वै मुन्शीरामो जयतु नितरां मङ्गलविधौ ॥५ ॥

कोई-कोई इनके यश को इस प्रकार गाते हैं—

सद्भिर्जनातिशयगौरवसारगर्भैः,स्थानं समस्त-मनसां विषये दधद्भिः।
यस्योत्तमैरथ गुणमुदितान्तरात्मा, लोको महात्मवर इत्यमुमेवमाह।
रघूणा मौदार्य शशिकुलंभुवां वीर्यमतुलम्।
मुनीनां वैराग्यं मतिविभवमाचार्यकजुषाम्॥
विधात्रा सङ्गृह्य प्रतिकृतिरिवायं विरचितः।
सुधीर्मुन्शीरामो गुरुकुल-विधाता विजयताम्॥
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभंगं श्रुतिक्षयम्।
काकोऽपि किं न कुरुते चंच्वा सोदरपूरणम्॥

श्रीमान् महाशय वजीरचन्द जी पंजाब में एक अद्वितीय वाग्मी, पुरुषार्थी पुरुष हैं। वेद के रक्षार्थ ही आपका जीवन है तदर्थ ही मानो, आपने शरीर

धारण किया है। कोई सामाजिक पुरुष नहीं जो इनको न जानता हो। कोई समाज नहीं जहाँ इनके मधुर सारगर्भित और मनोहर व्याख्यान न हुए हों। आप लगातार तीन-तीन घण्टे उच्च स्वर से व्याख्यान देते हैं। बाल्यावस्था में नाना कष्ट सह वैदिक धर्म को ग्रहण किया। मुहम्मदीय इनका नाम ही सुनकर डर जाते हैं। पण्डित लेखराम के पश्चात् उनके गुरुतर कार्य को आपने ही संभाल रखा है। बैठते, उठते, खाते, पीते, चलते, फिरते, प्रतिक्षण धर्म की ही चिन्ता में लगे रहते हैं। आर्य मुसाफिर पत्र को जिस योग्यता से सम्पादन करते, उसको प्रत्येक पाठक आर्य भाई जानते हैं। प्रबल तर्कवादी, तत्त्वज्ञ, शान्त, जितेन्द्रिय, धर्म विश्वासी, दयानन्द भक्त, ईश्वर परायण, सत्यानुरागी, असत्य द्वेषी , मनस्वी, आत्मनिर्भर श्रीमान् वजीरचन्द जी को बहुत स्वल्प पुरुष तत्त्वतः जानते हैं।

''हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्या पिहितं मुखम्''

श्रीमान् महाशय देवराज के बारे में इतना कहना पर्याप्त होगा कि पञ्जाब की कन्या पाठशालाओं का प्रायः जन्मदाता पिता आप ही हैं। इनके दर्शन मात्र से संतप्त पुरुष शीतल हो जाता है। धन सम्पन्न होने पर भी निरभिमान, जितेन्द्रिय, निरालस्य, कार्य परायण, विविध ग्रन्थ कर्त्ता, विद्याभिलाषी जन देखना चाहते हैं तो इनका दर्शन कीजिये। उनके महत्त्व और सुयश को जालन्धर कन्यामहा विद्यालय प्रत्यक्ष रूप से प्रकट कर रहा है। किमधिकम्।

असुर्भिवसुभिः सुललित-वाग्मिः-परोपकारः क्रियते सद्भिः।
परोपकारी सुकृती सरलः-कोटिषु कोटिषु विरलः।

उपदेशकों में सर्वमान्य विद्वद्वर्य महोपदेशक श्रीयुत पण्डित पूर्णानन्द जी प्रायः २० बीस वर्ष से वैदिक धर्म के प्रचार में तन मन से उद्यत है आपने अपने सुमधुर, वेदादि प्रमाण युक्त, तर्क-वितर्क विभूषित, सदुपदेशों से सम्पूर्ण भारतस्थ और अफ्रीकास्थ आर्यसमाजों को और विशेषकर पञ्जाब-प्रतिनिधि को जो लाभ पहुँचाया है, उसको वे ही पुरुष जानते होंगे जिनके साथ आपने कार्य किया है। आप मन से, प्रभावशाली, शास्त्र तत्त्ववित्, स्वतन्त्रता प्रिय, निर्द्वन्द्व पुरुष हैं। एक समय की बात है कि इनको पुत्र की मृत्यु की खबर पहुँची, किंचिन्मात्र भी शोक न करके बड़े धैर्य से उसी दिन लायलपुर आर्यसमाज में दो घण्टे तक व्याख्यान देते रहे।

धन्योसि कृतकृत्योसि-पूर्णानन्द बुधेश्वर।
नदुनोति मनोयस्य मृत्युराजोपि निर्भयम्।

आपने बड़े-बड़े शास्त्रों में विजय प्राप्त की है। अत: पञ्जाब के दिग्विजयी और महामहोपदेशक इनको कहें तो अत्युक्ति न होगी। आपकी सम्पूर्ण भारत में बड़ी प्रतिष्ठा है। ठीक किसी ने कहा है—

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।

संन्यासियों में लोक वन्द्य प्रात:स्मरणीय श्रीमत्सत्यानन्दजी नामानुसार गुण निधान है। संन्यासी योग्य, लोभ त्याग, धन संचय रहितता, अनुद्वेगिता, निरन्तर शास्त्र परायणता, योगाभ्यासित्व मनननिदिध्यासनपरत्व, नि:सङ्गता, एकान्तसेवितत्व, वैराग्य सम्पन्नता समत्व, नि:स्पृहत्व, सर्वभूतहितरतत्व, वाग्मित्व, सुभाषित्व, मनोहरत्व, ऊर्ध्वरेतत्व, इत्यादि-इत्यादि शतश: गुणों से विभूषित संन्यासी के पुण्य दर्शन करना चाहते हैं तो इनके दर्शन, स्पर्शन, संभाषण से लाभ उठाइये। किमधिकम्।

महीं भ्रमन्ति ते सन्तो-लोकाभ्युदयहेतवे।
सेवध्वं मनुजास्तांस्तु-यदीच्छथ सुखं परम्।

श्रीमान् महाशय केदारनाथ-पंजाब प्रतिनिधि के मेरे समय के मन्त्री वर्गो से भी मैं उतना परिचित नहीं हुआ हूँ। क्योंकि मैं जालन्धर और वे सब प्राय: लाहौर में निवास करते हैं। परन्तु बहुत से अवसर पर इन महापुरुषों के साथ भी सम्मेलन होता ही रहता है। श्रीमान् केदारनाथ जी मन्त्री पद पर बहुत दिनों से नियुक्त हैं। आप इस कठिन कार्य को बड़ी योग्यता से निर्वाह करते हैं। इनसे कार्य-परायण और नियमबद्ध पुरुष प्रसन्न रहते हैं। आलसी, धोखेदार, वञ्चक, गबन करने हारे, छली, कपटी इनका नाम सुनकर ही पद त्याग देते हैं। इनके एक हाथ में न्याय और दूसरे में दया विराजमान है। पंजाब प्रतिनिधि के प्रत्येक विभाग को बड़ी कुशलता से संभाल रखा है। लोकैषणा से आप सर्वथा निर्मुक्त हैं। सच्चे आर्य, निरालस्य वैदिक कर्मनिष्ठ, सत्यान्वेषी, असत्यद्वेषी पुरुष हैं।

श्रीमान् महाशय परमानन्दजी आप धन धान्य सम्पन्न होने पर भी निरालस्य हो के समाज की सेवा करते हैं। लाहौर के अच्छे धनाढ्य, प्रतिष्ठित गण्य मान्य, कृतविद्य और यशस्वी पुरुष हैं। आप यूरोप से विद्याध्ययन कर आए हैं। आर्यसमाज के प्रताप से आपमें यूरोपीय एक भी व्यसन नहीं है। स्वामी जी महाराज के परमभक्त और सुधारक दृढ़ आर्य हैं। आर्य-नायकों में आप एक सुयोग्य नायक हैं। आपका भौतिक शरीर बहुत दिनों से रुग्ण रहता है।

तथापि प्रतिनिधि के कार्य को नियमपूर्वक नित्य प्रातःकाल समाप्त कर अन्य कार्य को देखते हैं। कभी-कभी बारह बजे तक कभी-कभी सम्पूर्ण दिन अपना समय इसी कार्य में लगाते हैं। बड़े प्रेम और उत्साह से इसको करते करवाते हैं। मैं लाहौर में प्रायः इनके ही गृह पर ठहरता हूँ। इनके सच्चरित्र को देख मैं प्रसन्न हुआ। मैंने देखा कि ग्रीष्म ऋतु में भी अवकाश पाके सत्यार्थ प्रकाश के गूढ़-गूढ़ सिद्धान्तों पर विचार करते हैं। प्रायः सन्ध्या समय प्रतिदिन इनके गृह पर सुन्दर गोष्ठी लग जाती है। गृह व्यवहार बहुत शुद्ध है। आहार में कभी अशुद्ध वस्तु का प्रयोग नहीं। अतिथि सत्कार के लिए आपका द्वार खुला रहता है। आप हृदय के शुद्ध और पवित्र हैं। राग द्वेष रहित और न्याय परायण है।

श्रीमान् महाशय चिरंजीव भारद्वाज जी। आप आजकल लाहौर को भूषित कर रहें हैं। आप डॉक्टरी परीक्षाओं में से अनेक उच्च परीक्षाओं में उतीर्ण हैं। निःसन्देह आप पञ्जाब के एक भूषण और आर्यों के नायकों में से एक सुयोग्य नायक हैं। बाल्यावस्था से समाज की सेवा में तत्पर हैं। आर्यसमाज के एक-एक सिद्धान्त पर चट्टान के समान दृढ़ हैं। आपका व्याख्यान भी सारगर्भित नूतन-नूतन वार्ताओं से पूर्ण होता है। आपकी योग्यता की परीक्षा सत्यार्थ प्रकाश के इंग्लिश अनुवाद से लगती है। सत्यार्थ प्रकाश जैसे नाना विद्या विभूषित ग्रन्थ का एक विदेशी भाषा में योग्यता के साथ अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है। अनुभवी पुरुष ही अनुभव कर सकते हैं। आपने अपने समय में मन्त्री पद पर स्थित हो के विशेष रूप से कार्य कर दिखलाया। लाहौर समाज के प्रधान हो के दो वर्ष ऐसी धर्म चर्चा फैलाई कि इनकी प्रबन्ध शक्ति, निपुणता, कार्य परायणता देख सब सम्प्रदायी चकित हो गये। ईश्वर ऐसे योग्य पुरुष को तुम अपने ही कार्य में प्रेरित करो। इनके हृदय में पूर्ण बल दो कि इस महान् कार्य को कर सकें पंजाब प्रदेश में अनेक महापुरुष विद्यमान हैं जो तन मन धन से वैदिक धर्म की रक्षा कर रहे हैं। इति।

मनुष्यमात्र का शुभाभिलाषी

शिवशङ्कर

गुरुकुल कांगड़ी।

वेद तत्व प्रकाश

पञ्चम समुल्लास प्रथम भाग

वैदिक

इतिहासार्थ-निर्णय

प्रार्थना

[१]मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥

—ऋ० ८।१।२९

हे परमात्मा! हे जगदीश! हे प्रभो! (वसो) हे वसो! (सूरे+उदिते) सूर्य जब उदित हो उस समय अर्थात् प्रातःकाल (मम+स्तोमासः) मेरे स्त्रोत[२] (त्वा) आपको (आ+अवृत्सत) मेरे निकट ले आवें।

प्रत्येक शुभाभिलाषी जन अपने अन्तःकरण की परीक्षा करे। तब उसे विदित हो जायेगा कि मुझमें कितनी कमी है। ईश्वर की स्तुति उस कमी को दिन-दिन दूर करती जाती है। अतः मङ्गलेप्सु भक्त को उचित है कि बारम्बार अपने अन्तःकरण में ईश्वर को बुलावे। सब कोई बात-बात में ईश्वर को भूल

---

१. कहीं-कहीं वेदों में पृथक् पदों का ज्ञान शीघ्र नहीं होता। इसी कारण पढ़ने की भी परिपाटी देश में प्रचलित है। परन्तु जब प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अर्थ कर दिया जाता है तो पृथक् पदपाठ की मुझे कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। थोड़े ही ध्यान से बुद्धिमान् जन जान सकते हैं। ऋचाओं में प्र, परा, अप, सम् आदि उपसर्ग का प्रयोग प्रायः अव्यवहित पूर्व में न रहने से भी कठिनता उपस्थित होती है जैसे "वसो+आ+स्तोमासः अवृत्सत" यहाँ "आ" का सम्बन्ध "अवृत्सत" से है। परन्तु यह दूरस्थ प्रयुक्त हुआ है। अतः अर्थ करने के समय इन बातों पर प्रथम एकदृष्टि डाल लें तब इसका विचार करे।

२. स्तोम-यह शब्द स्तोत्र वाचक है। वेदों में इसी का प्रयोग अधिक आता है। (दिवः+मध्यन्दिने) दिन के मध्याह्न समय में (मम) मेरे स्तोत्र आपको मेरे समीप ले आवें (प्रपित्वे) दिन के अवसान अर्थात् सायङ्काल (मम) मेरे स्तोत्र आपको ले आवें। (अपि-शर्वरे) रात्रि के समय भी मेरे स्तोत्र आपको मेरे समीप ले आवें।

जाते हैं। प्रलोभन में पड़ के ईश्वर की आज्ञा को तोड़ देते हैं। भय से, अज्ञान से, माँगने पर भी अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति न होने से, इस प्रकार के अनेक कारणों से अपने प्रभु को छोड़ देते हैं। अतः आवश्यक है कि उसका स्मरण सदा रखें। सांसारिक प्रलोभन से सदा ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते रहते हैं अतः यह प्रार्थना आती है—

[१]महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ।८।१।५।

(अद्रिवः) हे अद्रिवन ! हे विश्वधारक (वज्रिवः) हे वज्रिवन! वज्रधारिन् हे परमज्ञानिन् देव! (महे+च+शुल्काय) महान् मूल्य के लिए भी (त्वा+न+परा+देयाम्) आपको न बेचूं (न+सहस्राय+न+अयुताय) सहस्र धन के लिए भी आप को न बेचूं, अयुत धन के लिए भी आपको न बेचूँ। (शतामघ) हे बहु धनेन्द्र! परमात्मन्! (न+शताय) अपरिमित धन के लिए भी आप को न बेचूँ। ऐसा सामर्थ्य मुझ में दो कि आपको कदापि न त्यागूँ।

अद्रिवः-अद्रि। ग्रावा। गोत्र आदि नाम मेघ के हैं। निघण्टु १।१०॥ **और पर्वतवाची प्रसिद्ध ही हैं।**

यह ब्रह्माण्ड ही पर्वत है। इसका यह स्वामी है। अतः यह 'अद्रि-वान्' है। न्याय ही इसका वज्र है। यह न्याय इसके हाथ में है। अतः यह "व्रजो, वा, वज्रिवान" है।

शत—यह बहुनाम है। निघण्टु ३।१। व्याकरण और कोश की प्रक्रियाएँ विद्वान स्वयं विचार लें। क्योंकि इससे ग्रन्थ का विस्तार हो जायेगा।

जो काम वश, लोभ वश, भय वश, मोह वश हो ईश्वर को त्यागते हैं वे जगत् में बड़े हानिकारी होते हैं अतः यह आज्ञा है:-

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।

इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत।८।१।१।

(सखायः) हे सुहृद्जनो! (अन्यत्) ईश्वरीयस्त्रोत को छोड़ अन्यस्तोत्र (मा+चित्+विशंसत)न उच्चारण करो। (मा +रिषण्यत) अन्यान्य स्तोत्रों के उच्चारण से हिंसक न बनो। अतः (सुते) प्रत्येक यज्ञ में (वृषणम्) अभीष्ट वर्षिता (इन्द्रम+इत्) परमात्मा की ही (सचा+स्तोत) साथ मिल कर स्तुति

---

१. आजकल विद्वान् जन अद्रि, वज्र आदि शब्द सुन कुछ अन्य ही भावना करते हैं। परन्तु इन्हें वैदिकार्थ पर ध्यान देना चाहिये। जहाँ-जहाँ ईश्वरीय चिन्ह हो वहाँ-वहाँ सर्व अर्थ इसी में समन्वित करना चाहिये।

करो (मुहुः) हे सखायो! बारम्बार (उक्था+च+शंसत)उक्था अर्थात् उत्तम प्रशंसावाक्य कहो।

सचा—सहेत्यर्थः निरुक्त ५।५। ईश्वर के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है कि हम उसकी स्तुति प्रार्थना करें। ऊपर के वर्णन से विस्पष्ट कोई संबंध द्योतित नहीं होता। अतः यह प्रार्थना होती है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

अधा ते सुम्नमीमहे।८।९८।११।

(वसो) हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बसाने हारे! (शतक्रतो) हे अनन्त कर्मकारिन्! विश्वविधायक! (त्वम्+हि+नः+पिता) आप ही हम सब जीवों के पालक पिता (बभूविथ) हैं और (त्वम्-माता आप ही माता हैं (अध) इस कारण (ते+सुम्नम्+ईमहे) आप से ही सुख की प्रार्थना करते हैं।

वेद प्रेममय ग्रन्थ है। किस प्रकार ईश्वर के निकट हम उपासक जीव निज प्रेम प्रकट कर सकते हैं। ईश्वर हमारा पिता है। ईश्वर हमारी माता है। इतने ही कथन से इतना प्रेम प्रकाशित नहीं होता। जब हम ईश्वर से कहते हैं कि आप हमारे पिता और माता हैं और इस कारण हम आपसे ही सुख की याचना करते हैं। तब प्रेम की वर्षा होने लगती है। चित्त आर्द्र हो जाता है। बुभुक्षित पिपासित शिशुवत् जीवात्मा अपने पिता माता के निकट दौड़ जाता है और क्रोड़स्थ होकर जिस रसको ग्रहण करता है वह अनिर्वंद्यनीय है। इस समय अनायास मुख से यह निकलता है कि—

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।

माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे।८।१।६।

(इन्द्र) हे निखिल धन सम्पन्न जगदीश! (मे+पितुः+वस्यान्+असि) आप मेरे सांसारिक जनक से भी अधिक धनाढ्य हैं (उत+अभुञ्जतः+भ्रातु) और अरक्षक भ्राता से भी अधिक पालक हैं (वसो) हे वासप्रद! (मे+माता+च+समा) मेरी माता और आप दोनों मेरे लिये तुल्य हैं क्योंकि मेरी माता और आप दोनों (वसुत्वनाय+राधसे) मेरी व्यापकता और पूज्य धन के लिए मुझको (छादयथः) जगत् में पूजित बना रहे हैं।

यह कैसा स्वाभाविक वर्णन है। सांसारिक पिता से ईश्वर बढ़कर है। इसमें सन्देह नहीं। और जनक कभी-कभी पुत्र की अवहेलना भी करता है। परन्तु जगत् में कोई ऐसा उदाहरण नहीं कि माता भी कभी पुत्र को भूलती हो। ओः अज्ञानी धेनु और पक्षिणी भी किस प्रेम से अपने बच्चे को पालती है। इस

हेतु इस ऋचा में पिता से बढ़कर ईश्वर है यह कहा गया। परन्तु वह माता से भी बढ़कर ऐसा नहीं कहा किन्तु समान ही-कहा गया है। यह माता के प्रति अद्‌भुत कृतज्ञता है। नहीं, नहीं केवल कृतज्ञता ही नहीं किन्तु यथार्थ ही है। ईश्वर ने हमारे जीवन के हेतु, जल, वायु, अग्नि, विविध अन्न, दुग्ध आदि शतशः पदार्थ प्रथम ही तैयार कर रखे हैं। परन्तु क्या इस प्रबन्ध मात्र से हमारा पोषण हो जाता है यदि माता हमें दूध न पिलाती ? अच्छी वायु और जल न देती, हम पर निगाह न रखती तो ईश्वर का सारा प्रबन्ध हमें न बचा सकता। अतः इस ऋचा में कहा है कि मेरी माता और ईश्वर तुल्य हैं। इस अलौकिक भाव और स्नेह को हमें वेद ही सिखलाता है। इस प्रकार आप देखेंगे कि वेद स्तोत्र-प्रार्थनामय ग्रन्थ है। मेरा सम्पूर्ण प्रयत्न इन ही प्रार्थनाओं का आशय दिखाना है। मैं अन्य कुछ करना नहीं चाहता। परन्तु कई सहस्र वर्षों से इन सरल, भाव पूर्ण, आत्म-शान्ति-प्रद प्रार्थनाओं के साथ विविध कण्टकमय उपाधियाँ लगाते आए हैं। यदि वे दूर न हुईं तो इनके आशय विस्पष्ट न होवेंगे। अतः इन कण्टकों का अपसरण करना भी मेरा कर्त्तव्य होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों की उत्पत्ति

विचारशील पुरुषो! सृष्टि के आदि में मनुष्य कल्याणार्थ ईश्वर ने वेद दिए। बहुत दिनों के पश्चात् इनके अर्थ समझने में लोग असमर्थ होने लगे। पश्चात् इनके अर्थ के लिए पुरातन ऋषिगण ब्राह्मण नाम से अनेक ग्रन्थ बनाकर समझाने लगे। ब्रह्म जो वेद उसका जो व्याख्यान उसे ब्राह्मण कहते हैं। इस व्याख्यान के आधार पर वेद स्थिर माना गया अतः इसको चरण भी कहते थे। बहुत दिनों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ कर्त्ता ऋषियों ने वेद समझाने के लिए एक नवीन परिपाटी निकाली। अर्थात् वेदार्थों का दृश्य काव्य की रीति पर दिखलाने लगे। जैसे नाटक में सब बातें खोल कर दिखलाई जाती हैं और वे सब चरित्र प्रत्यक्षवत् भासित होने लगते हैं। तद्वत् वेद प्रतिपादित जो अर्थ उनको यज्ञ रूप दृश्य काव्य दिखाकर वेदों की ओर लोगों को लगाए रहे। अर्थात् जैसे वेद में आया "मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः" यह मनु अर्थात् जीवात्मा सात होता और आठवें मन के साथ सदा हवन करता रहता है। दो नयन। दो कान। दो नासिकाएँ। एक मुख ये ही सप्त होता हैं। अब इस अध्यात्म विषय को लौकिक रीति से यज्ञ में दिखलाने लगे। वेद में आता है "विमोक्तु पाशान" हे भगवान्! मुझ से अपने पाशो को दूर कीजिये। अब ईश्वर की प्रार्थना से पाश कैसे दूर होते हैं इस अर्थ को यज्ञ रूप नाटक शाला में अच्छे प्रकार दिखलाने लगे। वेद में आता है "आपो भवन्तु पीतये" हे

परमेश्वर! पानार्थ हमको बहुत जल प्राप्त हो। अब ऋषि यज्ञ में दिखलाते हैं कि शुभ कर्म के आदि में जल से आचमन करो। इसी का नाम है मन्त्रों का विनियोग। इस विनियोग के ऊपर सहस्त्रों ग्रन्थ बने जिनको वेद शाखाएँ वा ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं। इन ग्रंथों में विनियोग के साथ-साथ मन्त्रों की व्याख्या, उत्पत्ति, इतिहास, निन्दा, स्तुति, सत्यार्थ, रोचक, भयानक आदि अनेक विषयों का भी वर्णन आता है। क्योंकि दृश्य काव्य के लिए आश्यकता है कि विषय रोचक बनाये जायें। अत: वेद की छाया पर से सहस्त्रश: काल्पनिक इतिहास रचने लगे। वेदों के विशेष-विशेष एक-एक शब्द के ऊपर भिन्न-भिन्न रीति से विविध आख्यायिका, गाथा, नाराशंसी, इतिहास रच-रच प्रजाओं को समझाने लगे। आप को यह देख के आश्चर्य होगा कि वेद के एक-एक शब्द को लेकर कैसी-कैसी अद्‌भुत और लम्बी गाथा बन गई। धीरे-धीरे ब्राह्मण ग्रन्थों वा शाखाओं की संख्या बहुत बढ़ गई और इनकी इतनी प्रतिष्ठा होने लगी कि उस समय के प्राय: सब ही विद्वान् इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखने में समय काटने लगे। इस कारण मतभेद भी होने लगा। क्योंकि सब कोई वैदिक तत्त्व तक पहुँचे नहीं थे, परन्तु वेदों पर ग्रन्थ लिखा करते थे। पीछे इन दृश्य काव्यों और नाटकों से लोगों की अरुचि उत्पन्न होने लगी। तब पुन: उसी अध्यात्म विषय का अध्यात्म यज्ञ में चिन्तन करने लगे और इसके सम्बन्ध में अनेक गन्थ रचे गये। जो उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह ब्राह्मणों का अन्तिम भाग माना गया। ब्राह्मण ग्रन्थों का इतना प्रचार हो गया था कि इनको उठाना कठिन था। परन्तु धीरे-धीरे इनका भी भाव सर्वथा भूल गया। अन्यान्य प्रकार से नाटक होने लगा। बहुत लोग इनसे पृथक् होने लगे। तथापि इनका महत्त्व न गया। समय-समय पर राजसूय, अग्निष्टोम आदि यज्ञों में यह लीला खेली जाती रही। परन्तु इन पर बड़े-बड़े आक्षेप होने लगे। लोगों को घृणा होने लगी। इस समय एक जैमिनि ऋषि ने ब्राह्मण ग्रन्थों के रक्षार्थ अथवा पुष्ठ्यर्थ मीमांसा नाम का शास्त्र रचा और उपनिपदों की रक्षार्थ वेदव्यास ने वेदान्त (उत्तर मीमांसा) रचा। ये दोनों शास्त्र इस प्रकार साक्षात् वेद प्रतिपादिक नहीं किन्तु ब्राह्मणों और उपनिषदों के परमोपकारी हैं। इन ब्राह्मणों और मीमांसा के आधार पर अनेक श्रौत सूत्र और गृह्य सूत्र बने। बौद्ध जैन समय में भी मीमांसा के ऊपर कुमारिल भट्ट आदि ग्रन्थ लिखते रहे। परन्तु साक्षात् वेदों पर इस समय भी किसी ने लेखनी न उठाई। शङ्कराचार्य, रामानुज, वल्लभ आदि उपनिषदों की ही व्याख्या करते रहे। सायण ने शङ्काओं का कुछ भी उत्तर न दिया। आख्यायिका आदि का कुछ तात्पर्य न लिखा। प्रत्युत ऐसे पदार्थ लिख गये जिनसे कि

साधारण पुरुषों की भी श्रद्धा वेदों पर से जाती रही। जैसे व्याकरण सूत्र पर केवल महाभाष्य ही नहीं किन्तु अनेक काशिका, परिभाषेन्दुशेखर, कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थ प्रत्येक शङ्का का विलक्षण-विलक्षण युक्तियों और प्रमाणों के साथ समाधान करते हैं। इसी प्रकार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, ज्योतिष, शिक्षा, कल्प, छन्दःशास्त्र इन सब अङ्ग उपाङ्गों की तो महती वृद्धि होती रही, बड़े-बड़े शास्त्रार्थ के ग्रन्थ इन पर बनते बिगड़ते रहे। लोगों का भी सारा ध्यान इन्हीं ग्रन्थों पर लग गया। विद्वद्गण इन्हीं पर अपना समय बिताने लगे। परन्तु शोक की बात है कि वेदों पर कोई वैसा लेख लिखा न गया। इस प्रकार यदि पर्यालोचना के साथ देखते हैं तो कहना पड़ता है कि सहस्र वर्ष साक्षात् वेदों पर किन्हीं आचार्यों ने विचार आरम्भ न किया।

वेदों का पृथिवी पर प्रचार

ब्राह्मण ग्रन्थ जो कुछ वेदों पर टीका टिप्पणी कर गये। वहीं तक वेदों का विचार रह गया। परन्तु जगत् में ब्राह्मण ग्रन्थों की ही बातें सर्वत्र विस्तृत हो गईं। इनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि इनके ही आधार पर किसी समय देश के साहित्य, संगीत, शास्त्र, श्रौतगृह्यसूत्र, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, धर्माधर्म व्यवस्था-आदि के सहस्रशः ग्रन्थ बन गये। महाभारत, रामायण अष्टादश पुराण आदि भी इनसे शून्य नहीं, केवल भारत वर्ष में ही नहीं अपितु ईरान, ग्रीस आदि देशों के साहित्य भी इन ही ब्राह्मणों के आधार पर लिखे गये। इसलिये उस समय के पृथिवी पर के सब ही साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थों के काल्पनिक इतिहासों से पूर्ण हैं जो अब यथार्थ इतिहास प्रतीत होते हैं। इस कारण भी हमें उचित है कि मूल वेदों की ओर जायें और देखें कि भगवान् वेदों में क्या-क्या उपदेश करते हैं।

इस समय यूरोप और अमेरिका को विद्यास्थान कहना चाहिये। अमेरिका में ये ही यूरोपीय राज्य शासन कर रहे हैं। एशिया के सम्पूर्ण भारत खण्ड में इंग्लिश राज्य तो है ही परन्तु सम्पूर्ण एशिया में इनकी, विद्या, वाणिज्य और अध्यव्यवसाय का प्रभाव है। निःसन्देह, ये आज विद्याओं की प्रत्येक शाखा को सींच रहे हैं। इनके द्वारा इतिहास का भी आश्चर्यजनक अभ्युदय होता जाता है। इन्हीं विद्वानों ने प्रायः पृथिवी पर की प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध समस्त भाषाओं और साहित्यों की पूरी-पूरी गवेषणा (खोज) की है और रात्रिन्दिवा इस कार्य में लगे हुए हैं। अंग्रेजी भाषा में भी प्रायः सर्व भाषाओं का अनुवाद होता जाता है। इस अन्वेषण से वैदिक धर्म को बहुत लाभ पहुँचने वाला है। पृथिवी पर वेद, जेन्दावस्था, बाइबल, कुरान और बौद्ध धर्म के अनेक धर्मपिटक

आदि ग्रन्थ और चीन जापान में प्रचलित कनफ्यूशियन, शिन्तो धर्म के ग्रन्थ, ये ही सब धर्म के मुख्य ग्रन्थ माने जाते हैं। और प्राय: इनके ही नियम पर कतिपय जांगलिक जातियों को छोड़कर पृथिवी पर के सर्व मनुष्य चल रहे हैं। आज इंग्लिश भाषा में इन सब धर्म पुस्तकों का प्रामाणिक अनुवाद, इन पर वादानुवाद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ और अनेक शास्त्रार्थ मिलते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि कभी सम्पूर्ण पृथिवी पर वैदिक धर्म का राज्य था। प्रथम तो विद्वानों ने स्थिर किया है कि संस्कृत भाषा से अनेक भाषाएँ निकली हैं[१] और देवताओं के नाम भी प्राय: समान पाए जाते हैं।

जेन्द अवस्था

पूर्व में मैं कह चुका हूँ कि किसी समय ब्राह्मण ग्रन्थों की बड़ी तरक्की हुई थी। सम्पूर्ण पृथिवी पर की सभ्य जातियों में इनका सिद्धान्त विस्तृत हो गया था। इस का उज्ज्वल और जागृत प्रमाण प्रथम जेन्दावस्था नाम का ग्रंथ है। जोरोएस्टर इसके रचयिता हैं। इसमें जो कुछ वर्णन हैं। ब्राह्मणों से बहुत मिलते हैं। मित्र, वरुण, पवन, अग्नि, वृत्रहन्ता आदि सहस्रों शब्द कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं। ऋचाओं का अनुवाद, समान गाथा, समान पूजा या यज्ञ मिलते हैं। भारतवासियों को अवश्य ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये।

यूरोप का साहित्य

ग्रीक और लेटिन भाषा के जो साहित्य ग्रन्थ हैं वे वैदिक ब्राह्मण साहित्य के समान हैं। यहाँ तक कि संयुक्त वैदिक शब्द का भी अपशब्द इन साहित्यों में विद्यमान है। जुपिटर एक प्रसिद्ध देव है। यह ''द्योष्पिता'' शब्द का ही अपशब्द है ऐसा विद्वान लोगों ने स्थिर किया है। कोई विद्वान् कहते हैं कि ''यूरोप'' यह शब्द भी उर्वशी शब्द का ही अपभ्रंश है। अति प्राचीन काल में जिन भाषाओं की बड़ी तरक्की थी वे प्राय: वैदिक भाषा से निकली हुई हैं। यह आकस्मिक घटना नहीं हो सकती। अत: सिद्ध है कि किसी समय ब्राह्मण

---

१. इन विद्वानों ने वैदिक भाषा से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं के इस प्रकार नाम रक्खे हैं—१-इण्डिक २-इरानिक ३-श्लावोनिक ४-केलटिक ५-हेलेनिक ६-इटैलिक ७-और ट्यूटौनिक। इन के ही भेद संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, रौमेक, लैटिन आदिक हैं। अभी तक जो अन्वेषण हुआ है इस से ये यह भी कहते हैं कि बहुत सी भाषाएँ वैदिक भाषा से सम्बन्ध रखने वाली नहीं हैं। परन्तु यह अभी अन्वेषण की कमी से है। समय आयेगा तब वैदिक भाषा से समस्त भाषाएँ सम्बद्ध सिद्ध होंगी।

सिद्धान्त का सर्वत्र विस्तार था।

अनैतिहासिक समय

मैं साहित्य का इतिहास लिखने को नहीं बैठा हूँ केवल सूत्र रूप से यहाँ आप को परिचय देता हूँ। आप स्वयं अन्वेषण करें। एवमस्तु। इस प्रकार देखेंगे तो विदित होगा कि संस्कृत, इरानी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ परस्पर बहुत सम्बन्ध रखती हैं। इस से विस्पष्ट है कि इन भाषाओं के बोलने वाले कभी एक थे। कभी एक ही स्थान में रहते होंगे। काल पाकर ये सब वियुक्त हुए होंगे। एवं वियुक्त होने पर भी बहुत दिनों तक परस्पर गमनागमन होता रहा होगा। एक दूसरे को स्मरण करते होंगे। सम्बन्ध भी होता होगा। परन्तु धीरे-धीरे परस्पर सम्बन्ध की बातें भूलती गईं। नवीन साहित्य उत्पन्न होते गये। देश, काल और दशा के अनुसार धीरे-धीरे बहुत परिवर्तन होता गया। कभी ऐसा समय आया कि एक दूसरे के लिए सर्वथा अज्ञात हो गये। इस समय के ऐतिहासिक लोगों को कहना पड़ता है कि ग्रीस वासियों को भारत वर्ष आदि अन्य विदेशों के नाम तक भी विदित नहीं थे एवं भारतवासियों को भी विदेशियों का ज्ञान नहीं था। क्योंकि इस समय के इतिहास में विदेशों की चर्चा नहीं। इत्यादि। परन्तु अति प्राचीन काल में परस्पर परिचित थे यह शब्द विद्या से अवश्य प्रतीत होता है। परन्तु यह घटना कब हुई ? कैसे हुई ? कौन प्रथम कहाँ गया इत्यादि ज्ञान अब किसी मनुष्य के भाग्य में नहीं है। उन घटनाओं के परिचय से अब सब कोई वंचित रहेंगे। परन्तु क्या ही मनुष्य की लालसा प्रबल है। कौन विद्वान् नहीं चाहता है कि उस अज्ञात समय का वृतान्त मुझे प्राप्त हो। यदि आज निश्चयपूर्वक यह पता लगे कि अमुक स्थान से अमुक आदमी प्रथम ग्रीस में आया या ईरान में या ईजिप्ट में आया तो यूरोप के विद्वानों के आनन्द की सीमा न रहेगी। कौन आदमी यथार्थ बात पर प्रसन्न नहीं होता। परन्तु जिसके खोज में सहस्रों विद्वान लगे हों सारे राज्यों की शक्तियाँ लगाई गई हों यदि उसका पता ठीक लग जाये तो कितना आनन्द होगा। शोक के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे पूर्वज यह अमूल्य धन न छोड़ गये अथवा परस्पर के राग द्वेष के कारण युद्ध ने इन सामग्रियों को ग्रसित कर लिया इसी का नाम अनैतिहासिक समय है।

ऐतिहासिक समय में वेद का परिचय मैं लिख चुका हूँ कि परस्पर वियुक्त जन निज-निज सम्बन्ध सर्वथा भूल गये। लाखों हजारों वर्ष ये सब परस्पर अपरिचित से गुप्त वास करते रहे। तथापि कुछ-कुछ संबंध सर्वत्र रहा। किञ्चित्-किञ्चित् अद्भुत् चर्चा सर्वत्र बनी रही। अद्भुत कथा कहानी भिन्न-

भिन्न देश में भिन्न-भिन्न देश की सुना करते थे विशेषकर जब कोई-कोई संन्यासी और व्यापारी द्वीप द्वीपान्तर में जाया, आया करते थे, ये सब इतस्तत: की बातें आश्चर्य रूप से सुनाया करते थे। भारतवर्ष उस समय में सर्वत्र विदित-सा था। फारस देशी भारत से व्यापार करते हुए यूरोप तक जाते आते थे। मिस्री देश का व्यापार भी भारत से सम्बन्ध रखता था। और ग्रीस देश वासी फारसी और मिस्री से घनिष्ट सम्बन्ध रखते थे। इन के द्वारा भारतवर्ष इनको अविदित तो नहीं था। तथापि सिकन्दर (अलेग्जैण्डर) के समय तक ग्रीस इतिहास में भारत की कोई चर्चा नहीं है। होमर में संदिग्ध चर्चा देखी गई है। संभव है कि इस समय ग्रीसवासी अपने देश से इधर न आते हों। फारस देश का सम्बन्ध इस देश से प्राय: सदा बना रहा। इनको वेद भी विदित होगा।

फ़ारस देश के राजा खुसरो और नौशेरवाँ

क़रीब ईसवीय षष्ठ शताब्दी में खुसरो और नौशेरवाँ ने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद पहलवी भाषा में करवाया। ये यहाँ के साहित्य पर अति मोहित थे। इन ग्रन्थों का अनुवाद अष्टम शताब्दी में अरबी भाषा में हुआ।

पण्डित अलबेरूनी १००० ई०

दशम शताब्दी के अन्त में ये सुप्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। ये खुरासान के रहने वाले थे। गज़नी के महमूद ने इनको अपने दरबार का भूषण बनाया था। इन्होंने १०१७ ई० से लेकर १०३० ई० तक भारत में रहकर पूरी संस्कृत की शिक्षा पाई। इनको संस्कृत विद्या में इतनी योग्यता प्राप्त थी कि अरबी और फारसी के कई ग्रंथों का अनुवाद संस्कृत में भी किया। इन्होंने संस्कृत के बहुत ग्रंथों का अनुवाद फ़ारस देश की पहलवी भाषा में किया। वेद से लेकर पुराण तक इन्हें विदित था। भारत की इन्होंने बड़ी प्रशंसा की है। इनके ग्रन्थ का अनुवाद अब अंग्रेजी में हो गया है। भारतहितैषी को वह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिये।

अकबर और वेद

बहुत दिनों से ब्राह्मण वेदों को प्रकट करना पाप समझते हैं। स्वभावत: मुहम्मदीय बादशाहों और विद्वानों को संसार भर की विद्याओं से नितान्त घृणा थी। संस्कृत के शब्दों को मुख से उच्चारण करने को भी अनुचित समझते थे। इन में बादशाह अकबर कुछ विलक्षण पुरुष हुआ। वह अपना ही पन्थ अलग चलाना चाहता था। इसके दरबार में मौलवी, पण्डित, पादरी इत्यादि सब पन्थाई एकत्रित हो सम्प्रदायी विचार किया करते थे। वेद जानने की इसको बड़ी उत्कण्ठा हुई। इसने एक मुसलमान बालक को ब्राह्मण रूप बनाकर

किसी पण्डित के निकट वेदादि शास्त्र पढ़ने को भेजा। परन्तु शोक की बात है कि ऐसे अभिलाषी बड़े बादशाह के भाग्य में वैदिक ज्ञान होना नहीं था। उस बालक का छल गुरु को मालूम होने पर गुरु ने उससे प्रतिज्ञा करवाई कि मेरी पढ़ाई विद्या किसी मुसलमान से न कहना। एक सच्चे ब्राह्मण के निकट रहने से और संस्कृत के पढ़ते-पढ़ते इसके अन्तः करण से मुसलमानी सारी बातें निकल गई थीं। खासा ब्राह्मण बन गया था। सुनते हैं कि वह दरबार में लौटकर आया ही नहीं। इससे अकबर को बड़ा ही शोक हुआ। बारम्बार निवेदन करने पर ब्राह्मणों ने अथर्ववेद की किसी एक उपनिषद का अनुवाद इसको देकर कहा कि यही वेद है।

दारा शिकोह और उपनिषदें

यह बादशाह शाहजहाँ का भाग्यहीन राजकुमार था। इसको ब्राह्मणों ने संस्कृत भाषा पढ़ाई। इसने बड़े परिश्रम से तन मन धन लगाकर उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में किया। ज्योंही इस का यह महान् कार्य समाप्त हुआ त्यों ही इसके सहोदर औरंगज़ेब ने इस को मरवा दिया। १७९५ ई० में ऐंक्वेटिल डूपेरन महाशय ने इन अनुवादित उपनिषदों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया। सोपनहार (शोपेनहावर) को यही लैटिन उपनिषद् मिली थी जिसको देख उनको इतनी प्रसन्नता हुई कि मरण तक कहते रहे जगत् में इससे बढ़ कर शान्तिप्रद ग्रंथ नहीं है It has been the solace of my life, it will be the solace of my death. इस वाक्य को सर्वदा सोपनहार कहा करते थे

चीन देश और वेद

यह ऐतिहासिक घटना है कि भारतवर्ष से चीन देश में बौद्ध सम्प्रदाय गया। अतः चीन, जापान, लङ्का आदि देशों में भी दो सहस्र वर्ष पूर्व वेद अच्छे प्रकार विदित होंगे इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि बौद्ध सम्प्रदाय वेदों की चर्चा बारम्बार किया करता था एवं बौद्ध यात्रिक चीन, जापान, लङ्का आदि देशों से बौद्ध गया में आया करते थे। यहाँ रह कर अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थ पढ़ा करते थे। ४०० ई० से लेकर १००० ई० तक चीन यात्रिकों के भारत में आगमन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। फाह्यान ३९९-४१४ ई० में, ह्यूनसांग संग ६२९-६४५ ई० और इसीङ्ग ६७३-६९५ ई० में थे। तीनों महात्मा यहाँ रह चुके हैं। ये यहाँ की बहुत सी विद्याएँ सीख, यहाँ का उस समय का रोचक इतिहास लिख ले गये। इनके ग्रन्थों का अनुवाद फ्रैंच और अंग्रेजी भाषा में बड़े-बड़े विद्वान् ष्टानिसलास जूलियन, प्रोफेसर लेग, डाक्टर बील प्रभृतियों ने किया है, अनुवाद ऐतिहासिक पुरुषों को देखने योग्य है।

इस प्रकार इतिहास सूचित करता है कि ऐतिहासिक समय में वेद शब्द से एशिया तो अवश्य परिचित था। परन्तु यूरोप और पाताल-अमेरिका आदि देशों में वेद शब्द से भी लोग अपरिचित थे यह नहीं कह सकते। ज्यों-ज्यों इतिहास प्रकट होगा त्यों-त्यों यह विषय भी विस्पष्ट होता जायेगा।

यूरोप देश और वेद

अनैतिहासिक समय में पृथिवी पर सर्व सुप्रसिद्ध और सभ्यदेशों में वैदिकधर्म का प्रचार हो गया था। यह प्रथम लिख आया हूँ। ऐतिहासिक समय में यूरोपवासी विद्वानों को वेद किस प्रकार और कब से विदित हुआ है और इन्होंने कैसा तीक्ष्ण प्रहार किया है इत्यादि बातें भी सबको जाननी चाहियें। मैं अति संक्षेप से वर्णन करता हूँ। ग्रीस देश निवासी अलेग्जैण्डर (सिकन्दर) ने भारतवर्ष के ऊपर आक्रमण किया था। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। परन्तु न इसने और न इसके साथियों ने वेद की कहीं चर्चा की है। १४९८ ई० में जब पोर्चुगीज़ वास्कोडिगामा कालिकट में पहुँचा और इसके पश्चात् डच, फ्रेंच, डैन्स और इंग्लिश आने लगे तब से इनमें वेदों की चर्चा फैली। मुसलमानों के समान ये विद्याद्वेषी, असभ्य और महामूर्ख नहीं थे। ये विद्या, इतिहास, व्यापार, अध्यव्यवसाय, राज्यशासन आदि के बड़े प्रेमी थे। इनके साथ धार्मिक शिक्षक पादरी भी यहाँ धर्म फैलाने को आया करते थे। ये संस्कृत पढ़ने के लिए सर्वदा प्रयत्न करते रहे। परन्तु उस काल के विद्वान् इनको संस्कृत नहीं पढ़ाया करते थे। गोआ में इन्होंने कुछ पढ़े ब्राह्मणों को क्रिस्तान बनाया। इनसे इन पादरियों को कुछ संस्कृत की सहायता मिलने लगी। षोडश शताब्दी के आरम्भ में फ्रांसिस जाबीर (जेवियर) पादरी ने संस्कृत जानने के लिए बड़ी कोशिश की। सतरहवीं शताब्दी के आरम्भ में सुप्रसिद्ध मिशनरी राबर्ट डि नोबिली ने संस्कृत साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त की। इन्होंने संस्कृत भाषा में अपने सम्प्रदाय का एक नवीन वेद बनाया और लोगों से कहा करते थे कि आप सबको नवीन वेद सुनाने को आया हूँ। इसका नाम इन्होंने यजुर्वेद रखा। इसके देखने से बड़ी हँसी आती है जिसमें कुछ पुराणों और ईसाई धर्म के गप्प भरे हुए हैं। मालूम पड़ता है किसी पाण्डिचेरी के अज्ञानी क्रिस्तान ने बनाया हो। तथापि इसकी यूरोप में बड़ी प्रतिष्ठा हुई। फ्रेंच भाषा में इसका अनुवाद हुआ। १७६१ में पेरिस की रायल लायब्रेरी में इसकी सुप्रतिष्ठा हुई। १७७८ ई० में इस पर बड़े-बड़े लेख निकले। आश्चर्य! ऐसी गमारी किताब को भी ऐतिहासिक लोगों ने आदर की दृष्टि से देखा। यह सिद्ध करता है कि ये कैसे जिज्ञासु इतिहासप्रिय हैं। मैक्समूलर इसके विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार

प्रकट करते हैं। In plain English, the whole book is childish drivel.

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में रोमन कैथोलिक मिशनरी बड़े परिश्रम से यहाँ काम करने लगे। परन्तु इस समय में भी इन्हें वेद का पूरा पता नहीं लगा था। सुप्रसिद्ध पादरी कालमेट ने वेद जानने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाई। वेद की कुछ कापी इनके हाथ लगीं। ब्राह्मणों से इन्होंने वेद का अध्ययन भी कुछ किया और इन्होंने 'इन्द्र' मित्रं वरुणम्' इस ऋचा को लेकर कहा कि वेद एक अद्वितीय परमात्मा निरूपक है। १७४० ई० में, फ़ादरपौन्स ने संस्कृत साहित्य का बहुत कुछ परिचय अपने देशवासियों को दिया। ये फ्रेंच मिशनरी थे। इस प्रकार धीरे-धीरे अनेक मिशनरी यहाँ के साहित्य और वेद से परिचित होते गये।

सर विलियम जोन्स और शकुन्तला

परन्तु यूरोप में अब तक संस्कृत के वैसे प्रेमी लोग नहीं हुए थे और न इसके महत्व को समझा था। क्योंकि पादरियों की अधिकांश संख्या पौराणिक खण्डन मण्डन में लगी रही और इसके दुर्बल पक्ष को ही अपने देशवासियों को सुनाती रही। १७८९ ई० में, जब सर विलियम जोन्स ने शकुन्तला नाटक का अनुवाद इंग्लिश भाषा में प्रकाशित किया तब यूरोप निवासियों की आँखें खुल गईं और संस्कृत का महत्व प्रतीत होने लगा।

बंगाल की एशियाटिक सोसायटी

यद्यपि यह बहुत दिनों से स्थापित थी और संस्कृत के बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद इंग्लिश भाषा में हुआ। परन्तु अभी तक वेद पर विचार आरम्भ नहीं हुआ था। केवल हेनरी टामस कोलबुक ने १८०५ ई० में, वेदों पर एक ट्रैक्ट प्रकाशित किया जिसका आदर यूरोप में बहुत हुआ। यह प्रामाणिक माना गया।

जर्मनी और वेद

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से एक प्रकार यूरोप में वेद की पूरी परीक्षा आरम्भ हुई। परन्तु शोक के साथ मुझे लिखना पड़ता है कि ब्राह्मणों के आलस्य से वेदों की बड़ी दुर्दशा हुई। पण्डित महाशय जिस प्रकार व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, काव्य, अलङ्कार आदि शास्त्रों की सुन्दरता, गम्भीरता और महत्व दिखलाया करते थे इसी प्रकार यदि वेदों का भी महत्व दिखलाते तो कभी भी यूरोपीय विद्वान् वेदों की निन्दा नहीं करते। वे शकुन्तला नाटक आदिक ग्रन्थों के समान ही वेदों की स्तुति करते। परन्तु यहाँ के ब्राह्मण स्वयं ही वेदों के

पठनपाठन को सर्वथा छोड़ चुके थे। केवल कहीं-कहीं वेदों का पाठमात्र सिखलाया करते थे। अर्थ से सर्वथा अनभिज्ञ थे। बहुत दिनों से वेदों के अर्थ के अनध्ययन के कारण वेदों के तत्व से वे स्वयं विमुख हो चुके थे। वेदों की शंकाओं का समाधान व्याकरणादिवत् नहीं कर सकते थे। इस अवस्था में विदेशी भाइयों को वेद हाथ लगे। वे करें तो क्या करें। टीका टिप्पणी भाष्य देख जहाँ तक हो सका वे वेदों पर विचार करने लगे।

यद्यपि इस समय वेदों को छोड़ संस्कृत साहित्य की प्रत्येक शाखा का कुछ-कुछ अनुवाद हो चुका था और हो रहा था तथापि यूरोपीय विद्वान् इतनी ही खोज से प्रसन्न नहीं थे। चारों तरफ वेदों की पुकार होने लगी। क्योंकि प्रायः सबमें वेदों की चर्चा पाई जाती थी। जर्मनी देश इसमें सबसे अग्रसर था। हर्डर और बुन्सेन आदि जर्मन विद्वानों को वैदिक ज्ञान की बड़ी उत्कण्ठा लगी। परन्तु इनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। जब से कोलब्रुक महाशय भारत से लौट अपने देश गये तब से लन्दन में वेदों की लिखित कापियाँ अच्छी तरह से मिलने लगीं। प्रथम पण्डित रोसेन महाशय ने इससे लाभ उठाया। १८३० ई० में नमूने के तौर पर वेद के कुछ अंश का लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया। सात वर्ष तक निरन्तर परिश्रम करते रहे। इतने दिनों में वे केवल ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का लैटिन अनुवाद कर १८३७ ई० में परलोक सिधार गये। इनकी मृत्यु के पश्चात् पुनः शिथिलता आ गई। बड़े-बड़े विद्वान रोसेन के अनुवाद के आधार पर ही वेदों की परीक्षा करने लगे। कम्पेरेटिव ग्रामर के लिए महाशय बौप, लैसेन, बेनफे, कुहन इत्यादि विद्वानों को केवल १२१ सूक्तों का रोसेन कृत लैटिन अनुवाद मिला था। इतने ही पर ये सब संतोष कर अपने शब्दरूप महासमुद्र पर पुल बाँधा करते थे। यूरोप देश में सबसे प्रथम रोसेन से भी कहीं बढ़कर वेदों के सारे भाष्यों के अन्त तक पहुँचाने वाला यदि कोई हुआ है तो वे पेरिस में यूगेन बर्नूफ हुए हैं।

फ्रान्स में महाशय बर्नूफ

श्रीमान् बर्नूफ प्रशंसनीय पुरुष अपने समय के थे। यह केवल अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए ही वेद पढ़ने लगे। खण्डन मण्डन से इनको कुछ प्रयोजन न था। ये यथार्थ जिज्ञासु थे। परन्तु शोक यदि ये किसी भारत ऋषि से वेदाध्ययन करते तो वेद के तत्व तक अवश्य पहुँच जाते। परन्तु इन्हें कोई ऐसा गुरु नहीं मिला। अतः इनके यहाँ भी आसुर भाव पूर्ण वेद पहुँचा, यथार्थ वेद नहीं।

ये कालेज डी-फ्रांस नाम के विद्यालय में वेद विषय पर व्याख्यान दिया करते थे। यूरोप के सब प्रदेशों से बड़े विद्वान् इनके व्याख्यान सुनने को आते थे। यूरोप में बड़ी हलचल मच गई थी। इनके विद्यार्थियों में मुख्य, मैक्समूलर, नेवी, गोरेशिओं, रौथ, गोल्डस्टकर, बारथेलिमी, सेण्टहिलेयर, बार्डेली इत्यादि थे। इनमें श्रीमान् मैक्समूलर, रौथ और गोल्डस्टकर ने संस्कृत साहित्य पर खूब आन्दोलन किया है। वेदों पर तो ऐसा तीक्षण प्रहार किया है कि यूरोप में कई शताब्दी तक वेद भगवान् अपने वास्तविक रूप प्रकट करने में असमर्थ रहेंगे।

वेदों पर महा प्रहार १९०० शताब्दी

उन्नीसवीं शताब्दी आर्यों को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये। हरेक तौर यह काल स्मरणीय है। वेदों की धज्जी-धज्जी उड़ाई गई तो इसी शताब्दी में। यदि पुनः बड़े गौरव के साथ वेदों की स्थापना हुई तो इसी शताब्दी में। यदि तीक्ष्ण से तीक्ष्ण समालोचक हुए तो इसी शताब्दी में। भारतवर्ष की प्रत्येक सभा सोसाइटी की जड़ भी इसी काल में जमी है। परन्तु मैं यहाँ केवल वेदों की बात सुनाता हूँ। पण्डित मैक्समूलरजी ने वेदों की हड्डी-हड्डी जैसी उड़ाई है ऐसा किसी ने नहीं किया है। ये अनेक स्थलों में वक्ष्यमाणभाव दिखला गये हैं:-

Of sacrificial animals we find goats, sheep, oxen for later and greater sacrifices, horses, and even men. परन्तु आगे चल कर इतनी कृपा करते हैं कि "There are dark traditions of human sacrifices but in the recognised ceremonial of the Veda a man is never killed........

As to the almost childish thoughts,surely they abound in the veda, इत्यादि अवाच्य कलंक वेदों पर लगाए हैं। इसी प्रकार विलसन, म्यूर, मेकडेनल्ड, वेवर, ग्रिफिथ, आदि शतशः यूरोपीय विद्वानों ने वेदों की खूब खबर ली है।

परन्तु मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और कहना पड़ता है कि ये सब बड़े अविवेकी पुरुष थे। मैं आगे अनेक उदाहरण देकर दिखलाऊँगा कि इन सबने वेदों के तात्पर्य को किंचिन्मात्र भी नहीं समझा था। मुझे इनके साहस और धृष्टता पर अत्यन्त पश्चाताप होता है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि एक बार पुनः यूरोपवासी वेदों पर इस रीति से परिश्रम करें।

वेदों पर देशी विद्वानों का प्रहार

सुनते हैं और इतस्ततः प्रमाण भी मिलते हैं। बौद्ध और जैन के समय वेदों पर बड़े-बड़े आक्षेप हुए। बृहस्पति चार्वाक आदि नामसे कई एक जन वेद-दूषक थे। इनके सिद्धान्त का भी निराकरण बड़े जोर शोर से संस्कृत शास्त्रों में पाया जाता है। अब इनके सम्प्रदाय का कोई मनुष्य नहीं पाया जाता। बौद्ध धर्म भी यहाँ से प्रस्थान कर गया। केवल कुछ जैनी रह गये हैं। वे अब एक प्रकार से पौराणिक हिन्दू मात्र हैं। इनमें विद्या बहुत कम है। प्रायः वैश्यगण ही इस सम्प्रदाय में अग्रगामी हैं।

परन्तु प्राचीन वेददूषकों का इस प्रकार निराकरण हुआ और इनके नाम भी अस्त हो गये। आजकल एक दो नहीं किन्तु शतशः पुरुष वेदों पर महाप्रहार कर गये हैं और कर रहे हैं। परन्तु इनका समाधान कहीं नहीं होता। श्रीयुत राजेन्द्रलाल मित्र ने वेदों और शास्त्रों का जैसा उपहास किया वैसा प्रायः कोई न कर सकेगा। इसी कारण इनका नाम यूरोप तक विख्यात हुआ। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी पुष्टि में इनको पुष्ट साक्षी बनाया है। महाशय भण्डारकर भी इसी कक्षा में है। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्तजी ने ऋग्वेद का अनुवाद बङ्ग भाषा में किया है। इंग्लिश भाषा में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने भी वेदों की कोई गति बाकी नहीं छोड़ी है। कृष्ण कमल भट्टाचार्य, शिवनाथ रमानाथ सरस्वती, हरप्रसाद आदि महापुरुषों ने भी वेदों पर महाक्रूर दृष्टिपात किया है। परन्तु मुझे शोक होता है कि इन सब ने स्वयं वेदों पर परिश्रम नहीं किया है। इनके ग्रन्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब यूरोपीय विद्वानों के शिष्य मात्र हैं। अपना विचार और अपनी बुद्धि को ताक पर रख अन्धवत् शिष्य बन गये हैं। संस्कृत के ये सब पण्डित नहीं हैं। हाँ इंग्लिश विद्या में निपुण हुए हैं। इसी प्रकार सत्यव्रत सामश्रमी जी भी बहुत अंशों में उनके समान ही हैं। शोक है कि इस समय में भी ये महाशय अपनी बुद्धि को परिष्कृत नहीं करते, प्रत्युत वेदों पर कलङ्क लगाये जा रहे हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती और देश की दशा

इस प्रकार आप देखेंगे तो मालूम होगा कि यूरोपवासी वेदों पर स्वतन्त्र विचार कर रहे थे। यहाँ अपने देश में केवल अंग्रेजी पढ़े बाबूओं में कुछ वेदों का परतंत्र विचार हो रहा था। परन्तु संस्कृत विद्वानों की आँखे नहीं खुली थीं। सम्पूर्ण देश में एक प्रकार से वेद विद्या लुप्त हो रही थी। भारत की दक्षिण दिशा में यद्यपि ऋग्वेदी विद्यमान हैं और दश ग्रन्थी अध्ययन करते हैं। यथा १-संहिता २-ब्राह्मण ३-आरण्यक ४-गृह्यसूत्र और षड़ङ्ग ५-शिक्षा ६-कल्प,

७-व्याकरण ८-निरुक्त ९-छन्द १०-ज्योतिष। बहुत ब्राह्मण ऐसे भी हैं कि ये सब ग्रन्थ कण्ठस्थ सुना सकते हैं। एवम् मिथिला आदि देशों में यजुर्वेद का पाठ अधिक है। पद, क्रम, जटा, घन सहित पढ़ते हैं। सामवेद का भी पाठ होता है। अथर्व का बहुत कम। परन्तु उनका अध्ययन करना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि अर्थ नहीं पढ़ते और न इस पर कोई विचार करते हैं। जैसे व्याकरण शास्त्र पर स्वतन्त्रतया खूब विचार करते है और इस विचार से व्याकरण पर शतश: पाणिनीयाष्टक के पोषक ग्रन्थ बन गये इस प्रकार का विचार यदि वेदों पर भी ब्राह्मणगण करते तो मैं कह सकता हूँ कि वेदों की आज यह दुर्दशा नहीं होती। अत: कहना पड़ता है कि भारत से वेद लुप्त हो चुके हैं।

इस महान्धकार के समय में विद्या भास्कर महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव हुआ। एकोनविंश शताब्दी के आदि में आपने अपने जन्म से पृथिवी को भूषित किया। १८२४ ई० में इनका आविर्भाव का समय माना जाता है। आप चारों तरफ अविद्यान्धकार देख बहुत पश्चाताप करने लगे। अपने मन में निश्चय किया कि वेदों का पुनरुद्धार करना चाहिये। आर्यसमाज का इतिहास सूचित करता है कि इस महान् कार्य के लिए आपने क्या-क्या परिश्रम किया। पुन: वेदों का गौरव लोग समझने लगे। और ईषद्विद्य जन इनसे इसी कारण द्वेष करने लगे। आप वेदों का कैसे अर्थ करना है यह अच्छे प्रकार अपने शिष्यों को सिखला गये। आपने सिद्ध कर दिखला दिया कि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं। वेदों में भ्रम नहीं है। वेदों से ही संसार का उद्धार होगा। बड़े जोर शोर से आपने वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध की। वेद और ब्राह्मण के झगड़े को मिटाया। प्रत्येक शास्त्र की मर्यादा दिखलाई। सब शास्त्रों का जहाँ तक जिसका अधिकार है लोगों को चेताया। वेद ही स्वत: प्रमाण हैं, इसको बड़ा ही विस्पष्ट किया।

मैं आज इनकी ही शिक्षा के आधार पर समस्त विद्वानों की शंकाओं का समाधान करने का साहस कर रहा हूँ। मैं समस्त भाइयों से निवेदन करता हूँ कि इस ग्रन्थ को दत्तचित हो अध्ययन करें भाषा ज्ञान की उपेक्षा न करें। परोपकार दृष्टि से मैंने इसको भाषा में लिखना आरम्भ किया है। मैं समझता हूँ कि आर्य भाषा की तरक्की के साथ देश का अभ्युदय होगा। अत: भाषा मे इसको लिखता हूँ। पण्डितगण सावधान हो इसे देखें, विचारें। ईश्वर से भी यह प्रार्थना है कि वह भारतवासियों में सुबुद्धि स्थापित करे।

इस ग्रन्थ की सहायता के लिए प्रथम आरोप, ऋषि, देवता और प्राण का महात्म्य इत्यादि विषय का कुछ बोध अवश्य होना चाहिये। अत: प्रथम इनको संक्षिप्त निरूपण करता हूँ।

वेद और आरोप

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।

श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः। १०। १५१। ५।

यह ऋचा ऋग्वेद के दशम मण्डल के १५१ वें सूक्त की पञ्चमी है। इस सूक्त का देवता—कामायनी श्रद्धा है। और ऋषिका भी श्रद्धा देवी है।

अर्थ—(प्रातः+श्रद्धाम्+हवामहे) हम उपासक प्रातःकाल श्रद्धा देवी को बुलाते हैं। (मध्यन्दिनम्+परि+श्रद्धाम्) मध्याह्न काल में श्रद्धा देवी को बुलाते हैं। (सूर्यस्य+निम्रुचि) सूर्य की अस्तवेला में भी (श्रद्धाम्) श्रद्धा देवी को बुलाते हैं। (श्रद्धे) हे श्रद्धे! आप (इह+नः) यहाँ हमको (श्रद्धापय) श्रद्धान्वित कीजिये।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि। १०। १५१। १

अर्थ—श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित किया जाता है। श्रद्धा से हवि की आहुति दी जाती है। (भगस्य+मूर्धनि) ऐश्वर्य के सिर पर स्थित जो (श्रद्धाम्) श्रद्धा देवी है उसको (वचसा+वेदयामसि) विविध वचन से जगत् में प्रख्यात् करते हैं।

व्याख्या—पुरुषगत अभिलाष अथवा आस्तिक विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा कोई शरीर-धारिणी चेतनावती देवी नहीं। तथापि वेद इसको सम्बोधन पद से युक्त करके वर्णन करते हैं। इसी का नाम आरोप है। अर्थात् वस्तु में तद् भिन्न वस्तु के कथन वा जानने का नाम-आरोप, अध्यारोप, अध्यास आदि है। जैसे रज्जु में सर्प का ज्ञान। परन्तु वेदों में ऐसे आरोप से तात्पर्य नहीं। किन्तु प्रत्येक पदार्थ के प्रत्यक्षवत् वर्णन् करने का नाम आरोप है। अथवा क्या गुण, क्या गुणी, क्या जड़, क्या चेतन प्रत्येक पदार्थ को सम्बोधन युक्त अथवा युष्मत्पद युक्त वर्णन करने का नाम आरोप है। जैसे उक्तोदाहरण में आत्मा का गुण जो एक श्रद्धा है। उसको भी सम्बोधन युक्त वर्णन करते हैं।

आरोप और रूपक

आरोप का परिणाम रूपक होगा। क्योंकि जब हम जड़ वस्तु का सम्बोधन करके वर्णन करेंगे तो समझा जायेगा कि यह हमारा कथन सुनती है। यह हम पर दया करती है इत्यादि। सुनने सुनाने हारा चेतन होता है। अतः आरोप के साथ-साथ चेतनत्व का झट से संस्कार होता है। और जब चेतनत्व का संस्कार होगा तो उसको नर या नारी, देव या देवी, शिष्ट या दुष्ट इत्यादि कह करके

निरूपण करेंगे। जैसे कमल को स्त्रीद्योतक कमलिनी वा पद्मिनी नाम दे स्त्रीवत् वर्णन करना। इसी प्रकार रात्रि को स्त्रीवत् और दिन को पुरुषवत् वर्णन करना इत्यादि। जिसका वाचक प्रायः स्त्री द्योतक है उसे स्त्रीवत् और जिसका वाचक प्रायः पुम् द्योतक है उसका पुम्वत् वर्णन आता है। वेदों में रूपक का वर्णन अधिक है, आगे अनेक उदाहरण रहेंगे जब लोग वैदिक तत्व के समझने में असमर्थ हो गये तो उस समय इस आरोप और रूपक का परिणाम यह हुआ कि वाच्य को यथार्थ में शब्दानुसार ही मानने लगे। जैसे नदी शब्द स्त्री वाचक है। अब गङ्गा यमुना आदि जो जलमय प्रवाह है उसको भी स्त्री रूप मानने लगे। इसकी मूर्ति भी स्त्री के समान बनाने लगे। इस प्रकार सब देवों की मूर्ति कल्पित हुई।

वेद और आरोप

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि।१०।१५५।१।

यहाँ दुर्भिक्षाधिदेवता को सम्बोधित करते हैं। (अरायि) हे अदायिनि! दानरहिते! (काणे) नयनविहीने! (विकटरूपधारिणि)! (सदान्वे) सदा शब्दकारिणि! हे दुर्भिक्षाधिदेवते! तू (गिरिम्+गच्छ) किसी पर्वत पर चली जा। जहाँ कोई न हो (त्वा) तुझको (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (सत्वभिः) पोषक जलों से अथवा (शिरिम्बिठस्य+सत्वभिः) विद्वान् कृत प्रसिद्ध उपायों से (चातयामसि) विनष्ट करते हैं।

अरायि=दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजाओं में दान देने का सामर्थ्य न्यून हो जाता है। अतः मानो, दुर्भिक्ष देवी अदायिनी है! 'रादाने-इस से रायी' काणे=दुर्भिक्ष के समय क्षुधा पिपासा से पीड़ित हो सहस्त्रों पुरुषों के नयन विकृत हो जाते हैं। अथवा धनिक पुरुष निर्धन से आँख छिपाता है। अतः यह देवी नयनहीना अथवा एक-नयनी कही गई है।

विकटे=अन्न बिना लोगों की आकृति कैसी भयावनी हो जाती है। इसको कौन नहीं जानता। सदान्वे=दुर्भिक्ष के समय पीड़ित प्रजाओं के हाहाकार शब्द चारों ओर सुनाई देते हैं। रक्षा करो रक्षा करो हाय-हाय मच जाती है। अतः यह देवी आक्रोश कारिणी है। शिरिम्बिठ का अर्थ मेघ है। निरुक्त ६।३० में भी इसकी व्याख्या है। यास्क ने भी मेघ ही अर्थ किया है। दुर्भिक्ष का नाश पानी से अथवा विद्वानों के उपाय से हो सकता है।

यहाँ देखते है कि दुर्भिक्षा कोई चेतनावती देवी नहीं तथापि चेतन समान इसका वर्णन् होता है। दुर्भिक्ष देवी का कैसा संक्षिप्त सोपाय निरूपण है।

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा संजोषाः ।

१०।८३।२

पापाचार दुष्टता आदि के प्रति जो असह्य क्रोध है उसे मन्यु कहते हैं। मन्यु अर्थात् पापाचार के प्रति क्रोध ही इन्द्र है। क्रोध ही देव है। क्रोध ही, होता वरुण और जातवेदा (अग्नि) है। जो मानुषी प्रजाए हैं। वे क्रोध की स्तुति करती है। (मन्यो) हे मन्यो। क्रोध (संजोषाः) प्रीति पूर्वक तप के साथ हमारी रक्षा करो।

दशम् मण्डल के ८३।८४ ये दोनों सूक्त मन्युदैवत हैं। यहाँ पर चेतनवत् मन्यु को सम्बोधन कर वर्णन करते हैं।

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व। १०।५९।५

असुनीति प्राणदेवता का नाम है अर्थात् प्राण शक्ति असुनीति कहाती है। हे असुनीति ! हम में मन स्थापित करो (जीवातवे) जीने के लिए (नः+ आयुः+सुप्रतिर) हम को आयु दो। सूर्य दर्शनार्थ हमें समर्थ करो। घृत से तुम अपना शरीर वर्धित करो।

घृत से प्राण और शरीर पुष्ट होता है। घृत यहाँ उपलक्षण है। घृतसमान पदार्थों से शरीर की रक्षा का विधान है। परन्तु प्राण देवी कोई चेतन नहीं परन्तु चेतनवत् वर्णन है।

वेद से ये चार उदाहरण दिए गये। आगे ऐसे-ऐसे उदाहरण आते ही रहेंगे। श्रद्धा, अलक्ष्मी, मन्यु और असुनीति ये चारों यद्यपि चेतन नहीं तथापि चेतनवत् वर्णन है। इसी प्रकार गौ, अश्व, क्षेत्र, औषधि, अग्नि, सूर्य, वायु आदिक पदार्थ भी वेदों में सम्बोधन युक्त निरूपित हुए हैं। इससे वेदों का यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिये कि ये सब हमारी प्रार्थना स्तुति सुनते हैं। प्रत्येक वस्तु का आरोप के स्वरूप में वर्णन करने की यह एक प्रणाली है। मनुष्य को इससे शान्ति मिलती है और प्रत्येक वस्तु एक दूसरे का उपकारी है यह परमार्थ भाव दिखलाया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ऐसा आरोप पाया जाता है यथाः—

तं तपोऽब्रवीत्। प्रजापते तपसा वै श्राम्यसि। अहमु वै
तपोऽस्मि। मां नु यजस्व।
त श्रद्धाऽब्रवीत् प्रजापते श्रद्धया वे श्राम्यसि अहसु वे श्रद्धास्मि।

मां नु यजस्व। तं सत्यमब्रवीत्। तं मनोऽब्रवीत्। इत्यादि।

तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-१२-४

तप ने प्रजापति से कहा कि हे प्रजापते! आप तप के साथ श्रम करते हैं। मैं ही तप हूँ। मेरा यजन करो। श्रद्धा ने कहा हे प्रजापते! श्रद्धा के साथ आप श्रम करते हैं मै ही श्रद्धा हूँ। मेरा यजन करो।

प्रजापति से सत्य बोला। प्रजापति से मन बोला। इत्यादि अनेक उदाहरण तप श्रद्धा आदिकों को चेतनवत् वर्णन करते हैं।

उपनिषदें आत्मवाद हैं। अतः इनमें प्राणों के अनेक संवाद आते हैं। यथा—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते। कतर एतत् प्रकाशयन्ते। कःपुनरेषां वरिष्ठः इति। १

तस्मै स होवाच। आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः। २

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथ अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। ३। तेऽश्रद्धाना वभूवुः। सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते। तस्मिन्ह प्रतिष्ठमाने सर्वएव प्रतिष्ठमाने सर्वएव प्रतिष्ठन्ते। एवं.... वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। तेप्रीताः प्राणं स्तुवन्ति। इत्यादि प्रश्नोपनिषदि।

पिप्पलाद ऋषि से भार्गव वैदर्भि ने जिज्ञासा की कि भगवन्! कितने देव इस शरीररूप प्रजा को धारण करते हैं। कौन प्रकाशित करते हैं और इनमें कौन श्रेष्ठ हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि आकाश, वायु, अग्नि, अप और पृथिवी। वाग्, मन, चक्षु और श्रोत्र। ये सब अपने-अपने माहात्म्य प्रकाशित कर '**मैं ही बड़ा**' मैं ही बड़ा' कहते हुए लड़ने लगे। मैं अकेला ही इसको पकड़े हुए विद्यमान हूँ। इनसे मुख्य प्राण ने कहा कि आप लोगों को मोह उत्पन्न हुआ है मैं एकाकी अपने को पाँच भागों में बांट इस शरीर को पकड़े हुए हूँ परन्तु अन्यान्य वाक् मन आदि देवों को विश्वास नहीं हुआ। तब अभिमान से मुख्य प्राण, मानो, शरीर से ऊपर उठने लगा। इसके उठते ही अन्य सब देव इसको धारण न कर सके। इसके पीछे ये सब उठने लगे। तब, वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र मुख्य प्राण की स्तुति करने लगे 'मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञांच विधेहि नः' प्र० उ० हे प्राण आप मातृवत् हमारी रक्षा कीजिये। हम को श्री

और प्रज्ञा दीजिये। इत्यादि। उपनिषदों में ऐसे-ऐसे बहुत संवाद हैं। क्या ऋषिगण नहीं समझते थे कि ये वाक् आदि जड़ हैं भाषण नहीं कर सकते। परन्तु रोचक बनाने के लिए ऐसा वर्णन किया गया है।

संस्कृत साहित्य और आरोप

संस्कृत साहित्य में इदृग् आरोप के उदाहरण भरे पड़े हुए हैं। मेघ, चन्द्र, चकोर, शुक्र, पिक, सुरभि, शीतल वायुः कमल, आम्र, केतकी, भ्रमर आदिकों के सम्बोधन युक्त सुन्दर-सुन्दर वर्णन प्रायः सब काव्यों में आते हैं।

१—रे चित्त! चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः।

२—वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर! हतास्त्वं खलु कृती।

३—व्याजस्तुतिस्तव पयोद! मयोदितेयम् यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि।

स्तोत्रन्तु ते महदिदं घन! धर्मराज-साहायमर्जयसि यत् पथिकान्निहत्य॥

प्रत्येक भाषा में इसके उदाहरण पाए जाते हैं।

ऋषि-शतर्ची आदि

कात्यायन, सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में ऋषियों को तीन भागों में विभक्त करते हैं। प्रथम मण्डल के द्रष्टा ऋषियों को शतर्ची, द्वितीय से लेकर दशम मण्डल पर्यन्त द्रष्टा ऋषियों को माध्यम, और दशम मण्डल पर्यन्त के कुछ अन्तिम सूक्तों के द्रष्टाओं को क्षुद्रसूक्त महासूक्त कहते हैं। यथा—

अथ ऋषयः।१।शतर्चिन आद्ये मण्डले।अन्त्ये क्षुद्रसूक्त महासूक्ताः। मध्यमेषु माध्यमाः।२।

शतर्ची=शत ऋचाओं के द्रष्टा। यद्यपि विश्वामित्र वसिष्ठ आदि ऋषिगण कई एक सौ ऋचाओं के द्रष्टा हैं। तथापि शतर्ची ये नहीं कहाते। ये माध्यम हैं क्योंकि बीच के मण्डलों के द्रष्टा हैं।

ऋग्वेद के ऋषियों के नामों में से प्रथम नाम मधुच्छन्दा हैं। प्रथम १० सूक्तों के ये द्रष्टा हैं। इन सूक्तों में यद्यपि १०२ एक सौ दो ऋचाएँ हैं। तथापि सुविधा के लिए शतर्ची कहलाते हैं। इसी प्रकार इस मण्डल की न्यूनाधिक ऋचाओं के द्रष्टाओं को भी शतर्ची कहते हैं।

प्राण वाचक—विश्वामित्रादि शब्द

ऐतरेयाऽऽरण्यक में ऋषि कहते हैं कि ये सब नाम किसी मनुष्य के नहीं किन्तु प्राण ही इन नामों से पुकारे गये हैं—

एष इमं लोकमभ्यार्चत् पुरुषरूपेण य एष तपति। प्राणो वाव तदभ्यार्चत्। प्राणो ह्येष य एष तपति। तं शतं वर्षाण्याभ्यार्चत्। तस्माच्छर्त वर्षाणि पूरुषाऽऽयुषो भवन्ति। तं यच्छतं वर्षाण्यभ्यार्चत् तस्मात् शतर्चिनः। तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्व मध्यतो दधे यदिदं किञ्च। स यदिदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च तस्मान्माध्यमास्तम्मान्मध्यमा इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं। प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः। स यत् प्राणो गृत्सोऽपानोमदस्तस्मात् गृत्समदः। तस्माद्गृत्समद इत्याचक्षते। एतमेव सन्तम्। तस्येदं विश्वं मित्रमासीद् यदिदं किञ्च। तद्यदस्येदं विश्वंमित्र मासीद्यदिदं किञ्च। तस्माद्विश्वामित्रः। तस्माद्विश्वामित्र इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं तंदेवा अब्रुवन् अयं वे नः सर्वेषां वामइति। तं यद्देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति तस्माद्वामदेवस्तस्माद्वामदेव इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्वं पाप्यनोऽत्रायत यदिदं किञ्च। स यदिदं सर्व पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च तस्मादत्रयस्मादत्रय इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजाः वै वाजस्तं एष बिभर्ति यद्बिभर्ति तस्माद् भारद्वाज स्तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षते। २

भाव यह है। यह प्राण सर्वत्र व्यापक है। इसी प्राण को प्राणिश्रेष्ठ मनुष्य १०० सौ वर्ष तक सेवते हैं। इस कारण इसको शतर्ची कहते हैं। जिसकी सौ वर्ष अर्चना की जाये वह शतर्ची। यही प्राण सबसे मध्य में स्थित हो के सबका धारण किये हुए है। अतः इसी को माध्यम कहते हैं। इसके आगे कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नामों की व्युत्पत्ति करके प्राणवाची सिद्ध करते हैं—

गृत्स-मद-गृत्स=प्राण। मद=अपान। अतः इसी प्राण का नाम गृत्समद है।

विश्वामित्र=इस प्राण के सब आँख कान आदि देव मित्र हैं अतः इसको विश्वामित्र कहते हैं।

वामदेव—सब देवों में यही वाम अर्थात् वन्दनीय सभंजनीय देव है।

अत्रि=पाप से यही रक्षा करता है। अतः यह अत्रि है।

भरद्वाज—वाज अर्थात् प्रजा। प्रजाओं को जो भरण करे। यह प्रजाओं को भरण करता है अतः उसको भारद्वाज कहते हैं।

एतं सन्तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ..........तस्माद्वसिष्ठः।

सइदं सर्वमभिप्रागात्............तस्मात्प्रगाथः।

स इदं सर्वमभ्यपवयत्............तस्मात्पावमान्यः।

सोऽब्रवीदहमिदं सर्व मसानि यच्च क्षुद्रं यच्च महदिति ते क्षुद्रसूक्ताश्चाभवन्महासूक्ताश्च....................

वसिष्ठ=इसी प्राण को अन्यान्य इन्द्रियगण आच्छादक मानते है। अतः यह वसिष्ठ है।

प्रगाथ-यही सब में प्रगत-प्राप्त है अतः प्रगाथ कहाता है।

पावमानी=सबको यह शुद्ध करता है अतः उसको पावमानी कहते हैं।

क्षुद्रसूक्त=क्षुद्रसे क्षुद्र पिपीलिका आदिमें यह है अतः क्षुद्रसूक्त।

महासूक्त=एवं बड़े से बड़े सूर्यादि जगत् में इसी प्राण की सत्ता है अतः इसको महासूक्त कहते हैं।

यहाँ ऐतरेय ऋषि के विचारानुसार गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव आदि नाम प्राण वाचक हैं। यदि आज कोई ऐसा अर्थ करे तो इसको अनर्थकारी कहकर निन्दनीय मानेंगे। परन्तु शब्द कामधेनु है हमें शान्ति से विचार करना चाहिए। अन्यान्य ऋषियों की भी सम्मति सुनिए।

सोऽयमास्य आङ्गिरसः अङ्गानां हि रसः।.........प्राणो हि वा अङ्गानां रसः। तस्माद्यस्मात्मकस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव शुष्यति। एष हि वा अङ्गानां रसः।१९।

एष उ एव बृहस्पतिः। वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः। २०। एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः। वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः। २१ बृ०उ०उ० १-३।

आङ्गिरस=प्राण ही अंगों का रस है, क्योंकि जब किसी अंग से यह प्राण पृथक् हो जाता है तब यह सूख जाता है। अतः अंगों का रस प्राण है। इस कारण प्राण का नाम आङ्गिरस है।

बृहस्पति=यह नाम भी प्राण का ही है। वाग् को बृहती कहते हैं। वाग् का यह अधिपति है, अतः इसको बृहस्पति कहते हैं।

ब्रह्मणस्पति=ब्रह्म=वाग्। ब्रह्म अर्थात् वाग् का जो पति वह ब्रह्मणस्पति। पुनः—

इमावेव गोतम भरद्वाजौ। अयमेव गोतमः। अयं भरद्वाजः।
इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः। अयं जमदग्निः।
इमावेव वसिष्ठ कश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः अयं कश्यपः।
वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति ४।

—बृहदारण्यकोपनिषद् २-२

गोतम और भरद्वाज—यहाँ प्राण का प्रकरण है—दो कान, दो चक्षु, दो नासिकाएँ और एक वाणी इन सातों को सप्तर्षि नाम से पुकारते हैं। पृथक्-पृथक् उनका कौनसा नाम है इस पर कहते हैं—दक्षिण कान को गोतम और वाम कान को भरद्वाज, दक्षिण चक्षु को विश्वामित्र और वाम चक्षु को जमदग्नि, दक्षिण नासिका को वसिष्ठ और वाम नासिका को कश्यप एवं वाणी को अत्रि कहते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्-कर्ता की भी यही सम्मति है।

प्राणों को ऋषि नाम से वेद भी पुकारते हैं। प्राणाध्याय में अनेक उदाहरण देखिये। यहाँ एक उदाहरण यह है:—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।

सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ॥ निरुक्त १२। ३७

यजुर्वेद के १३ वें अध्याय की ५५ वीं और ५६ कण्डिका देखिये। इस पर अष्टम काण्ड शतपथ के आरम्भ में ही ऋषि कहते हैं—

"प्राणो वै वसिष्ठ ऋषि" "मनो वै भरद्वाज ऋषिः" "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः" अर्थात् वसिष्ठ, भरद्वाज, विश्वामित्र आदि नाम प्राण के हैं। प्राचीन ग्रन्थों में आँख, कान, नाक आदिक इन्द्रियों को प्राण नाम से पुकारते हैं।

वेदों में विश्वामित्रादि शब्द

चिरन्तन ऋषियों के लेखों से सिद्ध हो चुका है कि विश्वामित्र आदि नाम जो वेदों में हैं वे प्राणवाचक भी हैं। अब इन नामों से द्रष्टा ऋषिगण कैसे पुकारे गये। यह एक सन्देह होता है। अतः इस पर अति संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। उदाहरणों के द्वारा ही इसको विस्पष्ट करना चाहता हूँ। यथा—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। १०। १२१

इस सूक्त में १० ऋचाएँ हैं। सम्पूर्ण सूक्त हिरण्यगर्भ-परमात्म-निरूपक है। इस सूक्त के ऋषि भी हिरण्यगर्भ प्राजापत्य हैं।

स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना।

५। ५१। ११

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।

बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥

५। ५१। १२

इत्यादि स्वस्तिवाचक ऋचाओं के ऋषि भी स्वस्ति हैं।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते-श्रद्धया हूयते हविः ।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि। १०।१५१।१।

यह श्रद्धा-सूक्त है। इसमें ५ ऋचाएँ हैं। इसकी ऋषिका भी श्रद्धा कामायनी देवी है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश।

१०।८१।१।

इत्यादि विश्वकर्मदैवत सूक्त है। अर्थात् इस सूक्त का देवता विश्वकर्मवाच्य परमात्मा है। और इसके ऋषि भी विश्वकर्मा भौवन हैं।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथवैति।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

यजुः। ३४।१

इत्यादि शिवसङ्कल्पात्मक कई एक ऋचाएँ हैं। इसके ऋषि भी शिवसङ्कल्प हैं।

पाँच उदाहरण यहाँ दिए गये हैं। इनसे क्या प्रतीत होता है ? निःसन्देह, वेदवित् पुरुष अनुमान कर सकते हैं कि हिरण्यगर्भ, स्वस्ति, श्रद्धा, विश्वकर्मा और शिवसङ्कल्प ये पाँचों नाम पदवीवाचक हैं। अर्थात् जो हिरण्यगर्भ परमात्मा के निखिल तत्वों को जान प्रजाओं में इस ज्ञान का प्रचार किया करते थे वे हिरण्यगर्भ नाम से ही पुकारे गये। इसी प्रकार मन क्या वस्तु है। इसको वश में करने से क्या लाभ हो सकता है इस तत्व को जो ऋषि जान प्रचार किया करते थे वे शिवसङ्कल्प नाम से पुकारे गये। इसी प्रकार सब ऋषियों को जानिये। प्रकरणानुसार जो-जो नाम आता जायेगा वहाँ उसका वर्णन करते जायेंगे।

शङ्का—यदि ऐसा है तो सम्बन्धवाचक शब्द क्यों आते हैं ? प्राजापत्य हिरण्यगर्भ। भौवन विश्वकर्मा। काण्वमेधातिथि। दीर्घतमस कक्षीवान्। आत्रेयस्वस्ति। इत्यादि। इससे प्रतीत होता है कि प्रजापति नाम के किसी पुरुष का पुत्र हिरण्यगर्भ है। अत्रि का पुत्र स्वस्ति है।

उत्तर—यह सब सम्बन्ध भी अन्वर्थक हैं प्रजापति नाम भी परमात्मा का है। सृष्टि करके प्रजाओं की रक्षा कैसे करता है। किस प्रकार यह इसका धारण पोषण कर रहा है। अर्थात् प्रजापति और हिरण्यगर्भ शब्दों का जो पारमार्थिक अर्थ है। इसके द्रष्टा और प्रचार का नाम प्राजापत्य हिरण्यगर्भ है। इसी प्रकार

भौवन विश्वकर्मा आदि। भुवन=संसार (भुवन का तत्त्ववित् भौवन।) दीर्घतमस कक्षीवान। दीर्घ अन्धकार से क्या-क्या हानि होती है। इस तत्व के जानने हारे को दीर्घतमस कहते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानिये।

नदी, मत्स्य, सर्प आदि ऋषि

इसी कारण आप देखेंगे कि कहीं-कहीं नदी, पक्षी आदि भी ऋषि हैं। क्या नदी भी मन्त्रों का विचार किया करती थी ? वैदिक आशय लोग समझते नहीं। मैं कह चुका हूँ कि ये सब शब्द पदसूचक हैं जो नदी के तत्वविद् थे और देश के लिए नदी कैसी उपकारिणी है, इससे ईश्वरीय सृष्टि में क्या कार्य लेना चाहिये इसके जो प्रचारक थे वे भी नदी नाम से पुकारे गये। मत्स्य आदि जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये। इसके प्रचारक भी मत्स्य नाम से ही पुकारे गये।

अनादि ऋषिवाचक शब्द

इसी कारण मनुजी प्रभृति कहते हैं:—

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्म्ममे॥

अर्थात् वेदों के शब्दों से ही ऋषियों के नाम रखे गये। एवं

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्योददात्यजः॥

ऋषियों के जो नामधेय हैं और जैसा जिसका द्रष्टृत्व है वे सब वेदों से प्रजापति स्थिर करते हैं। इसकी भी तब ही संगति लग सकती है जब वैदिक शब्द नित्य और वे शब्द पदसूचक माने जायें। सृष्टि के आदि में वेद दिए जाते हैं। जब-जब जो-जो तत्त्ववित् पुरुष उसके प्रचारक होते गये तब वे-वे उस-उस नाम से पुकारे जाने लगे। अतः लोक में यह प्रख्याति होती है कि वे ही ऋषि कल्पादि में उत्पन्न होते हैं। वही-वही नाम सदा स्थिर रहने के कारण ऐसी प्रथा है। वे ही ऋषि तो नहीं आते, नाम अवश्य आता है। क्योंकि संभव है कि कोई ऋषि अनेक कल्प तक मुक्ति में रहें वा अन्य ब्रह्माण्ड में विचरण करें।

इति संक्षेपतः।

वेद और देवता

जिस पदार्थ का वेदों में वर्णन होता है, वही पदार्थ देवता नाम से पुकारा जाता है अर्थात् प्रतिपाद्य विषय को देवता कहते हैं। जिस विषय का एक वा

अनेक सूक्तों में वर्णन हो वह सूक्त भाग देवता। जिसका केवल एक ही आध ऋचा में वर्णन हो वह ऋग्भाग् देवता। जिसका अन्यान्य प्रधान देवों के साथ गौणरूप से वर्णन हों वह निपातभाग् देवता है। वेदों में प्रतिपाद्य (निरूपणीय) विषय जितने हैं उतने देवता समझिये। इस कारण शरीरवती वा अशरीरवती वा विग्रहवती वा अविग्रहवती चेतना वा अचेतना गुण वा गुणी सब ही प्रतिपाद्य विषय एक देवता नाम से पुकारे जाते हैं। देव को ही स्त्रीलिङ्ग में देवता कहते हैं। अतः देवः देव, देवी, देवता आदि शब्द के प्रयोग होते हैं। उदाहरण से विस्पष्ट होगा।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे। १-१५१-५ इस ऋचा का देवता श्रद्धा है। अरायि काणे। १०-१५५, १ इस ऋचा का अलक्ष्मीघ्न देवता है। एवं मन्यु और असुनीति देवता का भी वर्णन हो चुका है। अब आगे दक्षिणा देवता देखिये।

दक्षिणा देवता

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणाऽन्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥

१०।१०७।७

इस ऋचा का देवता दक्षिणा है अथवा दक्षिणादाता है। दक्षिणा अश्व देती है। दक्षिणा गौ देती है। दक्षिणा रजत और हिरण्य देती है। दक्षिणा अन्न देती है। (नः+यः+आत्मा) हमारा जो आत्मा है वह (दक्षिणाम्+वर्म+ विजाजन्) दक्षिणा को कवच सदृश जानता हुआ इसकी वृद्धि करता हैं।

दक्षिणा शब्दार्थ दान है। जो सत्पात्र में निक्षेप करता है, जो ऋषि परोपकारी जनों के मुख में आहुति डालता है, वह सब सुख पाता है। इस सूक्त में ११ एकादश ऋचाएँ हैं सबका देवता दक्षिणा ही है।

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्व दक्षिणैभ्यो ददाति॥ ८॥

भोजाः=भोजयितारः। भोज अर्थात् दातृगण नहीं मरते (न न्यर्थम्+ईयुः) वे नीच गति को नहीं पाते। गातृगण न किसी से हिंसित होते और न व्यस्थित होते हैं। (दक्षिणा+एभ्यः सर्वम्+ददाति) दक्षिणा देवता दातृगणों को सब कुछ देती हैं। इस संसार में जो कुछ सौख्य है, वह सब इनको मिलता है।

देखते हैं कि दक्षिणा कोई विग्रहवती देवता नहीं किन्तु इस सूक्त में दक्षिणा के वर्णन होने के कारण देवता दक्षिणा है।

धन-प्रशंसा देवता

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युता पृणन्मर्डितारं न विन्दते॥

१०।११७।१।

इसका देवता धन-प्रशंसा है। (देवाः+न+वै+उ+क्षुध+ददुः+वधम्+इत्) देव अर्थात् इन्द्रिगण निश्चय क्षुधा नहीं देते किन्तु क्षुधा रूप वध ही देते हैं अर्थात् जीवों में मानो क्षुधा क्या है वध ही है। सो जो कोई अन्नदान न करके स्वयं भोग करता है उस (आशितम्) भोक्ता पुरुष को भी (मृत्यवः+उपगच्छन्ति) मरण प्राप्त होते हैं। अर्थात् क्षुधार्त और अदाता दोनों मृत्यु-मुखापन्न हैं। अतः आगे कहते हैं कि (उतो+पुणतः+रयिः) परन्तु दाता का धन (न+उप+दस्यति) दान से क्षीण नहीं होता (उत-अपृणन्+मार्डितारम्+न विन्दते) और अदाता सुख दाता को नहीं पाता। अर्थात् अदाता पुरुष को बन्धु बान्धव भी विमुख हो दुःखदायी ही होता है अन्त में हा धन! हा धन! कहता हुआ सिधार जाता है। पुनः—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।३।

(सः+इत्+भोजः) वही दाता है (यः+गृहवे+अन्नकामाय+कृशाय+चरते+ददाति) जो गृहु अर्थात् क्षुधार्त हो अन्न किसी से ग्रहण करना चाहता हो। अन्नकाम अर्थात् अन्नाभिलाषी हो। कृश अर्थात् भोजनाभाव से दुर्बल हो और (चरते) जो धर्मोपदेशार्थ विचरता हुआ हो। ऐसे पुरुषों को जो अन्न देता है वह दाता है (यामहूतौ) याग में (अस्मै+अरम्+भवति) इस दाता को पर्याप्त फल मिलता है (उत+अपरीषु+सुखायम्+कृणुते) अपरी अर्थात् शत्रु सेनाओं में भी वह सखा बनाता है अर्थात् इसके सब मित्र बनते जाते हैं।३।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥६

(अप्रचेताः+मोघम्+अन्नम्+विन्दते) अचेता अज्ञानी वह अदाता पुरुष व्यर्थ ही अन्न पाता है। मैं सत्य कहता हूँ कि अन्न लाभ उसके लिए वध के समान है। (न+अर्यमणम्+पुष्यति) न वह उस धन से सर्वहितकारी यज्ञ को पुष्ट करता और (नो+सखायम्) न अपने मित्र को ही पुष्ट करता है अतः (केवलादी) केवल भोक्ता (केवलाघः+भवति) केवल पापी होता है।६।

अरण्यानी (महावन) देवता

उत गावइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति। १०। १४६। ३
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रु क्षदिति मन्यते। ४।
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते। ५।
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्। ६।

अरण्यानी=महावनार्थ में अरण्यशब्द से अरण्यानी बनता है। इन ऋचाओं का देवता यही देवकी है। (इव) सम्प्रति इस समय (उत+गावः+अदन्ति) इस महावन में गौ आदि पशु घास चर रहे हैं (वेश्म+इव दृश्यते) कहीं-कहीं गृह समान स्थान दीखता है (उतो+अरण्यानिः) और महाजंग (शकटी+इव+सर्जति) अनेक गाड़ियाँ भेज रहा है अर्थात् विविध इन्धन, काष्ठ, दारु आदि शकटों पर लाद-लाद कर अरण्य से ले जा रहे हैं। ३ (अङ्ग+एषः०) कोई यह पुरुष अरण्य में चरती हुई गौ को बुला रहा है। कोई दारु काटता है। अरण्य में वास करता हुआ कोई सायंकाल भयभीत होता है। ४ (न+वा अरण्यानिः०) यह महारण्य किसी को न मारता यदि अन्य दुष्ट जन्तु न आवे। अरण्य में स्वादिष्ट फल खा के यथेच्छ विचरता है ५। (आञ्जनगन्धिम्) कस्तूरी आदि गन्धान्वित पुष्पसुगन्धि, बह्वन्नदाता, स्वभावतः, स्वयमुत्पन्न-फलोपेत, नानामृगोत्पादक अरण्य होता है। ऐसा अरण्य भी प्रशंसनीय है। ६।

इत्यादि अनेक उदाहरणों से अब पाठकों को प्रतीत हो गया होगा कि प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है। इस प्रकार अश्व, रथ, अभीशु (लगाम) गौ, वृषभ, क्षेत्र, सीता, नदी, आप (जल) ओषधियाँ, वनस्पति, मण्डूक आदि से लेकर सूर्य पर्यन्त देवता हैं एवं मनुष्य, स्त्री, राजा, प्रजा, पत्नी, जीवात्मा, प्राण से लेकर ब्रह्म पर्यन्त देवता हैं। इन सब पदार्थों को प्रायः सम्बोधित कर वेद वर्णन करते हैं जैसे इसी अरण्य प्रकरण में हे अरण्यानि! हे महावन यह सम्बोधन प्रथम ऋचा में है। इसमें कदापि वेद का तात्पर्य नहीं है कि यह अरण्य कोई चेतन देव है। यहाँ मैं देवता-सम्बन्धी प्रत्येक विषय का प्रदर्शन नहीं करूँगा। यहाँ केवल वेदों के मर्म्म का वर्णन करना अपेक्षित है। तथापि ये वक्ष्यमाण दो एक विषय इस सम्बन्ध में परमावश्यक हैं।

नाम देव

जैसे सूर्य, अग्नि, पृथिवी, जल, वायु आदि के अनेक नाम हैं। वे सब नाम भिन्न-भिन्न देवता माने गये हैं। ज़ैसे सूर्य के सविता, अर्यमा, पूषा, इन्द्र, विष्णु आदि नाम हैं। अब जो सूक्त वा ऋचा सूर्य नाम से सूर्य का वर्णन करता है उसका देवता सूर्य ही शब्द होगा। जहाँ पूषा नाम से सूर्य का वर्णन है वहाँ पूषा ही देवता होगा। इसी प्रकार कहीं अग्नि देवता, कहीं पावक, कहीं तनूनपात इत्यादि अग्नि के नाम ही देवता होंगे। इसी को मैं नाम देवता कहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक नाम भिन्न-भिन्न गुणप्रदर्शक है। जैसे एक अखण्ड काल को उषा, रात्रि, दिन, सायं, प्रातः आदि अनेक नाम देते हैं परन्तु उषा से दिन में भेद, दिन से रात्रि में भेद इत्यादि है। इसी प्रकार प्रातः काल के सूर्य में भेद, मध्याह्न सूर्य से सायङ्कालीन सूर्य में भेद है। इसी प्रकार, वायु और मरुत का भेद है। इत्यादि शब्दार्थगत भेद के कारण एक ही पदार्थ के अनेक नाम देवता हैं। देवताध्याय में इसका विस्तार करूँगा।

इति देवतानिर्णयः ॥

प्राणों का माहात्म्य

सूर्य के जितने अश्व, वृषभ, हंस आदि आरोपित नाम आते हैं जीवात्मा को भी उन नामों से पुकारते हैं। सूर्य के सप्त प्रकार के किरण हैं। जीवात्मा के भी दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएँ, एक वाणी ये सप्त किरण सम हैं। सूर्य के साथ कहीं दो, कहीं तीन, कहीं ४, ५, ६ ऋतु आते हैं। जीवात्मा के साथ भी कहीं प्राण और मन, कहीं प्राण, मन और वाणी, कहीं प्राण, मन, वाणी और विज्ञान, कहीं चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी कहीं पञ्चेन्द्रिय, षष्ठ मन इत्यादि समानता है। जैसे सूर्य के द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीन लोक हैं। तद्वत् जीवात्मा के पैर से कटिपर्यन्त एक पृथिवी लोक, मध्य शरीर, दूसरा अन्तरिक्ष लोक शिर, तीसरा द्युलोक। अथवा एक स्थूल शरीर, दूसरा इन्द्रिय, तीसरा मन ये तीन लोक हैं। भाव यह है कि जीवात्मा और सूर्य को अनेक प्रकार से परस्पर उपमित करते हैं। यह जीवात्मविशिष्ट जो नयन, कर्ण, नासिका, रसना आदिक गुण हैं, वे यहाँ प्राण नाम से उक्त हैं।

प्राण ही सुपर्ण (पक्षी) है

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्। अनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति॥
इनोविश्वस्य भुवनस्य गोपाः। स माधीरः पाकमत्रा विवेश॥

नि०। ३। १२॥

यहाँ यास्काचार्य सूर्य और जीवात्मा दोनों का वर्णन करते हैं। सूर्यपक्ष से सुपर्ण=किरण। आत्मपक्ष में सुपर्ण=इन्द्रिय। जीवात्मविशिष्ट प्राण ही पक्षी है।

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः आविशत्।

वृह०। २। ५। १८॥

इस प्राण सहित जीवात्मा के द्विपद, चतुष्पद सब ही पुर (ग्राम) हैं। अतः यह पुरुष कहाता है। पक्षी हो के सर्वत्र प्रविष्ट है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। समानं वृक्षं परिषस्वजाते॥

इत्यादि ऋचाओं में ईश्वर और प्राण सहित जीव दोनों की पक्षी से उपमा दी है।

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिविप्राणां महिषी मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।

नि० परि० २। १३

इस ऋचा में ब्रह्मा, पदवी, ऋषि, महिष, श्येन, स्वधिति और सोम ये सब जीवात्मा के नाम और देव, कवि, विप्र, मृग, गृध्र, वन ये सब इन्द्रियों के नाम हैं। ऐसा यास्काचार्य कहते हैं।

हंसः शुचिपद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृ पद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।

निरुक्त ।

यहाँ हंस आदि प्राण सहित जीवात्मा के नाम कहे गये हैं।

प्राण ही सप्त ऋषि हैं

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्॥
सप्तापः स्वपतो लोकम्मीयुः तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

नि० दे० ६। ३७॥

यहाँ भी दोनों पक्षों में घटाते हैं। सूर्य रूप शरीर में सात किरण ही सप्त ऋषि हैं। वे ही किरण प्रमाद रहित हो सम्वत्सर की रक्षा करते हैं। सूर्य के अस्त होने पर भी ये ही सात (आपः) सर्वत्र व्यापक होते हैं। सूर्य और वायु दोनों जगते रहते हैं। इत्यादि सूर्य पक्ष में। शरीर में (षड्+इन्द्रियाणि+विद्या+सप्तमी) छह इन्द्रिय और सप्तमी विद्या ये सातों ऋषि हैं। ये ही शरीर की रक्षा करते हैं। सो जाने पर ये सातों आत्मरूप लोक में रहते हैं। प्राज्ञ और तैजस आत्मा सदा जगते रहते हैं। प्राज्ञ=जीवात्मा। तेजस-प्राण।

यहाँ यास्क छह इन्द्रिय कहते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, षष्ठ मन।

तिर्य्यग्‌विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकम् ये अस्य गोपा महतो बभूवुः।

नि० दे० ६। ३७॥

यहाँ भी यास्क दोनों पक्ष रखते हैं। आत्म-पक्ष में सप्तऋषि पद से सप्त इन्द्रिय लेते हैं। दो नयन, दो प्राण, दो नासिकाएँ और एक जिह्वा। प्रायः ये ही सात अभिप्रेत हैं।

इसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में भी है परन्तु वहाँ पाठ इस प्रकार है।

अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना।

इस शरीर में जो शिर है वहीं चमस (पात्रवत्) है (अर्वाग्विलः) इसका मुखरूप बिल (छिद्र) नीचे है। मूल ऊपर है। इस शिरोरूप चमसपात्र में प्राणरूप सम्पूर्ण यश स्थापित है। इसके तट पर प्राणरूप सात ऋषि हैं और अष्टमी वाणी वेद से सम्वाद करती हुई विद्यमान है। आगे इन सातों के नाम भी कहते हैं। दोनों कर्ण=गोतम, भरद्वाज। दोनों चक्षु=विश्वामित्र, जमदग्नि। नासिकाएं=वसिष्ठ, कश्यप। वाणी=अत्रि।

प्राण ही ऋषि हैं

अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में ''प्राणा वै ऋषयः'' शत० ६। १ ''प्राणा वै ऋषयः'' इस प्रकार का पाठ बहुत आता है।

प्राणा उ वा ऋषयः॥ ८॥ ४॥ प्राणा व वालखिल्याः। ८।

इत्यादि शतपथादि ब्राह्मणों में देखिये।

शतपथब्रा० के अष्टम काण्ड के आरम्भ में ही लिखा है कि **'प्राणो भौवायनः। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। ६। मनो वै भरद्वाजः। चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः।**

इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि वेदों में जो वसिष्ठ आदि पद आए हैं वे प्राणों के अथवा प्राणविशिष्ट जीवात्मा के नाम हैं।

प्राण ही सप्त शीर्षण्य प्राण हैं।

सप्त वै शीर्षन् प्राणाः। ऐतरेय॥ ३। ३॥

''सप्त शीर्षण्याः प्राणा'', ऐसा पाठ ब्राह्मणों में बहुत आता है व दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक वाग् ये ही सप्त शीर्षस्य प्राण है।

प्राण ही भूर्भुवादि सप्तलोक हैं

प्राणायाम के समय में ''ओं भूः ओं भूवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम्'' यह मन्त्र पढ़ते हैं। प्राण+आयाम=प्राणों के अवरोध करने का नाम प्राणयाम है। भूः आदि प्राणों के नाम हैं। ये सब नाम ईश्वर के भी हैं। सप्त संख्या इस पर विचार देखो।

१४ चतुर्दश लोकों का जो वर्णन है वह प्राणों का ही वर्णन है। ये ही सात प्राण-दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और वाक् ऊपर के लोक हैं, और दो हाथ, दो पैर, एक मूत्रेन्द्रिय, एक मलेन्द्रिय और एक उदर ये सात नीचे के सात लोक। अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल

नाम से पुकारे जाते हैं।

प्राण ही ४९ वायु हैं

महाभारतादिकों में गाथा है कि कश्यप की स्त्री दिति के जब गर्भ रहा तब इन्द्र ''यह जानकर कि इससे उत्पन्न बालक मेरा घातक होगा'' दिति के उदर में प्रविष्ट हो गर्भस्थ बालक को प्रथम ७ सात खण्ड कर पुनः एक-एक को सात-सात खण्ड कर बाहर निकल आया। दिति ने इसके साहस को देख अपने ४९ पुत्रों को इन्द्र के साथ कर दिया। तब ही से वे मरूत् वा मारुत कहाते हैं और इन्द्र के सदा साथ रहते हैं।

भाव यह है कि-दिति नाम व्यष्टि शरीर का और अदिति नाम समष्टि शरीर का है। (दो अवखण्डने) जो सीमाबद्ध, विनश्वर शरीर है वह दिति तद्भिन्न अदिति। इन्द्र नाम जीवात्मा का है। किसी अन्य प्रकरण में सप्रमाण इन्द्र का जीवात्मवाचकत्व सिद्ध करेंगे। इन्द्रिय शब्द का अर्थ इन्द्रलिङ्ग है। अर्थात् इन्द्र का चिन्ह। करण द्वारा इन्द्र (जीवात्मा) का बोध होता है अतः इस नेत्रादिक करण समूह को इन्द्रिय कहते हैं। इससे विस्पष्ट सिद्ध है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का भी है। मनुष्य से लेकर कीट पर्यन्त का जो शरीर वह दिति क्योंकि यह सीमाबद्ध, खण्डनीय और विनश्वर है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जो अखण्ड, असीम, अविनश्वर शरीर है वह अदिति है। इस अदिति के पुत्र जीव, जीव के सद्गुण आदि देव हैं। अतः ये भी अविनश्वर हैं। और दिति के पुत्र राक्षस हैं। वे विनश्वर हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि जो शरीर के धर्म वे ही यहाँ राक्षस हैं। इन दोनों में सदा संग्राम रहता है। परन्तु प्राण (नयन, कर्ण, नासिका इत्यादि) भी तो भौतिक हैं अतः ये भी दिति के पुत्र है। फिर प्राणों और जीवात्मा में बड़ा विरोध रहना चाहिये। परन्तु रहता नहीं। यद्यपि ये भौतिक और विनश्वर हैं तथापि ये सदा जीवात्मा इन्द्र के साथी हैं। भौतिक होने के कारण ये ही इन्द्रिय कभी-कभी असुर रूप धारण कर जीवात्मा से घोर संग्राम करते हैं, इसी भाव के दिखलाने के लिए इस आख्यायिका की सृष्टि हुई है।

इस शरीर में मुख्य एक ही प्राण है, जीवात्मा के योग से यही एक प्राण सात होते हैं, दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और जिह्वा, पुनः इन सातों की अनन्त विषय वासनाएँ हैं, इसी को ७ गुणा ७ सात को सात से गुणा कर ४९ दिखलाया है। विनश्वर होने के कारण मरुत्=मरणशील कहाता है और ये सदा इन्द्र के साथ रहते हैं। ये इन्द्र के दूत हैं, इन्द्र बिना इनका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। अतः वेदों में भी इन्द्र को मरुतवान् कहा है।

प्राण ही सप्त होता है

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे। मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।

१०।६३।७

मनु=जीवात्मा। (समिद्धाग्निः) जिसने हृदयरूप अग्नि को प्रदीप्त किया है वह (मनुः) जीवात्मा (मनसा+सप्तहोतृभिः) मन और सप्तेन्द्रियरूप सप्त होताओं के साथ (प्रथमाम्) उत्तम (होत्राम्+आयेजे) यज्ञ सम्पादन करता है।

होत्रा=हूयन्ते य हवींषि यत्र सा होत्रा यज्ञः। सा०।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता। यजुः। जिस यज्ञ में चक्षु आदि सप्त होता है।

वेदों और शतपथादि ब्राह्मणों के देखने से यह प्रतीत होता है कि यज्ञादि विधान भी केवल प्रतिनिधि स्वरूप हैं। अध्यात्म यज्ञों के स्थान में विविध ऋत्विकों के साथ बाह्य यज्ञ करके दिखलाए जाते हैं। कहाँ तक वर्णन किया जाये। सप्तसिन्धु, सप्तलोक, सप्तराशि, सप्तार्चि, सप्ताग्नि आदि पदों से भी सप्तेन्द्रियाँ का ही ग्रहण है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं—

१—वाग्वै यज्ञस्य होता है। २—चक्षु वै यज्ञस्याऽध्वर्युः। ३—प्राणो वै यज्ञस्य उदगाता। ४—मनोवैस्य ब्रह्मा।

यहाँ पर देखते हैं वाग्, चक्षु, प्राण और मन ये ही चार होता, अध्वर्यु उदगाता और ब्रह्मा हैं।

पुनः बाह्ययज्ञ में तीन प्रकार की ऋचाएँ तीन समय में पढ़ी जाती हैं वे पुरोनुवाक्या १ याज्या २ और शस्या कहाती हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं "प्राणएव पुरोऽनुवाक्या, अपानोयाज्या, व्यानःशस्या" प्राणा ही पुरोऽनुवाक्या है, अपानयाज्या है, और व्यान शस्या है। ऐतरेय ब्राह्मण ६, १४ में कहा है।

प्राणो वै होता। प्राणः सर्व ऋत्विजः।६।३। में, वाग्वै सुब्रह्मण्या २।२८ में, मनो वै यज्ञस्य मैत्रावरुणः। २।२७ में, प्राणा वै ऋषयो दैव्नासः। १।८ में प्राणापानौ अग्नीषोमौ चक्षुषी एव अग्नीषोमौ। इत्यादि वर्णन ब्राह्मणों में देखिये।

प्राण ही गौ, धेनु और विप्र हैं।

और

आत्मा सोम है

सोमं गावो धेनवो वावशानाः। सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः॥

सोमः सुतः पूयते अज्यमानः। सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः संनवन्ते।

मि० परिशिष्ट २॥

सूर्या पक्ष में गौ, धेनु और विप्र पद से किरणों का, और आत्मपक्ष में इन्द्रियों का ग्रहण है।

इसी प्रकार हंस, समुद्र, वृषा, आदि दोनों के नाम कहे गये हैं

प्राण ही चन्द्रमा है।

विधुं दद्राणं समने बहूनां।

युवानं सन्तं पलितो जगार॥

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान। नि०परि० २।

(पलितः) आदित्य (समने बहूनां+दद्राणम्) आकाश में विविध नक्षत्रों के मध्य में दमनशील (युवानाम्+सन्तं+विधुम्) युवा चन्द्रमा को (जगार) निगल जाता है (देवस्य+महित्वा+काव्यम्+पश्य) सूर्य के महान् सामर्थ्य को देखो (अद्य+ममार) चन्द्रमा आज मरता है। (ह्यः+सः+सम्+आन) परन्तु कल ही पुनः जी उठता है (समने) संहाररूप संग्राम में जो प्राण (बहूनाम+दद्राणम्) बहुतों को दमन करने हारा है (युवानम्+सन्तम्) और जो सदा युवा रहता है (विधुम्) उस प्राणरूप चन्द्रमा को (पलितः) जरावस्था के कारण शुक्लकेशरूप पुरुष (जगार) गिर जाता है। इस देव की महिमा देखो। यह प्राण आज मरता हैं कल पुनः जन्म लेता है।

सम् आन=अन-प्राणने। अत् धातु से, ''आन'' लिट् में बना है।

इत्यादि कहाँ तक उदाहरण लिखे जायें। निरुक्त में अध्यात्म और अधिदैवत पक्ष देखिये। यद्यपि परिशिष्ट यास्ककृत प्रतीत नहीं होता तथापि यास्कानुकूल है इसमें सन्देह नहीं क्योंकि द्वादशाध्यायी निरुक्त से भी उभय पक्ष दिखलाया गया है।

जगत् और शरीर

ऋषियों ने इस मानव शरीर की जगत् से उपमा दी है। यथाछान्दोग्योपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक के तृतीय खण्ड में कहते हैं ''वायु ही संवर्ग अर्थात् अपने में सब पदार्थों का लय करने वाला है। जब अग्नि अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है। सूर्य अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है। इसी प्रकार चन्द्र और जल भी वायु में ही लीन होते हैं। यह अधिदैवत है।'' ''अब अध्यात्म कहते हैं प्राण ही संवर्ग हैं। जब वह (जीव) सोता है तब वाणी प्राण में ही लीन होती है, इसी प्रकार, चक्षु, श्रोत्र और मन ये भी प्राण में ही लीन होते हैं। ये ही दो संवर्ग हैं। देवों में वायु और प्राणों (इन्द्रियों) में प्राण''।

यहाँ बाह्य जगत् में जैसे वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल देव हैं और

उनमें सूत्रात्मा वायु मुख्य है। तद्वत शरीर में प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पंच प्राण (इन्द्रिय) हैं। इनमें प्राण मुख्य है।

पुनः ३-१७ में कहा है कि अध्यात्म जगत् में मन को बृहत् जान इसके गुणों का अध्ययन करें और अधिदैवत जगत् में आकाश के गुणों का अध्ययन करे। इस मन के वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र चार पद हैं और आकाश के अग्नि, वायु आदित्य और दिशा चार पद हैं।

यहाँ मन की आकाश से तुलना की है। क्योंकि दोनों ही अनन्त हैं।

बृह०। १। ५। ४ में कहते हैं। वाग् पृथिवी लोक, मन अन्तरिक्ष लोक और प्राण द्युलोक हैं।

वृ० १। ५। २१ में कहते हैं। इन्द्रियगण परस्पर स्पर्धा करने लगे कि वाग् ने कहा मैं ही बोलूँगी। चक्षु ने कहा कि मैं ही देखूँगा। श्रोत्र ने कहा कि मैं ही सुनूँगा। इस प्रकार सब इन्द्रिय कहने लगे। परन्तु मृत्यु आकर इन सबों को अपने वश में करने लगा। इसी कारण वाग् थकती है। चक्षु और श्रोत्र शान्त हो जाते हैं। मृत्यु इनको विवश कर प्राण की ओर चला। परन्तु प्राण को विवश न कर सका। अतः प्राण सर्वदा चलता हुआ थकता नहीं। अतः यह मध्यम प्राण सर्वश्रेष्ट है। यह अध्यात्म है।

अब अधिदैवत कहते हैं। अग्नि ने कहा कि मैं प्रज्वलित होऊँगा। सूर्य ने कहा मैं तपूंगा। चन्द्र ने कहा मैं भासित होऊँगा। उन्हें भी मृत्यु ने अपने वश कर लिया। परन्तु वायु देव को वश न कर सका। क्योंकि सूत्रात्मा वायु सर्वदा प्रलयकाल में भी बना रहता है।

इत्यादि औपनिषद प्रयोगों में इस शरीर को ब्रह्माण्ड से उपमित किया है और प्राण की श्रेष्ठता मानी है।

इन्द्रिय (प्राण) ही पञ्चजन हैं

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। वृ०। ४। ४। १७।

जिस शरीर में पञ्चसंख्या पाँच जन है। और आकाश प्रतिष्ठित है वहाँ "पञ्चजन शब्द से प्राणों का ही ग्रहण है। इसमें वेदान्त सूत्र १।४। १२। प्राणदयो वाक्यशेषात्। देखिये वाग्, मन, चक्षु, श्रोत्र और प्राण ये पञ्च प्राण कहाते हैं। इनके ही नाम पञ्चजन, पञ्चमान व, पञ्चक्षिति, पञ्चकृष्टि आदि भी हैं। कहीं पञ्चज्ञानेन्द्रिय, कहीं पञ्चप्राण, कहीं दश प्राण कहीं एकादश प्राण। कहीं पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, षष्ठ मन जोड़कर षट्प्राण। इत्यादि वर्णन आता है।

प्राण ही द्वारपालक पञ्च ब्रह्म पुरुष हैं

छा० ३। १३ में लिखा है कि इस हृदय के पाँच देव सुषि अर्थात् छिद्र हैं। १-पूर्व में चक्षुरूप छिद्र है वही प्राण और आदित्य है। २-दक्षिण में श्रोत्ररूप छिद्र है। वही व्यान और चन्द्रमा है। ३-पश्चिम में वाग्रूप छिद्र है। वही अपान और अग्नि है। ४-उत्तर में मनोरूप छिद्र है वहीं समान और पर्जन्य है। ५-ऊपर वायुरूप छिद्र है वही उदान और आकाश है। ये पाँच ब्रह्म पुरुष हैं। स्वर्गलोक के द्वारपालक हैं।

प्राण ही देव और असुर हैं

छान्दो० १। २। और बृहदारण्यक १। ३। में कहा है कि इन्द्रिय ही देव और असुर हैं दुष्टेन्द्रियों के नाम असुर और वशीभूत इन्द्रियों के नाम देव हैं। अथवा इन्द्रियों की जो साधु असाधु दो वृत्तियाँ हैं वे ही देव और असुर हैं। इनके ही महायुद्धों का नाम देवासुर संग्राम हैं। प्राणायाम सत्यादि ग्रहण से इनके असुरत्वभाव का नाश हो जाता है। इसका वर्णन बृहदारण्यक में बृहत्पूर्वक है। निष्पाप वाणी को अग्निदेव, निष्पाप प्राण को वायुदेव, निष्पाप चक्षु को आदित्य देव, निष्पाप श्रोत्र को दिग्देव और निष्पाप मन को चन्द्रदेव कहते हैं।

इन्द्रिय ही श्वान (कुत्ते) हैं

छान्दो० १। १२ में कहा है कि मुख्यप्राण श्वेत कुत्ता और वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन ये साधारण कुत्ते हैं। ये अन्न के लिए व्याकुल होते हैं।

इन्द्रिय ही अश्व (घोड़े) हैं

आत्मानं रथिनं विद्धि-शरीरं रथमेव तु
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि-मनः प्रग्रह मेव च। ३
इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयांस्तेषु गोचरान्। कठोपनिषद्

यह शरीर रथ है। आत्मा रथी है। बुद्धि सारथि है। मन लगाम है। इन्द्रिय हय (घोड़े) हैं। इनमें ही विषय निवास करते हैं।

मुख्य गौण प्राण और पञ्च शब्द

पैर से शिर तक व्यापक प्राण को मुख्य, वरिष्ठ आदि नाम है। इनके ही प्राण अपान, समान, उदान, व्यान आदि पाँच वा देश भेद हैं और वाग्, मन, चक्षु, श्रोत्र ये चार गौण प्राण कहाते हैं।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच—वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रंच ते प्रीताः प्राणांस्तुवन्ति इत्यादि प्रश्नोपनिषद् और अन्यान्य उपनिषदों में देखिये। यहाँ प्राणों में चेतनत्व और पुरुषत्व का आरोप कर सम्वाद और स्तुति आदि का वर्णन है।

प्राणों में स्त्रीत्वारोप

छान्दोग्योपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के आदि में ही कहा है कि सब प्राण प्रजापति के निकट जा बोले कि हममें श्रेष्ठ कौन है। प्रजापति ने कहा कि आपमें से जिसके न रहने से यह शरीर पापिष्ठ हो जाये वही श्रेष्ठ है। प्रथम वाग्देवी इस शरीर से बाहर निकल गई। परन्तु इसके निकलने से शरीर पापष्ठि नहीं हुआ क्योंकि मूक (गूँगा) वत् सब प्राण निर्वाह करने लगे। इसी प्रकार चक्षु, श्रोत्र और मन भी क्रम पूर्वक अपनी-अपनी शक्ति की परीक्षा लेने लगे। अन्ध, बधिर, और बालकवत् सब का निर्वाह हो गया। परन्तु जब मुख्य प्राण निकलने लगा तब ये वाग्, चक्षु, श्रोत्र और मन देव सब मिलकर भी शरीर को धारण न कर सके, शरीर पापिष्ठ होने लगा। तब ये प्राण मुख्य प्राण की स्तुति करने लगे। वाग् ने कहा हे प्राण! आप वसिष्ठ और मैं वसिष्ठा हूँ। चक्षु ने कहा आप प्रतिष्ठ हैं और मैं प्रतिष्ठा हूँ। श्रोत्र ने कहा आप सम्पद् हैं और मैं सम्पद् हूँ। मन ने कहा आप आयतन हैं और मैं आयतन हूँ।

इत्यादि प्रयोग में वाग्, मन, श्रोत्र, चक्षु और प्राण ये ही पाँच पंच-प्राण कहाते हैं यह सदा ध्यान रखना चाहिये।

प्राणों की संख्या

सप्तगतेर्विशेषित्वाञ्च। वेदान्त सू० २।४।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति। यहाँ सप्त प्राण।

अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः। यहाँ अष्ट प्राण।

सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ। यहाँ नव प्राण।

नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी। यहाँ दश प्राण।

दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। वहाँ एकादशप्राण।

सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायतनम्। यहाँ द्वादश प्राण।

चक्षुश्च द्रष्ठव्यञ्च। यहाँ त्रयोदश प्राण।

ये सब भेद शङ्कराचार्य ने इसी सूत्र पर दिये हैं। अन्त में इस सूत्र के अनुसार स्थिर करते हैं कि सात ही प्राण हैं ''सप्त वैशीर्षण्याः। गुहाशया निहिताः सप्त-सप्त'' इत्यादि प्रमाणों से सप्त प्राण कहे हैं इस प्रकार देखेंगे तो प्राणों का निरुपण विविध प्रकार से आया है। इति संक्षेपतः।

मैंने अति संक्षेप से आरोप आदि के विषय निरूपित किये हैं। पाठक स्वयं वेदों को पढ़ देखें। जो कुछ भ्रम उत्पन्न हुआ है उस पर पूरा विचार करें। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है जब मैं एक ओर वेदों की अति प्रशंसा और दूसरी

ओर उतना ही निरादर देखता हूँ। अब दोनों में कौन सत्य इसका भी निर्णय हम ही करेंगे। आज वे ऋषि मुनि निर्णय करने को नहीं आवेंगे। क्या ऋषि पाणिनि, पतञ्जलि, व्यास, जैमिनि, मनु, शङ्कराचार्य, दयानन्द सरस्वती आदि धूर्त थे जो मिथ्या ही वेदों की प्रशंसा जन्म भर करते रहे। यदि आप यह कहें कि क्या बृहस्पति, चार्वाक, बुद्ध, जिन, बेनफे, गोल्डष्टकर, रौथ, मैकसमूलर, विलसन, राजेन्द्रलाल मित्र, रमेशचन्द्रदत्त, भण्डारकर आदि पुरुष धूर्त हैं कि वेदों की निन्दा करते हैं। मैं दोनों पक्षावलम्बी विद्वानों को धूर्त नहीं कहता। परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि पाणिनि आदिकों को वेदार्थ जितना विदित था इतना इन बेनफे प्रभृतियों को मालूम नहीं था। प्रथम मैं यहाँ दो शास्त्रों की सम्मति प्रकट करता हूँ जिससे मालूम होगा कि वे किस दृष्टि से वेदों को देखते थे।

वेदों में इतिहास न होने के कारण और सम्मतियाँ

१—भारत वर्षीय समस्त आचार्य मानते हैं कि सृष्टि के आदि में चारो वेद दिए गये। सारे पुराण तो यहाँ तक गाते हैं कि जिस समय केवल ब्रह्मा ही विष्णु के नाभिपद से निकले थे उसी समय ब्रह्मा के हृदय में अनादि अनन्त भगवान् ने चारों वेद स्थापित किये। इनको देख ब्रह्मा ने समस्त ब्रह्माण्ड रचे। वेदों से ही सब पदार्थों के नाम, रूप, गुण, आकृति दिए। देव, ऋषि, पितर, पशु, पक्षी आदिकों के सब नाम वेदों से ही रखे गये। यहाँ तक कि ब्रह्मा को यदि वेद न मिलते तथा उनके निकट सदा वेद न होते तो सृष्टि रच ही न सकते थे अतएव इनके निकट से हिरण्याक्ष द्वारा वेदों को चुरा ले जाने पर ब्रह्मा की सृष्टि ही बन्द हो गई। जब वराह अवतार हो भगवान् ने पुनः वेदों का उद्धार किया तब पुनः वेदों को देख-देख के ब्रह्मा सृष्टि बनाने लगे। पौराणिक सिद्धान्त ऐसा होने पर वे कैसे कह सकते हैं कि वेदों में वसिष्ठ, विश्वामित्र प्रभृतियों के इतिहास हैं। क्योंकि इन सबके जन्म से पहले ही ब्रह्मा के निकट वेद मौजूद थे। फिर इन सबकी चर्चा वेदों में कैसे हो सकती है ? मनुजी कहते हैं।

सर्वेषां तु नामानि कर्म्माणि च पृथक्-पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे। मनु० १। २१॥

सब पदार्थों के नाम, पृथक्-पृथक् कर्म और पृथक्-पृथक् संस्थाएँ हिरण्यगर्भ ने वेदों के शब्दों से ही निर्माण की। गोजाति को गौ, आम्र जाति को आम्र कहना चाहिये इस प्रकार के सब पदार्थों के नाम वेदों में रखे गये। एवं ब्राह्मण के अमुक कर्म, क्षत्रियों के अमुक कर्म, एवं घट पट निर्माणों की विविध संस्थाएँ अर्थात् विभाग भी वेदों से ही बनाए गये। शङ्कराचार्य वेदान्त के १-३-२८ सूत्र के भाष्य में कहते हैं।

नामरूपे च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्त्तनम्।

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः।

पुनः १-३-३० वेदान्त भाष्य में कहते हैं किः—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।

शर्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्योददात्यजः।

प्रलय के अन्त और सृष्टि के आदि में वेदों से ही ब्रह्माजी ऋषियों के नाम रखते हैं और वेदों के जो-जो ऋषि द्रष्टा हुए हैं। इनके नाम भी वेदों से ही स्थिर किये गये हैं। इत्यादि।

२—जब समस्त आचार्यों की इस विषय में ऐसी एक सम्मति है तब केवल नाम देखने से कैसे कह सकते हैं कि ये नाम इन वसिष्ठादिकों के हैं। क्या आज राम वा लक्ष्मण नाम किसी का सुन यह कह सकते हैं कि इसी राम लक्ष्मण का वर्णन बाल्मीकि रामायण में हैं ?। अत: केवल मनुष्य संज्ञावाचक नामों के दर्शनमात्र से वेदों में इतिहास सिद्ध नहीं हो सकता। जब तक कि कोई विशेष निरूपण न हो। संभव है कि वहाँ उन नामों का कुछ और ही अर्थ हो। इस विषय का वर्णन ऋषि प्रकरण में देखो। यह एक साधारण नियम है कि सब कोई अपने सम्प्रदाय के अनुसार नाम रखते हैं। जैसे आजकल रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, शिवदत्त, गौरीचरण, कालीकुमार आदि नाम अपने-अपने सम्प्रदाय अनुसार रखते हैं। तद्वत् अति प्राचीनकाल में वेदों का ही प्रचार होने से वेदों से ही चुन-चुन के नाम धरते थे। इसी कारण वेदों में जो मनु, इक्ष्वाकु, जनमेजय, वसिष्ठ, अङ्गिरा, वामदेव आदि शब्द पाए जाते हैं वे इन ही नामों के बड़े प्रतापी, राजा, ऋषि भी लोक में देखे जाते हैं। परन्तु इनका वेदों में वर्णन नहीं। हाँ, यदि इनके ग्राम, चरित्र के किसी अंशों का वर्णन, परस्पर सम्वाद इत्यादि इतिहास सूचक कोई बात हो तो कह सकते हैं कि वेदों में इतिहास है।

षड्दर्शनकार वेदों की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। शङ्कराचार्य अपने शारीरिक भाष्य में बारम्बार कहते हैं कि वेद-विरुद्ध त्याज्य है। वेदों के अर्थ का कुतर्क वा शुष्क तर्क से निराकरण सर्वथा अनुचित है। मैं यहाँ केवल मीमांसा और वेदान्त के प्रमाण देता हूँ अन्यान्य शास्त्रों के प्रमाण आप स्वयं देखें।

३—मीमांसा की सम्मति

मीमांसा शास्त्र वेदों में अनित्य इतिहास नहीं मानता। प्रथम इस पर इस प्रकार पूर्व पक्ष कहता है—

वेद्वांश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्या:।१।१।२७।

वेद पुरुषों के नाम से पुकारे जाते हैं। ऋग्वेद को शाकल्यशाखा, यजुर्वेद को वाजसनेय-शाखा, सामवेद को कौथुमशाखा, अथर्ववेद को शौनकशाखा कहते हैं एवं काठक, कालापक, पैप्पलादक, मौहुल आदि नाम से भी वेद पुकारे जाते हैं। अतः प्रतीत होता है कि उन-उन ऋषियों से वेद बने हैं। पुनः—वेदों में इतिहास न होने के कारण और सम्मतियाँ—

अनित्यदर्शनाच्च। १। १। २८।

अनित्य वसिष्ठादि नाम भी पाए जाते हैं। अतः वेद कृतक हैं। इस प्रकार पूर्व पक्ष कह उत्तर पक्ष कहता है।

उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्। २९। आख्याप्रवचनात्। ३०।

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्। ३१।

भाव यह है कि यह सिद्ध हो चुका है कि अध्ययन करने हारे शाकल्य, वाजसनेय, कठ, काप के पूर्व ही वेद थे। अतः वेद इनके बनाए हुए हैं यह तो नहीं हो सकता। अब जो इनके नाम से कोई-कोई वेदों को पुकारते हैं इसका कारण यह है कि एक-एक वेद में वा एक-एक शाखा के अध्ययन में आजीवन परिश्रम करते रहे और इनके प्रचार करने में सम्पूर्ण जीवन विताते रहे अतः उनके आदर के लिए उन-उनके नाम पर वेदों को भी कोई-कोई पुकारने लगे। मानों, कि ये इनके ही धन हैं जिनकी रक्षा का इस प्रकार यत्न कर रहे हैं और जो वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि अनित्य नाम वेदों में पाए जाते हैं वे यथार्थ में अनित्य नाम नहीं हैं वे सामान्य नाम हैं। किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं, उस-उस स्थल में वसिष्ठादि शब्दों के अन्य-अन्य अर्थ हैं। इन लोक प्रसिद्ध वसिष्ठादिक पुरुषों से तात्पर्य नहीं है। यदि इसको विस्तार पूर्व देखना है तो मीमांसा शास्त्र का प्रथम अध्याय देखो।

४—वेदान्तशास्त्र की सम्मति

वेदव्यासकृत वेदान्तशास्त्र भी अनित्य इतिहास वेदों में नहीं मानता। व्यास भगवान् कहते हैं:—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। १। ३। २८।

भाव इसका यह है। वेद सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु आदि देवों का वर्णन करता है। वे सब देव शरीरवाले हैं। किसी न किसी प्रकार के सबके शरीर हैं। जल का भी कोई आकार है, वही उसका शरीर है। इसी प्रकार वायु आदि के भी शरीर हैं। परन्तु ये शरीर अनित्य हैं। जैसे मनुष्य शरीर बनने बिगड़ने वाले हैं वैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भी शरीर विनश्वर है। विनश्वर वस्तु का वर्णन वेदों में होना नहीं चाहिये। परन्तु है। अतः वेद अनित्य हैं। अनित्य होने से शब्द के साथ अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध मानते हैं। सो सिद्ध न होगा। यह शङ्का कर समाधान करते हैं (अतः प्रभवात्) इस वैदिक शब्द से ही सकल पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इसका भी आशय यह है। ईश्वर के ज्ञान में प्रथम ही सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल आदि सकल शब्द और सूर्यादि पदार्थों

की आकृति भी विद्यमान रहते हैं। प्रलय के अनन्तर भगवान् जब-जब सृष्टि करना चाहता है तब-तब प्रथम शब्द उच्चरित होता है। पश्चात् सृष्टि होती है। लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि जब कोई वस्त्र बनाना चाहता है तब प्रथम इसके मुख से वस्त्र शब्द निकलता है और अपने मन में वा औरों से कहता है कि मुझे वस्त्र बनाना है पश्चात् वस्त्र बनाने लगता है। वस्त्र की आकृति भी कुविन्द जुल्हा की बुद्धि में रहती है। इस प्रकार का वस्त्र मुझे बनाना है। सम्भव है कि मनुष्य प्रत्येक पदार्थ की आकृति में परिवर्तन भी कर दे। परन्तु ईश्वरीय ज्ञान नित्य है अतः ईश्वरीय पदार्थ की आकृति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सर्वदा इसी प्रकार के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु आकाश पाताल बनते रहेंगे, आकृति सर्वथा तुल्य ही होगी। इससे संसार का भी अनादित्व सिद्ध होता है। क्योंकि यदि ईश्वर की बुद्धि में प्रथम से ही पृथिवी शब्द और उसकी आकृति न हो तो कहना पड़ेगा कि पृथिवी के बनने के पहले इसकी आकृति को परमेश्वर नहीं जानता था। जब पृथिवी बन गई तब इसको मालूम हुआ कि अब इसकी यह आकृति हुई। जैसे फोनोग्राफ बनाने वाले को प्रथम इसकी आकृति का ज्ञान नहीं था। जैसे-जैसे विचारता गया तरक्की करता गया और अन्त में सब पुर्जों को ठीक कर उसे पूर्ण कर लिया तब उसे विदित हुआ कि इस आकृति का मैंने फोनोग्राफ बनाया। परन्तु ईश्वर में ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। अतः सर्व आस्तिकों को मानना पड़ेगा कि शब्द और आकृति सर्वदा ईश्वर की बुद्धि में विद्यमान रहते हैं। ईश्वर आद्य सृष्टि में शब्दोच्चारण पूर्वक सृष्टि रचता है। अतः सृष्टि के पहले ही वैदिक शब्द विद्यमान थे अतः अनित्य विग्रहवान् देवों के वर्णन रहने पर भी शब्द में कोई क्षति नहीं।

आकृति के साथ सम्बन्ध

तात्पर्य यह है कि वेद आकृति का वर्णन करता है, व्यक्ति का नहीं। गौ, वृषभ, मनुष्य आदि का भी वर्णन आता है परन्तु इन क्षण विध्वंसी पदार्थों के निरुपण से कोई क्षति नही। क्योंकि वेद गौ की व्यक्ति का निरूपण नहीं करता किन्तु गोत्वजाति मनुष्यत्वजाति अग्नित्वजाति आदि का वर्णन करता है। यह जाति नित्य वस्तु है।

(प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) कैसे मालूम करते हैं कि वैदिक शब्दों से यह सृष्टि हुई है। इस पर कहते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान से यह मालूम होता है। प्रत्यक्षनाम ऋषिकृत श्रुति का है और अनुमान नाम स्मृतिशास्त्र का है। श्रुति कहती है—

''स भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत''

भू शब्द को कहते हुए उसने पृथिवी रची। और स्मृतियों के ये प्रमाण हैं।

अनादिनिधना नित्या-वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या-यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।
नामरूपे च भूतानां-कर्मणाञ्च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ-निर्म्ममे स महेश्वरः।
सर्वेषां तु सनामानि-कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ-पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे।

इसी सूत्र पर शङ्कराचार्य के भाष्य मे उक्त प्रमाण दिए गये हैं। पुनः

अतएव च नित्यत्वम्। २९।

इसी से वैदिक शब्दों की नित्यता भी प्रतीत होती है क्योंकि शब्द पूर्वक ही सृष्टि हुई है। सृष्टि के पहले भी ईश्वर में शब्द विद्यमान थे। वे ही शब्द इस जगत् में भी ऋषियों द्वारा प्राप्त हुए हैं। अतः वैदिक शब्द नित्य हैं। अनित्य व्यक्ति का इसमें वर्णन नहीं आ सकता। पुनः—

समाननाम रूपत्वाच्चा वृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च। ३०। पुनः शंका होती है कि प्रलयकाल में सब पदार्थों का विनाश हो जाता है। पुनः कल्पादि में जैसे पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि जिस आकृति के इस काल में है वैसे ही होवेंगे इसमें क्या नियामक है ? सम्भव है कि प्रत्येक कल्प में भिन्न-भिन्न आकृति के ये हों। पुनः आप कैसे कहते हैं कि नित्य आकृति का वेद में वर्णन है। इस पर कहते हैं (समान०) प्रत्येक कल्प में वही नाम वही रूप होते रहते हैं। इसमें वेदों और स्मृतियों दोनों के प्रमाण है। यथा—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।
तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रति पेदिरे।
तान्येव ते प्रतिपद्यन्ते सृज्य मानाः पुनः पुनः।
हिंस्राहिंस्रे मृदु क्रूरे-धर्माधर्मा नृतानृतौ।
तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते।
ऋषीणां नाम धेयानि-याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः।
ग्रथर्त्तावर्त्तुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये।

दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु।
यथाभिमानिनोऽतीता स्तुल्यास्ते साम्प्रतेरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपै नामभिरेव च।

ये सब प्रमाण शाङ्कर भाष्य में हैं। इस प्रकार आप यदि शास्त्रों के सिद्धान्त देखेंगे तो कहना पड़ेगा कि अनित्य वस्तु का वर्णन वेदों में नहीं। वेदों का यही महत्व है। संसार में वेद के सिवाय कोई पुस्तक नहीं, जहाँ अनित्य वस्तु का वर्णन न हो। अब जो वेदों में इतिहासाभास प्रतीत होते हैं इनके सत्यार्थ का निरूपण करूँगा। यदि आप ध्यान से श्रवण करेंगे तो मालूम हो जायेगा कि वेदों में क्या-क्या लाभदायी रत्न हैं। आजकल मुख्य-मुख्य जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रथम लिख ग्रन्थ का आरम्भ करूँगा।

वेदों पर कतिपय आक्षेप

१-वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अङ्गिरा, भृगु, कश्यप, जमदग्नि, कण्व, कुशिक, दीर्घतमा, वामदेव, कक्षीवान्, शुनःशेप, च्यवन, अत्रि, अथर्वा, दधीचि, सोभरि इत्यादि-इत्यादि जितने सुप्रसिद्ध ऋषि हुए हैं-जिनके चरित्रों के गान से ऐतरेय, शतपथ, तांड्य, महाब्राह्मण, गोपथ, तैतिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से लेकर आज तक के ग्रन्थ पूर्ण हैं, इनके नाम वेदों में पाये जाते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष का नाम वेदों में नहीं है ?

२-केवल नाम ही नहीं किन्तु सम्बन्ध वाचक शब्द भी इनमें विद्यमान है। जैसे मैत्रावरुण वसिष्ठ अर्थात् मित्र और वरुण के पुत्र वसिष्ठ। इसी प्रकार कौशिक विश्वामित्र, औचथ्य और मामतेय दीर्घतमा, अथर्वण दध्यङ्, औशिज कक्षीवान्, आर्ष्टिषेण शन्तनु इत्यादि शब्दों से सिद्ध है कि इन ऋषियों के माता पिता की भी चर्चा आती है।

३-पुनः ऋषियों की माता, पत्नी, पुत्री आदिकों की कहीं-कहीं वृत्तान्त सहित चर्चा देखते हैं। जैसे वशिष्ठ की माता उर्वशी, अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा, आसंग की स्त्री शश्वती, कक्षीवान् की कन्या घोषा, अत्रि कन्या अपाला। एवं रोमशा, शशीयसी, श्रद्धा आदि अनेक ब्रह्मवादिनियों के चरित्र का समाचार वेदों में पाया जाता है।

४-केवल ऋषियों तथा ऋषिकाओं के ही नहीं किन्तु सुप्रख्यात महाराजों के इतिहास कीर्तन से भी वेद शून्य नहीं है। महाराज मनु-इक्ष्वाकु से लेकर महाराज परीक्षित जनमेजय तक के सुयश को वेद गाते हैं।

५-पुनः ऋषियों को मिले हुए दानों का वर्णन, इनके विवाहों के प्रसङ्ग,

सुख दुःखों का निरूपण, इनके साथ राक्षसों का महा संग्राम आदि के भी इतस्ततः वर्णन अच्छे प्रकार पाये जाते हैं। पुनः आप कैसे कहते हैं कि वेदों में व्यक्ति विशेष के सुचरित्र का गान नहीं ?

६-पुनः इस देश की विशेष-विशेष नदियों के भी नाम ऋग्वेद में आते हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, आर्जीकीया। असिक्नी, वितस्ता, सुषोमा, सरयू, गोमती, विपाशा इत्यादि। पुनः इस देश की सीमा पर की जो सुप्रसिद्ध नदी सिन्धु है इसके सुयश और उपकार को वेद पुनः-पुनः गाते हैं।

७-अन्यान्य देशों की नदियों के भी नाम हैं। तृष्टामा, सुसर्तू, रसा, श्वेती, कुभा, मेहली इत्यादि।

८-मनुष्यकृत्त पदार्थों के नाम हैं जैसे बाण, धनुष, कशा (चाबुक) अभीशु (लगाम) कूप, वस्त्र इत्यादि।

ये सब सिद्ध करते हैं कि वेद मनुष्यकृत हैं। अतः व्यक्ति विशेष की चर्चा होना आश्चर्य की बात नहीं।

९-पुनः वेदों की कई एक ऋचाओं से सिद्ध है कि वेद ऋषियों के रचित हैं। ऋषिगण स्वयं कहते हैं कि मैंने ऋचा बनाई है। हे इन्द्र! हे बृहस्पते! इसको ग्रहण कीजिये। पुनः ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ वेदों के प्रमाण देते हैं वहाँ कहते हैं। ''ऋषि ने ऐसा कहा है''

तदेतदृषिपश्यन्नवोचद् आथर्वाणायाश्विना........इत्यादि शतपथ ब्रा०। इससे विस्पष्ट सिद्ध है कि वेद ऋषि कृत हैं।

१०-आप प्रयत्न करते हैं कि वेदों में अनित्य इतिहासों की सिद्धि न हो। परन्तु इससे क्या? वेदों की उच्चता वा श्रेष्ठता वा अनादित्व अथवा ईश्वर प्रदत्तत्व की इससे प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि वेद एक प्रकार से प्रार्थनामय अथवा स्तुतिमय ग्रन्थ हैं। इनमें इतिहास की आवश्यकता नहीं होती। महिम्नः स्तोत्र, विष्णु स्तोत्र, जगन्नाथाष्टक, गङ्गाष्टक, गङ्गालहरी इत्यादि स्तोत्र समूहों में कोई इतिहास नहीं पाया जाता, परन्तु इतने से इनका अनादित्व सिद्ध नहीं होता और न इनकी इसमें कोई उच्चता ही झलकती, किन्तु इनके विषयों के पांडित्यपूर्ण वर्णन से महत्व प्रतीत होता है। लोक इन स्तोत्रों के विचार पर दृष्टि देते हैं और इसी से इनकी साधुता, असाधुता की परीक्षा करते हैं। इसी प्रकार वेद भी ऋषि कृत स्तोत्र समूह है। यज्ञों में समय-समय पढ़ने के लिए ऋषियों ने रचे हैं। इतिहास इनमें न भी हो तो भी क्या? हमको इनकी उच्चता

और महत्व दिखलावें। यदि इनमें लाभकारी बातें होंगी तो स्वतः कल्याणाभिलाषी जन इनको स्वीकार करेंगे। क्या आज मनुष्य कृत ग्रन्थों का लोग आदर नहीं करते हैं ? क्या व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि मनुष्य कृत ग्रन्थों का समादर देश में नहीं है ?

हम देखते हैं कि जो श्री तुलसीदास जी का आधुनिक भाषा में रामायण है उसको भी लोग अत्यादर कर रहे हैं। क्योंकि इसमें हितोपदेश है। फिर वेदों को ईश्वरीय सिद्ध करने की चेष्टा क्यों करते हैं ? इनके वर्णित विषय प्रकट किये जायें। यदि वे लाभदायक होंगे तो स्वतः सब कोई स्वीकार कर लेवेंगे। यदि आपने वेदों को ईश्वर प्रदत्त सिद्ध कर दिया तो भी क्या ? यदि इनसे लाभदायी वस्तु न निकली तो इनको लेके हम क्या करेंगे ? कीट, पतङ्ग, सर्प, वृश्चिक, व्याघ्र, सिंह, घास, पात सहस्रशः ईश्वर प्रदत्त पदार्थ हैं, इनसे हमें कोई प्रयोजन नहीं।

११-वेदों को ईश्वरीय सिद्ध होने पर भी हमारा कार्य सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि हम मनुष्य बुद्धि से ही वेदों को विचारेंगे। बुद्धि विरुद्ध होने से त्याज्य समझेंगे। अतः वेद अन्ततोगत्वा हमारी बुद्धि के आधीन ही ठहरेंगे। अतः इनका अनादित्व सिद्ध करना व्यर्थ है।

१२-आज कल वैदिक धर्म का प्रचार करना भी सर्वथा अनुचित और समय के प्रतिकूल है क्योंकि—

क—वेदों में अश्लील, बीभत्स, अवाच्य, अश्राव्य विषय बहुत पाए जाते हैं। जैसे रोमशा की वार्त्ता, अपाला की आख्यायिका, शश्वती कृत निज पति का वर्णन, प्रजापति और दुहिता का आख्यान, उर्वशी और पुरुरवा के कई एक सम्वाद, वसिष्ठ और अगस्त्य की जन्म कथा आदि-आदि ऐसी घृणित और अवाच्य कथायें हैं कि आजकल के ग्रामीण जन भी सुनना पसन्द न करेंगे।

ख—पुनः वेद नरहत्या, अश्वहत्या, गोहत्या, अजहत्या आदि अनेक हत्याओं से पूर्ण हैं। इन्हीं हत्याओं के लिए नरमेध, अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि याग रचे जाते थे। पितरों को मांस पिण्ड देने की बातें बहुत पाई जाती हैं। इत्यादि वैदिक सहस्रशः विषय समयानुकूल नहीं हैं। विद्वान् जन इन पर हँसते हैं। इनको अज्ञानी, जङ्गली जनों का कर्त्तव्य समझते हैं।

ग—इनके सिवा यज्ञ में दिल्लगी, मश्करी की बातें आती हैं। राजा के साथ शतशः अनुचारियाँ होती हैं। यजमान-पत्नी और अश्व का घृणित दृश्य

दिखलाया जाता है। ऐसे वेदों के प्रचार से क्या लाभ होगा ? प्रत्युत निन्दा ही होगी और अज्ञानी जन इसमें फंस के भ्रष्ट हो जाएँगे।

१३-पुनः वेदों में पाँचों महापातकों की विधि है, और इनको पुण्य जनक समझा है। ब्रह्म हत्या, सुरापान, स्तेय, गुर्वङ्गनागमन और इन चारों के साथ संसर्ग, इनको स्मृतियाँ पञ्च महापातक कहती हैं। ''ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'' इत्यादि से ब्रह्महत्या की विधि विस्पष्ट है और शुनः शेप के उदाहरण से दृढ़ किया गया है। सौत्रामणि याग में सुरापान प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में तो इनके अनेक मन्त्र हैं। वसिष्ठ और कुत्ते का उदाहरण दिखलाता है कि चौर्य वृत्ति का भी वेद सहायक है। तारा और चन्द्र की कथा भी ब्राह्मणों में प्रसिद्ध है।

१४-इतना ही नहीं किन्तु जो गोहत्या और मांस भोजन महा-अनुचित समझा जाता है, वेद इसमें भी शून्य नही ? फिर ऐसे वेद के प्रचार से आप क्या लाभ समझते हैं ?

१५-वेदों में वर्णन करने की रीति भी घृणित और ग्राम्य है। ''पिता दुहितुर्गर्भमाधात्'' पुनः सम्बन्ध का वर्णन भी अनुचित रूप से है। कहीं तो उपा देवी सूर्य की पत्नी कही गई है। कहीं स्वसा (बहन), कहीं माता, कहीं पुत्री। पुनः दक्ष की माता अदिति है। कहीं दक्ष की कन्या अदिति है।

१६-पुनः वेद में अनेक विवाह प्रतिपादक है जैसे सोभरि ऋषि ने ५० कन्याओं से एक ही दिन विवाह किया था। कक्षीवान् ऋषि को स्वनय राजा ने विवाहार्थ दश कन्याएँ दी थीं।

ऐतरेय ब्राह्मण में है कि राजा हरिश्चन्द्र की १०० एक सौ रानियाँ थीं। सुप्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र भी बहु भार्य थे। राजाओं की तो अवश्य ही कम से कम चार स्त्रियाँ होती थीं और इनके ये नाम होते थे—महिषी, वावाता, परिवृत्ता और पालागली। स्त्री को निरपराध त्याग कर देते थे, जैसे घोषा को पति ने त्याग दिया था। स्त्री को चुरा लाते थे, जैसे अश्विद्वय ने विमद को एक स्त्री चुरा कर दी थी। पुत्र के लिए जितना आदर है उतना कन्या के लिए नहीं। इत्यादि अनेक स्त्री सम्बन्धी विषय अयोग्य हैं।

१८-वेदों में अविद्या की बहुत सी बातें हैं:—

क-यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र को वेद सत्य मानते हैं। भयङ्कर बीमारी, राजयक्ष्मा, महामारी, कृत्तिका, ज्वर आदि के उतराने के लिये वेदों में मन्त्र लिखे हुए हैं।

ख-पुनः विषधर सर्प के विष उतारने के भी मन्त्र हैं।

म-कई औषधियों के बाँधने से जादू, टोने से बचना बतलाया गया है।

घ-मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार क्रियाएँ भी वेद में हैं।

ङ-किसी पक्षी को शुभ, किसी को अमङ्गल मानते हैं। इस प्रकार शकुन की बातें भी वेद में आती हैं।

च-विश्वामित्र और नदियों का सम्वाद, अगस्त्य और इन्द्र का सम्वाद, सूर्य के रथ में ७ सात अश्व, पूषा का वाहन अज। अश्विद्वय का वाहन अश्वतर, समुद्र से घोड़े की उत्पत्ति। इत्यादि शतशः अविद्याओं की बातें हैं।

१९-कहीं बालकवत् वेद वर्णन करते हैं जैसे सरमा की कथा। अश्विद्वय को अश्वसिर से युक्त दधीचि से विद्याध्ययन करना। जल के फेन से राक्षस को मारना। हड्डी से वृत्र का परास्त करना।

२०-बहुत सी इनमें पहेलियाँ हैं जिनका अर्थ अभी तक किसी ने उचित रीति से न किया।

२१-अनावस्था बहुत है। कहीं ३३ देव, कहीं ३३३९ देव, कहीं तीन, कहीं एक। कहीं शम्बर के ९९ नगर, कहीं ९, कहीं १००। कहीं शुनः शेप तीन यूपो में बद्ध है, कहीं सहस्र यूपों में। कहीं एक रुद्र, कहीं सहस्रों रुद्र, कहीं इन्द्र अशत्रु, कहीं शत्रु से युद्ध।

२२-असम्भव बातें:-अग्नि से भृगु की उत्पत्ति। अंगारों से अंगिरा की। वामदेव का मातृपेट से बोलना। सुबन्धु का मर कर पुनः जीवित होना। पशु, पक्षी, मत्स्य, सर्प आदिकों का मन्त्र द्रष्टत्व। नदी वायु आदि का बोलना।

२३-जड़, सूर्य, पृथिवी, जल आदिकों को भी चेतन मानना।

२४-वेद अनेक देवोपासक हैं। सूर्य से लेकर समुद्र तक के समस्त जड़ चेतन की उपासना वेद गाता है।

२५-वेदों में कोई विद्या की बात नहीं जिसके मनन से मन शान्त हो न न्याय, न सांख्य, न साइंस, न लोजिक, न ज्योतिष।

२६-वेदों में अनुक्त बातें भी पाई जाती हैं। ३३ देवों के नाम नहीं देखते। एवं द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट वसुओं के भी नाम नहीं।

२७-वेद एक प्रकार से दुःखित पीड़ित ऋषियों के शाप, शोक चिन्ता, पश्चाताप, रोने पीटने आदि की गाथाओं का समूह प्रतीत होता है।

जब राजा हरिश्चन्द्र शुनः शेप को यूप (खूँटी) में बँधवा खड्ग से शिर कटवाना चाहता था इसने जो अपनी विपत्ति वरुण से सुनाई है वह एक गाथा है। ऋषि त्रित को इसके भाई कूप में गिरा चल दिये। इस आपत्ति में इसने जो स्तुति देवों से सुनाई वह द्वितीय गाथा है। ऋषि दीर्घतमा को उसकी पत्नी ने

जब पुत्रों से बँधवा नदी में डलवा दिया तब इसने जो देव गीत गाया उसे तृतीय गाथा समझिये।

विश्वामित्र को चोर सता रहे हैं। वशिष्ट को राक्षस सोने नहीं देते। अत्रि को असुर अग्नि कुण्ड में जला रहे हैं। ऋजाश्व को पिता अन्धा बना रहा है। सप्त वध्रि को पेटिका में बन्द रखता है। इस प्रकार प्रायः सारे ऋषि एक न एक दुःख से दुखी हो रहे हैं। इनके ही दुःख मय चरित्र से वेद भरे पड़े हुए हैं।

२८-पुनः वेद संग्राम का ग्रन्थ है, धर्म का नहीं। ऋग्वेद के अधिक भाग इन्द्र और वृत्र आदिकों के युद्ध का ही वर्णन करते हैं-इन्द्र के प्रधान शत्रु ये हैं-वृत्र, शम्बर, नमुचि, पिप्रु, कुयव धुनि चुमुरि आदि।

२९-ईश्वर निमित्त कारण नहीं। ईश्वर का निवास तृतीय लोक में जीवात्मा अणु वा विभु इसका निरूपण नहीं। वेद में यज्ञोपवीत नहीं। चार आश्रम नहीं। पुनः मन्त्रों की सिद्धि इत्यादि अनेक विषय आर्य मत के अनुकूल नहीं हैं।

३०-अन्त में यह प्रश्न है कि वेद का क्या सिद्धान्त है आज तक किसी को मालूम हुआ ? प्रथम तो तीन या चार वेद हैं इस पर महा-संग्राम है। पुनः शतपथ आदिक वेद हैं या नहीं इस पर भी सदा युद्ध होता रहता है। पुनः वेदों के अर्थ का भी अभी तक पता नहीं लगा इसकी भाषा भी अति कठिन है। ऐसे वेदों से क्या प्रयोजन। आर्यसमाज भावी सन्तानों का खून करना चाहता है। बहुत दिनों से वेदों को कण्ठस्थ करते-करते भारत सन्तानों की विचार और विवेक शक्ति जाती रही थी। बीच में इन लोगों से छुटकारा मिला था। पुनः ऐसे वेदों के प्रचार से अवश्य भारत का नाश होगा। अन्त में निवदेन यह है कि वेदों को छोड़ना नहीं चाहते हैं तो बहुत विद्वान् मिल कर इनको सरल भाषा में कर दें और उसी भाषा में प्रार्थना और संस्कार आदि करें। जिससे मनुष्य मात्र वैदिक क्लिष्ट आयास साध्य भाषा के पढ़ने से बच जायें।

वरुण पाशबद्ध शुनः शेप और नर मेध

पूर्व में मीमांसा, वेदान्त आदि के प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि वेदों में अनित्य इतिहास नहीं है। तथापि इस सम्बन्ध में विद्वद्गण प्रश्न करते ही रहते हैं। अब इन प्रश्नों का समाधान लिखता हूँ। प्रथम शुनः शेप सम्बन्धी सूक्तों का ही अर्थ लिखता हूँ। इसमें अनेक कारण हैं १—प्रथम तो वेद के आरम्भ में मुख्य यही इतिहासऽऽभास आता है। यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४ वें सूक्त से ३० वें सूक्त तक आता है। २—अपने देश और यूरोप द्वीपस्थ जर्मनी, फ्रांस, ग्रीस, इटली, इंग्लैण्ड आदि देशों के बड़े-बड़े धुरन्धर

पण्डित इसी शुनःशेप सम्बन्धी इतिहास को लेकर वेद में नर मेध की विधि सिद्ध करते हैं। इन विद्वानों में तीन पक्ष हैं। एक तो बलपूर्वक और स्वप्रमाण पूर्वक कहते हैं कि वेदों और ब्राह्मणों दोनों में नरमेध पाया जाता है। दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि ऋग्वेद में संदिग्ध नरमेध है परन्तु ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण और यजुर्वेद आदि में विस्पष्ट रूप से नरमेध का निरूपण है। एक और पक्षधर हैं जो कहते हैं कि वेदों की रचना के प्रथम ही भारतवर्ष में नर-बलिदान हुआ करता था जिसकी गन्ध कहीं-कहीं वेदों और ब्राह्मणों में पायी जाती है। पहले यज्ञ में यथार्थरूप से मनुष्य मारा जाता था परन्तु वेदों और ब्रह्मणों के समय यज्ञ में मनुष्य की हिंसा तो पशुवत् नहीं होती थी किन्तु यूप में बाँधकर और मन्त्रों से हिंसा की समस्त विधि करके पुनः उनको खोल के छोड़ देते थे। आधुनिक देशी कतिपय विद्वान् वैदिक नरमेध में संदिग्ध रहने पर भी ऐतरेयादि ब्राह्मणों की नरमेध विधि में संशयरहित हैं। इस प्रकार इस इतिहास को लेके अकथ्य कलङ्क वेदों पर लगाते हैं अतः मैं प्रथम इसकी ही पूरी समीक्षा आरम्भ करता हूँ।[१]

मैं पूर्व में लिख आया हूँ कि ईश्वरीय प्रार्थना का निरूपण करना और इसका भाव दिखलाना ही मेरा मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रसंग में अन्यान्य बातों का भी निर्णय करता जाऊँगा। अब आप देखें कि यह कैसा भावपूर्ण स्तोत्र है और नरमेध की यहाँ कहाँ चर्चा है।[२]

ऋग्वेद प्रथम मण्डल, २४वें सूक्त से ३० वें सूक्त तक के शुनःशेप ऋषि हैं। इनमें ९७ सप्त नवति ऋचाएँ हैं। इनके देवता ये हैं—

सूक्त—	मन्त्र	देवता	सूक्त—	मन्त्र	देवता
२४	१	प्रजापति	२७	१३	विश्वदेव
”	२	अग्नि	२८	१-९	इन्द्र, यज्ञ, सोम
”	३-५	सविता	२९	१-७	इन्द्र
”	६-१५	वरुण	३०	१-१६	इन्द्र
२५	१-२१	वरुण	”	१७-१९	अश्विनी

---

१. शुनःशेप का इतिहास आगे देखिये।

२. आगे के लेख से प्रतीत होगा कि शुनःशेप का अर्थ पापिष्ठ प्राण है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जो प्रचारक शुनःशेप हुए वे भी वैसे थे। प्रचार के कारण इनका नाम ऐसा हुआ। ऋषि प्रकरण देखिये।

२६	१-१०	अग्नि	''	२०-२२	उषा
२७	१-१२	अग्नि			

प्रार्थना संख्या १। सू० २४। सं० १॥

कस्य नूनं कतमस्याऽमृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।

को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च। ऋ०। १।

(नूनम्) यह शब्द निश्चय और तर्क वितर्क अर्थ में आता है। ''नूनं निश्चित तर्कयो: इति विश्व:''। प्रार्थना करने हारे उपासक, प्रथम प्रजापति[१] अर्थात् सकल प्राणियों का धाता विधाता परम पिता जो परमात्मा उसको साक्षात् अनुभव करते हुए'' अथवा इसके निकट पहुँचने की इच्छा रखते हुए'' (नूनम्) तर्क-वितर्क करते हैं (अमृतानाम्) जो अमृत ब्रह्म को प्राप्त हो स्वयं भी अमृत हो रहे हैं उन मुक्त देव जीवों मे से (कतमस्य) किस श्रेणी के (कस्य+देवस्य) किस मुक्त देव का (चारु+नाम) सुन्दर नाम (मनामहे) हम मनन वा उच्चारण करें। (क:+न:+पुन:) और कौन देव हमको पुन: (मह्या) मही-परम पूज्या, महती (अदितये) अदिति देवी के निकट (दात्) देवेगा अर्थात् कौन देव हमको पुन: अदिति के निकट पहुँचावेगा जिससे (पितरञ्च+मातरञ्च+दृशेयम्) पिता और माता का दर्शन कर सकूँ।

अदिति:=''दो अवखण्डने'' अवखण्डनार्थक दो धातु से दिति और तद्विरुद्ध अदिति अदीना, अबद्धा, अखण्डनीया, अविनाशिनी आदि इसके अर्थ हैं। प्रथम कह आए हैं वेदों में देवता का आरोप सर्वत्र होता है। जैसे श्रद्धादेवी, दरिद्रादेवी, विद्यादेवी, मनोदेव, इन्द्रियदेव, मति (बुद्धि) देवी, दानदेवी, स्तुतिदेवी इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ अविनाश अविनाशिता वा नित्यता (अखण्ड) को भी एक देव समझिये। स्त्रीलिङ्ग में इसी को अविनाशा, अखण्डा देवी वा देवता कहेंगे। वेदों में इसी का नाम 'अदिति' है। जो पुरुष दीन, पापपाश-बद्ध है वह अवश्य इस अविनाशा देवता के निकट पहुँचे, जिससे इसका पुन: विनाश न हो। परन्तु इस अविनाश की ओर भी ईश्वर के बिना कौन ले जा सकता है ? अत: इस अविनाशा अदिति देवी के समीप पहुँचने के

---

१. याज्ञिक पुरुषों ने निश्चय किया है कि जिस ऋचा का कोई देवता निर्दिष्ट न हो, उसका प्रजापति देवता है। परन्तु यह एक काल्पनिक बात है। यों तो साक्षात् वा परम्परया सम्पूर्ण वेद का सम्बन्ध उसी परमात्मा से है। परन्तु ईदृग् वर्णन् स्वाभाविक है। सब ही देवता माने जायें इसकी भी आवश्यकता नहीं। यदि आवश्यक ही समझा जाये तो इसका देवता ''तर्क'' हो सकता है।

लिए भी ईश्वर ही प्रार्थनीय है। शङ्का-क्या ईश्वर से भी बढ़कर अदिति देवी है कि जिसके समीप के लिए ईश्वर से निवेदन करें? उत्तर-प्रथम अदिति कोई चेतन देवी नहीं। अविनश्वरता जो एक पदार्थ है उसी को एक स्त्री मान कर वर्णन करते हैं। दूसरी बात यह है कि सत्यता आदि धर्म की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, इससे ईश्वर की अपेक्षा धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती किन्तु ये सब भी ईश्वरप्राप्ति के ही साधन होते हैं। इसी प्रकार जब तक मनुष्य अज्ञान और पापपाश से विमुक्त हो फिर भी अज्ञानरूप पाप से खण्डित वा बद्ध न होगा तब तक ईश्वर के समीप कैसे जा सकता है? अतः प्रथम अखण्ड अविनाश देवी के समीप पहुँचना चाहिये। मनुष्य अखण्ड वा अविनाशी तब ही होगा जब निखिल पाप से दूर रहेगा। इत्यलम्

पुनः शब्द-सत्पुरुष सर्वदा प्रत्यवाय से डरते रहते हैं। तथापि मनुष्य से बारम्बार अपराध हो ही जाता है। अच्छे भक्तजनों से अति स्वल्प भी यदि कोई अनुचित व्यवहार हो जाये तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होता है। वे अपने पिता, माता ईश्वर से लज्जित हो जाते हैं। वे प्रार्थना करते हैं कि हम पुनः बद्ध हो गये हैं। अब अबद्ध देवी के निकट कैसे पहुँचेंगे, कौन देव हमारा सहायक होगा जो इस अपराध से हमको छुड़ा देवेगा, जिससे हम अपने माता पिता ईश्वर का निरपराध हो दर्शन कर सकें। यह गंभीराशय दिखलाने को यहाँ पुनः शब्द का प्रयोग हुआ है। क्या ऐसी घटना अपने ही जीवन में सत् भक्त जन नहीं देखते हैं? नित्य हम जीव ईश्वर के निकट प्रतिज्ञा करते और तोड़ते हैं। परन्तु भेद इतना ही है कि भक्तजन अपनी न्यूनता का सदा अनुभव करते रहते हैं और साधारणजन प्रमाद में पड़ इसकी चिन्ता नहीं करते हैं। सूक्ष्म निज दोषदर्शी पुरुष के लिए ही यह प्रार्थना है।

पिता माता—ईश्वर को ही यहाँ पिता माता कहा है। प्रायः मनुष्य के जीवन में देखा गया है कि माता पिता से जितना भय वा जितनी लज्जा होती है उतनी किसी से नहीं। अपराधी दुराचारी बालक माता पिता के समीप झट जाने का साहस नहीं रखता। बड़ा भय होता है। दण्ड उसके सामने उपस्थित हो जाता है। मन में पश्चात्ताप करने लगता है। आज मुझे क्या दंड मिलेगा। कैसे यह पाप करके माता पिता को मुँह दिखलाऊँ। मेरे इस दुराचार से पिता माता का मुख कलंकित होगा। इत्यादि अनेकविध भावनाएँ इसके हृदय को ताडित करती हैं। अतः वेद में प्रार्थना आई है कि प्रथम पाप से मुक्त हो अखण्ड होऊँ तब पिता माता का दर्शन करूँ। इससे यह उपदेश मिलता है कि सन्तान को बहुत शुद्ध होना चाहिये और न्याय-परायण सत्यान्वेषी माता पिता

के समीप पहुँचने की योग्यता सदा सम्पादन किया करे।

इससे शुनःशेप की जो कथा गढ़ते हैं, वह मिथ्या सिद्ध होती है। क्योंकि प्रथम तो शुनःशेप का पिता माता साथ ही था, इनके दर्शन के लिए क्यों प्रार्थना करेगा ? दूसरा पिता माता से इसकी बड़ी घृणा हो गई थी ऐसा इतिहास में आता है इस अवस्था में भी उनको यह क्यों चाहेगा ? इतिहास में विस्पष्ट कहा गया है कि छूट जाने पर पिता माता ने इसको बुलाया परन्तु उनको झिडकी दे और निरादर कर विश्वामित्र के निकट आ गया। फिर माता पिता के दर्शन के लिए वह क्यों व्यग्रीभूत होगा ? इससे शुनःशेप की गाथा सर्वथा काल्पनिक सिद्ध होती है।

द्वितीय अर्थ—पूर्व में प्रमाण दे चुका हूँ कि ऋषिवाचक जितने शब्द हैं वे प्राणवाचक हैं। प्राण नाम इन्द्रियसहित और अन्तःकरण-जीवात्मा सहित सूक्ष्म शरीर का है। यदि जीवात्मा इसके साथ न हो तो प्राण का प्राणत्व नहीं रह सकता। अतः जीवात्मेन्द्रियान्तःकरणविशिष्ट सूक्ष्म शरीर का नाम प्राण है। शुनःशेप भी एक ऋषि हैं अतः यह भी प्राणवाचक है यह सिद्ध हुआ। वह प्राण मातृगर्भ में पुनः-पुनः आने से व्याकुल होता रहता है। और इसमें तब ही आवेगा जब अशुभ कर्म करके बद्ध होगा। अतः शुनःशेप अर्थात् प्राण अपराधी होने पर सर्वदा प्रार्थना करता रहता है कि किस देव की कृपा से मैं अबद्धता के निकट पहुँचूंगा जिससे निरपराधी और अबद्ध हो मातृ-पितृ-भूत परमात्मा का दर्शन कर सकूँ।

तृतीय अर्थ—अदिति नाम पृथिवी का भी है। मुक्तावस्था को सब प्राण चाहते हैं। परन्तु कोई-कोई प्राण बारम्बार जन्म लेकर पुरुषार्थ और उपकार करने को परमोत्तम समझते हैं। वे मुक्त प्राण इस ऋचा से प्रार्थना करते हैं कि किस देवता की कृपा से हत पुनः पृथिवी पर पहुँचेंगे जिससे सांसारिक पिता माता के दर्शन जन्य आनन्द को भोगें। परन्तु मुक्तावस्था की अपेक्षा सांसारिक अवस्था सर्वदा नीच समझी गई है। यह सिद्धान्त है। अतः जो प्राण उस अवस्था को त्याग इस अवस्था में आना चाहेंगे वे सर्वदा शुनःशेप नाम से पुकारे जायेंगे। क्योंकि शुनः-शेप के अर्थ कुत्ते का बच्चा है। कुत्ता वान्तशी प्रसिद्ध है। जिसको त्याग किया उसे पुनः लेना कुत्ते का काम है। अतः सांसारिक अवस्था से मुक्ति में प्राप्त हो पुनः सांसारिक अवस्था की इच्छा करना श्ववत् व्यापार है। परन्तु यह भी प्राण का एक धर्म है। अतः ऐसे प्राण का नाम शुनः-शेप है। यह आचार्य का आशय है।

चतुर्थ अर्थ=पृथिवी का नाम माता और द्युलोक का नाम पिता है 'यदन्तरा पितरं मातरञ्च' यजु: १९। ४७। यहाँ सब ने माता पिता का अर्थ पृथिवी और द्युलोक किया है। अदिति=असीमब्रह्माण्ड, अखण्ड, अबद्धसंसार अर्थात् सम्पूर्ण समष्टि जगत् का नाम अदिति और व्यष्टि जगत् का नाम दिति है। बद्ध, असीम, और अपराध से खण्डित उपासक प्रार्थना करता है कि मैं किस देवता का सुन्दर नाम मनन करूँ। कौन देव मुझको पुन: ससीम जगत् के निकट समर्पित करेगा जिससे कि द्युलोक और पृथिवी को देख सकूँ अर्थात् द्युलोक से लेकर पृथिवी तक के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकूँ॥ १॥

इस प्रकार विचिकित्सा (तर्क वितर्क) कर स्तावक मन में स्थिर करता है कि परमात्मा ही मुक्तों में मुक्त है अमरों में अमर है सो इसी के समक्ष क्यों न जाऊँ। क्यों इतस्तत: भटकता फिरूँ परन्तु परमात्मा के भी अनन्त नाम और गुण हैं किस नाम से किस गुण का मनन करूँ। अत: निर्धारण करता है कि मैं अज्ञान-रूप अन्धकार में पतित हो रहा हूँ अत: प्रकाशद्योतक ईश्वर का नाम स्मरण करूँ जिससे हृदयस्थ तम विनष्ट हो। अत: प्रकाशद्योतक अग्नि और सविता से आगे प्रार्थना करता है।

अथवा दुरितविमुक्तकाम पुरुष को उचित है कि प्रत्येक शुभ कर्म में प्रथम मनोनिवेश करे इससे धीरे-धीरे वह सकल पाप से निर्धूत हो शुद्ध विशुद्ध हो जायेगा। शुभ कर्म के कारण अग्नि और सूर्य देव हैं। अग्नि में अग्निहोत्रादिक कर्म से लेके समस्त वैदिक कर्म होते हैं। और सूर्य प्रधान अग्नि है, जहाँ से इन अग्नियों का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है और जिस सूर्य से समस्त भौम व्यवहार सिद्ध होते हैं। अत: प्रथम अग्नि में विविध वैदिक कर्म का अनुष्ठान और सूर्य के धर्म का अध्ययन करता हुआ मंगलेप्सुजन शुभ कर्म में प्रवृत्त हो जाये। अत: आगे अग्नि और सूर्य की स्तुति अर्थात् गुण कथन करता है।

अग्नेर्वयं प्रथमस्याऽमृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च॥ २॥
अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन्भागमीमहे॥

१। २४। ३

(अमृतानाम्+प्रथमस्य+अग्ने:+देवस्य) अमृतों में प्रथम अग्नि देव है अर्थात् अग्निवाच्य ईश्वर ही अमृत पुरुषों में सर्व-श्रेष्ठ है उसके (चारु+नाम+ वयम्+मनामहे) चारु=पवित्र नाम का उच्चारण करें। (स:) वही प्रकाश स्वरूप

देव (नः+मह्या अदितये+पुनःदात्) हम को महती पूज्या अदिति के समीप समर्पित करेगा जिससे (पितरम्+च+मातरम्+च) पिता माता का (दृशेयम्) दर्शन कर सकूँगा॥ २॥ (देव+सवितः) हे देव! हे जगज्जनक। (त्वा+भागम्-अभि+ईमहे) आप से ही हम अपना भाग सर्व प्रकार से माँगते हैं। क्योंकि (वार्य्याणं ईशानम्) जितने वरणीय सत्यपालन, विज्ञान, ज्ञान, गौ, सुवर्ण आदिक धन हैं उनके ईश आप ही हैं अतः हम भी अपने हिस्से की आप से ही याचना करते हैं।

अभि=सर्वतः=सब प्रकार से। सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः। षूङ्प्राणिप्रसवे। सू, सू इन दोनों से सविता बनता है। ईशानम्=ईश्वऐश्वर्ये शानच्। वार्य्याणाम्=वृङसंभक्तौण्यत्। अवन्=अवधातु रक्षा गति आदि अनेक अर्थो में है। मुख्यार्थ इस की रक्षा है। भाग=अंशभागौतु वेटके। ईमहे=याचामहे। निघण्टु ३-१९।

यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः। पुरा निदः। अद्वेषो हस्तयोर्दधे॥ ४॥ भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवाऽवसा। मूर्धानं राय आरभे॥ ५॥

हे भगवन्! हे सवितृ देव! (ते+हस्तायोः भगः दधे) तेरे दोनों हाथों पर सत्यादि ऐश्वर्य स्थापित है। यः+चित्+हि+इत्था+शशमानः निश्चय जो ऐश्वर्य इस प्रकार सर्वत्र प्रशस्य है। पुरा+निदः निन्दा से पूर्व है। और (अद्वेषः) जिसमें द्वेष नहीं है। अर्थात् जिस अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान, सत्य आदि परम धन में न तो निन्दा और न द्वेष है। वह तेरे हाथ में है। मुझे वह धन दीजिये॥ ४॥ (भगभक्तस्य+ते+वयम्) हे भगवन्! परमैश्वर्य-संयुक्त आप के ही हम हैं। (तव+अवसा+रायःमूर्धानम्+आरभे+उद्+अशेम) हे परमात्मन्! आप की रक्षा के द्वारा हम उपासक धन की उत्कृष्टता के आरम्भ के लिए समर्थ होवें॥ ५॥

भग=भजनीय धन, परमैश्वर्य॥ शशमानः=शशप्लुतगतौ इहस्तु त्यर्थः। निदः=णिदिकुत्सायाम्+क्विप्। अद्वेषः=न विद्यतेद्वेषोऽस्येति। उद्+अशेम=अशूव्याप्तौ। आरभे=तुमर्थे केन् प्रत्यय।

यहाँ तक अग्नि और सविता नाम से प्रकाश-स्वरूप देव की प्रार्थना कर अब सूक्त समाप्ति तक वरुण नाम से ईश्वर की प्रार्थना करते हैं।

नहिते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥ ६॥

हे वरुण! हे सर्वथा स्वीकरणीय देव! (पतयन्तः) अतिगमनकारी (अमी+क्यः+चन) पक्षिसदृश जो ये लोक लोकान्तर भासित होते हैं वे [ते+क्षत्रम्+न+हि] आप के बल को नहीं [आपुः] पाते [न+सहः] न आप

के सामर्थ्य को और [न+मन्युम्] न क्रोध को पाते हैं अर्थात् आपके बल, सामर्थ्य और क्रोध के सदृश इनमें बल आदिक नहीं (अनिमिषम्+चरन्तीः +इमा+आपः+न) न तो अनिमेष अर्थात् प्रतिक्षण विचरणशील आपके से जल अथवा आकाश और न (वातस्य+ये) वायु के जो गति विशेष हैं वे (अम्वम्) आप के वेग को (प्रमिनन्ति) अतिक्रमण कर सकते हैं। क्षत्र=बल। सहस=पराक्रम। मन्यु=क्रोध। वि=पक्षी। मिनन्ति मीङ् हिंसायाम्। अभ्व=वेग। ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि सब पदार्थ पक्षी के समान बड़े वेग से चल रहे हैं। अतः ये पक्षी लाते हैं।

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाःस्थुरुपरि बुध्न एषा मस्मे अन्तर्निहिताः केतवःस्युः ॥७॥

(पूतदक्षः) पवित्रवलधारी (राजा+वरुणः) दीप्तिमान् वरुणवाच्य परमात्मा (अबुध्ने)मूलरहित अर्थात् निराधार आकाश में (वनस्य) नञ्जत्रादिरूप बन के (स्तूपम्) समूह को (ऊर्ध्वम्ददते) ऊर्ध्व=ऊपर हो पकड़े हुए स्थित है।

(निचीनाःस्थुः) उसी वरुण के प्रताप से ये दृश्यमान लोक अधोमुख स्थित हैं (एषाम्+बुध्नः+उपरि) इनका मूल ऊपर भासित होता है। (अस्मे) हम प्राणियों में (केतवः) उसी के प्रकाश अथवा प्राणन शक्तियाँ (अन्तर्नि-हिताः+स्युः) अन्तर्निविष्ठ हैं ॥७॥

अबुध्ने=नविद्यते बुध्नो मूलमस्येति। ''मूलं बुध्नोऽध्रिनामकः'' अमर। स्तूपःसंध, ''स्तूपः स्त्यापतेः संघातः'' निरु० १०।३३। स्त्येशब्द संघातयोः। ददते-दददाने। अत्रधारणार्थः। स्थुः=तिष्ठन्ति।=अस्मे=अस्मासु।

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्॥८॥

(राजा+वरुणः) जिस राजा वरुण ने (अनु+एतवे+उ) क्रम से उदय और अस्त तक गमनार्थ (सूर्याय+पन्थाम्) सूर्य का मार्ग (उरुम्+हि+चकार) बहुत विस्तीर्ण किया है पुनः (अपदे) जिसने पद रहित आकाश में (पादा+ प्रतिधातवे) पाद विक्षेप के हेतु (अकः) मार्ग बनाया है वह परमात्मा मेरे (हृदयाविधः+उत) हृदयविद्धकारी कामादिक शत्रुओं को भी (अपवक्ता+ चित्) तिरस्कार करने वाला होवे ॥८॥

सूर्याय=सूर्यस्य। पन्थाम्=पन्थानम्। अनु+एतवै+इ+तुमर्थे तवै प्रत्ययः। पादा=पादौ। धातवे=धा-तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। अकः=कृ+लङ्। हृदयविधः= व्यध ताड़ने क्विप्।

शतं ते राजन् भिषजः सहस्त्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ ९॥

(राजन्) हे वरुण राजन्! (ते+शतम्+सहस्त्रम्+भिषजः) भक्तजनों के रोग नाश के लिये आप के निकट शत सहस्त्र औषध वा वैद्य हैं। हे भगवन्! भक्तों के प्रति (ते सुमतिः-उर्वी+गभीरा+अस्तु) आप की सुमति अति विस्तीर्ण और गंभीर होवे। (निर्ऋतिम्) पाप देवता को (पराचैः) पराङ्मुख करके (दूरे+बाधस्व) दूर ही रखिये। (अस्मत्) हम से (कृतम्+चित् +एनः) अस्मत्कृत पाप को भी (प्रमुमुग्धि) मुक्त कीजिये॥ ९॥

निर्ऋति=असत्य, मिथ्यारूपा राक्षसी। एनस्=पाप

अमी ये ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रं कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥ १०॥

(अमी+ये) ये जो (ऋक्षाः) नक्षत्रगण (उच्चाः+निहितासः) अति उच्च निहित हैं वे (नक्तम्+दहश्रे) रात्रि में दीखते हैं परन्तु (दिवा+कुह+चित्) (ईयु) दिन में कहाँ चले जाते हैं? (वरुणस्य+व्रतानि+अदब्धानि) उस वरुण के कर्मसमूह अप्रतिहत हैं। देखो (चन्द्रमा+नक्तम्+विचाकशत्+एति) चन्द्रमा रात्रि में दीप्यमान होता हुआ आता है॥ १०॥

भाव=जिस परमात्मा ने इस पृथिवी से लेके समस्त नक्षत्र समूह को परस्पर दूर स्थापित किया है। कभी दीखते और कभी नहीं। उसी कृपा से यह चन्द्र भी सूर्य द्वारा प्रकाशित हो रहा है। उसके सकल कर्म ही अचिन्त्य और अच्छेद्य है।

तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः॥ ११॥

हे वरुण! (ब्रह्मणावन्दमानः) स्तोत्र द्वारा स्तव करता हुआ मैं (त्वा+तत्यामि) आप से ही उस परमायु की याचना करता हूँ। केवल मैं नही आप से याचना करता हूँ किंतु (यजमानः) सब ही यज़नशील भक्त (हविर्भिः) प्रेमरूपहव्य द्वारा (तद्+आशास्तेः) उसी परमायु की आशा रखते हैं (वरुण) हे वरुण (इह+अहेडमानः) इस विषय में अनादर न करते हुए आप (बोधि) मनोयोग दीजिये (उरुशंस) हे बहुत लोकों के प्रशंसनीय देव! (नः) हमारे (आयुः) आयु को (मा+प्र मोषीः) मत हरण कीजिये।

यामि=याचे। याचामि। निघं० ३।१९ ब्रह्म=स्तोत्र। अहेडमान=हेड़ अनादरे। बोधि=बुध अवगमने। प्रमाषी=मुषस्तेये।

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु।१२।

उपासक गण (मह्यम्) मुझ को (नक्तम्) रात्रि में (तद्+इत्) उसी को (आहुः) कहते हैं और (दिवा+तत्) दिन में भी उसी को कहते हैं (अयम्+हृदः केतः) यह हृदय का प्रकाश भी (तत्+आ+विचष्टे) उसी को कहता है। हे भगवन्! (शुनः शेपः) मैं विषयी हूँ (गृभीतः) मैं पाप शाप से बद्ध हूँ। वह शुनःशेप (विषयी पुरुष) पाप से गृहीत हो (यम्+अह्वत्) जिस आप को पुकारता है (सः राजा+वरुणः) वह राजा वरुण आप (अस्मान्) हम सब को (मुमोक्तु) मुक्त कीजिये।१२।

भावार्थः=११वीं ऋचा में प्रार्थना करते हैं कि हमारी आयु हरण न कीजिये। इस पर शङ्का होती है कि क्या हम किसी का आयु हरण करते हैं जो ऐसी प्रार्थना करते हो। इस पर उपासक कहते हैं कि हे भगवन! निश्चय पापियों का आयु हरन करने हारे आप ही हैं। मुझको सब कोई निश्चय दिलाते हैं। मेरा अन्तःकरण भी यही साक्षी देता है। जिस हेतु आप पापियों का आयु हरते हैं और मैं अवश्य पापी हूँ। मैं अज्ञान फांसों में बद्ध हूँ। अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि हम सबको पाप से छुड़ाइये। पुनः इसी विषय को आगे भी कहते हैं—

शुनः शेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मोक्तु पाशान्।१३।

(हि) निश्चय (शुनःशेप) यह विषयी उपासक (गृभीतः) पापों से गृहीत और (त्रिषु+द्रुपदेषु) उत्तम, मध्यम अधम भेदों से तीनों बन्धनों में (बद्धः) बद्ध हो के (आदित्यम्) सर्वत्र देदीप्यमान तथा अखण्ड-व्रत-रक्षक परमात्मा का (अह्वत्) आह्वान करता है। इस कारण (एनम्) इस उपासक को (राजा+वरुणः) राजा वरुण (अव+ससृज्यात्) मुक्त करे। क्योंकि (विद्वान्) वरुण सब का भाव कुभाव जानता है और (अदब्धः) स्वयं अहिंसित है। जिस हेतु वह स्वयं अहिंसित हैं अतः वह किसी की हिंसा न करे। वह वरुण (पाशान्+विमुमोक्तु) इससे पाश-विमोचन करें।

भाव। वेद और लोक दोनों में यह नियम देखते हैं कि "अहम्=मैं" की जगह "अयम्=यह" का प्रयोग किया जाता है। जैसे कोई "मैं आपका सेवक" "आज्ञा पालक हूँ" ऐसा न कहकर "यह आपका सेवक वा आज्ञा पालक है। इसको अपना दास समझिये इस पर कृपा रखिये" इत्यादि रूप से भी

वार्ता कर सकता है। ऐसी वार्ता नम्रतासूचक समझी जाती है। इसी प्रकार यहाँ उपासक अपने को परोक्ष करके वरुण से प्रार्थना करता है कि यह विषयी पुरुष, वरुण को पुकारता है। इसकी वरुण रक्षा करे इसके पाश खोल दे। इत्यादि।

त्रिद्रुपद-द्रु=वृक्ष, काष्ठ। पद=स्थान। वृक्ष का स्थान। उत्तम, मध्यम और अधम जो तीन प्रकार के इन्द्रियगण हैं वे ही पशु बाँधने की खूँटियों के समान हैं। इन ही में आत्मा बद्ध है। इसके ऊपर सूक्त के अन्त में विस्तार से लेख देखो। ससृज्यात्=सृज विसर्गे।

अव ते हेडो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः।

क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि। १४।

(वरुण) हे वरुण! (नमोभिः) नमस्कार करके (ते+हेडः) आपका क्रोध (अव+ईमहे) अपनयन (दूर) करते हैं (यज्ञेभिः-हविर्भिः) यज्ञिय हव्यद्वारा (अव+ईमहे) आपका क्रोध अपनयन करते हैं (राजन्+असुर+प्रचेतः) हे राजन्! हे असुर! अर्थात् हे अनिष्ट निवारक! हे प्रकृष्ट चेतन देव! (अस्मभ्यम्) हम लोगों के लिए (क्षयन्) इस यज्ञ में वास करते हुए आप (कृतानि+एनांसि) कृत पापों को (शिश्रथः) शिथिल कीजिये। १४।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम। १५।

(वरुण) हे वरुण! (अस्मत्) हम से दूर करके हमारा (उत्तमम्+पाशम्) ऊपर का पाश (उत्+श्रथाय) ऊपर से खोल दीजिये (अधमम् अव+श्रथाय) नीचे से खोल दीजिये (मध्यमम्+वि+श्रथाय) मध्य का पाश खोलकर शिथिल कीजिये (अथ) तत्पश्चात् (आदित्य) हे सर्वत्र देदीप्यमान अखण्ड व्रत रक्षक। (तव+व्रते) आप के व्रत में (अनागसः+वयम्) हम निष्पाप हों (अदतिये+स्याम) अदिति माता के लिए अर्थात् अबद्धता के लिए होवें।

यही एक मुख्य सूक्त है जिससे पृथिवी पर के विद्वान् वेद से नरहिंसा सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस सूक्त में बहुत से ऐसे पद हैं जिनसे बड़े-बड़े विद्वानों को भी महाभ्रम उत्पन्न हुआ। परन्तु वे सम्पूर्ण वेदों को पूर्ण रीति से यदि देखते तो कदापि ईदृग् प्रमाद उत्पन्न नहीं होता। वेदों में ऐसा-ऐसा वर्णन बहुत आया करता है। आगे इसी के तुल्य अनेक ऋचाएँ दी जायेंगी। उन पर पूरा विचार कीजिये। यह सूक्त समाप्त हुआ। परन्तु इसके सम्बन्ध में छः सूक्त और भी बाकी हैं। यदि सब का अर्थ करें तो ग्रन्थ का बहुत विस्तार

हो जायेगा। और उनमें इससे बढ़ कर कोई शङ्कोत्पादक वस्तु भी नहीं। अतः वेदार्थान्वेषी पुरुषों को उचित है कि वे उन सूक्तों के अर्थ को भी पढ़ जायें। मैं यहाँ उनमें से कतिपय आवश्यक ऋग्वेदीय ऋचाएँ अर्थ सहित लिखे देता हूँ।

प्रार्थना संख्या २। मं १। पृ० २५।

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यवि द्यवि॥ १। २५। १॥ मा नो वधाय हत्नवे जिहीडानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे॥ २ ॥ वि मृडीकाय ते मनो रथीरश्वं न सन्दितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि॥ ३।

(देव+वरुण) हे देव! दुष्टसंहारक! परमात्मन्! (यथा+विशः) जैसे साधारण प्रजाएँ सर्वदा व्रत की हिंसा करती ही रहती हैं तद्वत् हम भी (ते+यत्+चित्+हि+व्रतम्) आपके जिस-जिस व्रत की (द्यवि+द्यवि) दिन-दिन (प्र+मिनीमसि) हिंसा करें। उस-उस व्रत को हे भगवन्! आप पुनः पूर्ण करवाइये। १। हे देव! आप अपने (हत्नवे+वधाय) हननकारी दूत के लिए (नः+मा+रीरधः) हम को मत सिद्ध कीजिये। मन्यवे+मा) अपने क्रोध के लिए हमको मत सिद्ध कीजिये। आप कैसे है (जिहीडानस्य) दुष्टों का निरादर करने हारे पुनः (हृणानस्य) क्रोध करने हारे। २। (वरुण) हे वरुण! (मृडीकाय) हम अपने सुख के लिए (ते+मनः+गीर्भिः+वि+सीमहि) आपको मन वचनों से प्रसन्न करते हैं (रथीः+सन्दितम्+अश्वम्+न) जैसे रथ का स्वामी सारथि परिश्रान्त घोटक को प्रसन्न करता है।

भाव=विशः=प्रजाएँ=मिनीमसि=मीञ्हिंसायाम्। वध=हननकारी दूत ,हत्नु=हन हिंसागत्योः, कुप्रत्ययः। जिहीडान=हेडृ अनादरे। रीरधः=राध साध-संसिद्धौ। हृणान=हृणीङ्लज्जायाम्। सन्दित=दो अवखण्डने। सीमहि=षिवु तन्तुसन्ताने। यह भी एक स्वाभाविक अत्युत्तम प्रार्थना है। मनुष्य मात्र से प्रमाद होता है। भक्तजन अपनी न्यूनता जान सदा ईश्वर से आराधना करते रहते हैं।

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये। वयो न वसतीरुप। ४।
कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृडीकायोरुचक्षसम्। ५।
तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः धृतव्रताय दाशुषे। ६।

हे देव! (न) जैसे (वयः) पक्षिगण सायंकाल (वसतीः+उप) अपने निवास स्थान की ओर दौड़ते हैं तद्वत् (वस्यइष्टये) अतिशय सत्यादि वसु

अर्थात् धन की प्राप्ति के हेतु (मे+विमन्यवः) मेरी क्रोधरहित मनोवृत्तियाँ (परा+पतन्ति+हि) दूर-दूर दौड़ रही है।४। (मृडीकाय) अपने सुख के लिए (कदा) कब हम (वरुणम्+आकरामहे) वरुण को जानेंगे जो (क्षत्रश्रियम्) शक्तियों के भूषण हैं। (नरम्) जगन्नेता हैं और (उरुचक्षसम्) सर्वद्रष्टा है। (धृतव्रताय+दाशुषे) व्रतधारी प्रदाता यजमान के लिए सदा (वेनन्ता) कामना करने हारे मित्र और वरुण अर्थात् परमात्मा (समानम्+तत्+इत्+आशाते) समान रूप से इस स्तोत्र की आशा रखते हैं (न+प्रयुच्छतः) कभी प्रमाद नहीं करते।

वस्यः=वसीयस, =वसुमत्+ईयसुन्। न=जैसे। वेनन्ता=वेनतिः कान्ति कर्मा। प्रयुच्छतः=युछ प्रमादे। मित्र और वरुण= यहाँ दोनों नाम से ईश्वर प्रार्थित हुआ है। मैं पूर्व में कह चुका हूँ कि वेदों में नाम देवता प्रधान हैं! अतः यहाँ द्विवचन आया है।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः।७।
वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।८।
वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वेदा से अध्यासते।९।
नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः।१०॥

इन वक्ष्वमाण चार ऋचाओं में परमात्मा को जगत् का राजाधिराज मानकर स्तुति करते हैं अतः ये दोनों पक्षों में घटती हैं। (यः) जो सर्वेश्वर परमात्मा (अन्तरिक्षेण+पतताम्) आकाश-मार्ग से बड़े वेग से दौड़ने हारे (वीनाम्) पक्षिगण के समान सूर्य चन्द्र नक्षत्र पृथिवी आदि अनन्त जगत् के (पदम्) स्थान को (वेद) जानता है। गतिमान् होने के कारण ये सूर्यादि लोक 'वि' अर्थात् पक्षी नाम से पुकारे जाते हैं। और जो (समुद्रियः) समुद्र=आकाश में स्थित हैं। (नावः+वेद) नौका समान आकाश में गमनकारी लोक लोकान्तरों को जानता है। राजपक्ष में ज्योतिःशास्त्र द्वारा जो सूर्यादिकों की गति को जानता है और जो (समुद्रियः+नाव०) सामुद्रिक नावों को यथास्थान जानता है। इत्यादि अर्थ करना। समुद्र=जल राशि और आकाश। निघण्टु ७-३। पुनः (धृतव्रतः) जो धृतव्रत है। परमात्मा से बढ़कर कौन व्रत धारण कर सकता है (प्रजावतः) पल विपल प्रभृति प्रजावान् जो (द्वादश+मासः) द्वादश मास हैं उनको (वेद) जो जानता है (यः+उपजायते) जो त्रयोदश मास वर्षान्त में अधिक होता है (वेद) उसको भी जानता है। अर्थात् मास अधिक मास इन सब को जानने हारा परमात्मा है। राजपक्ष में जो पृथिवी पर के प्रत्येक मास की दशा को जानता हो वह राजा हो क्योंकि व्यापार और युद्धादि यात्रा के लिए प्रत्येक मास की सब जगह की शीतोष्णादि दशा ज्ञातव्य है।८। (उरोः)

विस्तीर्ण (ऋष्वस्य) दर्शनीय (बृहत:वातस्य) और बृहत् वायु के (वर्तनिम+वेद) मार्ग को जो जानता है (ये+अध्यासते) जो ऊपर से ऊपर वर्तमान हैं (वेद) उन्हें भी जानता है। राज पक्ष में-राजा को उचित है कि वायु और वायु के आश्रित गमनकारी पदार्थों को जानें। ९। (धृतव्रत:वरुण:) वह धृतव्रत वरुण (परमात्मा) (पस्त्यासु) निखिल प्रजाओं के मध्य (आ+निषसाद्व) चारों तरफ परिपूर्ण है। किस लिये (साम्राज्याय) परम राज्य की वृद्धि के लिये। (सुकृतु:) पुन: शोभनकर्मा वही है। राजपक्ष में राजा शोभनकर्मा और व्रती होके प्रजाओं में सदा विद्यमान रहे। प्रजाओं के कार्य से कभी प्रमाद न करे। इति।

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा। ११
स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्र ण आयूंषि तारिषत्। १२
बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परि स्पशो नि षेदिरे। १३

(चिकित्वान्) ज्ञानी जन (अत:) इस सर्वव्यापी परमात्मा की कृपा से (विश्वानि+अद्भुतानि+अभिपश्यति) सम्पूर्ण अद्भुत पदार्थों को अच्छे प्रकार देखता है (कृतानि+या+च+कर्त्वा) जो आश्चर्य कभी किये गये और जो किये जाएँगे इन सब को जानता है। ११। (स:+सुकृतु:आदित्य:) वह शोभनकर्मा और अदितिरक्षक परमात्मा (विश्वाहा+सुपथा+न: करत्) सब दिन सुन्दर मार्ग से हमको युक्त करे तथा (न:+आयूंषि+तारिषत्) हमारी आयु को बढ़ावे। १२। (वरुण:) वह वरणीय परमात्मा (हिरण्यम्) सुवर्णमय अर्थात् तेजोमय (निर्णिजम्) और शुद्ध (द्रापिम्) जगत् को (विभ्रत्) धारण पोषण करता हुआ (वस्त) सबको आच्छादित कर रहा है (स्पर्श:) इसके दूत (परिनिषेदिरे) सर्वत्र बैठे हुए है। १३।

चिकित्वान्=कित ज्ञाने। द्रापि=द्रा कुत्सायां गतौ वस्त=वस आच्छादने। निर्णिजम्=णिजिर्शौचपोषणयो:। स्पश:=स्पशबाधनस्पर्शनयो:। न्याय ही परमेश्वर का दूत है। अन्यायी पुरुष को यह दूत सदा दण्ड दिया करता है।

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्। न देवमभिमातय:। १४।
उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा। १५।
परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम्। १६।

(दित्सव:+यम्+न+दित्सन्ति) हिंसक पुरुष भी जिसकी हिंसा करना नहीं चाहते (जनानाम्+द्रुह्वाण:) मनुष्यों के द्रोही भी जिससे द्रोह नहीं करते (अभिमतय: देवम्+न) पापी पुरुष जिसको स्पर्श नहीं करते। १४। (उत+य:)

और जो वरुण (मानुषेषु+यशःआचक्रे) धर्म्मात्मा पुरुषों में यश स्थापित करता है (असामि+आ) सम्पूर्ण यश सर्वत्र स्थापित करता है। (अस्माकम्+ उदरेषु+आ) जो हम सबके उदर में व्यापक है। १५। (उरुचक्षसम्) सर्वद्रष्टा परमात्मा को (इच्छन्तीः+मे+धीतय +परायन्ति) चाहती हुई मेरी बुद्धियाँ वरुण की ओर दौड़ रही हैं (गावः+न) जैसे गौवें (गव्यूतीः+अनु) अपने स्थान की ओर दौड़ती हैं। दित्सन्ति दंभुदभे। द्रुह्वाणः=द्रुह हिंसायाम्। अभिमति=पापी। असामि=अ+सामि=अर्ध।

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्। होतेव क्षदसे प्रियम्। १७।
दर्शन्नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि। एता जुषत मे गिरः। १८।
इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युरा चके। १९।

हे भगवन्! आप ऐसा कीजिये (नु) अवश्य हम दोनों (सम्+वोचावहे) मिलें और वार्तालाप करें (यतः) क्योंकि आपने (पुनः+मे+मधु+आभृतम्) पुनः मेरे लिये मधुर रस सम्पादित किया है। हे भगवन्! (होता+इव) होता जैसे यजमान को देखता है वैसे आप (प्रियम्+क्षदसे) अपने प्रिय उपासक को देखते हैं। १७। मैं (विश्वदर्शम्) सर्वदर्शनीय परमात्मा को (दर्शम्) देखता हूँ (क्षमि) इस पृथिवी पर (रथम्+अधि+दर्शम्) वरुण के रथ को मैं अच्छी तरह देखता हूँ (एतः+मे+गिरः+जुषत) इन मेरे वचनों को वरुण सेवे। १८। (वरुण) हे वरुण (मे+इमम्+हवम्+श्रुधी) मेरा यह आह्वान सुनिये (अद्य+च+मृडय) आज मुझे सुखी कीजिये। (अवस्युः) रक्षणेच्छु मैं (त्वाम्+अर+चके) आप की सब प्रकार से स्तुति करता हूँ। १९।

जब भक्तगण ध्यान योग से ईश्वर में लीन हो जाते हैं। उस समय ऐसी प्रार्थना मुख से निकलती है। उपासक गण ईश्वर को पिता, माता, बन्धु और मित्र समझते हैं। अतः अपने अन्तः करण में अनुभव करते हुए उपासक कहते हैं कि हम दोनों परस्पर सम्वाद करें। हम ईश्वर को देखते हैं। इति। ऐसी-ऐसी प्रार्थना भी वेदों में बहुत आती है।

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रति श्रुधि। २०।
उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे। २१।

(मेधिर) हे मेधाविन्! हे विज्ञान स्वरूप परमात्मन्! (त्वम्) आप (दिवः+च) द्युलोक के (ग्मः+च) और पृथिवी लोक के (विश्वस्य) और सम्पूर्ण जगत् के मध्य (राजसि) विराजमान हैं (सः) वह आप (यामनि+ प्रति+श्रुधि) हमारे कल्याण के निमित्त प्रतिज्ञा कीजिये। २०। हे भगवन्!

(नः उत्तमम्+पाशम्) हमारे ऊपर के शिरोगत पाश को (उन्मुमुग्धि) ऊपर से खोल दीजिये (मध्यमम्+विचृत) मध्य गत पाश को पृथक् कीजिये (जीवसे) जीवन के निमित्त (अवमा-नि+अव+चृत) नीचे के पाश को अलग कर विनष्ट कीजिये। २१।

इस द्वितीय सूक्त में कोई शङ्कोत्पादक वर्णन नहीं। स्वाभाविक प्रार्थना है। अन्तिम ऋचा में जो पाशतिमोचन के लिए प्रार्थना है वह केवल मानसिक चिन्ता का और अविद्या जन्य दुःख का निरूपण है। आगे इन सब का उत्तर देखिये। अब पुनः २९ सूक्त अर्थ सहित लिखता हूँ यह सूक्त अन्योक्तियों से भरा हुआ है। वेद में इस प्रकार के वर्णन भी बहुत आते हैं।

प्रार्थना संख्या ३। मं० १। मू० २१।

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ताइव स्मसि।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ १।२।१॥

अब इन्द्र नाम से भगवान् की स्तुति करते हैं। (सत्य+सोमपाः) हे सत्य स्वरूप! हे जगद्रक्षक! हे भक्तजनानुग्रहकारक। देव! (यद्+चिद्+हि) निश्चय यद्यपि हम उपासक (अनाशस्ताः+इवस्मसि) अप्रशस्त के समान हैं अर्थात् आपकी आज्ञा के अनुकूल नहीं चलने वाले हैं। तथापि (तुवीमघ) हे बहुधनेन्द्र! आप (सहस्त्रेसु+शुभ्रिषु) सहस्त्रों शोभन (गोषु+अश्वेषु) गौ और अश्वों के निमित्त (नः) हमको (इन्द्र) हे इन्द्र! (आशंसय) प्रशस्त, और विख्यात करें।

अनाशस्त=न+आ—शंसुस्तुतौ। स्मसि=इदंतोमसिः। तूनः=ऋचि तुनुघे इत्यादि सूत्र से दीर्घ। शुभ्रि=शुभदीप्तौ।

यहाँ गो और अश्व दोनों नाम भी प्राण के हैं। प्रशस्त प्राणों की प्राप्ति के लिए ही यह प्रार्थना है। तुवीमघ=तुवि=बहु। निघण्टु ३। १। मघ=धन निघंटु २। १०।

शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना। आतू न इन्द्र०। २।

नि ष्वापया मिथूदृश सस्तामबुध्यमाने। आ तू न इन्द्र०। ३।

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः। आ तू न इन्द्र। ४।

(शिप्रिन्) हे सुखपूर्ण! आनन्द घन! (वाजानां पते) अन्नपते! ज्ञानपते! (शचीवः) हे शक्तिमन्! हे ज्ञानिन्! (तव+दंसना) आपका कर्म आपकी क्रिया सर्वत्र विराजमान है। (आतूनः) पूर्ववत्। २। हे भगवन्! (मिथूदृश) मिथ्यादर्शी अथवा परस्पर दृश्यमान ये जो दिन और रात्रि रूप दो दूत हैं इन्हें

(नि+स्वापय) हमारे प्रति अत्यन्त सुला दीजिये (अबुध्यमाने+सस्ताम्) वे ऐसे सोवें कि कभी न जागें। (आतून:)। ३। (शूर) हे शूर! (त्या:+अरातय:) वे अदाता शत्रु (ससन्तु) सो जायें और (रातय:+बोधन्तु) वे दाता मित्र जागें। ४

शिप्री="सृप्र: सर्पणात्....सुशिप्रमेतेत व्याख्यातम्" इस यास्क वचन से सिद्ध है कि "शिप्र" शब्द भी "सृप्" धातु से बनता है। अर्थात् जो सर्वत्र गतिशील हो वह (शिप्री) वाज=अश्व, अन्ध:, वाज:, पय:, इत्यादि नि० २। १०। शचीव:=शची=केत: केतु: इत्यादि प्रज्ञा नाम नि० ३।९

दंस=कर्म। नि० २। १। दंसना=दंस:=कर्म नि० २-१। सस्ताम्=षस स्वप्ने। ससन्तु=षसस्वप्ने। अराति=रादाने न विद्यते रातिर्यस्य।

"दिन और रात्रि सो जाये" इस प्रकार का वर्णन वेद में बहुधा आता है। अर्थात् दुष्ट का प्रभाव हम पर न पड़े।

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया। आ तू न इन्द्र०।५।
पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि। आ तू न इन्द्र०।६।
सर्वं परिक्रोशं जहि जंभया कृकदाश्वम्। आ तू न इन्द्र०।७।

हे इन्द्र! (अमुया+पापया+नुवन्तम्) इस पापमयी वाणी से अपकीर्ति प्रकट करते हुए (गर्दभम्+सम् मृण) इस अज्ञान रूप गदहे को विनष्ट कीजिये। (आ तू०)। ५। (वात:) हमारे प्रतिकूल वायु (कुण्डृणासच्या) कुटिल गति से हम को त्याग (वनाद्+अधि+दूरम+पताति) वन से भी अधिक दूर देश में बहा करे (आ तू न०)। ६। (सर्वम्+परि+क्रोशम्) सर्व निन्दा को (जहि) दूर कर विनष्ट कीजिये। (कृकदाश्वम्+जंभय) कृकदाशु=हिंसक शत्रु को विनष्ट कीजिये। (आतून इन्द्र०)॥ ७ ॥

यह सम्पूर्ण सूक्त एक प्रकार से आलङ्कारिक वर्णन से पूर्ण है। गर्दभ और कृकदाशु को नष्ट कीजिये। वायु हम से दूर देश में बहा करे। आक्रोश को विध्वस्त कीजिये। दिन रात सो जाये इत्यादि। यहाँ गर्दभ आदि शब्द से अज्ञान का ग्रहण है। यदि कोई इस वर्णन को देख कहे कि गदहे और कृकदाशु के मारने के लिए यह प्रयोग है तो मैं कहूँगा कि वे वेदार्थ नहीं समझते हैं। ऐसे ही वर्णन को यथार्थरूप से न समझ कर विद्वानों में भी महा भ्रम उत्पन्न हुआ है। कृकदाशु=हिंसाप्रदशत्रु। कृञ्हिंसायाम्। कृको हिसांता दाशतीतिकृकदाशु:।

अब आगे उन तीन ऋचाओं को लिखता हूँ जिनके विषय में ऐतरेय ब्राह्मण कहता कि ज्यों-ज्यों एक-एक ऋचा शुन:शेप पढ़ता गया त्यों-त्यों एक-एक पाश टूटता गया और राजा हरिश्चन्द्र भी रोग से निर्मुक्त होता गया। इनका

देवता उषा है। यहाँ बुद्धि को ही उषा कहा है। वे ये ऋचाएँ।

प्रार्थना संख्या ४। सूक्त ३०। मं० १।

कस्त उषः कधप्रिये भुजे मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि। २०।

वयं हि ते अमन्मह्यान्तादा पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि। २१।

त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः। अस्मे रयिं निधारय। २२।

१।३०।२०,२१,२२

(उषः) हे समस्तजन-कमनीये! बुद्धिरूपे! (कधप्रिये) हे कथाप्रिये! (अमर्त्ये) हे अमृतस्वरूपे! (विभावरि) विशेषप्रभायुक्ते! उषो देवि! (कः+मर्त्य+ते+भुजे) कौन मरणशील पुरुष तेरे भोग के लिए समर्थ है। अर्थात् तुझे भोग देने के लिए कोई समर्थ नहीं। (कम्+नक्षसे) तू किसको प्राप्त होती है २०। (अश्वे+चित्रे+अरषे) हे व्यापनशीले! हे विचित्ररूपधारिणि! हे आरोचमाने! बुद्धिरूपे उषो देवि! (ते) तेरे विषय में (आ+अन्तात्) समीप से (आ+पराकात्) अथवा दूर से (वयम्+हि +न+अमन्महि) हम सब नहीं जान सकते हैं। २१। (दुहितर्दिवः) हे द्युलोककन्यके! (त्वम्+त्येभिः+पाजेभिः+आगहि) तू उन ज्ञानरूप अन्नों के साथ आ। (अस्मे+रयिम्+निधारय) हम में धर्म स्थापित कर। २२।

कधप्रिये=कथाप्रिये। कथवाक्यप्रबन्धे। भुजे=भुजपालनाऽमयवहारयोः। नक्षसे=तृक्ष, पृक्ष, णक्षगतौ। अमनमहि=मनज्ञाने अश्वे=अशूव्याप्तौ। अस्मे=अस्मासु।

आशय=यह बुद्धि का वर्णन है। जब मनुष्य को बुद्धि प्राप्त होती है तब वह पुनः वरुण पाश में बद्ध नहीं होता। अतः अन्त में बुद्धिरूपा से प्रार्थना है। यही अदिति की ओर ले जाती है। कधप्रिया=बुद्धिमान सदा ईश्वरीय कथा रचा करता है। अतः बुद्धि कथाप्रिया कहाती है। दुहितर्दिवः=मैं पूर्व में भी कह चुका हूँ कि इस शरीर में शिर द्युलोक है। मध्य भाग अन्तरिक्ष और कटि से नीचे का भाग पृथिवी लोक है। अतः यह द्युलोक दुहिता है। इसी प्रकार अन्यान्य विशेषणों का भी भाव समझना चाहिये।

पञ्चम मण्डल में एक ऋचा शुनःशेप सम्बन्धी आई हैं। उस से भी लोगों को सन्देह होता है। वह यह है:—

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः।

एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य॥

५।२।७।

हे परमात्मन्! (निदितम्) विषय-पाश-बद्ध (शुनःशेपम्+चित्) विषयी पुरुष को भी आप (सहस्राद्+यूपात्) अनेक अज्ञानरूप यूप से (अमुञ्चः) खोल देते हैं और आपकी कृपा से (सः+हि+अशमिष्ट) वह भी शान्ति को प्राप्त करता है। (अग्ने) प्रकाशमय! देव! (एव+अस्माद्+पाशान्+विमुमुग्धि) इसी प्रकार हम से भी पाशों को अच्छे प्रकार खोल दीजिये (होतः+चिकित्वः) हे जगद्धोता! हे चैतन्य-स्वरूप भगवन! (इह+तू+निषद्य) इस मेरे हृदय में आप अवस्थित होइये।

शुनःचित-शेपम्। वेद में इस प्रकार पदान्तर भी कहीं-कहीं मध्य में आ जाता है। नि-दित=दो अवखण्डने-क्त। अशमिष्ट=शमुउपशमे।

अब शुनःशेप सम्बन्धी आवश्यक सर्व ऋचाएँ लिखी गई हैं जिनके अर्थ लिखे गये और जिनके अर्थ नहीं लिखे गये हैं। इन दोनों प्रकार की ऋचाओं में हरिश्चन्द्र, रोहित, नारद, पर्वत, विश्वमित्र, अजीगत, अम्वरीष, ऋचीक, आदिकों के नाम नहीं हैं और न शुनःशेप के विक्रय होने, विश्वामित्र की कृपा से छूटने और पिता की क्रूरता आदि की कोई चर्चा है। अन्यान्य वैदिक प्रार्थना के समान यह भी एक प्रार्थनामात्र है। इससे मनुष्य-हिंसा का विधान वेद से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसी-ऐसी प्रार्थनाओं से वेद भरा पड़ा हुआ है। यदि कोई कहे कि ब्राह्मण ग्रन्थ से लेकर आज तक सब ही ग्रन्थ वा सब ही आचार्य क्या पुरातन क्या नूतन भ्रम में पड़े हुए थे केवल आप वेदवित् हैं जो सबको भ्रान्त सिद्धकर अपना अभिमान प्रकट करते हैं। विवेकशील पुरुषो! मैं सर्व आचार्यों को मान्यदृष्टि से देखता हूँ और ब्राह्मण ग्रन्थ भी नरबलि विधायक नहीं हैं। ब्राह्मण को भी लोग नहीं समझते हैं। परन्तु बहुत आचार्य भ्रम में पड़ गये, इसमें सन्देह नहीं। मैं प्रथम समान ऋचाएँ उद्धृत करता हूँ जिनके देखने से आपको प्रतीत होगा कि इस प्रकार के आलङ्कारिक वर्णन वेदों में बहुत हैं।

समान ऋचाएँ

१—यदि

१. कस्य नूनं कतमस्याऽमृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च।

ऋग्० १।२४।१

२. शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु।

ऋग्० १।२४।१२

३. शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः
अवैनं राजा वरुण समृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्।

ऋग्० १।२४।१३

४. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय
अथा वमयादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम।

ऋग्० १।२४।१५

इत्यादि ऋचाओं में माता-पिता के दर्शन हेतु प्रार्थना, यूप में बद्ध होके देवता का आह्वान, पुनः पुनः पाशविमोचन के लिए वरुण से स्तुति प्रार्थना करना आदि विस्पष्ट अर्थ देख एवं ऐतरेय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तथा यास्काचार्य आदि के व्याख्यानों में समता पा अल्पज्ञ पुरुष सिद्ध करें कि अवश्य ही शुनःशेप के पशुवत् वधार्थ राजा अथवा कोई अन्य पुरुष प्रस्तुत था। परन्तु वरुण की कृपा से वह विमुक्त हो गया इससे क्या सिद्ध है कि मनुष्य हिंसा प्रतिपादक भी वेद है?

परन्तु यह निर्णय उचित नहीं क्योंकि यदि शुनःशेप के समान प्रार्थना करने से कोई यथार्थ में बाह्य बन्धन से बद्ध माना जाये तो सैकड़ों ऋषि बद्ध समझे जाएँगे। अतः यह मानसिक बन्धन का वर्णन है। अब उदाहरणों पर ध्यान दीजिये। सबसे प्रथम अदिति के निकट पहुँचने की प्रार्थना हैं अदिति सम्बन्धी कुछ ऋचाएँ लिखता हूँ।

(१) शुनःशेप के समान ही मान्य ऋषि मन्त्रों से प्रार्थना करते हैं। क्या इनको भी कोई बलिदान देने को ले आया था[1]। यथा—

ते न आस्नो वृकाणामादित्यासा मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते।

८।६७।१४

अपो षु ण इयं शरुरादित्यो अप दुर्मतिः। अस्मदेत्वजध्नुषी।

८।६७।१५

(हे आदित्यासः) हे अखण्ड-व्रतपाकविद्वानो! (ते) वे आप (नः+

---

१. मन्त्रों से अमुक ऋषि प्रार्थना करते हैं इससे लोगों को यह भ्रम न हो कि अमुक ऋषि वेद के रचयिता हैं। किन्तु प्रारम्भ में सबसे पहले इन्हीं ने प्रार्थना की इनके तत्व समझे और अन्यान्य शिष्यों को समझाया। देश-देश में प्रचार किया। यही ऋषि का ऋषित्व है। अतः जहाँ-जहाँ मैं लिखूँ कि अमुक ऋषि इससे प्रार्थना करते हैं वहाँ-वहाँ यह समझना चाहिए कि प्रथम द्रष्टा इसके यहीं है। और इसी कारण से यह ऋषि कहाते हैं।

वृकाणाम्+आस्न:+मुमाचात) हमको हिंसक वृका=हुडार=भेड़ियों के मुख से मुक्त कीजिये (अदिते) हे अखण्डनीय देवि! (बद्धम्+स्तेनम्+इव) वद्ध चोर के समान हमको बन्धन से छुड़ाइये। यहाँ अज्ञान को ही वृक कहा है (आदित्या:) हे आदित्यो ! (इयम्+शरु:) यह शरु अर्थात् हिंसक कृत्रिम जाल (न:+अपो+सु+एतु) हमसे बहुत दूर चला जाये। (दुर्म्मति:+अजध्नुषी+अस्मत्+अप+एतु) यह दुष्ट मति बिना हानि के हम से दूर चली जाये। १५।

यहाँ हम देखते हैं कि शुन:शेप की अपेक्षा बलवत्तर बन्धन से मान्य ऋषि ही बद्ध हैं जिससे मोचन की बारम्बार प्रार्थना करते हैं। आगे भी मान्य ऋषि के बारे में लेख लिखा जायेगा।

२—शुन:शेप के समान ही वसिष्ठ ऋषि भी अपने को बद्ध कहते हैं और पाश से विमोचन के लिए वरुण से ही प्रार्थना करते हैं। तो क्या वसिष्ठ ऋषि को भी कोई राजा यूप में बाँध कर वध करने के लिए उपस्थित था? वहाँ वसिष्ठ और शुन:शेप की तुलना (Compare) कीजिये यथा—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्। ७-८६।४
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नों वसिष्ठम्। ७।८६।५
योमृडयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागा:।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:। ७।८७।७
धुवासु त्वाऽऽसु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:। ७।८८।७

(वरुण) हे वरुण! (किम्+ज्येष्ठम्+आग:+आस) क्या कोई मेरा बड़ा भारी अपराध है? (यत्+सखायम्+स्तोतारम् जिघांससि) जिससे कि आप अपने सखा और स्तुति पाठक का वध करना चाहते हैं।४। (राजन्) हे राजन्! वरुण देव (पशुतृपम्+न+तायुम्) जैसे अवधि पूर्ण होने पर पशुतृप=पशु के चुराने वाले, तायु=चोर को राजा छोड़ देता है (दाम्न:+वत्सम्+न) और जैसे बद्धवत्स को दूध पिलाने के लिए गृहस्थ छोड़ते हैं वैसे (वसिष्ठम्+दाम्न:+अवसृज) बद्ध वसिष्ठ को भी आप दाम अर्थात् रस्सी से खोल दीजिए। ५। (आग:+चक्रुषे+चित्+य:+मृडयाति) अपराध किये हुए पुरुष को भी जो वरुण क्षमा करता है। (वरुणे+वयं+अनागा:+स्याम) उस वरुण के निकट हम सब निरपराधी सदा होवें। (अदिते:+व्रतानि+अनु+ ऋधन्त:) हम अदिति के व्रतों को नियमपूर्वक पालन करते हुए रहें (यूयम्) हे देव! आप (स्वस्तिभि:+सदा+न: पात) कल्याणों के साथ हमारी रक्षा कीजिये (ध्रुवासु+आसु+

क्षितिषु+क्षियन्तः) इन नित्य विविध भूमियों पर निवास करते हुए हम (त्वा) आपकी ही स्तुति प्रार्थना किया करें (वरुणः+अस्मत्+पाशम्+वि+ मुमोचत्) वह वरुण हमसे पाश को खोल दे। (अदितेः उपस्थात्+अव+वन्वनाः) हम अदिते के समीप से रक्षा की याचना करते हैं (यूयं नः सदा+स्वस्तिभिः पात) आप हमारी सदा कल्याण के साथ रक्षा करें।

इस प्रकार देखेंगे तो शुनःशेप और वसिष्ठ में बहुत साम्य है। यहाँ स्वल्प वाक्य दिखलाए गये हैं। सप्तम मण्डल देखिये वसिष्ठ भी कहते हैं कि वरुण मुझ को घात करना चाहते हैं—हे वरुण! मैंने क्या अपराध किया है। मैं चोर और वत्स के समान बद्ध हूँ। मुझसे पाश खोल दीजिए। इत्यादि अनेक समानता विद्यमान हैं इससे क्या कोई यह अनुमान करेगा कि वसिष्ठ भी कहीं रज्जु में बद्ध थे। या कोई इनका भी वध कर रहा था जो ऐसी प्रार्थना करते हैं?

३—पुनः शुनःशेप के ही समीप गृत्समद ऋषि भी प्रार्थना करते हैं। क्या यह भी कहीं यूप में वध होने के लिए बाँधे हुए थे। देखियेः—

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत् सम्राड्ृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे।

२-२८-६।

(वरुण) हे वरुणीय देव! (मत्) मुझसे (भियसम्) भय को (अपोसुम्यक्ष) अपगत=दूर कीजिये (सम्राट्+ऋतावः) हे सम्राट्! हे सत्यवन्! (मा+अनु+गृभाय) मुझ पर अनुग्रह कीजिये और जैसे दूहने वाला (वत्साद्+दाम+इव) वत्स से रस्सी को दूर करता है तद्वत् (अहः+विमुमुग्धि) मुझसे पाप मोचन कीजिये (हि) क्योंकि (त्वद्+आरं) तुमसे पृथक् होके कोई भी (निमिषः चन) एक निमेष भी (न+ईशे) आधिपत्य नहीं कर सकता।

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तु श्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः।

२-२८-५

हे वरुण (रशनाम्+इव+आगः) रज्जु के समान प्रति बन्धक पाप को (मत्+विश्रथाय) मुझसे विमुक्त कीजिये (ते+ऋतस्य+खाम्+ऋध्याम) आपके सत्य की नदी को हम प्राप्त करें (वियम्+वयतः+मे) शुभ कर्म और ज्ञान को विस्तृत करते हुए मेरे (तन्तु+मा+छेदि) तन्तु का छेदन न कीजिये और (ऋतोः पुरा) ऋतु के पहले ही अर्थात् शतायु के प्रथम ही (अपसः+मात्रा) कर्म से रचित शरीर को (मा+शारि) हिंसित मत कीजिये। शारि=शृहिंसायाम्।

यो मे राजन्युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाहं।
स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्।

२-२८-१०

हे राजन्! वरुण (युज्य:+वा+सखा+वा) क्या जो सहयोगी वा सखा (स्वप्ने+भयम्) वा स्वप्नजनित भय (भीरवे+मह्यम्+आह) स्वयं भीरु मुझ से भयङ्कर कथा वा दृश्य कहता सुनाता है। उससे मेरी रक्षा कीजिये। हे वरुण। (य:स्तेन+वृक:+वा) जो तस्कर वा वृक (न:+दिप्सति) हमको वध करना चाहता है (त्वम्+तस्माद्+अस्मान पाहि) आप उससे हमारी रक्षा कीजिये।

अदिते मित्र वरुणोत मृड यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः।

२-२७-१४

हे अदिति! हे मित्र! वरुण! क्षमा कीजिये! यदि हमने कोई अपराध वा पाप किया है। हे इन्द्र! परमैश्वर्यशालिन्! बहुत अभय ज्योति को (अश्याम) मैं प्राप्त करूँ। हे भगवन्! दीर्घ तमोमय निशाएँ हम पर व्याप्त न हों।

हम कहाँ तक उदाहरण लिखें आप स्वयं द्वितीय मण्डल के २७वें और २८ वें सूक्तों का पाठ कर जाइये। शुन:शेप सम्बन्धी वर्णन की समानता यहाँ देखेंगे। इससे क्या यह सिद्ध होगा कि गृत्समद कहीं यूप में बद्ध थे या अब जो कोई इन ऋचाओं से प्रार्थना करेगा वह कहीं बद्ध होने पर ही करेगा?

इस प्रकार यदि देखेंगे तो विदित होगा कि बहुधा ऋषि वैदिक ऋचाओं के द्वारा पाप-पाश, दु:पाश, अज्ञान-पाश, अकिञ्चनता-दीनतारूप-पाश इत्यादि अनेक विध पाशविमोचन के लिए प्रार्थना किया करते थे। हम लोग भी वैसा किया करेंगे। अत: यहाँ कोई वास्तविक खूंटी वा यूप वा स्तम्भ नहीं किन्तु अज्ञान रूप यूप में मनुष्यमात्र बद्ध है इसी से छुटकारा पाने के लिए सब ऋषि यत्न करते थे। ईश्वर की ऐसी शिक्षा है कि इससे सब कोई छूटें। अत: वेदों में बारम्बार ऐसी प्रार्थना आती है। पुन: शुन:शेप सम्बन्धी प्रथम सूक्त में "बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः। कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत्" "मा न आयुः प्रमोषीः" "विमुमोक्तु पाशान्" "राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि" इत्यादि वाक्यों से १—निर्ऋतिं २—कृतपाप ३—पाश और इन तीनों से बचाने और चतुर्थ आयु वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है।

अब आप देखें कि ऐसी प्रार्थनाएँ वेदों में बहुत हैं। प्रथम तो जो ऐतरेय ब्राह्मण का इतिहास इस विषय में गाया जाता है उसमें शुन:शेप के पाप की

कोई चर्चा नहीं आती। फिर यह पापमोचन की प्रार्थना क्यों करेगा ? दूसरा, यदि इसको माता पिता ने बेच लिया था और हरिश्चन्द्र इसको बलि देने के लिए दीक्षित था तब यह शुनःशेप अपने माता-पिता के दोष, अपराध और राजा की अज्ञानता को देवता से सुनाता परन्तु सो नहीं करता प्रत्युत माता-पिता के दर्शन का प्रार्थी है इससे भी सिद्ध है कि यह आध्यात्मिक दुःख का वर्णन है। एवमस्तु। पुनः सादृश्यों पर ध्यान दीजिये।

१ — निर्ऋति=पापदेवता

सोमारुद्रा वि वृहतंविषूची ममीवा या नो गयमाविवेश।
आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु। २

ऋग्० ६।७४।२

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नःसुमनस्यमाना।

६।७४।४

इनसे भरद्वाज ऋषि प्रार्थना करते हैं (सोमारुद्रा) हे सोम=जगदुत्पादक सुखकारक देव! हे रुद्र! दुष्टरोदक दुःख विनाशक परमात्मन्! (विषूचीम्+वि+वृहतम्) विसर्पणशील संक्रामक रोगों को सर्वथा निर्मूल कीजिये (या+अमीवा+नः+मयं+आविवेश) जो रोग हमारे गृह में प्रविष्ट हुआ उसे नष्ट कीजिये। (निर्ऋतिम्+पराचैः+आरे+बाधेथाम्) निर्ऋति अलक्ष्मी पाप देवता को पराङ्मुख करके दूर ही निवृत्त कीजिये। (अस्मे+भद्रा+सौश्रवसानि+सन्तु) जिससे हम से भद्र और यश होवे। मय+गृह। २। (निग्मायुधी) हे तीक्ष्णास्त्रधारी हे शोभन सुखप्रद देव हमें सुखी कीजिये। प्रसन्न हो के वरुणपाश से मुक्त कीजिये। हे भगवन्! सदा रक्षा कीजिये। ४।

ग्रावा वदन्नप रक्षांसि सेधतु दुःस्वप्नयं निर्ऋतिं विश्वमत्रिणम्। १०। ३६। ४
अपहत रक्षसो भंगुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधताऽमतिम्। १०। ७६। ४
मो षु णः परापरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। पदीष्ट तृष्णया सह। १। ३८। ६

(ग्रावा+वदन्) परम शिक्षक सर्वदा ग्रहणीय परमात्मा (रक्षांति+अप+सेधतु) अज्ञान रूप राक्षसों को दूर करके (दुःस्वप्नयम्०) दुःस्वप्न, निर्ऋति और अन्याय जगद्भक्षक दुष्ट जितने हैं, सब को नष्ट कीजिये। ४। हे भगवन्! (भंगुरावतः+रक्षसःअपहत) उपद्रवकारी दुष्टों को अपहत कीजिये। निर्ऋति को दूर कीजिये। अमति=कुबुद्धि=मूर्खता का घात कीजिये। ४। (परापरा) अति प्रबला (दुर्हणा) दुर्दमनीया (निर्ऋतिः) यह पाप देवता (नः+मो+सु+

वधीत्) हम को वध न करे। वह निर्ऋति (तृष्णया+सह+पदीष्ट) तृष्णा सहित नीचे गिर जाये। ६। पदीष्ट-पदगतौ।

इत्यादि अनेक निर्ऋति सम्बन्धी ऋचाएँ हैं, जिससे दूर रहने के लिए[1] भरद्वाज आदि ऋषियों ने प्रार्थना की। पुनः शुनःशेप (पापी) यदि इस पापिनी निर्ऋति से बचने के लिए प्रार्थना करता है तो इससे इसके लिए बाह्य बन्धन क्यों माना जाये?

कृत पाप

कृतपाप विमोचनार्थ भी अनेक ऋषि वेदमन्त्र द्वारा प्रार्थना करते हैं।

भरद्वाज प्रार्थना करते हैं—

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्।

६। ७४। ३।

अस्मत्कृत जो पाप हमारे शरीर में बद्ध हैं, उन्हें शिथिल कीजये एवं हम से मुक्त कीजिये।

अगस्त्य ऋषि प्रार्थना करते हैं—

युयोध्य स्मज्जुहुराणमेनः। १ १८९। १।

कुटिल पाप को हम से पृथक् कीजिये।

विश्वामित्र प्रार्थना करते हैं—

कृतं चिदेनः सं महे दशस्य। ३। ७। १०।

हे भगवन्! विस्तीर्ण महिमा द्वारा मेरे कृतपाप नाश कीजिये।

अज्राश्व प्रार्थना करते हैं—

कृतं चिदेनो नमसा विवासे। ६। ५१। ८।

नमस्कार द्वारा कृतपाप विनष्ट हो।

इत्यादि अनेक ऋषि कृतपाप विमोचनार्थ प्रार्थना करते हैं। पुनः यदि शुनःशेप भी कृतपाप विमोचनार्थ प्रार्थना करता है तो यही एक यूपबद्ध क्यों माना गया?

---

१. जिनमें निर्ऋति आदि पापों से बचने के लिए प्रार्थना का विधान है। जिनके अनुकूल अनेकानेक ऋषि प्रार्थना करके भरद्वाज वसिष्ठ गृत्समद मान्य आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।

३—पाश विमोचनार्थ प्रार्थना—

पाश से भी छुटने के लिए ऋषिगण बारम्बार प्रार्थना करते हैं—

भरद्वाज प्रार्थना करते हैं—

प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशान्। ६।७४।४।

हे सोम! हे रुद्र! आप हम को वरुण के पाश से छुड़ाइये।

विवाह काल में स्त्री से पति कहता है:—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाऽबध्नात्सविता सुशेवः

१०-८५-२४

वरुण के पास से तुम को मुक्त करता हूँ।

क्या यह स्त्री भी कहीं घातित होने के लिए बाँधी हुई है?

वसिष्ठ प्रार्थना करते हैं—

व्यस्मत् पाशं वरुणो मुमोचत्।

वरुणदेव हम से पाश मोचन करें।

वरुण पाश का वर्णन आगे भी देखिये।

४—आयुर्वृद्धि प्रार्थना

आयु वृद्धि की अनेक ऋषि प्रार्थना कर गये हैं।

१ नव्यमायुः प्र सू तिर। १।१०।११।

मधुच्छन्दा प्रार्थना करते हैं कि मुझे नव्य आयु दीजिये।

२ विश्वं चिदायुर्जीवसे। १।३७।१५।

कण्व प्रा० जीने के लिए सम्पूर्ण आयु दीजिये।

३ देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे। १।८९।२।

गोतम प्रा० हम को देवगण आयु देवें।

४ व्यशेम देवहितं यदायुः। १।८९।८ देवहित आयु हम पावें।

एवं इन्द्र-सूक्त और विशेष करके रुद्र-सूक्त में वध-निवृत्ति की वारम्बार प्रार्थना आती है यथा—

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन्मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि।

१।१०४।८।

कुत्सऋषि प्रार्थना करते हैं (मा-नः+वधीः+इन्द्र) हे इन्द्र हमको न तो

बध कीजिये (मा+परा दाः) न त्यागिये। (नः+प्रिया+भोजनानि+मा-प्रमोषीः) न प्रिय भोजन हरण कीजिये। हे मधवन्! शक्र! (मा+नः आण्डा) न हमारे गर्भस्थ बालकों को (निर्भेद्) खण्डित कीजिये (मा नः०) न हमारे पात्रों का भेदन कीजिये।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

१। ११४। ८।

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे। ८।

हे! रुद्र हमारे महान् को, न हमारे बालों को, न हमारे युवा को, न हमारे गर्भस्थ शिशु को, न हमारे पिता को न हमारी माता को और न हमारे प्रिय शरीरों का वध कीजिये ॥ ७ ॥ हे रुद्र! हमारे पुत्र, पौत्र, मनुष्यों, गौवों, अश्वों, वीरों को क्रुद्ध होकर मत वध कीजिये। हम आपकी सदा सेवा करते हैं। इस प्रकार बहुधा प्रार्थना आती है। अतः यह आलङ्कारिक (Figurative) प्रार्थना है।

वरुण-पाश

६—पुनः इस वक्ष्यमाण अर्थ पर मीमांसा कीजिये। प्रायः वरुण-देवसूक्त में पाशविमोचन और पापविमोचन की प्रार्थना आती हैं। वरुण नाम से जहाँ-जहाँ प्रार्थना आई है वहाँ-वहाँ प्रायः यह प्रार्थना की गई है:—मैं अपराधी पापाचारी हूँ। आप परम शुद्ध देव हैं। मेरे पाप का मोचन कीजिये। हे परम शुद्ध! हे वरुण देव! आपके पाश सर्वत्र विस्तीर्ण आकीर्ण हैं, उनसे पापियों को फंसाते हैं। आपके दूत सर्वत्र विचरते हैं। भीतर बाहर आप देखते हैं। आपसे कोई पाप छिप नहीं सकता है। हे वरुण! वे पाश मुझ पर न गिरें। मैं उनमें बद्ध न होऊं ऐसी कृपा आप कीजिये इत्यादि!

ऐसी प्रार्थना से सिद्ध होता है कि यह बाह्य रज्जुरूप पाश नहीं है। ऐसे स्थल में वरुण नाम परमात्मा का है इसका न्याय ही पाश है। जो अन्याय करेगा वह परमात्मा के न्याय में फँसेगा। जैसे चोर उपद्रवी पुरुष राजा के न्याय से बद्ध हो जाता है। अतः वेदों में प्रार्थना आती है कि मैं अपराधी न बनूँ जिससे कि ईश्वरीय न्याय मुझ पर आ गिरे। जब हम यह प्रार्थना करते हैं कि "हे भगवन्!" आप अपना पाश मुझसे दूर कीजिये पाश से मुक्त कीजिये। इत्यादि तब इसका यही भाव होता है कि मैं जो पाप कर चुका हूँ और इसके

लिए जो दण्ड भोग रहा हूँ, इस कष्ट को दूर कीजिये। इत्यादि आशय समझना।

(क) प्रथम लौकिक भाषा में भी वरुण को पाशी (पाश वाला) कहते हैं। ''प्रचेता वरुणः पाशी-यादसां पति रप्पतिः।'' अमर

(ख) वेद के पूर्वोक्त उदाहरणों में पाश शब्द बहुधा आया है और अथर्ववेदीय मन्त्र यहाँ कुछ लिखते हैं—

ये ते पाशा वरुण सप्त-सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।

छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।

अथर्ववेद ४।१६।६

हे वरुण! उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के पुनः प्रत्येक सात-सात प्रकार के अर्थात् २१ प्रकार के जो आपके पाश (फांसजाल) हैं। वे तीन प्रकार से (विषिताः) विशेष रूप से बद्ध (बँधे हुए) हैं (रुषन्तः) वे हिंसक हैं। हे वरुण देव! वे पाश अनृतवादी को छिन्न भिन्न करें और जो सत्यवादी है उसको त्याग दें अर्थात् उसे हानि न पहुँचावें।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।

आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोशइवाबन्धः परिकृत्यमानः।७।

हे वरुण! आप सैकड़ों पाशों से (एनम्) इस अनृत (असत्य) वादी को (अभि+धेहि) बाँध लीजिए (नृचक्षः) हे मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों के द्रष्टा देव! (अमृतवाङ्) असत्यवादी जन (ते+मा+मोचि) आपके निकट से कदापि मुक्त न हो। वह (जाल्मः) असमीक्ष्यकारी मूर्ख (उदरे श्रंशेयित्वा०) उदर रोग से पीड़ित हो, अबन्ध खड्ग कोश के समान सदा आपके पाश में विद्यमान होता रहे।

इस सूक्त से कुछ और ऋचाएँ उद्धृत करते हैं जिससे वरुण शब्द वाच्य पर परमात्मा की सर्वज्ञता प्रतीत हो।

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।

य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः।अ०४।१६।१

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा् तद्वेद वरुणस्तृतीयः।२।

इन मनुष्यों का महान् अधिष्ठाता वरुण सबों को, मानो, समीप से ही देख रहा हो। जो वरुण (तायन्) स्थिर (चरन्) और जंगम सबको जानता है। क्योंकि देवगण इसको जानते हैं। १॥

जो जन कहीं स्थिर है जो चल रहा है जो उठता है जो गृह में ही रहता है जो बाहर विचरण करता है जो दो आदमी बैठ के कहीं कुछ विचारते हैं। इस सबको तृतीय राजा वरुण जानता है। २॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः।३।

और यह भूमि राजा वरुण के वश में है। और यह महतो द्यौ दूरस्थ रहने पर भी इसके समीप हैं। अथवा (दूरे अन्ता-यह द्यावा पृथिवी का नाम है) यह द्यावा पृथिवी इसके वश में है। ये पूर्व पश्चिम समुद्र वरुण के कुक्षि अर्थात् उदर हैं ऐसा महान् भी वरुण अल्प से अल्प देश में विलीन है।

उत यो द्यामति सर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्त्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्।४।
सर्व तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जननामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि।५।

और जो असत्यवादी (द्याम+अति+सर्पात्) द्युलोक को भाग जाये (परस्तात्) हमारे आगे से कहीं भी चला जाये वह राजा वरुण के निकट से (न+मुच्यातै) मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि (दिवः) देदीप्यमान वरुण के (स्पशः+प्रचरन्ति) चार अर्थात् दूतगण सर्वत्र विचरण कर रहे हैं। (सहस्त्राक्षाः०) सहस्त्र नयन हो के (इदम्) इस पार्थिव स्थान को आते हैं और इस भूमि को सब ओर से देखते हैं। ४।

(यदन्तरा+रोदसी०) इस द्यावा पृथिवी के मध्य में अथवा इससे भी परे जो कुछ है उस सबको वरुण राजा देखता है। और वह वरुण मनुष्यों के निमेषोन्मेषों की संख्या करनेवाला है और (श्वध्नी+इव) जैसे कितब=जुवारी (अक्षान्) पाशों को (निमिनोति) पटकता है तद्वत् (तानि) उन पाप कर्म्मों को वरुण दूर फैंकता है। ५।

इस प्रकार वेदों में वरुण पाशों की बहुत चर्चा आती है। इसी पाश से छुटने के लिए शुनःशेप प्रार्थना करता है।

तीन द्रुपद=तीन यूप

मैंने पूर्व लेख में शुनःशेप की प्रार्थना के समान अनेक प्रार्थनाएँ दिखलाईं हैं जिनसे विस्पष्ट सिद्ध है कि पापपाश विमोचन के लिए शुनःशेप प्रार्थना करता है। जैसे अन्यान्य ऋषि भी करते हैं। यह कहीं बाह्य यूप (खूंटी) में बद्ध हो प्रार्थना नहीं कर रहा है। परन्तु तीन यूपों में यह बद्ध है ऐसा वर्णन

आता है, जिससे लोगों को यह सन्देह होगा कि ये तीन बाहर के ही यूप हैं जिनमें वह बद्ध है। प्रथम तो इसका समाधान यह है कि यदि संख्या से ही सन्देह होता है तो दूसरे स्थल में सहस्त्र यूप से इसको वरुण मुक्त करता है ऐसा भी वर्णन है। तो क्या यह सहस्त्र यूप में बद्ध था। दूसरी बात यह है कि यहाँ तीन शब्द से बाहरी तीन यूप नहीं किन्तु उत्तम, मध्यम, अधम, जो तीन प्रकार के प्राण (इन्द्रिय) व्यापार हैं, ये ही तीन यूपों के समान हैं। इनमें ही यह जीव बँधा हुआ है। पूर्व उदाहरणों में यह भी आया है कि यह अज्ञान रज्जु के समान है, अन्धकार के तुल्य है, वृक के सामान है। इससे जीव वृद्ध हैं। ऋषिगण इनसे बचने के लिए प्रार्थना करते थे। मैं यहाँ केवल तीन शब्दों के कई उदाहरण देता हूँ कि यह सन्देह भी मिट जाये।

प्रथम एक ऋषि का नाम ही त्रित है। मैं प्रथम लिख चुका हूँ कि ऋषि वाचक जितने शब्द हैं वे प्राय: प्राण वाचक हैं। और यह भी आप को मालूम है कि वेद में आरोप करके वर्णन आता है। इन बातों पर सदा ध्यान रखना चाहिये। त्रित की आख्यायिका आगे भी रहेगी। प्राणाधिष्ठातृ देव का नाम यहाँ आप्त्य त्रित् समझिये। क्योंकि उत्तम मध्यम अधम तीनों प्रकार के प्राणों को जो विस्तृत करे वह (त्रीन्+प्राणान् तनोतींति त्रित:) अथवा जो प्राणदेव तीनों पापों से अभितप्त है वह त्रित (त्रिभिस्तायते) अथवा तीर्णतम जो दु:खों से उतीर्ण हो गया है। इत्यादि अनेक अर्थ इसके होंगे। वह त्रित प्रार्थना करता है (त्रित: कूपेऽवहित: देवान् वहत ऊतये) प्राणाधिदेव दु:ख रूप कूप में पड़ा हुआ है। रक्षार्थ देवों को बुलाता है। १ पुन: एक ऋषि का नाम त्रिशोक है जिसको तीन शोक हों। जिसको तीन प्रकार के प्राण शोकान्वित करें अर्थात् वशी कृतेन्द्रिय इत्यादि अर्थ होगा। याभिस्त्रिशोकउस्त्रिया उदाजत'' १-१ १२-१२ पुन: दीर्घतमा प्रार्थना करते हैं कि ''शिरो यदस्य त्रैतनोवितक्षत'' यह त्रैतन इसके शिर को खण्ड-खण्ड कर रहा है। त्रैतन=त्रिविध इन्द्रियजन्य दु:ख। अथवा त्रिविध तापजन्य क्लेश इस प्रकार अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जहाँ त्रिशब्द से आध्यात्मिक दु:ख का वर्णन है। और दु:ख को रस्सी आदि से उपमा दी है यह भी वर्णन हो चुका है। अत: त्रियूप शब्दार्थ केवल त्रिविध प्राण है। इनमें सब जीव बद्ध हैं।

त्रिशिरा

मैं इस लेख को विस्तार करना अब नहीं चाहता। आगे-आगे भी ईदृग् वर्णन आता रहेगा। परन्तु त्रिशिरा की अति संक्षेप आख्यायिका देकर इसको समाप्त करता हूँ।

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन्धीतिं पितुरेवैः परस्य।
सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति॥

ऋग्० १०।८।७

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्यचिन्निः ससृजे त्रितो गा॥

ऋग्० १०।८।८

भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्।
त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क॥

ऋग्० १०।८।९

आख्यायिका—एक समय ऋषि त्रित से इन्द्र ने कहा है कि आप सब आयुध जानते हैं। अतः त्रिशिरा नामक राक्षस के वधार्थ मेरे सहायक होवें। त्रित ने कहा कि मुझे प्रथम यज्ञ में भाग दीजिये जिससे मेरा बल बढ़े। तब मैं आपकी सहायता करूँगा। इनको इन्द्र ने यज्ञ में भाग दिया। इससे बलिष्ठ हो इन्द्र के युद्ध में परम सहायक हुए। तब इन्द्र ने इनकी सहायता से त्रिशिरा का हनन किया। प्रथम ऋचाओं का अर्थ लिख पुनः इसका आशय लिखूँगा (त्रितः) वह त्रित (एवैः) अपनी रक्षाओं से युक्त हो (अन्तः+धीतिम्) आन्तरीय यज्ञ में विज्ञान रूप भाग (इच्छन्) चाहता हुआ (परस्य+पितुः अस्य) उत्कृष्ट और जगत्पालक इस इन्द्र के शत्रु (क्रतुना+वव्रे) त्रिशरा के वध के लिए सहाय रूप कर्म से मित्रता प्राप्त करता है (पित्रोः+उपस्थे) माता पिता जो पृथिवी और द्युलोक इसके बीच में स्थित और (सचस्यमानः) ऋत्विजों से प्रशस्यमान वह त्रित (जामि+ब्रुवाणः) इन्द्र योग्य स्तोत्र करता हुआ (आयुधानि+वेति) आयुधों को ले मेरे वध के लिए आ रहा है। यहाँ त्रिशिरा स्वयं मन में कहता है।७॥ (आप्त्यः) जलपुत्र (सः) बहत्रित ऋषि (पित्र्याणि+आयुधानि+विद्वान्) पैत्रिक सर्वास्त्रवित् है (इन्द्रेषितः+अभ्युध्यत्) इन्द्र से प्रेरित हो मुझसे युद्ध करता है (त्रिशीर्षाणम्+सप्तरशिमम्+जघन्वान्) सप्तरश्मियुक्त त्रिशिरा का हनन करता है (त्रित+त्वाष्ट्रस्य+चित्+गाः+ निःससृजे) वह त्रित त्वष्टुपुत्र मेरी गौवों को भी हरण कर लेता है।८॥ (सत्पतिः+इन्द्र) सत्पालक वह इन्द्र (भूरि+इत् ओजः+उद् +उदिपक्षम्) बहु ओजस्वी (मन्यमानम्) शूरम्मन्यमान मुझको (अवे अभिनत्) छिन्न भिन्न कर देता है (त्वाष्ट्रस्य+चित्) त्वष्ट्रपुत्र (गोनाम्) गौवों का स्वामी (विश्वरूपस्य) विश्वरूप मेरे (त्रीणि+शीर्षा) तीनों शिरों को (आचक्राणः) आक्रमण करके (परावर्क) काट लेता

है।

आशय=आप्त्यत्रित=प्राणों का जीवन मुख्य करके जल ही है। अथवा जल से ही सर्व प्राणों की उत्पत्ति होती है। अतः प्राणों का नाम ही आप्त्यत्रित है। इन्द्र नाम जीवात्मा का है। त्रिशिरा=त्रिविध परिताप अथवा दुष्टेन्द्रिय-जन्य त्रिविध दुःख आदिकों को त्रिशिरा कहते हैं। सप्तरश्मि=ये दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक मुख ये सात इसके रश्मि=किरण=आयुध हैं। इनके ही जो तीन वृत्तियाँ हैं वे ही, मानो, इसके शिर हैं अतः यह त्रिशिरा है। त्वष्टाःलिङ्ग शरीर। इसी लिङ्ग शरीर का यह अज्ञान त्रिशिरा भी पुत्र है। जब इस अज्ञानता की वृद्धि होती है तब इन्द्र जो जीवात्मा है वह अति क्लेशित हो जाता है। वह प्राणों अर्थात् नेत्रादिक इन्द्रियों को समझा है कि अब आप सब मेरा सहायक बनें ताकि मैं इस अज्ञान रूप त्रिशिरा का हनन कर सकूँ। वह प्राणाधिदेव त्रित कहता है कि जिससे अन्तःकरण में बुद्धि उत्पन्न हो वैसे यज्ञ कीजिये। इन्द्र इसके लिए यज्ञ करता है। अर्थात् जब आन्तरिक ज्ञान उत्पन्न होता है तब प्राण सब अनुचित कर्म्मों से निवृत्त होने लगते हैं और इनमें बल आता जाता है ज्यों-ज्यों प्राण वशीभूत होते जाते हैं त्यों-त्यों त्रिशिरा पाप का शिर कटता जाता है। यही त्रिशरा का बध होना है। और यह अज्ञान रूप राक्षस जिन इन्द्रिय रूप गौवों से कार्य लेता था वे अब इन्द्र के अधीन हो इसका पक्ष लेने लगती हैं। यही त्रिशिरा की गौवों का हरण है। यहाँ पर आप त्रिशीर्षा सप्तरश्मि आदि शब्द देखते हैं। यहाँ अज्ञान ही त्रिशरा है। इसी प्रकार शुनःशेप की आख्यायिका में भी त्रियूप शब्द से इन्द्रियजन्य त्रिप्रकार अज्ञान का ही ग्रहण है इसी में सब जीव बद्ध है।

अब हमने अनेक उदाहरण लिख दिए। वेदानुरागी पुरुष इस पर पूर्ण विचार करें। देखें कि क्या इससे कदापि नरबलि सिद्ध हो सकता है।

सर्व निष्कर्ष

ऋग्वेद के शुनःशेप सम्बन्धी सूक्तों के वर्णन से नरबलि विधान सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वेदों के वर्णन की रीति और प्रणाली देखने से प्रतीत होता है कि ऐसा वर्णन केवल आलङ्कारिक है। ऐसे-ऐसे वर्णन वेदों में बहुत हैं। प्रत्येक ऋषि प्रायः कहते हैं कि मैं बद्ध हूँ। पुनः वेद में अज्ञान वा पाप को रज्जु, तमिस्रा, पाश, यूप, वृक, ऋक्ष, राक्षस, पिशाच, बन्धन, जाल आदि अनेक नामों से पुकारा है इनसे बचने के लिए बारम्बार शतशः प्रार्थनाएँ वेद में आती है। इससे बाह्य बन्धन का तात्पर्य नहीं है। जिस वरुण-पाश से मुक्ति के लिए शुनःशेप प्रार्थना करता है, उससे बचने के लिए प्रायः सब ही ऋषि

प्रार्थना करते हैं। अतः यह वर्णन अलङ्कारिकमात्र है। सम्पूर्ण का भाव यह है कि प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य में भी ईश्वर का न्याय प्रत्यक्षवत् अपने सामने देखते हुए ऐहलौकिक पारलौकिक व्यापार में प्रवृत्त रहें। यथा मन्वादिक कहते हैं—

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।

तथा पापान्नि गृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्। मनु० ९। ३०८।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थंच चिन्तयेत्।

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्म माचरेत्। नीतिशास्त्र।

अब प्राचीन और आधुनिक आचार्यों की भी इस पर कुछ सम्मतियाँ लिख ब्राह्मण की समीक्षा करूँगा।

यास्काचार्य की सम्मति—

स्त्रीणां दान-विक्रयाऽतिसर्गो विद्यन्ते न पुं सः।

पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्। नि० ३।४

यास्काचार्य स्त्री के अधिकार वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्त्रियों के दान, विक्रय और त्याग कहे गये हैं। परन्तु पुरुष के नहीं। कोई कहते हैं कि पुरुष के वे होते हैं। शुनःशेप के आख्यान में प्रसिद्ध है। यास्काचार्य ने शुनःशेप के विषय में इतना ही लिखा है।

इससे, प्रथम, यह ज्ञात होता है कि यास्क के पहले से ही यहाँ के लोग हिरण्य पश्वादिवत् स्त्री का भी दान विक्रयादि करते थे और त्याग भी देते थे। परन्तु यह वेद की वार्ता नहीं। वेद ऐसे अन्याय कदापि नहीं करते। पुनः यास्क अन्य आचार्यों के मत से शुनःशेप के इतिहास को यास्क भी सत्य मानते थे। बड़े ही आश्चर्य की बात है। क्या वेद में शुनः शेप का विक्रय उक्त है? यदि नहीं तो वैदिक अर्थ प्रतिपादन करते हुए यास्क इस अनर्थ का प्रतिपादन क्यों करते? यदि कहो इनका यह मत नहीं तो फिर इसका निराकरण करना था। और आचार्यों की ईदृग् वर्णन-शैली होती है इससे यास्क का यह सिद्धान्त नहीं ऐसा निश्चितरूप से नहीं कह सकते। यास्क ने ऐतरेय ब्राह्मण से ही यह मत उद्धृत किया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वेद का भाव कुछ अन्य ब्राह्मण का कुछ अन्य ही है इन दोनों को यहाँ सम्मिलित करना यास्क के लिए उचित नहीं था। ब्राह्मण में भी वास्तविक विक्रय नहीं है अतः यास्काचार्य का यह कथन सर्वथा चिन्त्य है।

मनुस्मृति की सम्मति—

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुषासर्षद् बुभुक्षितः ।
न चा लिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् । मनु० १० । १०५ ॥

इससे सिद्ध है कि मनुस्मृतिकार भी शुनःशेप का इतिहास सत्य मानते थे। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत आदिक कई एक ग्रन्थों में क्षेपक तो विस्पष्ट प्रतीत होते हैं परन्तु मनुस्मृत्यादिकों में कौन आचार्य-प्रतिपादित और कौन क्षेपक है इसका निर्णय करना कठिन है। अतः मेरी सम्मति में ये सब अवैदिक होने से त्याज्य ही हैं। जीवितात्युयमापन्नः १० ।१०४ इत्यादि श्लोक वेदान्त भाष्य में शङ्कराचार्य ने भी उद्धृत किये हैं अतः शङ्कर के पहले से ही ये सब श्लोक मनुस्मृति में थे ऐसा कहना पड़ेगा। इस कारण हम आर्यों को उचित है कि सर्वांशतया केवल वेदों पर ही विश्वास रखें, अन्यान्य ग्रन्थ बहुधांश हेय हैं। अभी आपने देखा है कि वेद में अजीगर्त, हरिश्चन्द्र, आदिकों के नाम तक नहीं। एवं अजीगर्त का पुत्रहत्यार्थ उपस्थित होने की भी कोई बात नहीं परन्तु मनुस्मृतिकारक कहते हैं कि अजीगर्त बुभुक्षित हो पुत्र को मारने के लिए प्रस्तुत था। इससे सिद्ध है कि मनुस्मृति आदि ग्रन्थ भी अवैदिक होने से सर्वथा त्याज्य हैं। ऐतेरेय ब्राह्मण की आख्यायिका को ही लक्ष्य कर ये सब ऐसा लिखते हैं वेद को लक्ष्य करके नहीं। परन्तु ऐतरेय का भी यह तात्पर्य नहीं था। अतः मुझे कहना पड़ता है कि मनुस्मृति आदि के समय में ब्राह्मण का भी तात्पर्य लोग नहीं समझते थे।

(१) श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त की सम्मति—

१-२४ सूक्तके अनुवाद की टिप्पणी में श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं यथाः—

"किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण, रामायण, भागवत, मनुसंहिता और विष्णुपुराण ये समस्त ऋग्वेद के बहुत पश्चात् रचित हुए हैं। ऋग्वेद की रचना के पश्चात् शुनःशेप का गल्प बहुत बढ़ गया। यही वर्धित गल्प इन ग्रन्थों में पाया जाता है। ऋग्वेद में शुनःशेप का ठीक कितना गल्प पाया जाता है ? ऋग्वेद में शुनःशेप को बलि देवेंगे इस प्रकार की कथा क्या विस्पष्ट रूप से लिखा है ? ऋग्वेद रचना के समय क्या नरबलि प्रथा प्रचलित थी ?

इस कथा को लेकर पण्ड़ितों के मध्य अनेक तर्क वितर्क हुए हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी स्थान में नरबलि का स्पष्ट उल्लेख नहीं। शुनःशेप का इस २४ चतुर्विंश से ७ सात सूक्तों में इसके बलि देने की कोई स्पष्ट कथा नहीं। अतएव

Rosen रोसेन विवेचना करते हैं कि ऋग्वेद-रचना-समय नरबलि प्रथा नहीं थी।

पण्डिताग्रगण्य राजेन्द्रलाल मित्र विवेचना करते हैं कि नर बलि प्रथा प्रचलित थी (see his Indo Aryans, Article "Human Sacrifice")

ऋग्वेद समय नरबलि प्रथा थी यह हम लोगों को बोध नहीं होता। क्योंकि जिस ग्रन्थ में सोम अभिषव की और घृत अभिषव की कथा सहस्त्रवार आई है नरबलि प्रथा उस समय में प्रचलित होती तो और भी इसका विशेष उल्लेख क्यों नहीं है।

यद्यपि मै श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त जी की सर्व सम्मति सें सहमत नहीं हूँ। वेद की रचना मैं नहीं मानता एवं ऐतरेय ब्राह्मण का नरबलि से कदापि तात्पर्य नहीं है। आगे ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में इसकी पूरी समीक्षा देखिये। तथापि "ऋग्वेद में नरबलि प्रथा नहीं है" इनका इतना अंश मेरा पोषक है एवं Rosen भी इस अंश में मेरे अनुकूल हैं।

श्रीयुत मैक्समूलर जी भी वैदिक समय की नरबलि-प्रथा में सर्वथा संदिग्ध हैं। परन्तु संस्कृत लिटरेचर आदि ग्रन्थों में ऐतरेय ब्राह्मण की गाथा लेकर भर पेट आर्य सभ्यता के ऊपर आक्षेप कर प्राचीन आर्यों को जंगली सिद्ध किया है।

मौरिस फिलिप्स (Maurice Phillips) वेदों को बड़ी क्रूर दृष्टि से देखते हैं परन्तु यह भी "The Teching of the Vedas" वेद की शिक्षा नाम के ग्रन्थ के २०० पृष्ठ में नरमेध वर्णन करते हुए कहते हैं कि वेद में यद्यपि नरमेध का विस्पष्ट उल्लेख नहीं और शुनःशेप का यह वर्णन figurative हम मान लेते हैं परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण ऐसा मानने नहीं देता इत्यादि। इस कथन से प्रतीत होता है कि मौरिस समान कट्टर वेदद्वेषी भी वैदिक नरमेध में संदिग्ध ही हैं।

मैकडोनल्ड साहब ने वेदों के खण्डन में Vedic Religion नामक ग्रन्थ लिखा है। परन्तु पृ० ४३ में कहते हैं Human Sacrifice के प्रमाण वेद में विस्पष्ट नहीं पाये जाते परन्तु क्या ऋग् ७-१९-४ से यह प्रतीत नहीं होता कि आर्यगण अपने देव के सामने शत्रुओं को मारकर बलि दिया करते थे। पुनः पुरुष सूक्त को वर्णन करते हुए कहते हैं यद्यपि इस सूक्त में पुरुष कोई Divine है तथापि नरमेध का Allusion इसमें हैं। इसी प्रकार म्यूर (Muir) अपने ओरियण्टल संस्कृत टेकस्ट प्रथम भाग पृ० ३५५, ४०७, ४१३ में विल्सन ऋग्वेद के प्रथम भाग पृ० ६० में नरमेध का वर्णन करते हुए वेदों में प्रमाण न

पाके अतएव उदासीन हो ऐतरेय ब्राह्मण की शरण ले खूब प्राचीन आर्यों को अवाच्य सुनाते हैं। डाक्टर म्यूर बड़े परिश्रम के साथ १०-८१-५ और १०-१३-३ ऋचा की साक्षी देते हुए नरमेध का बीज वेदों से निकालते हैं। परन्तु निखिल यूरोपियन विद्वान् ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण पर ही विशेष विश्वासी हो नरमेध सिद्ध करते हैं। और यास्क, मनु, रामायण, महाभारत भागवत आदि सभी ऐतरेय का ही अनुसरण करते हैं। अत: इस विषय में ऐतरेय अवश्य समीक्ष्य है। क्योंकि यह ऋग्वेद का ब्राह्मण है। ब्राह्मण वेदानुकूल हुआ करता है। अत: यथाशक्ति इसकी समीक्षा करता हूँ।

शुन:शेप-कथोत्पत्ति।

ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्चिका में शुन:शेप का आख्यान आया है जिसका आशय यह है:-इक्ष्वाकु के वंश में हरिश्चन्द्र नाम का एक प्रसिद्ध राजा था। यद्यपि वह एक सौ १०० स्त्रियों का पति था तथापि नयनानन्द कर-पुत्र के मुख का पान अभी तक नहीं कर सका था। पर्वत और नारद जी इसके गृह में निवास किया करते थे। उसने नारद से पूछा कि हे नारद! अज्ञानी और ज्ञानी सब ही पुत्र की कामना में लिप्त हैं। पुत्र से क्या लाभ है? कृपया बतलावें। नारदजी बोले राजन्! जीवित पुत्र का मुख पान करके पितृऋण से छूट अमृत का भागी होता है। पृथिवी, अग्नि और जल में जितने भोग हैं, इनसे कहीं अधिक भोग पिता को पुत्र से प्राप्त होते हैं। राजन्! साक्षात् अपनी छाया ही पुत्र है इसी से इसमें अधिक स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पत्नी में गर्भरूप से स्वयं उत्पन्न होता है इसी कारण स्त्री को जाया कहते हैं इत्यादि पुत्र के अनेक गुण कथन करके अन्त में उपदेश देते हैं कि राजन्! वरुण देवता के निकट जा और उनकी आराधना कर माँग, कि हे वरुण! मुझे सुपुत्र दीजिये और उसी से आपका यजन करूँगा।

हरिश्चन्द्र नारद की शिक्षा मान वरुण की आराधना करने लगा। प्रार्थना करके कहा कि हे वरुण! मुझे पुत्र दीजिये मैं उसी से आपका यजन करूँगा वरुण ने भी प्रसन्न हो उसे अभीष्ट वरदान दिया।

हरिश्चन्द्र को एक पुत्र हुआ। उसका नाम रोहित रखा गया। पुत्र उत्पन्न होते ही वरुण आए और बोले राजन्! तेरा घर पवित्र हुआ। अब इस पुत्र से मेरा यज्ञ कर। हरिश्चन्द्र बोले हे देव! इसको जन्मे हुए अभी दश दिन नहीं हुए हैं इसलिये यह पशु अभी अमेध्य=यज्ञ के अयोग्य है। दश दिन होने दीजिये तब यह मेध्य होगा और इससे आपका यजन करूँगा। दश दिन बीते। पुन: वरुण आए और यज्ञ करने के लिए कहा। इस बार यह कह कर हरिश्चन्द्र

ने टाल दिया कि हे वरुण! जब पशु के दाँत होते हैं तब वह मेध्य होता है। दन्त हो जाएँ तब इससे आप की पूजा करूँगा। रोहित के दांत निकलते ही वरुण आ बोले राजन्! दांत निकल आए! अब इसको मेरी भेंट कर। तू टालमटोल क्यों कर रहा है। हरिश्चन्द्र ने कहा—हे देव! पशु के जब दांत गिरते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है। जब दांत गिर जाएँ तब इसको आप ले लेवें। दांत भी गिरे। वरुण फिर गिड़गिड़ाते हुए आ बोले राजन्! दांत भी गिर चुके हैं, अब तू क्या कहता है क्या मुझे ठगता ही रहेगा। हरिश्चन्द्र बोले—हे वरुणदेव! आप जानते हैं कि पशु के जब फिर दुबारा दाँत जन्मते हैं तब वह मेध्य होता है। कृपया धैर्य धरें। दांत दुबारा आ जाएँ। मैं प्रसन्नता से यह आप को चढ़ाऊँगा। यह सुन झुंझलाते हुए फिर बेचारे वरुण जी लौट गये। दुबारा दाँत निकलते ही पुनरपि थाती लेने को वरुण जी आ डाँट के बोले राजन्! तू ठठ्ठा कर रहा है। अब की बार तेरी क्या हुज्जत है कह। हरिश्चन्द्र जी ने निवेदन किया—देव! क्षमा कीजिये। सुनिये यह क्षत्रिय कुमार है जब धनुष, बाण, कवच आदि धारण करने के योग्य होगा तब यह पशु आपकी भेंट के लायक होगा। थोड़े ही दिवस का बिलम्ब है क्षमा कीजिये। एवमस्तु, मैं जाता हूँ। देख फिर मुझे मत सताना इतना कह वहाँ से सिधारे। अब ज्यों ही वह रोहित धनुष, बाण और नाना वस्त्रालङ्कारादि से सुशोभित हो अपनी बाल-क्रीड़ा से माता-पिता के उमंग बढ़ाने लगा, ज्योंही शोभा की दीप-शिखा राजभवन में बढ़ने लगी, ज्योंही नयन की पुतली के समान राजा, रानी, मन्त्री, दास, दासी और प्रजाओं की आँखों में उस रोहित का घर बना, त्यों ही, निर्दयी, नर-शोणित-पिपासु, वज्र-हृदय, निर्लज्ज वरुणदेव आके भौंह चढ़ा आँख लाल कर गरज कर मेघ के समान बोला अरे दुष्ट! अब तेरा क्या बहाना है बोल! अरे क्षत्रियापसद! अधम! राजन्! अब तू क्या कहता है। तेरा आत्मज सब योग्य हो गया। मेरा यज्ञ कब करेगा। अपने पूज्य देव की क्रूर-मूर्ति देख भय खा राजा बोला। एवमस्तु! अब आप का यजन इस सन्तति से करूँगा। इस प्रकार वरुण को समझा बुझा कर वह शरीर का प्राण, नयन का तारा, भवन की ज्योति, प्रजाओं का आशाकुसुम रोहित को बुलाकर समझाने लगा कि प्यारे! पुत्र! देख! वृद्धावस्था में तुझ को तेरे माता पिता को वरुण ने दिया। उनकी यह कृपा हुई। नारद के कहने से मैंने वरुण के समीप ऐसी अनुचित प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे गृह में पुत्र होगा तो उसी से हे वरुण आपका यजन करूँगा। सो मैं बहुत दिनों तक वरुण को टालता रहा और बहाने बताता रहा। परन्तु अब वह नहीं मानते। तुझसे वरुण की पूजा करना चाहता हूँ तेरी क्या सम्मति है।

यह सुन वह रोहित चुपके से धनुषबाण ले अरण्य को भाग गया। एक वर्ष वन में ही इधर उधर फिरता रहा। इधर वरुणदेव कोप कर राजा हरिश्चन्द्र के पेट में बैठ गये और उदर जल से भर गया। जलोदर से वह मरने लगा। वन में रोहित अपने पिता की दशा सुन वरुण के चण्डाल व्यवहार पर शोक करता हुआ राजधानी की ओर पैर धरने लगा। त्योंही पुरुषरूप धर इन्द्रदेव रोहित के निकट आ बोले हे प्रिय पुत्र! जो पर्यटन करता है उसको सारी सम्पत्ति मिलती है। काहिल आलसी जन हाथ पैर नहीं हिलाता और वह अपने घर में ही रह कर या अपने सम्बन्धी के भार होकर या टुकड़ा-टुकड़ा पुकार कर मर जाता है। इसलिये अभी तू राजधानी की ओर पैर मत बढ़ा, तेरे साथ इन्द्र है। तू यहाँ ही विचरण कर। वह रोहित सोचने लगा कि ब्राह्मण कहता है कि तू यहाँ ही रह। घर मत जा। सो द्वितीय वर्ष भी वन में ही विचरता रह गया। फिर बाप माँ की सुध आई राजधानी की ओर बढ़ने लगा। फिर वही इन्द्र ब्राह्मण रूप धर उसके निकट आ बोले—प्यारे बच्चा देख! जो चलता रहता है उसकी जांघे पुष्पवाली होती है मध्य भाग, वर्धिष्णु और फलग्राही होता है और सब पाप श्रम से हत होकर सो जाते हैं इस हेतु तू अभी यहाँ ही विचरण कर। रोहित ब्राह्मण के वचन सुन पुनरपि तृतीय वर्ष अरण्य में बिता कर राजधानी को चला। आगे उसी ब्राह्मण को देखता है। हे पुत्र! बैठे की सम्पत्ति बैठ जाती है। चलते की चलती है। सोते की सो जाती। अतः तू चलता ही रह। घर मत जा। विप्र-वचन सुन चतुर्थ सम्वत्सर भी जङ्गल में काट ज्योंही उसके सामने वही विप्र आ खड़े हुए और बोले। देख! पुत्र नींद कलि है। नींद का त्याग द्वापर है। उठ बैठना त्रेता है और चलना कृत अर्थात् सतयुग है। बेटा! इसलिये चला कर घर की सुध नहीं कर। फिर उस द्विज का वाक्य मान पञ्चम वर्ष भी निर्जन वन से माता पिता के मोह से गद्‌गद होकर घर का बाट ज्योंही जोहता है त्योंही वह भूसुर आ कहने लगे। तात! देख। चरता हुआ जन मधु पाता है। चरता हुआ स्वादु गूलर खाता है। देखो! सूर्य का श्रम। कभी थकता नहीं। बेटा! चर अभी। घर जाने का दिन अभी नहीं आया है। फिर उस भूदेव की शिक्षा मान षष्ठाब्द भी वहाँ ही काटने लगा।

इस प्रकार इसका षष्ठ सम्वत्सर बीत ही रहा था कि वह देखता है कि एक पुरुष अरण्य में क्षुधा से मर रहा है। इसका अजीगर्त नाम है और यह सूयवस का पुत्र है। और इसके शुनः पुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल नाम के तीन पुत्र साथ हैं॥ रोहित ने उस ऋषि से कहा, हे ऋषि! आपको मैं सौ १०० गाय देता हूँ आप अपना एक पुत्र वरुण के बलिदान के लिए मुझे दीजिये।

शुनःपुच्छ का हाथ गह के अजीगर्त ने कहा कि ज्येष्ठ सन्तति पिता का भाग और शुनोलांगूल की पीठ पर हाथ धर माता ने कहा यह माता की लाज। बेचारा रहा मझलौठा मध्यम शुनः शेप। इसको खरीद साथ ले रोहित अरण्य से घर आया और पिता से कहा कि इसकी कुर्बानी कर मुझे वरुण देवता से छुड़वावें। वरुण भी क्षत्रिय से ब्राह्मण को बढ़िया माल जान यज्ञ की आज्ञा दे बलि लेने की ताक में प्रसन्न होने लगे। हरिश्चन्द्र के इस यज्ञ में होता विश्वामित्र, अध्वर्यु जमदग्नि, ब्रह्मा वसिष्ठ और उदगाता अयास्य नाम के प्रसिद्ध ऋषि थे। शुनःशेप को स्नान और माला आदि से भूषित करवा यज्ञस्थल में लाया गया। वहाँ सब ही परस्पर मुँह निहार-निहार अचम्भित हो थरथराने लगे कि इसको यूप में कौन बाँधेगा। राजा को अपने राज्य में नियोक्ता (यज्ञ की खूँटी में पशु बाँधने वाला) न मिला। अजीगर्त वहाँ ही आया था। वहाँ सभा में से बोल उठा कि यदि मुझे १०० गाय और मिलें तो इसको मैं ही बाँधूगा। राजा ने १०० गायें दी और अजीगर्त ने अपने आत्मज को यूप में बाँधा। फिर प्रश्न उठा कि इसका विशसिता अर्थात् काटने वाला कौन होगा। राजा फिर अस्तव्यस्त होने लगा। परन्तु पूर्ववत् ही अजीगर्त १०० गाय ले के विशसिता होने को तैयार हुआ। शुनःशेप यह सब लीला देख मन में यह विचार करने लगा हाय! मुझको ये सब पशुवत् मार के प्राण लेवेंगे। मैं देवता की आराधना करूँ। वह प्रथम प्रजापति का 'कस्यनूनम्' इस ऋचा से आराधना करने लगा। वह प्रजापति आ उससे बोले कि बच्चा! तू अग्नि की स्तुति कर वही देवताओं का समीपवर्ती है (२) वह 'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम्' इस ऋचा से अग्नि की स्तुति करने लगा। अग्नि देव ने प्रसन्न होके कहा कि सविता देव का स्तोत्र पाठ कर। (३) वह ''अभि त्वा देव सवितः'' इत्यादि तीन ऋचाओं से सविता की स्तुति करने लगा। वह सविता भी प्रसन्न हो वरुण की आराधना का उपदेश दे चले गये। तब उसने ''नहि ते क्षत्रम्'' इत्यादि ३१ एकत्तीस ऋचाओं से वरुण की स्तुति की। वरुण भी इसकी मधुरवाणी से आह्लादित हो अग्नि की ही स्तुति करो ऐसा कह चले गये। अग्नि को भी इसने ''वसिष्वा हि मियेध्य'' इत्यादि २२ ऋचाओं की स्तुति पाठ से वश किया। और उनके उपदेश से ''नमोमहद्भ्योनमो अर्भकेभ्यः'' इस ऋचा से विश्वदेव का आह्वान करने लगा। विश्वदेव इसकी दशा पर दया कर बोले कि पुत्र! तू इन्द्र का आह्वान कर वह तुझे छोड़ देवेंगे। इसने आर्त्त और गद्गद कण्ठ हो ''यच्चिद्धि सत्यसोमपा'' इत्यादि २२ ऋचा से स्तुति कर इन्द्र को प्रसन्न किया। इन्द्र प्रसन्न हो मन से इसको एक सोने का रथ दिया। शुनःशेप भी मन से ही ''शश्वदिन्द्र''

इस ऋचा को पढ़ इन्द्र की भेंट ग्रहण की तब इन्द्र के कहने से "आश्विनावश्वावत्येषा" इत्यादि तीन ऋचा से अश्विद्वय की स्तुति की। अश्विद्वय से उपदिष्ट हो "कस्तउषः कधप्रिये" इत्यादि तीन ऋचाओं से उषादेवी की आराधना करने लगा। इन तीन ऋचाओं के पाठ से शुनःशेप के तीनों पाश टूट गिरे।

इस प्रकार सब देव प्रसन्न हुए। राजा भी नीरोग हो गया। शुनःशेप के सब फांस अपने ही आप टूट गिरे। शुनःशेप जीता जागता संसार देखने लगा। यज्ञ समाप्त हुआ।

अब यह शुनःशेप पाशों से देवता के अनुग्रह द्वारा मुक्त हो गया। यह देख सब ऋत्विक् उसे समीप बुला कहने लगे कि प्रिय देवरात शुनःशेप! इस दिन के अभिषेचनीयाख्य यज्ञ की समाप्ति आप ही कीजिये। जब सबने ऐसा कहा तब इसको अञ्जः सब नाम का सोमयाग भासित हुआ। तत्पश्चात् इसने—

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह।१।२८।५।

इत्यादि चार ऋचाओं से सोम को अभिषुत किया, तब इस अभिषुत सोम को:—

उच्छिष्टं चम्वोर्भर।१।२८।९।

इस ऋचा से द्रोणकलश में स्थापित किया। तत्पश्चात् हरिश्चन्द्र से अन्वारब्ध होकर—

यत्र ग्रावा पृथुबुघ्न।१।२८।१।

इत्यादि चार ऋचाओं से स्वाहान्त होम करता है। तत्पश्चात् अवभृथ के लिए सामग्री ले, अवभृथ स्थान में आके—

त्वं नो अग्ने वरुणस्य।४।१।४।

इत्यादि दो ऋचाओं से अवभृथ विधि करता है। इसके समाप्त होने पर हरिश्चन्द्र को आनीय अग्नि के निकट लाता है और—

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्त्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः
एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य।

५।२।७।

इस ऋचा को पढ़ कर विधि समाप्त करता है।

इसके पश्चात् शुनःशेप का विश्वामित्र के निकट जाना, पिता माता का

निरादर करना, विश्वामित्र के पुत्र होना और अपने पुत्रों पर विश्वामित्र का कोपित हो शाप देना आदि का वर्णन है। संक्षेप से यह है:—

अब सभा में टकटकी लग गई। आश्चर्य कर्म यह कैसे हुआ किसी को पता नहीं लगा। देखें शुन:शेप अब किसका गोद भरता है। सबने निश्चय किया कि देवता इस पर प्रसन्न हुए हैं। यह स्वयं जिस ओर जाना चाहे चला जाए। सबकी सम्मति सुन वह विश्वामित्र के क्रोड़ में आ के बैठ गया। अजीगर्त तब धुंधला-सा मुख कर डरता हुआ विश्वामित्र से कहने लगा— ऋषे! यह मेरा पुत्र है मुझे लौटा दीजिये। विश्वामित्र ने कहा महाशय! देवों ने मुझे यह दिया है यह देवरात वैश्वामित्र होगा। आपको ३०० गाय मिलीं हैं कृपा कीजिये। तब विश्वामित्र से निराद्रित होके वह अजीगर्त शुन:शेप से कहने लगा पुत्र! तू वहाँ से चला आ। तेरे माँ बाप यहाँ खड़े हैं। तू जन्म से अङ्गिरा के गोत्र का है। अपने पितामह तन्तु से पृथक् मत हो। यह सुन शुन:शेप पिता से बोला कि आपको लोगों ने खड्गहस्त देखा है। जो कर्म अतिशूद्रों में भी नहीं पाया जाता। आपको मेरे लिये ३०० गायें मिल चुकी हैं। अजीगर्त पुनरपि गिड़गिड़ा कर बोला कि मैं पश्चात्ताप करता हूँ ये ३०० सौ गायें तेरी ही हों तू मेरे पास आ। इतना सुन शुन:शेप ने कहा कि जो एक बार पाप करता है वह क्या फिर नहीं करता है? आप अति नीच शूद्र कर्म से पृथक् नहीं है। यह कर्म आपका असंधेय है। इस प्रकार पिता से जुदा हो विश्वामित्र का कृत्रिम पुत्र बन शुन:शेप सुप्रसिद्ध ऋषि हुआ जिसका नाम अभी चला आता है। इति।

इसके पश्चात् विश्वामित्र इसको अपने १०० पुत्रों के निकट ले जाकर कहते हैं कि ऐ पुत्रो! यह तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता है परन्तु ५० ज्येष्ठ पुत्र इसको स्वीकार नहीं करते अत: क्रुद्ध हो इनको दस्यु आदि होने के लिए शाप देते हैं और मधुच्छन्दा आदिकों को अनुकूल होने के कारण आशीर्वाद देते हैं। इसके पश्चात् आवश्यक इतिहास भाग इस प्रकार आरम्भ होता है।

यह शुन:शेप आख्यान ऋक्शत से भी अधिक ऋचाओं से गाया गया है (ऋक्=श्लोक) यह आख्यान होता अभिषिक्त राजा को सुनावे। सुवर्ण— निर्मित आसन पर बैठ कर होता सुनावे। और अध्वर्यु भी सुवर्ण-निर्मित आसन पर बैठ प्रति ऋचा के व्याख्यान के अन्त में ''ओम्'' ऐसा प्रतिवचन कहता जाये। क्योंकि ''ओम्'' यह देव और ''तथेति'' मानुष स्वीकारवाचक पद है देव और मानुष स्वीकार से इस राज को अध्वर्यु निखिल पाप से मुक्त करता है।

जिस कारण यह शुन:शेप आख्यान पापमोचन है अत: जो राजा विजयी हो उसको यज्ञ के बिना भी सुनना चाहिये। यह सुनकर वह निष्पाप होता है आख्यान-वक्ता होता को १००० और अध्वर्यु को १०० गौ दक्षिणा देवें। वह आसन भी दोनों को देवे और रजतालंकृत रथ भी होता को देवें।

जो पुत्रकाम हैं वे भी इसको सुनें। वे अवश्य पुत्र पावेंगे। इति।

वाल्मीकि रामायाण आदि में शुनःशेप की कथा

यह कथा वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड ६१ वें ६२ वें अध्याय में वर्णित है। परन्तु यहाँ हरिश्चन्द्र के स्थान में अम्बरीष राजा का और अजीगर्त के स्थान पर ऋचीक का नाम है। यहाँ अम्बरीय अपुत्र नहीं और न वरुण की कृपा से जलोदर से पीड़ित है। किन्तु यज्ञ करते हुए अम्बरीष के पशु को इन्द्र चुरा के ले गये। यज्ञ अपूर्ण हो रहा है। खोजते हुए अम्बरीय को ऋचीक मिला। उससे १००० गौ दे शुन:शेप को खरीदता है। विश्वामित्र की दया से इसकी रक्षा होती है। इत्यादि।

श्रीमद्‌भागवत, नवम स्कन्ध, सप्तम अध्याय में ऐतरेय ब्राह्मण के समान ही शुन:शेप की संक्षिप्त कथा है। महाभारत आदि शतशः ग्रन्थों में इसका सम्बन्ध पाया जाता है। वेद की बात लेकर किस प्रकार कथा कल्पित होती है। इस पर ध्यान देना चाहिये।

विचार यह होता कि क्या सचमुच यह घटना कभी हुई ?। क्या कभी यह नाटक यथार्थ में खोला गया ?। क्या इस रोमहर्षण दृश्य का कभी भारतवर्ष स्थान था ? क्या यज्ञ में मनुष्य शोणित के पिपासु देवगण थे ?। क्या वसिष्ठ आदि महर्षि ऐसे-ऐसे क्रूर चाण्डाल कर्म के करने को तैयार थे ?। क्या वेद में कोई नरबलिदान की आज्ञा है ?। विचारशील पुरुषो ! यह सारी कथा कल्पित है। भारतवर्ष में कभी ऐसी घटना नहीं हुई।

रामायण, भागवत, विष्णुपुराण, और मनुस्मृति में बहुत से श्लोक कथा कहानी पीछे से मिलाए गये हैं इसलिये इन ग्रन्थों का प्रमाण नहीं हो सकता और वेद के आधार पर ब्राह्मण में जो कथा है इसका भाव कुछ और ही है।

गाथा की समीक्षा

विद्वानों को यह मालूम है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में सकल आख्यायिकाएँ प्राय: काल्पनिक होती हैं। ये विधि से तात्पर्य रखती हैं और विधियों को दिखलाने के लिए ये गाथा, आख्यान, इतिहास, निन्दा, स्तुति आदि कल्पित कर लेते हैं, भूमिका में कई एक उदाहरण दिखलाए हैं, ''ब्राह्मण'' इस नाम

के ग्रन्थ में विस्तार से प्रतिपादन करूँगा। इस हेतु अन्यान्य गाथाओं के समान यह भी सर्वथा काल्पनिक है और पूर्व में कहा है कि ब्राह्मण एक प्रकार से दृश्य काव्य है। नाटकवत् वैदिक बातों को प्रत्यक्ष रूप में दिखलाते हैं। अत: इनको कथा आख्यान आदिक भी रोचक बनाने के लिए लिखते पढ़ते है। यहाँ भी दो तीन उदाहरण विचारिये—

१—सप्तम पञ्चिका में इसी आख्यान के अनन्तर यह लिखा है कि प्रजापति ने यज्ञ सिरजा और इसके पीछे ब्राह्मण और क्षत्रिय बनाए। इसके पश्चात् हुताद और अहुताद दो प्रकार की अन्य प्रजाएँ रचीं। इनके बीच से यज्ञ भाग गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों अपने-अपने आयुध लेकर यज्ञ के पीछे-पीछे चले। यज्ञदेव क्षत्रियों के आयुध देख अति भयभीत हो और भी दूर भाग गया। परन्तु ब्राह्मण इसके पीछे लगा ही रहा। यज्ञ निज आयुध ब्राह्मण के हाथ में देख इसके निकट आ गया। क्षत्रिय ने तब ब्राह्मण से कहा कि मुझे भी इसमें सम्मिलित कीजिये। ब्राह्मण ने कहा कि एवमस्तु! परन्तु हे क्षत्रिय! आप निज आयुधों को त्याग इसमें सम्मिलित हो जाइए। क्षत्रिय निज आयुध त्याग ब्राह्मण के योग्य आयुध धारण कर ब्राह्मण-स्वरूप से ही यज्ञ में सम्मिलित हुआ। इत्यादि।

इस गाथा का यह तात्पर्य नहीं कि यज्ञ कोई चेतन देव है जो भागा करता है और क्षत्रियों के आयुध से भय खाता है। किन्तु तात्पर्य यह है कि यज्ञ के निकट बड़ी शान्ति, श्रद्धा, विश्वास से पहुँचना चाहिए, क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, जय-पराजय, आदि अपने दुष्ट भाव को त्याग ईश्वर का यजन करें।

२—तृतीय पञ्चिका ४२ वें खण्ड में लिखा है कि असुर गणों से परास्त होके देवगण स्वर्ग को चले। परन्तु अग्नि देव स्वर्ग का द्वार रोक के खड़े हो गये। प्रथम वसुगण जा अग्नि से बोले कि क्या हमको आप स्वर्ग को जाने देवेंगे? अग्नि ने कहा कि जब तक आप लोग मेरी स्तुति न करेंगे जाने न दूँगा। अगत्या वसुओं ने अग्नि की स्तुति की और आज्ञा पाकर अभीष्ट लोक को चले गये। तब रुद्रगण पहुँच कर अग्नि से बोले कि क्या हमको स्वर्ग को न जाने देवेंगे? अग्नि ने कहा कि मेरी स्तुति कर लीजिये तब जाइये। अगत्या रुद्रगण को भी वैसा ही करना पड़ा। इसके पश्चात् आदित्यगण आए इन्हें भी अग्नि से यही आज्ञा मिली। ये भी अग्नि की स्तुति कर स्वर्ग को गये। इन तीनों के पीछे विश्वदेव आये। वे भी विवश हो अग्नि की स्तुति प्रार्थना कर स्वर्ग को गये।

यह आख्यायिका है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वास्तव में वसु, रुद्र,

आदित्य और विश्वदेव, असुर से परास्त होके स्वर्ग के द्वारपाल अग्नि की स्तुति कर अपने गृह को गये। किन्तु भाव यह है कि अग्निष्टोम यज्ञ में अग्नि की स्तुति के लिए चार स्तोम (स्तोत्र) अवश्य पढ़ने चाहिएँ। इसके लिए यह आख्यायिका कल्पित हुई है। वास्तव में आख्यायिका सत्य नहीं। और परमात्मा की स्तुति किये बिना कोई सुख को प्राप्त नहीं होता यह उपदेश है।

"अग्निष्टोम"

३—अग्निष्टोम (अग्नि+स्तोम) इसका नाम क्यों हुआ? इसके विषय में इसी पञ्चिका के ३९वें खण्ड में वर्णित है कि सब देवगण असुरों से संग्राम करने को चले। अग्निदेव बैठे रहे। देवों ने कहा कि हे अग्ने! आप हम में मुख्य हैं, संग्राम में क्यों नहीं चलते? अग्नि ने कहा कि जब तक आप सब मिल के मेरी स्तुति की विधि न कर लेवेंगे तब तक मैं अनुसरण न करूँगा। एवमस्तु कह के देवगण ने अग्नि की स्तुति की। तब अग्नि इस संग्राम में सम्मिलित हुए।

इसका तात्पर्य केवल यह है कि अग्निष्टोम याग में मुख्यतया अग्नि की ही स्तुति होती है अतः अग्निष्टोम (अग्नि+स्तोम) अग्नि का स्तोम अर्थात् ऐसा नाम है। और प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में भगवान् की स्तुति करनी चाहिये यह उपदेश है। अग्नि नाम भगवान् का ही है।

शौव उद्गीथ=कुत्तों का गान

४—छान्दोग्योपनिषद् प्रथम प्रपाठक १२ वें खण्ड में उक्त है कि मैत्रेय ऋषि स्वाध्याय कर रहे थे। प्रथम इनके निकट एक श्वेत व श्वा (सफेद कुत्ता) आया और इसके पीछे अनेक कुत्ते आ पहुँचे। सब ने ऋषि से कहा कि आप क्या पढ़ रहे हैं? हम बड़े भूखे हैं अतः आप ऐसा गान कीजिये कि जिससे हम सबों को प्रभूत अन्न मिले। ऋषि ने कहा कि कल इसी प्रकार आइये मैं उपाय करूँगा। वे सब कुत्ते जैसे बहिष्पवमानविधि के समय सब ऋत्विक् संरब्ध अर्थात् एक दूसरे को पकड़े हुए चलते हैं वैसे ही संरब्ध हो के आए और बैठ के गाने लगे। "हम खायें, हम पीवें, देव वरुण, प्रजापति सविता अन्न यहाँ ले आए। हे अन्नपते अन्न लाइये" इत्यादि। यहाँ श्वा नाम प्राणों का है। शङ्कराचार्य आदिक सकल भाष्यकारों की यही सम्मति है और प्राण नाम इन्द्रियों का है। श्वेत कुत्ता मुख्य प्राण है और अन्य कुत्ते इन्द्रियगण हैं। मैत्रेय ऋषि जीवात्मा है। सब प्राण जीवात्मा से निवेदन करते हैं अन्न की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय कीजिये सब प्राणी मर रहे हैं। यहाँ आख्यायिका वास्तविक नहीं। केवल दिखलाया गया है कि ऐसा स्वाध्याय करे जिससे

प्राणियों का कल्याण हो। और इन्द्रियगणों का जो यथार्थ भोजन ईश्वरोपासना है जिसके बिना ये व्याकुल रहते है यह उन्हें दे। यह उपदेश है।

मैं अप्रासंगिक बात यहाँ अधिक लिखना नहीं चाहता क्योंकि पाठक भी धैर्यच्युत हो जाएँगे। इस प्रकार आप देखेंगे तो ब्राह्मण-साहित्य में प्रायः काल्पनिक गाथाएँ मिलेंगी। वास्तविक बहुत थोड़ी। अतः यह भी शुनःशेप आख्यान किसी विशेष उद्देश्य से कल्पित हुआ है जो वास्तविक घटना नहीं है।

आख्यान के मुख्य उद्देश्य

प्रथम यह जानना उचित है कि ब्राह्मण ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं वेदों के ये भाष्य स्वरूप हैं अथवा वेदों के ही आधार पर ये लिखे गये हैं। केवल वेदों के अर्थो को ही प्रत्यक्ष रूप से दिखलाने का सदा प्रयत्न करते हैं। अब वेदों में प्रथम कहा गया है कि—वरुण अर्थात् परमात्मदेव परमान्यायी है। परम बलिष्ठ मिथ्यावादी सम्राट् को भी पूरा दण्ड देता है। दूसरी बात वरुणदेव के विषय में बारम्बार यह कही गई है कि इसके न्याय-पाश सर्वत्र बिछे हुए हैं। इसके दूत सहस्त्र आँखों से चारों ओर देखते हैं। इसके न्याय से कोई नहीं बच सकता। तीसरी बात यह है कि उपासकगण इसके पाशों से मुक्त होने के लिए सदा प्रार्थना करते रहते हैं। और पाशों से उपासक जीव छूट भी जाते हैं। ये ही दो बातें:—ईश्वरीय न्याय और पाशविमोचन, सम्पूर्ण आख्यान में नाटकवत् प्रदर्शित हुई हैं। अब इसकी परीक्षा कीजिये और आख्यान का उद्देश्य देखिये।

१—हरिश्चन्द्र एक सम्राट् है परन्तु मिथ्या भाषी होने के कारण इस पर वरुण-न्याय-पाश गिरता है और उदररोग से रुग्ण हो ईश्वरीय दण्ड इसको भी भोगना पड़ता है। इससे वरुण का न्याय दिखलाया गया। यह नाटक का प्रथम दृश्य है। अब आगे गाढ़े दृढ़ अटूट पाशों से बद्ध कैसे छूट जाता है। यह दिखलाया गया है।

२—शुनःशेप पाशों से बंधा हुआ है। यहाँ तक कि सहस्त्रों नरनारी चारों तरफ बैठ टकटकी लगा नाटक देख रहे हैं। ऋत्विक् मन्त्र पढ़ रहे हैं इसका पिता खड्ग लेकर इसका शिर काटना ही चाहता है। सब प्रतीक्षा कर रहे हैं कि अब इसका नाश होता है। इससे बढ़ कर पाश बन्धन क्या हो सकता है? परन्तु आश्चर्य ईश्वर की लीला। शुनःशेप अन्तःकरण से ईश्वर के निकट पहुँचता है, पश्चात्ताप् करता है। तब धीरे-धीरे एक-एक करके तीनों ऊपर नीचे और मध्य के पाश टूट-टूट कर गिरने लगते हैं और यह उपासक अब सर्वथा शुद्ध विशुद्ध हो पाशों से मुक्त हो जाता है। अब आगे तीसरा दृश्य यह

दिखलाया जाता है कि पापी से पापी पुरुष भी यदि दुष्कर्म से विमुख हो तो वह पूज्य बनता है।

३—अब शुनःशेप एक सम्राट् को बड़े-बड़े ऋषियों के साथ यज्ञ करवाता है। विश्वामित्र इसको यहाँ तक आदर देते हैं कि अपने १०० पुत्रों में श्रेष्ठ बना कर रखते हैं। इसकी आविष्कृत विद्या का आदर ऋषिगण भी करने लगते हैं। इससे बढ़ कर मनुष्य लोक में क्या प्रतिष्ठा हो सकती है? और आगे चतुर्थ दृश्य में दिखलाया जाता है कि प्रतिज्ञा पूर्ण करने और मिथ्या भाषण के दण्ड भोगने के पश्चात् सम्राट् हरिश्चन्द्र भी रोग मुक्त हो सुखी होता है।

आख्यान का यही चरमोद्देश्य है। वेद में जो वरुण के न्याय और पाप विमोचन की प्रार्थना का वर्णन है इसी को नाटकरूप में प्रत्यक्ष रीति से ब्राह्मण ग्रन्थ दिखलाते हैं। और आज कल भी जो पुरुष राजसूय यज्ञ ऋग्वेद के अनुसार करेगा उसको यह सम्पूर्ण नाटक करना पड़ेगा। वह स्वयं हरिश्चन्द्र बनेगा। एक पुरुष को पाशों से बाँध कर यज्ञ में लावेगा। और अन्त में प्रार्थना से सब पाशों के गिरने का दृश्य दिखलावेगा। इस सब से यही सिद्ध होता है अन्यान्य आख्यान के समान यह भी सर्वथा काल्पनिक ही है।

गाथा का गौण उद्देश्य आलङ्कारिकत्व है। अभी प्रथम उदाहरण में दिखलाया है कि क्षत्रिय को निज क्रूरता व आयुध त्याग ब्राह्मण स्वरूप से यज्ञ के समीप आना चाहिये। अर्थात् यज्ञ के समय ब्राह्मण धर्म और न्याय तथा युद्ध के समय क्षात्र धर्म अपने में स्थापित करे अर्थात् उभय विध धर्मों से क्षत्रिय राजा युक्त हो। अतएव त्रयोदश काण्ड शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि दीक्षित राजा को ''आप के पूर्वजों ने ऐसा यज्ञ किया बड़ी शान्ति से प्रजाएँ पाली कामादिक दोष त्याग प्रजा पालन में तत्पर थे आपको भी वैसा ही करना चाहिये'' इत्यादि वार्ता दिन में कोई ब्राह्मण सुनावे और रात्रि में बड़े-बड़े संग्राम, वीरता, साहस आदि का वार्ता सुनावे। दिन में उस दीक्षित राजा को ब्राह्मण और रात्रि में क्षत्रिय बनावे अर्थात् उभयविध गुणों से युक्त राजा को होना चाहिये। और राज्य की जो कुछ वृद्धि हो वह ईश्वर के नाम पर हो। परम अभ्युदय यदि हो तो राजसूय अथवा अश्वमेध यज्ञ करके सम्पूर्ण धन प्रजाओं में बाँट देवे।

''हरिचन्द्र शब्द''

अब हरिश्चन्द्र आदि शब्दों के अर्थ देखिये। हरिश्चन्द्र शब्द बड़ा विलक्षण है। यह शब्द ही बहुत से भेद खोल देता है। हरि+चन्द्र। हरिः=सूर्य, सूर्य के किरण प्रकाश, प्रताप आदि—

''यमाऽनिलेन्द्रचन्द्रार्क विष्णु सिहांशु वाजिषु।
शुकाहिकपि भेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।'' —अमरकोश

चन्द्र=चन्द्रमा। ब्राह्मण ग्रन्थों में बारम्बार सूर्य को क्षत्रिय और चन्द्र को द्विजराज ब्राह्मण कह कर पुकारते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति विशेष का यह नाम नहीं किंतु जो राजा ब्राह्मण और क्षात्र दोनों धर्मों से युक्त होता है उसकी एक पदवी विशेष 'हरिश्चन्द्र' ऐसा होगा और यह भी आवश्यक है कि जो उभयविध धर्मों से युक्त होगा वही पुरुष राज्यकार्य के लिए अभिषिक्त और राजसूय अश्वमेधादि यज्ञ के लिए दीक्षित होगा, दूसरा नहीं। अत: दीक्षित राजा को ब्राह्मण कह कर पुकारते हैं तथापि इसमें क्षात्र धर्म की ही प्रधानता रहेगी क्योंकि न्यायासन पर बैठ क्षात्र धर्म का ही पालन अधिक करना पड़ेगा अतएव 'हरि' शब्द प्रथम आया है जो क्षात्र धर्म का सूचक है। पुन: ''प्रस्कण्व हरिश्चन्द्रावृषी'' इस पाणिनि के सूत्रानुसार 'ऋषि' अर्थ में ही ''हरिश्चन्द्र'' शब्द बनता है इससे भी सिद्ध होता है कि जो राजा और ऋषि दोनों हो वही 'हरिश्चन्द्र' कहलावेगा। इस सबसे यही सिद्ध है कि अभिषिक्त और दीक्षित राजा का पद विशेष सूचक 'हरिश्चन्द्र' नाम है किसी खास व्यक्ति का नहीं। यहाँ उभयविध गुणों से संयुक्त जीवात्मा ही हरिश्चन्द्र है।

१०० स्त्रियाँ

आयु के जो १०० एक सौ वर्ष हैं वे ही सौ वनिताएँ हैं। क्योंकि पत्नीवत् वे धर्मात्मा स्वामी की सेवा करते हैं। ये ही सौ वर्ष राजा हरिश्चन्द्र अर्थात् जीवात्मा को पत्नीवत् दिए गये हैं। इस शतायु के द्वारा शुभ कर्म करना ही मानो, पुत्रोत्पादन करना है। ईदृग् राजर्षि हरिश्चन्द्र इस आयु के शतवर्षरूप १०० वनिताओं के साथ पर्वत और नारद के समीप पहुँचता है।

''पर्वत और नारद''

पर्वत और नारद सर्वदा साथ ही रहते हैं यद्यपि पौराणिक समय में पर्वत ऋषि तो विस्मृत हो गये केवल नारद ही रह गये हैं। तथापि ब्राह्मण और महाभारत के समय में ये दोनों साथ ही प्राय: देखे जाते हैं ''पर्वणि=पर्वणि-शुभे, शुभे कर्मणि यस्तायते अथवा पर्वणि-पर्वणि य: शुभमतिं तनोति स: पर्वत:। पर्व=शुभदिन, शुभ कर्म। प्रत्येक शुभ कर्म में जो विस्तारित हो अथवा प्रत्येक शुभकर्म में जो शुभ सम्मति देवे उसे 'पर्वत' कहते हैं।''नारद: नारेभ्यो नरसमूहेभ्योवा य: शुभमति ददाति स नारद:'' जो मनुष्यों को शुभ सम्मति

देवे वह "नारद" है नर कर को ही नार कहते हैं अथवा नरसमूह नार। मनुष्यों में जो तर्क और वितर्क अर्थात् अनुकूल तर्क और प्रतिकूल तर्क करने की जो दो शक्तियाँ हैं वे ही पर्वत नारद हैं। प्रत्यक्ष है कि एक विवेक कहता है कि ऐसा करना चाहिये इससे तेरा कल्याण होगा। फिर दूसरा विचार उपस्थित होता है और वह सुझा देता है कि ऐसे करने से यह-यह क्षति है। इन ही दो प्रकार के विवेकों के नाम पर्वत और नारद हैं। अथवा इन दोनों विवेकों से युक्त पुरुष के नाम पर्वत और नारद हैं किसी खास व्यक्ति के नहीं।

अब राजा इन दोनों विवेकों से जिज्ञासा करता है कि देव! यह शतायु पा के मैंने अभी तक कोई फलोत्पादन नहीं किया। "इससे पुत्र अर्थात् शुभ कर्म उत्पन्न करो यह उत्तर मिलता है। परन्तु जो कुछ उत्पन्न करो वह परमदेव वरुण को समर्पित करो। क्योंकि ईश्वर के समर्पण बिना अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। और इस शुभ कर्म सम्पादन के लिए भी इसी वरुणपरमात्मा के निकट पहुँचो। उसी की सहायता की अपेक्षा सर्वत्र है। इस प्रकार शिक्षित हो परम न्यायी ईश्वर के समर्पित हरिश्चन्द्र जीवात्मा आता है। इसके निकट शुभ कर्म रूप पुत्र के द्वारा यजन करने की प्रतिज्ञा कर पुत्र माँगता है। ईश्वर भी स्वीकार करता है।

"पुत्र रोहित"

प्रजाओं का न्याय और दया के साथ प्रतिपालन करना और सौराज्य की सदा वृद्धि करना ही राजा के लिए पुत्रोत्पादन करना है। शरीरधारी पुत्र से यहाँ तात्पर्य नहीं है। क्योंकि प्रजाओं की ओर से कुछ समय के लिए राजा अभिषिक्त होता है और आयु सम्बन्धी वर्ष रूप स्त्रियों से शुभ वा अशुभ कर्म रूप ही पुत्र होंगे भौतिक पुत्र नहीं अतएव "रोहित" नाम रक्त वर्णन का है "लोहितो रोहितो रक्तः" अमर। और रक्तवर्ण क्षात्रधर्म का सूचक है। यह सब ईश्वर की कृपा से ही होता है और ईश्वर को ही इसके लिए धन्यवाद देना चाहिये।

"रोहित और बलिदान"

ब्राह्मण ग्रन्थों का यह एक भाव है कि यद्यपि राजधर्म अच्छा है तथापि इसमें निरपराध हिंसा भी होती रहती है। दुष्ट निग्रह के साथ-साथ निरपराधी प्रजाओं की हिंसा हो जाती है। इस हेतु इस धर्म का नाम ही रोहित (खून) है इस हेतु विजयी अथवा अविजयी राजा को अवश्य राजसूय यज्ञ करना चाहिये क्योंकि विजय और न्याय के समय मनुष्य की अज्ञानता से अनेक अपराध उत्पन्न हो ही जाते हैं। इनक़ा मार्जन इसी यज्ञ से होता है। और जब यज्ञ के

लिए दीक्षित हो तब सर्वथा रोहित अर्थात् क्षात्रधर्म्म को परित्याग कर ब्राह्मणधर्म ग्रहण करे जैसा कि ऊपर कह आए हैं। अब बलिदान पर विचार कीजिये। रोहित अर्थात् न्याय से प्रजा का पालनरूप पुत्र दिन-दिन बढ़ता जाता है। चारों तरफ अभ्युदय होता जाता है। परन्तु राजा (जीवात्मा) मोह वश राज्योत्थित दोषों के परिमार्जन के लिए ईश्वर के निकट नहीं आता है। अपनी प्रतिज्ञा को भी त्याग ईश्वर के समीप दोषी नहीं बनता। परन्तु वरुण का पाश बलवत्तर और सर्वत्र विस्तीर्ण है अत: राजा इससे छूट नहीं सकता। राजा वरुण के दण्ड से गृहीत हो रुग्ण हो जाता है। जिस राज्य लोभ के लिए इतना किया था वह भी असत्यता से मिश्रित होने के कारण सहायक नहीं होता है किन्तु मानो, राजा से दूर भाग जाता है। यही रोहित का गृह से वन को जाना है और रोहित का छह वर्ष वन में रहना, मानों राजा का ईश्वरीय दण्ड उतना काल भोगना है। इन वर्षों से राजा बराबर उदर रोग से पीड़ित रहता है, जैसे कारागार में अपराधी दण्ड पाता है।

अजीगर्त और रोहित

क्षुधा और पिपासा देव का नाम अजीगर्त है। अर्थात् क्षुधा पिपासा को ही अजीगर्त कहते हैं। अजह=अजन्मा स्वाभाविक है। गर्त=गढ़हा, खाई, इत्यादि जो गर्त स्वाभाविक हो, जो जीवात्मा के साथ स्वाभावत: लगा हो। क्षुधा पिपासा जीवात्मा का स्वभाविक धर्म है अथवा "अजीर्णोगर्तः अजीगर्तः" जो गर्त कभी जीर्ण=पुराना न हों किन्तु दिन-दिन नवीन ही होता जाये। ऐसा तृष्णा रूप ही गर्त है। अर्थात् आत्मा का क्षुधा-पिपासा-रूप गर्त कभी जीर्ण नहीं होता। "अजी" यह गुप्त प्रयोग "परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विषः"। अत: क्षुधागर्त अथवा क्षुधापीड़ित पुरुष का नाम अजीगर्त है किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। अब रोहित अर्थात् क्षात्रधर्म देखता है कि क्षुधा और पिपासा से प्रजा पीड़ित हो रही है यदि इसका बलिदान हो तो मेरा कल्याaण हो। रोहित पहुँच कर अजीगर्त (क्षुधा देव) से कहता है कि मुझे अपना एक पुत्र दीजिये जिसको हनन कर मैं सुखी होऊँ। वह शुन:पुच्छ शुन:शेप और शुनो लाङ्गूल तीन पुत्र बतला कर "मध्यम शुनः शेप" देता है। मैंने शौव उद्गीथ में दिखलाया है कि श्वा नाम इन्द्रिय गणों का है। पुच्छ, शेप और लाङ्गूल तीनों शब्द निन्दा सूचक मात्र हैं। अत: यहाँ शुन:पुच्छ, शुन:शेप और शुनोलांगूल, उत्तम, मध्यम, और अधम इन्द्रियों के नाम हैं। यह अजीगर्त क्षुधा देव रोहित से कहता है कि यह मध्यम (सबके मध्य में रहने वाला) शुन:शेप को लेकर बलि दीजिये तब ही राज धर्म की शोभा है। यह इन्द्रिय ही सारे दु:खों का कारण है आप

और आपकी प्रजा इसके ही वश हो नाना दुष्कर्म करते हैं। क्षुधा पिपासा अर्थात् भोग विलास के लिए ही ये इन्द्रिय गण उत्पन्न किये गये हैं अत: ये क्षुधा के पुत्र कहलाते हैं। शौव उद्‌गीथ में आपने अभी देखा है कि ये प्राण (इन्द्रिय) अन्न के लिए कितने व्याकुल हो रहे हैं। क्षात्र धर्म भी इसी के वश है यदि इसकी हिंसा हो तो पृथिवी पर कल्याण हो। इस शुन:शेप अर्थात् सब में व्यापक मध्यम प्राण को लेकर रोहित पिता के निकट पहुँच इसकी हिंसा के लिए पिता से निवेदन करता है। मैं ऋषि प्रकरण में यह भी दिखला चुका हूँ कि वेद के जितने ऋषि हैं वे सब ही प्राणों के ही नाम हैं। इस कारण भी प्राण का ही नाम यहाँ शुन:शेप है क्योंकि शुन:शेप भी एक ऋषि है। यहाँ इतना और जानना चाहिये कि आँख, कान, नाक और जीभ ये सब प्राण ही नाम से पुकारे जाते हैं। और जो प्राण शिर से लेकर पैर तक व्यापक और सदागति है उसको मध्यम प्राण कहते हैं क्योंकि आँख, कान, नाक आदि सब के मध्य में रहता है। इसको मुख्य प्राण भी कहते हैं क्योंकि आँख, कान, नाक आदि के सो जाने पर भी जागता रहता है और सब को सहायता पहुँचाता रहता है। इसी प्राण को वश में करने से अन्यान्य प्राण वश हो जाते हैं।

हरिश्चन्द्र का यज्ञ और अजीगर्त

क्षुधा ऐसी पापिनी है कि यह क्या-क्या अन्याय नहीं करती है। क्षुधा पुत्र को बेचती, बाँधती और समय पर मारकर खा भी जाती है। राजा को उचित है कि इस पापिनी की शान्ति करे। इस की शान्ति केवल प्राणों (इन्द्रियों) के निग्रह से होती है। यहाँ क्षुधा पद से सारे भोगविलासादि का भी ग्रहण है। राजा अर्थात् जीवात्मा इस मध्यम प्राण को मार के वरुण के समीप शुद्ध होना चाहता है परन्तु क्या इसका सर्वनाश हो सकता है? हाँ जो इसको निग्रह करता है उसके प्रति, मानो, यह मरा हुआ है और दूसरे के प्रति यह जागृत है।

राजा हरिश्चन्द्र का यज्ञ और पंच होता

हरिश्चन्द्र नाम जीवात्मा का है। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्‌गाता ये चार ऋत्त्विक् ही चक्षु, कर्ण, घ्राण और मुख हैं। इनके ही नाम विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और आयास्य हैं। आप देखते हैं कि इस शिर में चक्षु, कर्ण घ्राण और मुख चार स्थान हैं। ये ही चार ऋत्त्विक् हैं। यद्यपि संख्या में ७ सात हैं, परन्तु गुण के हिसाब से चार ही हैं क्योंकि दोनों आँखों से एक दर्शन रूप कर्म किया जाता है। इसी प्रकार कर्ण और घ्राण को समझिये। इसी कारण कहीं सात और कहीं पांच का वर्णन आता है। पञ्चम जीवात्मा माना जाता है। चार ये प्राण और पंचम जीवात्मा इसमें मिलके पंचहोता कहाते हैं। इनको ही

पञ्चचर्षणी, पञ्चकृष्टि, पञ्चजन, पंचमानव आदि अनेक नाम देते हैं। यहाँ जीवात्मा हरिश्चन्द्र विश्वामित्रादि प्राणों के साथ क्षुधा पिपासा-जन्य मध्यम प्राण शुनःशेप का हननार्थ यज्ञ करते हैं। अब शुनःशेप प्राण देखता है कि मेरा वध सब मिल कर अवश्य करेंगे तो वह देवों की प्रार्थना करता है। इस शरीर में आँख सूर्य, मुख अग्नि, कर्ण वायु, घ्राण पृथिवी और मन चन्द्रमा है। पुनः श्वास प्रश्वास ही मित्र वरुण हैं। बुद्धि उषा है। सूर्य वा इन्द्र जीवात्मा है इत्यादि आध्यात्मिक वर्णन ब्राह्मणों में देखिये। यह मध्यम प्राण आँख, कान, नाक आदि सब देवों से प्रार्थना करता है कि हे देवगण! आप प्रसन्न होवें! जिससे मेरा वध न हो। भाव इसका यह है कि इन्हीं चक्षु आदिक प्राणों के प्रसन्न होने से अर्थात् वश में आने से मध्यम प्राण भी शान्त हो जाता है। वह सबसे प्रथम प्रजापति है। वह जीवात्मा कहता है कि मैं तो अन्यथा सिद्ध हूँ यदि ये नयन आदि प्राण अधीन हो जाएँ तो मैं स्वतः विवश हो जाऊँगा। अतः आप अग्नि और सूर्य की प्रार्थना कीजिये। अर्थात् नेत्र और जीभ को वश में कीजिये। नेत्र ही सूर्य है और मुखस्थ जीभ ही अग्नि है। अब ये कहते हैं कि वरुण को वश में करो। अर्थात् प्राणायाम के द्वारा प्राणों का अवरोधन कीजिये। वह भी वैसा ही करता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों को विवश कर लेता है परन्तु तथापि इसकी मुक्ति नहीं होती है। सब देव मिलकर अन्त में कहते हैं कि उषा देवी की प्रार्थना करो उसी से आपकी मुक्ति है। बुद्धि ही उषा देवी है। प्राणों के वश होने पर भी यदि आदमी के ऊपर बुद्धि देवी की कृपा न हो तो पुनः वह एक प्रकार से बद्ध ही रहता है। देवी की प्रसन्नता से इसके सारे बन्धन टूट कर गिर पड़ते हैं। अर्थात् सदसद्विवेकिनी बुद्धि उत्पन्न होने पर क्षुधापिपासाजन्य मध्यम प्राण स्वतः शान्त हो जाता है। ज्यों-ज्यों मध्यम प्राण शान्त होता जाता है त्यों-त्यों जीवात्मा हरिश्चन्द्र सर्व रोग से मुक्त होता जाता है। अब इस मध्यम प्राण को भी सब प्राणाधिष्ठातृ देव विश्वामित्र वसिष्ठ आदि ऋषि मिलाकर जीवात्मा हरिश्चन्द्र के साथ यज्ञ करते हैं और अन्त में सब सुखी होते हैं।

पिता से पुत्र का हनन

अजीगर्त का अर्थ अजगर्त अथवा अजीर्णगर्त है। क्षुधा-पिपासा देव ही अजीगर्त है। यह अपने आत्मज का हनन करता है। क्षुधा पिपासा ज्यों-ज्यों निवृत होगी त्यों-त्यों प्राण का हनन होगा। जितनी विषयतृष्णा निवृत होगी उतनी ही प्राण की उग्रता न्यून होती जायेगी। यहाँ देखते हैं कि अजीगर्त को ३०० गौ दूध देने वाली मिलती हैं। इससे यह सन्तुष्ट हो जाता है। इसका

सन्तोष करना ही आत्मज का हनन है। अतः इस दृश्य में पिता से पुत्र का हनन दिखलाया गया है और इसी कारण पुत्र भी अपने पिता से असन्तुष्ट हो विश्वामित्र से जा मिलता है। विश्वामित्र भी प्राण का ही नाम है। जिस हेतु यह सर्वमित्र है। अतः इसको भी बचा लेता है। अब यह भी शुनःशेप हत विहित है अतः अब इससे भी उपकार ही होता है, अपराध नहीं। इस वशीभूत प्राण को ज्येष्ठ पुत्र बनाने के इच्छुक विश्वामित्र का वचन सौ में से आधे पुत्र मानते हैं, आधे नहीं। अर्थात् जगत् के कुछ लोग प्राण को अधीन कर उत्तम अनुष्ठान करते हैं और कुछ नीच पुरुष इसको ही प्रबल बना कर भोग विलास में लगे रहते हैं। वे ही म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि नीच हैं। यही विश्वामित्र का पुत्रों पर निग्रहानुग्रह करना है।

हरिश्चन्द्र कृत शुनःशेप का हनन

कथा में यह बात आई है कि हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र का बलिदान वरुण देव को देने के लिए निश्चय वा प्रतिज्ञा की थी। परन्तु उसकी जगह में दूसरे की बलि देता है। यह कौनसा न्याय है और परम न्यायी वरुण इसको कैसे स्वीकार करता है? यह शङ्का ठीक है। परन्तु इस पर जितना विचारा जाया उतना ही स्पष्ट होगा। मैं कह चुका हूँ कि रोहित नाम राजधर्म का है। हरिश्चन्द्र जो निज शुभ कर्म से राज्योत्पादन करता है यही यहाँ इसका पुत्र है। अब आप विचार कीजिये कि उपार्जित राज्य को परम देव के निकट समर्पित करने का अर्थ क्या है? क्या यह राजा उपार्जित राज्य को ईश्वर के नाम पर किसी ब्राह्मण को वा किसी मन्दिर में वा अपने सन्तान को देकर स्वयं उदासीन हो वन में जा तपस्वी बन जाता यह अर्थ है, परन्तु क्या इतने से कार्य सिद्ध होगा? नहीं। वह जिसको दिया जाये वह कदाचित् इस राज्य को उचित कार्य में न लगावे। अतः राज्य समर्पण करने का अर्थ यह है कि इस उपार्जित धन को अपनी इच्छा पूर्ति में न खर्च कर प्रजाओं को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करना ही ईश्वर को राज्य समर्पण करना है। प्रजाएँ अन्न चाहती हैं। क्षुधा पिपासा से प्रजाएँ पीड़ित रहती हैं तथा काम क्रोधादि के वशीभूत हो के नाना पाप करती हैं। अतः राजा को सबसे प्रथम प्रजाओं की क्षुधा पिपासा की निवृत्यर्थ पूर्ण प्रयत्न करना उचित है। यदि इसी क्षुधा-पिपासा से उत्पन्न विषयी शुनःशेप प्राण का हनन कर देवें तो इससे बढ़ कर अन्य कोई समर्पण नहीं है। अब क्षुधा पिपासा के पुत्र का हनन करना क्या है? प्रजाओं को इतना धन दे देवें वा इसके लिए ऐसा सुप्रबन्ध रचें कि प्रजाएँ इस दुःख से क्लेशित न हों। जब कोई कहता है कि "दुर्भिक्ष को हनन करो" तो इसका यही अभिप्राय

होता है कि प्रजाओं को अन्न पानी से भरपूर रखो। अतः आप देखते हैं कि अजीगर्त को ३०० गौवें मिलती हैं अर्थात् पीड़ित प्रजा मात्र को राजा प्रसन्न रखता है। इससे प्रजाओं में अनेक दोष निवृत्त होते हैं। मध्यम विषयी शुनःशेप प्राण भी यज्ञ में अर्थात् शुभ कर्म से शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार सारी प्रजाएँ सर्वथा सन्तुष्ट हो जाती हैं। अतः यहाँ रोहित के स्थान में शुनःशेप की बलि दी जाती है। शुनःशेप नाम विषयग्रस्त प्राण का है। शुभ कर्म से यही पुनः शुद्ध हो जगदुपकारी होता है।

इस प्रकार इस कथा की जितनी ही समीक्षा करेंगे उतना ही आलङ्कारितत्व प्रतीत होता जाएगा। इस आधार पर जो नरमेध सिद्ध करते हैं वे सर्वथा भ्रम में हैं। १—कारण यह है कि यह कथा वेद के आधार पर लिखी गई है। अतः इसको वेदानुकूल ही होना चाहिये। इसी शुनःशेप सम्बन्धी ऋचाओं के प्रयोग इसमें किये गये हैं। परन्तु ऋचाओं में कहीं नरमेध की चर्चा नहीं अतः इसमें भी इसकी चर्चा नहीं होनी चाहिये। अब जो है इसका भाव केवल आलंकारिक है। जैसा कि ऊपर वर्णन हो चुका है। २—दूसरा यह है कि हरिश्चन्द्र ऐसे पुत्र से क्यों सन्तुष्ट हो और क्यों देवता की आराधना करे जिसको जन्मते ही देवता के लिए मरना पड़े। इस पुत्र से पितृगण क्या तृप्त होंगे और क्या कोई मनोरथ सिद्ध करेगा? अतः यह आलंकारिक कथा है और वेदानुकूल कल्पित है। वास्तविक घटना नहीं।

परन्तु **श्रुति सामान्यमात्रम्। मीमांसा। १। १। ३१।**

तीसरा कारण जिसको लोग बहुत कम समझते हैं वह यह है। मैं कह चुका हूँ कि वेद के अर्थ को नाटकवत् दिखलाते हैं। वेद में वर्णन है कि पापी जन पाशों से बद्ध होता है और यदि यह शुभ कर्म करे तो उनसे छूट भी जाता है। अब इसी बात को सिद्ध करने के लिए ब्राह्मण यज्ञ रचता है पापी का नाम शुनःशेप रखता है। क्योंकि शुनःशेप का अर्थ विषयी प्राण है। कुत्ते का पुत्र इसका शब्दार्थ है। कुत्ता वाताशी प्रसिद्ध है। जिसको वह त्यागता है (कै-वमन करता है) उसको वह पुनः तत्काल ही खा जाता है। विषयी पुरुष की यह गति है। जिस विषय को त्यागने के लिए कहता है उसी को उसी क्षण करने को तैयार हो जाता है। अतः इस यज्ञ में विषयी का नाम शुनःशेप रखा जाता है। जो विषयी है वह अवश्य पाश में बद्ध होता है अतः शुनःशेप नामी पुरुष के ऊपर, नीचे और मध्य में रस्सी बाँधी जाती है और इसके मारनेवाले का नाम अजीगर्त रखा जाता है। क्योंकि इसकी पूर्ति नहीं होती, बारम्बार गौ लेता जाता है। तथापि यह गर्त (खाई) भरता नहीं। राजा का नाम हरिश्चन्द्र

रखा जाता है, क्योंकि शुद्ध विशुद्ध राजा ही का काम है कि वह अपने शासन से प्रजाओं को पाप पाशों से बचाता रहे। अत: यहाँ पापी शुनःशेप का दण्ड राज के अध्यक्ष से दिया जाता है। अब देवता की आराधना और ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य पाप से छूटता है अत: यहाँ देवों की आराधना और बुद्धिरूपा उषा की प्राप्ति से यह शुनःशेप छूटता है। इन्द्र इसको सुवर्ण रथ देता है। पाप से रहित सुन्दर शरीर ही सुवर्ण रथ है। जब शरीर उत्तम मिलता है तब ही बुद्धि भी प्राप्त होती है। अत: इस रथ की प्राप्ति के अनन्तर शुनःशेप बुद्धि के निकट पहुँचता है, इत्यादि वर्णन नित्य वस्तु की सिद्धि करता है। इसको न समझ कर इससे नरमेध सिद्ध करने हारे बड़े ही अज्ञानी प्रतीत होते हैं। आज भी जो ऋग्वेद के अनुसार राजसूय यज्ञ करेगा उसको यह सारी लीला रचनी पड़ेगी। अत: सिद्ध है कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी नित्य वस्तु का वर्णन करता है अनित्य का नहीं। अत: हरिश्चन्द्र आदि सब ही नाम सामान्यवाचक हैं, विशेष व्यक्तिवाचक नहीं। यही पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा का दृढ़त्तर सिद्धान्त है।

महाभ्रम होने के कारण।

वेदों में नरमेध है अर्थात् मनुष्यों की हिंसा की साक्षात् विधि वेदों में है ऐसा महाभ्रम क्यों उत्पन्न हुआ? इसके कई एक कारण हैं १—वेदार्थ का अनध्ययन ही प्रथम मुख्य कारण है। कई सहस्र वर्षों से वेदों के अर्थों का पढ़ना-पढ़ाना सर्वथा बन्द हो गया। २—दूसरा कारण यह है कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रंथों का आशय भी लोग न समझ सके। ३—तीसरा कारण यह है कि भारतवर्ष के कतिपय जंगली जातियों में अब तक मनुष्य बलिदान विद्यमान था जिसे गवर्नमैण्ट ने अभी हठात् बन्द करवाया है। ४—तन्त्रादि ग्रन्थों के अनुसार यथार्थ में यहाँ के लोग मनुष्य बलि काली आदि देवियों को चढ़ाया करते थे। जो सुप्रसिद्ध सप्तशती है जिसका पाठ आज प्रायः घर-घर होता है, उसमें भी लिखा कि ''ददतुस्तौ बलि चैव निजगात्रा सृगुक्षितम्'' राजा और वैश्य अपने शरीर से ही शोणित निकाल कर भगवती को बलि दिया करते थे। ५—यह मुझे पुनः कहना पड़ता है कि जब तक ब्राह्मण ग्रन्थों की स्थिति को लोग न समझेंगे तब तक यह महामोह दूर नहीं होगा। वेदों में जो अर्थ प्रतिपादित हैं उनको ही ब्राह्मण ग्रन्थ लोक में प्रत्यक्षरूप से नाटकवत् दिखलाते हैं। ब्राह्मणों की इस स्थिति को सदा स्मरण रखना उचित है। वेद में लिखा है कि ''**मनुः समिद्धाग्निः मनसा सप्तहोतृभिः**'' मन, दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और जिह्वा इन आठों के साथ जीवात्मा हवन करता है। अब ब्राह्मण ग्रन्थ लोक में नौ आदमियों को बैठा कर हवन करने की विधि बना लेगा। वेद में

लिखा है ''मैं पाश से बद्ध हूँ'' अब इसे लेकर ब्राह्मण ग्रन्थ यजमान को प्रत्यक्ष रज्जु वा किसी से बाँध देने की विधि बनावेगा। इस प्रकार ब्राह्मणों की स्थिति जाननी चाहिये। मैं इसी सम्बन्ध में दो एक उदाहरण देता हूँ।

वरुण पाश का बाह्य क्रिया में प्रयोग।

जो श्रौत और गृह्य कर्म में कुशल हैं उन्हें मालूम है कि वरुण पाश के कितने प्रयोग होते हैं। प्राय: अनेक शुभकर्मों में यजमान, यजमानी, वर, वधू आदिकों को किसी माला से वा किसी अन्य वस्तु से हाथ में वा शिर में वा कटि प्रदेश में बाँध देते हैं और इस बन्धन का नाम वरुणपाश रखते हैं। पुन: वरुण मन्त्र पढ़ कर उसे खोल देते हैं। इस विधि से केवल आशय यह होता है कि सब मनुष्य ईश्वर के समीप अपराधी हैं। यज्ञादि शुभकर्म से उस अपराध से मुक्त होते हैं। यद्यपि वेद में बाह्य रज्जु आदि का वर्णन नहीं है। तथापि ब्राह्मण ग्रन्थ लोक में प्रत्यक्ष रूप से बाँधने की विधि कर देते हैं। यथा—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधर्म वि मध्यम श्रथाय।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम। ऋक् १.१४.१५

इसी ऋग्वेदीय मन्त्र से शुन:शेप के वास्तविक बन्धन में सन्देह करते हैं। यह यजुर्वेद के बारहवें अध्याय में भी आया है। इस प्रकार विनियोग होता है। यथा—

''पांशा उन्मुच्यो दुत्तममिति'' रुक्मपाशशिक्यपाशौ।

गलादूर्ध्वमार्गेण निष्कासयतीति सूत्रार्थः। महीधरः।

इसके प्रथम यह नियम आता है—

यजमानः कण्ठे रुक्मं प्रति मुञ्चते परिमण्डलं

एकविंशतिपिण्डं कृष्णाजिननिष्यू तम्।...............शिक्य

पाशं=प्रतिमुञ्चति षडुद्यामं विश्वारूपाणि इति।

इत्यादि कात्यायन सूत्र देखो। महीधर ने भी अपने भाष्य में इन सूत्रों को दिया है।

भाव इसका यह है कि यजमान अपने कण्ठ में २१ इक्कीस दाने का एक आभरण और एक छह रज्जुओं से निर्मित शिक्य पाश धारण करता है ये ही मानो, वरुण-पाश हैं। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से सप्तप्राण (दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और जिह्वा) इक्कीस प्रकार के होते हैं। इन्हीं से सब कोई बद्ध हैं और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय के पञ्च विषय और अन्त:करण का विषय ये ही

छह रज्जु हैं। इसी को रूपक द्वारा एक सुवर्ण निर्मित माला बना यजमान कण्ठ में पहनता है, पश्चात् "उदुत्तमम" इस मन्त्र को पढ़ कर इसके गल प्रदेश से इन दोनों पाशों को निकाल देते हैं। अब आप देखें यहाँ "उदुत्तमं वरुण" यह मन्त्र क्यों पढ़ा जाता है? क्या इस यजमानको भी वध करने को ऋत्त्विक् उपस्थित है? नहीं। किन्तु यह भाव दिखलाया जाता है कि प्रत्येक आदमी ईश्वरीय न्याय से बद्ध है। ईश्वर की ही शरण में आने से वह इससे मुक्त होता है? यहाँ पर भी आप देखते हैं कि ब्राह्मणानुसार नाटकवत् दृश्य काव्य दिखलाया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण षष्ठ काण्ड सप्तमाध्याय से इस रुक्म और शिक्यपाश का वर्णन आरम्भ होता है। यहाँ विस्तार से वर्णन है।

अथ शिक्यपाशं च रूक्मपाशंचोन्मुचते।
वारुणो वै पाशो वरुणपाशादेवतत्प्रमुच्यते।

इत्यादि पाठ देखो।

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन् त्वा बध्नात् सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि। १०.८५.२४
प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति। १०.८५.२५

ये दो ऋचाएँ विवाह में पढ़ी जाती हैं। इनमें भी वरुणपाश का वर्णन आया है। विचार करें कि क्या यहाँ बाह्य पाश का वर्णन है? क्या बाह्य रज्जु व पाश से वधू को परमात्मा बाँध जाता है जिसको लोग वधू से दूर करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अध्यात्म पाश का ही यहाँ निरूपण है। अब इन मन्त्रों पर ब्राह्मण ग्रन्थ क्या कहते हैं। ब्राह्मण कहते हैं कि एक रज्जु वधू की कटि देश में बाँधो। पश्चात् इन मन्त्रों को पढ़ खोल दो। कोई ब्राह्मण कहते हैं कि वधू के शिर के केशों को कई एक तारों से बाँध दें पीछे इन ऋचाओं को पढ़ कर खोल दें। भिन्न-भिन्न देश में भिन्न-भिन्न व्यवहार हैं। कहीं-कहीं वर और वधू दोनों के शिर के केशो में पचासों गाँठ दे देते हैं, पीछे इन मन्त्रों को पढ़ कर खोलते हैं। इस मन्त्र पर "अथास्योक्त" विचृतेत् प्रत्वा मुञ्चामि वरुणस्यपाशदिति" इत्यादि सूत्र हैं। पुनः सायण इसके भाष्य में लिखते हैं कि "यज्ञाङ्गपक्षे पत्नीं योक्त्रेणबध्नाति" अब आप सब विचार करें कि ब्राह्मण ग्रन्थों की क्या स्थिति है। और वरुण-पाश का क्या आशय है।

शुनःशेप सम्बन्धी मतवादियों की परीक्षा।

वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों पर यूरोप के जितने लेखक हैं वे सब ही शुनःशेप के इतिहास को ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत करके तीक्ष्ण विचार आरम्भ करते हैं और अन्त में सिद्ध करते हैं कि अवश्य भारतवासी ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में जंगली थे क्योंकि मनुष्य बलिदान इनके ग्रन्थ में विस्पष्ट पाया जाता है। कतिपय ग्रन्थकारों के ये नाम हैं। १—रोसेन, २—गोल्डस्टकर, ३—रोथ, ४—हम्वोल्ट, ५—मैक्समूलर, ६—वेस्टरगार्ड, ७—विलसन, ८—हौग, ९—वेबर, १०—म्यूर, ११—मौरिस फिलिप्स, १२—मैकडोनल्ड, १३—हार्डविक, १४—मोनियर, विलियम्स, १५—बार्थ इत्यादि। कतिपय ग्रन्थों के नाम—

१—विलसन का ऋग्वेद प्रथम खण्ड पृ० ६०। २—मोनियर विलियम का इण्डियन विजडम नाम का ग्रन्थ पृ० २८-३२। ३—म्यूर का ओरियण्टल संस्कृत टेकस्ट प्रथम खण्ड पृ० ३३५। ४०७। ४०३। ४—मैक्समूलर का संस्कृत लिटरेचर आदि अनेक ग्रन्थ। ५—हार्डविक का "क्राइस्ट एण्ड अदर मास्टर इत्यादि।" ४—मैकडोनल्ड का वैदिक रिलिजन पृ० ८८-९०। ८—फिलिप का टीचिङ्ग आफ दि वेदाज, रिलीजन आफ इण्डिया इत्यादि सैकड़ों ग्रन्थों में शुनःशेप की चर्चा आई है। आप लोग अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन कीजिये तब पता लगेगा कि इन्होंने कैसा तीक्ष्ण प्रहार वैदिक ग्रन्थों पर किया है। ये सब वृत्तान्त को पेश करके वे कहते हैं देखो! क्या मनुष्य बलिदान का विधान आर्य शास्त्रों में है या नहीं?

देशी विद्वानों में सुप्रसिद्ध राजेन्द्रलाल मित्र जी हुए हैं। इन्होंने "इन्डो एरियन्स" नामके ग्रन्थ में "ह्यूमन सैक्रिफाइस" नाम के अध्याय में मनुष्य बलिदान सिद्ध किया है। इनका ही अनुकरण करने वाले बहुत पुरुष हैं।

प्रायः सब ही इन हेतुओं को बहुधा प्रस्तुत करते हैं—

१—यदि यह कथा रूपक मानी जाये तो कथा फीकी पड़ जायेगी। २—यदि यह बात भयङ्कर न होती तो कथा का कुछ अर्थ न होता। ३—फिर यदि हरिश्चन्द्र वरुण के लिए अपने पुत्र को वध करने का संकल्प न करता तो पुत्र के जन्म के समय उसकी यज्ञ करने की प्रतिज्ञा वृथा होती और उसके सब बहाने भी व्यर्थ होते। ४—यदि पुत्र को वध करने का संकल्प न होता तो यूप में इसको बाँध कर और मन्त्र पढ़ कर-उसे सम्पूर्ण रीति से क्यों न छोड़ दिया। ५—पुत्र का पिता के गृह से भाग निकलना और अपने स्थान में दूसरे को सौ गौ देकर मोल लेना और अजीगर्त का छुरी हाथ में लेना इत्यादि वर्णन सिद्ध करता है कि शुनःशेप अवश्य यूप में वध होने के लिए बाँधा गया था

श्रीयुत राजेन्द्रलाल और भी कहते हैं कि मैं हिन्दू हूँ और अपने प्राचीनों के विषय में लिख कर यदि मैं कह सकता कि वेद के अनुसार मनुष्य का बलिदान नहीं होता था तो अति आनन्दित होता। परन्तु क्या करूँ इतिहास के विपरीत ऐसा मैं नहीं कह सकता। इत्यादि आक्षेप इन सब का है।

समाधान—इन सबका समाधान मैंने गत लेख में कर दिया है। आप सब ध्यान से इसको पढ़ें, मालूम हो जायेगा कि इनके सारे हेतु अज्ञान कृत हैं। तथापि दो एक बात यहाँ लिख देता हूँ।

१—इन में से प्राय: सब ही लेखक ऋग्वेद सम्बन्धी नरमेध में संदिग्ध हैं और बहुत लेखक रोसेन, रमेशचन्द्र आदिक पुरुष तो ऋग्वेद में नरमेध मानते ही नहीं जैसा कि रमेश की सम्मति में मैंने दिखलाया है। रमेश जी राजेन्द्रलाल का खण्डन करते हैं। प्राय: सब कोई ब्राह्मण को ही दृष्टांत में अग्रसर करते हैं। फिलिप्स साहिब लिखते हैं:—

"Looking at these passage alone, perhaps we are not justified in concluding that Sunasepha was bound as a victim to be sacrificed. His"bounds" and "rops" may be taken in a figurative sense, denoting the fetters of sin, especially as we have seen before that sin is often compared to a bound" or a "rope" in the Veda, and indeed, it is so comparred in the last verse of this very hymn. We are not,however, left in uncertainty. The Aitaraya Brahman of the R.V. supplies full particulares of the circumstances referred to in the hymns, and bares no doubt as to the fact that "Sunasepha was bound to the there footed tree" for the purpose of being secrificed.

The Teaching of the Vedas P.200

पुन: यही महाशय एक जगह लिखते हैं।

Max Mullar, in his History of Sanskrit Literature, the following valuable remarks on this legend which is there given in full.

"The story of Sunasepha is interesting in many respects, it shows that, at that early time, the Brahmans were famillar with the idea of humane secrifices, and that men who were supposed to belong to the caste of the Brahmans were ready to sell their sons for that purpose" T.205.

पुन: ये ही दूसरी जगह लिखते हैं—

Max Muller doubts the existnece of human sacrifices dur-

ing the chhandas or oldest Vedie period, but sees no reason to doubt its previous existence.

बहुत उद्धहरणों से ग्रंथ बहुत बढ़ जायेगा अतः इतने से ही आप लोग भाव यह समझें कि ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्यों से ही विशेष कर नरमेध सिद्ध करते हैं।

अब मैं इन सबसे पूछता हूँ कि ऐतरेय ब्राह्मण की गाथा वेद के ही आधार पर रची गई है या नहीं ? जब सब को स्वीकार है कि वेद के आधार पर ही यह गाथा रची गई है, तब इससे सिद्ध है कि ब्राह्मण वेद के अनुकूल हैं। वेद में नरमेध की चर्चा नहीं पुनः ब्राह्मण में इसकी चर्चा कैसे हो सकती एवं जब वेद के आधार पर रची गई तो स्वतः सिद्ध है कि यह कथा वेद की छाया लेकर बनाई गई है। वास्तविक घटना नहीं। मैं बारम्बार लिख आया हूँ कि वेद प्रतिपादित अर्थ को ही ब्राह्मण नाटकवत् दिखलाते हैं। इस अवस्था में यह वास्तविक घटना कैसे हो सकती है ? अतः यह सम्पूर्ण कथा कल्पित है और वेदवत् आलङ्कारिक है।

२—पुनः यदि यह वास्तविक घटना होती तो रोहित का भागना, राजा हरिश्चन्द्र को उदर रोग का होना, मध्यम पुत्र का बेचना, शुनःपुछ, शुनःशेप, शुनोलाङ्गूल अजीगर्त इत्यादि परम निन्दित नाम रखना, पुनःशुनःशेप के साथ राजा का यज्ञ करना करवाना, शुनःशेप का विश्वामित्र का पुत्र होना, देवाराधन से पाश टूटना, पिता और ब्राह्मण ऋषि अजीगर्त की पूरी क्रूरता दिखानी इत्यादि का वर्णन नहीं होता क्योंकि (क) रोहित के युवा होने पर किसी अन्य कुमार को मोल लेकर राजा यज्ञ कर लेता। इसके भागने की क्या आवश्यकता थी ? क्या सचमुच वरुण राजा को तंग किया करता था ? ''परन्तु यह रोहित भागता है और राजा बीमार होता है'' यह केवल इसलिये दिखलाया है कि अन्यायी मिथ्यावादी राजा का राज्य काम नहीं आता और परमेश्वर का पाश चक्रवर्ती असत्यवादी राजा के ऊपर भी गिरता है। पूर्व में इसका वर्णन देखिये।

(ख) मध्यम पुत्र के बेचने से केवल मध्यम प्राण का ग्रहण है। अन्यथा मध्यम पुत्र क्यों बेचा जाये ? देखो मध्यम प्राण के विषय में उपनिषद् क्या कहती हैं:—

''यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदाम वेद सप्ताह द्विषतो भ्रातृव्यान् अवरुणद्धि। अयं वाव शिशुः योऽयं मध्यमः प्राणः। तस्येदमेवाधानम्। इदं प्रत्याधानम्। प्राणः स्थूणा। अन्नं दाम।..........तदेष श्लोको मवति—

अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न
स्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे
वागष्टमी ब्रह्मणा संबिदाना बृ०।उ० २।२।

जो कोई आधान सहित, प्रत्याधानसहित, स्थूणासहित और रज्जुसहित शिशु (बालक) को जानता है वह सात शत्रुओं को अवरुद्ध करता अर्थात् रोक रखता है (दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण एक जिह्वा ये ही सात शत्रु हैं) यह मध्यम प्राण ही वह शिशु अर्थात् लड़का है इस लड़के का यह देह ही आधान (आधार) है। शिर ही इसका प्रत्याधान है। प्राण अर्थात् बल ही इसकी स्थूणा (खूंटी) है और अन्न ही रज्जु है। इस प्रकार यह लड़का बँधा हुआ है। इसके विषय में एक श्लोक होता है इसका भाव यह है कि यह शिर एक चमसा के तुल्य है। इसके नीचे मुखरूप बिल है और इसका मूल है इसमें प्राण रूप यश स्थापित है इसके निकट में सात ऋषि हैं और अष्टमी वाणी है। जो ब्रह्म के साथ सम्वाद करती है।

इसी मध्यम प्राण के वश से आत्मा में शान्ति होती है। अतः इस आख्यायिका में मध्यम प्राण बेचने की बात है इससे भी इसका आलङ्कारिकत्व और काल्पनिकत्व सिद्ध होता है। मध्यम अर्थात् सब में व्यापक प्राण। (ग) शुनः पुच्छ, शुनः शेप, शुनोलाङ्गूल और अजीगर्त ये चारों परम निन्दित नाम हैं। क्या अच्छे नाम इन्हें नहीं मिलते थे? निन्दित नाम इस हेतु हैं कि निन्दित पुरुष ही पाश बद्ध होता है। अजीगर्त अर्थात् अजीर्णगर्त ही असंतोषी होता है। इस नाम करण से भी इसका काल्पनिकत्व सिद्ध है। (घ) पुनः शुनःशेप ज्यों ही पाशविनिर्मुक्त होता है त्यों ही ऋषियों से अनुमोदित हो राजा को यज्ञ करवाता है। क्या शुनःशेप तत्काल ही वेदवित् हो गया? इसका आशय यह है कि देवताऽऽराधन से पापिष्ठ पुरुष भी दुःस्वभाव से छूट शुद्ध विश्वमित्र हो जाता है। अतः यहाँ शुनःशेप कर्तृक यज्ञ करवाना और विश्वामित्र का पुत्र होना दिखलाया गया है। (ङ)—पुनः देवऽऽराधन से इसके तीनों पाश टूट कर गिर पड़ते हैं। यह अलौकिक घटना का वर्णन भी काल्पनिकत्व सिद्ध करता है क्योंकि वेद में जो पाशविमोचन की प्रार्थना आती है। इसी को यहाँ प्रत्यक्ष रूप से दिखलाते हैं। च=पुनः अजीगर्त कहा गया है कि यह ब्राह्मण ऋषि और पिता था फिर इसका घृणित व्यवहार क्यों दिखलाया गया। क्या उस समय ऋषियों के पोषक राजाओं और प्रजाओं का अभाव था? क्या ब्राह्मण जाति की निन्दा करना ब्राह्मण ग्रन्थों को अभीष्ट था? ये दोनों बातें नहीं

थीं। मैं लिख चुका हूँ कि ऋषि नाम प्राणों का ही है। ये प्राण परोपकारी और साधक आदि होने के कारण ब्राह्मण कहे जाते हैं। परन्तु इन्हीं प्राणों को अन्न न मिलने से बड़ा क्लेश झेलना पड़ता है। ये प्राण ही राक्षस, असुर, कुत्ते आदि नाम से समय-समय पर व्यवहारानुसार पुकारे जाते हैं और बड़े-बड़े अयोग्य कर्म करते हैं। ये प्राण ही विषय भोग के पिता माता भी हैं। अत: यहाँ ब्राह्मण ऋषि और पिता की क्रूरता दिखलाई गई है। इत्यादि वर्णन के ऊपर जितने ही ध्यान से विचारा जायेगा, उतना ही इसका काल्पनिकत्व सिद्ध होगा। अब मैं विद्वानों के विचार के ऊपर छोड़ देता हूँ। मैंने बहुत संकेत बतला दिए। इतने पर भी यदि कोई न समझे तो उसकी बुद्धि का दोष समझना चाहिये।

बाइबिल कुरान और नरबलिदान

नर बलिदान की चर्चा बाइबिल और कुरान में भी पाई जाती है। मैं कह चुका हूँ कि किसी समय में ब्राह्मण का सिद्धान्त सर्वत्र विस्तृत हो गया था। परन्तु ब्राह्मण का आशय जैसे पौराणिक समय में अज्ञेय और लुप्तप्राय हो गया था वैसी ही पृथिवी पर के सब भाग की दशा थी। अत: सर्वत्र इसकी चर्चा तो विद्यमान है परन्तु ब्राह्मण भाव विद्यमान नहीं॥

बाइबिल आदि की भी कथा गप्प ही प्रतीत होती है। बाइबिल के उत्पत्ति के २०वें अध्याय में लिखा है कि जब इब्राहिम का पुत्र इसहाक उत्पन्न हुआ तब वह एक सौ वर्ष का था। प्रथम यही गप्प प्रतीत होता है। हरिश्चन्द्र के इतिहास में १०० स्त्रियाँ हैं। यहाँ सौ वर्ष हैं। पुन: २२ वें अध्याय में लिखा है कि "तब इब्राहिम ने छुरी लेने को हाथ बढ़ाया कि अपने पुत्र को बलि करे।" इस पर यहोवा के दूत ने स्वर्ग से उसको पुकार के कहा हे इब्राहिम! उसने कहा क्या आज्ञा है? दूत ने कहा उस लड़के पर हाथ मत बढ़ा और न उससे कुछ कर क्योंकि तूने जो मुझसे अपने पुत्र बल्कि इकलौते पुत्र को भी नहीं रख छोड़ा इस से अब मैं जान गया कि तू परमेश्वर का भय मानता है। यह सुन के इब्राहिम ने आँखें उठाई और क्या देखा कि मेरे पीछे एक मेंढा अपने सींगों से एक झाड़ी में उलझा हुआ है सो इब्राहिम ने जाके उस मेंढ़े को लिया और अपने पुत्र की सन्ती होम बलि करके चढ़ाया।............। कुरान के ३७ वें अध्याय में कुछ परिवर्तन के साथ इब्राहिम और इसहाक की बलि का वर्णन है। यूरोप के विद्वान् अपने धर्म पुस्तक में नरबलि देख वेदों से भी इसको निकालना चाहते हैं सो कैसे हो सकता है?

अलमति विस्तरेण

जालबद्ध मत्स्य ऋषिगण

त्यान्नु सैका मत्स्यः सांमदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा बहवो वा मत्स्या जालनद्धा आदित्यानस्तुवन्।

सर्वा ० ८।४४।

सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में कात्यायन लिखते हैं—"त्यान्नु क्षत्रियान्" ८।६७ इत्यादि २१ एकविंशति ऋचाओं के ऋषि एक मत्स्य हैं जो सम्मद नाम के मीन राजा के पुत्र हैं अथवा मित्रावरुणपुत्र मान्य नाम के ऋषि हैं अथवा बहुत से मत्स्यों ने जालबद्ध होकर आदित्यों की स्तुति की थी वे ही इनके ऋषि हैं।

"जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुराहयात्।
कद्धस्थ हवनश्रुतः"।

इस ऋचा की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं "**मत्स्यानां जालमाषन्नानामेतदर्षं वेदयन्ते**" अर्थात् इन मन्त्रों के ऋषि जालबद्ध मत्स्यगण हैं।

आदित्यदैवतं सूक्तं त्यान्वित्यत्र परन्तु यत्।८८।धीवराः सहसा मीनान् दृष्ट्वा सारस्वते जले।जालं प्रक्षिप्य तान् बद्धो दक्षिपन् सलिलात्स्थलम्।८९। शरीरपातभीतास्तेतुष्टुवुश्चादितेः सुतान्। मुमुचुस्तांस्ततस्ते च प्रसन्नास्तान् समूदिरे।९०।धीवराःक्षुद्भयं+मा+वोभृत्स्वर्ग प्राप्स्यथेति च। उतेतिमाताचैतषां तृचेनाभिष्टुतादितिः ९१

अर्थात् बृहद्देवता षष्ठाध्याय में शौनकाचार्य लिखते हैं:—"त्यान्नु क्षत्रियान्" ८।६७। इत्यादि २१ ऋचाओं के देवता आदित्यगण हैं। सरस्वती नदी के जल में धीवर (मछुये) मीनों को देख जाल फैंक उन्हें बाँध जल से स्थल में ले आए। शरीरपात के भय से वे मीनगण अदिति पुत्रों की स्तुति करने लगे। आदित्यगणों ने भी उन्हें छुड़ा दिया। वे मीनगण प्रसन्न हो धीवरों से बोले। हे धीवरो! आपको क्षुधा का भय न हो। आप स्वर्ग न पावेंगे। इस प्रकार इस सूक्त के ऋषि मत्स्यगण हुए यह इनका भाव है।

इन लेखों से प्रतीत होता है कि वेदों पर बहुत दिनों से लोग कथा कहानी बनाते आए हैं। अज्ञानी जनों के बोध के लिए कदाचित् आख्यान रचे गये हों। परन्तु शोक यह है कि यास्काचार्य सदृश बुद्धिमान जन भी इन आख्यायिकाओं, कथाओं, इतिहासों के आशय का संकेतमात्र भी न कर गये। क्या जलचर

मत्स्यगण भी ऋचाएँ बना सकते हैं? अथवा वैदिकार्थ देख सकते हैं? एवमस्तु। वेद में देखें कि कहाँ तक कथांश हैं और क्या आशय है।

प्रार्थना संख्या ५। ऋग्वेद। ८। ६७।

त्यान्नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे। सुमृडिकाँ अभिष्टये। १।
मित्रौ नो अत्यंहतिं वरूणः पर्षदर्यमा। आदित्यासो यथा विदुः। २।
तेषां हि चित्रमुक्थ्यं वरुथमस्ति दाशुषे। आदित्यानामरंकृते। ३।
महि वो महतामवो वरुण मित्रार्यमन्। अवांस्या वृणीमहे। ४।

(अभिष्टये) अभिमत-फल-लाभार्थ (सुमृडीकान्) सुखप्रद (क्षत्रियान्) वलिष्ठ (त्यान्+आदित्यान्+नु) उन आदित्य-समान रक्षक पुरुषों वा आदित्यगणों के निकट (अवः+याचिषामहे) रक्षा की याचना करते हैं। १। (मित्रः०) मित्र, वरुण, अर्यमा और आदित्यगण (यथा विदुः) जिस कारण हमारे दुःख को दुःसह जानते हैं अतः ये (अंहतिम्) हमारा पाप (अति+पर्षद्) दूर कर नष्ट करें। २। (दाशुषे+अरंकृते) हव्यदायी पर्याप्त कर्मकर्त्ता यजमान के निमित्त ही (तेषाम्+आदित्यानाम्+ हि) उन आदित्य गणों का (चित्रम्) विचित्र (उक्थ्यम्) स्तुति योग्य (वरूथम्+अस्ति) धन है। ३। हे वरुण, मित्र, अर्यमन्! (महताम्+वः) आप महानों की (अवः+महि) रक्षा भी महती है अतः (अवांसि+आवृणीमहे) आपके निकट रक्षा की प्रार्थना करते हैं। ४। अवस=रक्षा। यद्यपि अव् धातु अनेकार्थक है तथापि रक्षार्थ में इसके अनेक प्रयोग आते हैं। मृडीकः=सुखदाता। मृडति सुखयतीति मृडीकः। ४। २४ उणादि। अहंति=पाप, वध, हनन, हिंसा। हन्त्यनेनेति अंहतिः। ४। ६। उ० सू०। अहंति, अंह, अंहु ये तीनों शब्द हन धातु से बने हैं निरु० ४। २५। पर्षत्=पाप करना। वरूथ= उत्तम रमणीय धन।

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्थ हवनश्रुतः। ५

(आदित्यासः) हे आदित्यगण! (पुरा+हथात्) हथ=हनन् अर्थात् मृत्यु के प्रथम ही (जीवान्+नः) जीते हुए हमारे निकट रक्षार्थ (अभिधेतन) दौड़ कर आइये। (हवनश्रुतः) हे आर्तों के आह्वान श्रोता (कत्+ह+स्थ) आप कहाँ हैं। ५। अभिधेतन=अभिधावत, अभि=धावन कुरुत॥ (सा०)

यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः। तेना नो अधि वोचत। ६। अस्ति देवा अंहोरुर्वस्ति रत्नमनागसः। आदित्या अद्भुतैनसः। ७। मा नः सेतुः सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि। इन्द्र इद्धि श्रुतो वशी। ८। मा नो मृचा रिपूणां वृजिनानामविष्यवः। देवा अभि प्र मृक्षत। ९।

(श्रान्ताय+सुन्वते) श्रान्त और अभिषवकारी यजमान को देने के लिए (यद्+वरुथम्) जो दातव्य वरणीय धन (वः) आपके निकट है (यद्+छर्दि) और जो गृह है (तेन+नः) उस धनद्रव्य से हमको धनाढ्य बना (अधिवोचत) मधुरोपदेश किया कीजिये। ६। (देवाः) हे बलिष्ठ विद्वद्गण। (अंहोः) पापशील पुरुष (उर्+अस्ति) पाप महान् है (अनागसः) और अपापव्यक्ति का (रत्नम्+अस्ति) रमणीय यश महान् है (आदित्याः) हे आदित्यगण! (अद्भुतैनसः) आप अभूतपाप अर्थात् पापशून्य हैं। हमको अभिलषित धन प्रदान कीजिये। ७। (अयम्+इन्द्रः+सेतुः) यह इन्द्र ही सेतु अर्थात् बन्धक जाल है ''षिज्बन्धने'' से सेतु बना है (मा+नः+सिषेत्) वह हमको न बाँधे (महे+नः+परि+वृणक्तु) महान् कार्य हेतु हमको परिवर्जित करे (इन्द्र+इत+हि+श्रुतः+वशी) इन्द्र ही विख्यात् और सकल वशकारी है। ८। (अविष्यवः) हे रक्षक देवगण! (वृजिनानाम्+रिपूणाम्) हिंसक शत्रुओं के (मृचा) हिंसक शत्रुओं के (मृचा) हिंसक जाल से (मा+नः+प्रमृक्षत) हमारी हिंसा न कीजिये (देवाः) हे देवगण। हम लोगों का परिहार कीजिये। ९।

उत त्वामदिते मह्यहं देव्युप ब्रुवे। सुमृडीकामभिष्टये। १०। पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः। माकिस्तोकस्य नो रिषत्। ११। अनेहो न उरुव्रज उरुचि वि प्रसर्तवे। कृधि तोकाय जीवसे। १२।

(अदिते) हे अखण्डनीया माता अर्थात् मातृरूपा देवि। (महि) हे माननीया माता! (देवि) हे देवि! (अभिष्टये) अभिमत लाभार्थ (उत+त्वाम्+अहम्+उपब्रुवे) आपके निकट पहुँच कर मैं आपकी स्तुति करता हूँ। हे माता! (सुमृडीकाम्) आप सर्वदा सुखप्रदात्री हैं। १०। हे अदिते! (आ+पर्षि) सब ओर से आप रक्षा कीजिये (दीने+उग्रपुत्रे) दीन और उग्र पुत्र विशिष्ट (गभीरे) जल में (जिघांसतः) हिंसाकारी जन का जाल (नःतोकस्य माकि+रिषत्) हमारे सन्तान की हिंसा न करे। ११। (उरुव्रजे) हे विस्तीर्ण मगनकारिणी। पूज्या अदिति माता (अनेह नः) निरपराधी हम लोगों के (वि+प्र+सर्तवे) अच्छे प्रकार इधर उधर अभिसरण के लिए (उरूचि) विस्तीर्ण स्थान कीजिये और (तोकाय) सन्तान के (जीवसे) जीवनार्थ (कृधि) विस्तीर्ण जल कीजिये। १२।

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः। १३। ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते। १४। अपो षु ण इयं शरुरादित्या अप दुर्म्मतिः। अस्मदेत्वजध्नुषी। १५।

(ये) जो आदित्यगण (मूर्धानः) शीर्ष—स्थानीय हैं जो (क्षितीनाम्+

अदब्धासः) मनुष्यों के अहिंसक हैं (स्वयशसः) स्वायत—कीर्ति हैं (अद्रुहः) द्रोहरहित हैं वे (व्रता) हमारे व्रतों की (रक्षन्ते) रक्षा करते हैं। १३। (आदित्यासः) हे आदित्यगण! (ते) वे रक्षक आप (नः) हमको (वृकाणाम्+आस्नः) हिंसाकारी ईर्ष्या द्वेष आदिक पापों वा मनुष्यों के मुख से (मुमोचत) मुक्त कीजिये। (अदिते) हे अदिते माता! (बद्धम+स्तेनम्+इव) बद्ध चोर के समान मुक्त कीजिये। १४। (आदित्याः) हे आदित्यगण! (इयम्+शरुः) यह कृत्रिम जाल (अजध्नुषी) हिंसा करने में असमर्थ हो (नः+अपो+सु+एतु) हम से दूर चली जाये। १५।

शश्वद्धि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयम्। पुरा नूनं बुभुज्महे। १६। शश्वन्तं हि प्रचेतसः प्रतियन्तं चिदेनसः। देवाः कृणुथ जीवसे। १७। तत्सु नो नव्यं सन्यस आदित्या यन्मुमोचति। बन्धाद्बद्धमिवादिते। १८।

(सुदानवः+आदित्याः) हे सुन्दरदानशील आदित्यगण। (वः+ऊतिभिः) आपको रक्षाओं से (शश्वत्+हि) सर्वदा ही (पुरा+नूनम्) पूर्व काल में और सम्प्रति काल में भी (वयम्+बुभुज्महे) हम भोग भोगते हैं। १६। (प्रचेतसः) हे प्रकृष्ट-ज्ञानयुक्त देवगण। (एनसः) जो पाप का कर्त्ता पुरुष (शश्वन्तम्) बारम्बार (प्रतियन्तम्+चित्) हमारे निकट आता है उसको (देवाः) हे देवगण! (जीवसे +कृणुथ) हमारे जीवनार्थ दूर कीजिये। १७। (आदित्याः) हे आदित्य गण! (तत्) वह बन्धन (नः+सु+नव्यम्+सन्यसे) हमारा स्तुत्य हो (यत्+मुमोचति) जो हमको स्वयं छोड़ देता है (अदिते) हे अदिते! आपके अनुग्रह से (बन्धात्+बद्धम इव) जैसे बन्धन से बद्ध पुरुष छूटता है, तद्वत् जो जाल हम से दूर हो जाता है वह भी हमारा प्रशंसनीय है।

नास्माकमस्ति तत्तर आदित्यासो अतिष्कदे। यूयमस्मभ्यं मृडत। १९। मा नो हेतिर्मिवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः। पुरा नु जरसो वधीत्। २०। वि षु द्वेषो व्यंहतिमादित्यासो वि संहितम्। विष्वग्वि वृहता रपः। २१।

(आदित्यासः) हे आदित्यगण! (अस्माकम्+न+तत्+तरः) आपके समान हम लोगों का वेग नहीं। जो वेग (अतिष्कदे) हमारे दुःख निवारण के लिए समर्थ हो। अतः (यूयम्+अस्मभ्यम्+मृडत) आप ही हमको सुखी कीजिये। १९। (आदित्याः) हे आदित्यो! (विवस्वतः) विवस्वान् के (हेतिः) आयुधसमान (कृत्रिमा+शरुः) यह कृत्रिम जाल (पुरा+तु) पूर्व और अब अर्थात् सदा (जरसः+नः+मा+वधीत्) हम जीर्ण पुरुषों को हनन न करे। २०। (आदित्यासः) हे आदित्यगण !(द्वेषः+सु+वि+वृहत) द्वेष्टा पुरुषों को उन्मूलित कीजिये (अंहतिम्+वि) पातक को नष्ट कीजिये (संहितम्) जाल का विनाश

कीजिये (रप:+विष्वग्+वि+वृहत) पाप को जड़ से उखाड़ दीजिये। २१।

सम्पूर्ण सूक्त में मत्स्यगण का कोई उल्लेख नहीं। फिर इसके मत्स्यगण ऋषि हैं ऐसी विवचेना करने का कोई कारण हम नहीं देखते अतएव कात्यायन इसके तीन ऋषि कहते हैं और जो जाल का इसमें उल्लेख है वह मछुये का जाल नहीं किन्तु संसार का विपज्जाल वा पाप जाल वा शत्रुता रूप जाल है। ऐसा ही अर्थ करने से सुन्दर व्याख्या होती है। यही सम्मति श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त की है।

१—आशय। प्रथम तो वेद में ऐसी प्रार्थना बहुधा आया करती है। यह कोई विलक्षण प्रार्थना नहीं। जैसे शुन:शेप सूक्त में पाप-पाश से मुक्ति की प्रार्थना है वैसे ही यहाँ पर भी संसार के विपज्जाल से छुटकारा पाने के हेतु प्रार्थना है। आगे इनके ऐसे उदाहरण मिलेंगे। यहाँ भी दो एक सदृश ऋचाएँ दी हैं। तथापि कात्यायन, शौनक आदि कृत प्राचीन गाथाओं का भी आदर करते हुए हम इस सूक्त के ये आशय निकाल सकते हैं—क—वेद हिंसा निषेध परक है और मनुष्यजाति ज्ञानवती है। अत: ईश्वर चिताते हैं कि हे मेरे पुत्रों! इन जलचर निवासी निरपराधी जीवों की भी हिंसा तुम मत करो। अथवा वेद मनुष्य स्वभाव निरूपक है। मनुष्य जाति में देखते हैं कि इन निरपराधी जलचर जीवों को विविध प्रकार से फँसा कर अपने काम में लाते हैं। अत: अब मीनगणों की ओर से, मानो, वेद प्रार्थना करते हैं कि हे रक्षक क्षत्रियो! मनुष्य समान हमारी भी रक्षा कीजिये। अथवा मत्स्यगण, मानो, सूर्यदेव से रक्षार्थ प्रार्थना करते हैं। क्योंकि वृष्टिदाता और जल-शोषक सूर्य ही हैं। ह्रद, नद, नदी, जलाशय आदि के जल सूखने पर सुखपूर्वक ये जलचर जीव पकड़े जाते हैं। मांसभक्षी, अनेक पक्षी, जल सूखते ही मीन, कर्कट आदिकों को खाने लगते हैं धीवर भी टोकरी-टोकरी इन्हें पकड़ते हैं अत: ११ वीं ऋचा में जल क्षीण न हो ऐसा निवेदन करते हैं। यदि सूर्य देव पूर्ण जल दिया करें तो ऐसी आपत्ति इन पर न आवे और मत्स्यघाती धीवर आदि गम्भीर जल में भी कृत्रिम शरु (जाल) फैंक के इन्हें फँसाया करते हैं अत: क्षत्रियगणों से भी निवेदन है कि इन अकर्मण्य पुरुषों का शासन आप कीजिये। जैसे आजकल गोरक्षकजन गौवों की ओर से अनेक प्रार्थनाएँ बनाकर सुनते, सुनाते, गाते, गवाते हैं। जैसे भारतभूमि रक्षकजनों ने भारतभूमि की ओर से विविध करुणाजनक स्तोत्र भजन बनाए हैं वैसे, मानिये, कि, वेद भगवान् ने मनुष्य स्वभाव देख मीनों की ओर से यह स्तुति गाई है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि साक्षात् गौ वा भारतभूमि ही स्तोत्र रचती है। तद्वत् वेद में भी समझिये।

अब जो ऋषिगण सांप्रतिक गोरक्षकगण-सदृश मत्स्य हिंसा-निवृत्त्यर्थ लोगों को यह सूक्त सुनाया करते थे वे भी जालबद्ध मत्स्य इस नाम से ही प्रसिद्ध हुए। शिवसंकल्प हिरण्यगर्भादिवत्। ऋषि प्रकरण देखिये।

ख—अथवा कृत्रिम अकृत्रिम भेद से दो प्रकार के दुःख है अल्पज्ञता असमर्थता आदि। कोई चाहे कि सूर्यादि लोक लोकान्तरों का यथार्थ ज्ञान हमें प्राप्त हो, विहगवत् आकाश में उड़ें, मतस्यवत् समुद्र के अभ्यन्तर तैरें। सूर्यादि पदार्थ रच लें ते ईदृक् कार्य मनुष्य जाति से नहीं हो सकता है। अतः यह स्वाभाविक दुःख है। ईर्ष्या, घृणा, शत्रुता, निर्धनता, धनकामना, तृष्णा आदि कृत्रिम दुःख हैं। अथवा निर्वेर को भी बैरी मिल जाते हैं जो सदुपदेशक, वर्धिष्णु, उद्यमी, ईश्वरभक्तिपरायण, जगद्धितैषी साधु पुरुष हैं उनके लोक में समृद्धि, यशोवृद्धि, प्रतिष्ठाभ्युदय, प्रतिभा आदि गुण देख सहवासी, प्रतिवासी, सहयोगीगण द्वेष करने लगते हैं। यह जाल कृत्रिम है क्योंकि इनकी क्रिया के कारण है। सर्वथा धन की चिन्ता, लोकैषणा के लिए व्यग्र होने आदि जो शतशः कृत्रिम जाल हैं उनसे रक्षा पाने के लिए जो जन इच्छुक हैं। इनको प्रात्यहिक प्रार्थना स्वरूप यह सूक्त दिया गया है। ग—अथवा स्थलचर सिंह व्याघ्र और गौ आदिक भी और नभश्चर शुक, पिक आदिक भी कदाचित् मनुष्य के अपकारी हों। पर जलचर मत्स्य मनुष्य के अपराधी प्रायः नहीं हो सकते। तथापि इन निरपराधी जीवों के भी वैरी धीवर हो जाते हैं। तद्वत् सज्जन पुरुष के भी निष्कारण शत्रु हो जाते हैं। अथवा जैसे अगाध जल में मीन सुख से निवास करते हैं तद्वत् ईश्वरीय दयारूप-जलाशय में ही मग्न रहें। बाहर से तृष्णा, दरिद्रता, रागद्वेषादि कृत्रिम जाल न फैलावें इत्यादि कामना के हेतु यह प्रार्थना सूक्त है।

मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्म्मिर्न नावमा वधीत्।

८।७५।९।

(ऊर्मिः न+नावम्) जैसे समुद्रतरंग नौका को बाधा प्रदान करता है वैसे (समस्य) समस्त (दूढ्यः) पापमति (परिद्वेषसी) और सर्वथा द्वेषी पुरुष का (अहंति) पापाऽऽयुध (मा+नः आ+वधीत्) हमारा वध न करे। यह आंगिरस विरूप ऋषि प्रार्थना करते हैं।

जातवेदसे सुनवाम सोम मरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।

१-९९।१

मरीचिपुत्र कश्यप प्रार्थना करते हैं। हम (जातवेदसे+सोमम्+सुनवाम) सर्व प्राणियों के हृदयस्थ भाव जाननेवाले परमेश्वर को उत्तम पदार्थ समर्पित करें। वह (अरातीयतः+वेदः+नि दहाति) मेरे शत्रु को धन को निःशेष कर दग्ध करे (सः अग्नि) वह ज्योतिः स्वरूप ईश्वर (नः+विश्वा+दुर्गाणि) हमारे निखिल दुर्गम दुःखों को (अति+पर्षत्) अतिदूर करके पार कर दे (नावा+इव सिन्धुम्) जैसे कर्णधार नौका से नदी पार करता है तद्वत् (दुरितानि) निखिल पापों को हमसे पार कर दे अर्थात् हमसे पाप दूर कर दे। इस प्रकार देखते हैं कि अज्ञानता शत्रुता आदि पाप से बचने के लिए अनेक प्रार्थना हैं।

आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ। १।१७२।२। तृणस्कन्दस्य नु विशः परि वृंक्तसुदानवः। ऊर्ध्वान्नः कर्त जीवसे।३।

अगस्त्य प्रार्थना करते हैं (सुदानवः+मरुतः) हे सुन्दर दानशील मरुद्गण अर्थात् हे वायुवत् संचरणशील वैश्य मनुष्यो! (वः+सा+ऋंजती+शरुः) आपकी वह जाज्वल्यमाना हिंसिका शरु (आरे) हमसे दूर हो एवम् (यम्+अस्यथ) जिस अस्त्र को आप शुत्रओं पर फैंकते हैं (अश्मा+आरे) वह अश्म नामक आयुध दूर हो।२।(सुदानवः) हे सुशोभन दानशील मरुद्गण (तृणस्कन्दस्य+नु+विशः) तृणवत् स्कन्दनीय=भजनीय मेरी प्रजाओं का परिहार कीजिये (जीवसे+नः+ऊर्ध्वान+कर्त) चिरजीवनार्थ हमको ऊपर कीजिये।३।

इत्यादि अनेक ऋचाएँ वेद में हैं, जिनमें शरु और अंहति आदि से बचने के लिए अनेक प्रार्थना है। परन्तु ये सब बाह्य वर्णन नहीं। इसी के समानार्थ-बोधक ८।१८ सूक्त है अतः इसको यहाँ मूलमात्र उद्धृत कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। वैदिकगण अब विचारें कि ये सब कैसी उच्च भाव की प्रार्थनाएँ हैं—

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः। आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि।१। अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम्। अदब्धाः सन्ति पायवः सुगेवृधः। २। तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा। शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे।३। देवेभिर्देव्यदिते ऽरिष्टभर्म्मन्ना गहि। स्मत्सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः।४। ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे। अंहोश्चिदुरु चक्रयोऽनेहसः।५। अदितिनो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा।६। उत स्या नो दिवा मतिरदिति रूत्या गमत्। सा शन्ताति मयस्करदप स्त्रिधः।७। उत त्यादेव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना। युयुयातामितो रपो अप स्त्रिधः।८। शमग्निरग्निभिः करच्छं

नस्तपतु सूर्यः। शं वातो वात्वरप अप स्त्रिधः। ९। अपामीवामप स्त्रिध मप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः। १०। युयोता शरु मस्मदां आदित्यास उतरामतिम्। ऋधम-गृद्वेषः कृणुत विश्ववेदसः। ११। तत्सु नः शर्म यच्छतादित्या यन्मुमोचति। एनस्वन्तं चिदेनसः सुदानवः। १२। यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः। स्वैःष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः। १३। समित्तमघमश्नवद् दुः शंसं मर्त्यं रिपुम्। यो अस्मत्रा दुर्हणावाँ उप द्वयुः। १४। पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम्। उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः। १५। आ शर्म पर्वतानामोतापां वृणीमहे। द्यावाक्षामाऽरे अस्मद्रपस्कृतम्। १६। ते नो भद्रेण शर्मणा युस्माकं नावा वसवः। अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन। १७। तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः सुमहसः कृणोतन। १८। यज्ञो हीड वो अन्तर आदित्या अस्ति मृडत। युष्मे इद्वो अपि ष्मसि सजात्ये। १९। बृहद्वरूथं मरुतां देवं त्रातार-मश्विना। मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये। २०। अनेहो मित्रार्यमन्नृवद्वरुण शंस्यम्। त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छर्दिः। २१। ये चिद्धि मृत्युबन्धवः आदित्या मनवः स्मसि! प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन। २२।

मृत सुबन्धु का प्राणाऽऽनयन

अग्नेत्वं (५+२४) गौपायना लौपायना वा बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धु-र्विप्रबन्धुः। सर्वानुक्रमणी। २५। अथ हैक्ष्वाको राजा असमातिर्गौपायनान् बन्ध्वादीन् पुरोहितांस्त्यक्त्वाऽन्यौ मायाविनौ श्रेष्ठतमौ मत्वा पुरोदधे। तमितरे क्रुद्धा अभिचेरुः। अथ तौ मायाविनौ सुबन्धोः प्राणान् आचिक्षि पतुः। अथ हास्य भ्रातरस्त्रयः "मा प्र गामेति" १०। ५७। षट्कं गायत्रं स्वस्त्ययनं जप्त्वा "यत्तेयममिति" १०। ५८। द्वादशर्च मानुष्टुभं मन आवर्त्तनं जेपुः। "प्रतारीति" १०। ५९। दशर्चे चतस्त्रो निर्ऋत्यपनोदार्थ जेपुः। चतुर्थ्यां सोमं चास्तुवन् मृत्यो रपगमायोत्तराभ्यां दैवीमसुनीतिं सप्तम्यां लिङ्गोक्तदेवताः शिष्टाभिः पंक्ति महापंक्ति पंक्तयुत्तराभिर्द्यावापृथिव्यौ समिन्द्रेतीन्द्रं वार्धर्चेन। "आ जनमिति" १०। ६०। द्वादशर्च आनुष्टुभे चतसृभि रसमाति मस्तुवन् पञ्चम्येन्द्रं षष्ठयाऽगस्त्यस्य स्वसा मातैषां राजानमस्तौत् पराभिः सुबन्धौर्जीवमाह्वयं स्तमन्त्यया लब्धसञ्ज्ञमस्पृशन् पञ्चाद्यागायत्र्योऽष्टम्याद्ये पंक्ति। सर्वानुक्रमणी। ५७।

सर्वानुक्रमणी २५ वें खण्ड में कात्यायन लिखते हैंः—ऋग्वेद ५-२४ चतुर्विंश सूक्त के द्रष्टा बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्र बन्धु ये चार ऋषि हैं और ये गौपायन अथवा लौपायन कहलाते हैं। पुनः ५७ वें खण्ड में कहते हैं

कि कदाचित् इक्ष्वाकु पुत्र राजा असमाति ने गौपायन बन्धु आदि पुरोहित को त्याग अन्य दो मायावियों (असुरों) को श्रेष्ठतम जान पुरोहित बनाया। ये बन्ध्वादि क्रुद्ध हो राजा के लिए अभिचार (मारण-प्रयोग) करने लगे। पश्चात् उन दोनों मायावियों ने सुबन्धु के प्राण ही लिये। तब सुबन्धु के अवशिष्ट तीनों (बन्धु-श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु) भ्राता "मा प्रगाम" १०-५७ इत्यादि षट्ऋचा युक्त को जप "यत्तेयम" १०-५७ इत्यादि द्वादशर्च (१२ ऋचा युक्त) सूक्त को सुबन्धु के मन को पुनः लौटाने के लिए जपने लगे। पश्चात् प्रतारि १०-५९ इत्यादि दशर्च (१० ऋचायुक्त) सूक्त की चार ऋचाओं का निर्ऋति (पापदेवता=पाप) के दूरीकरणार्थ जाप किया। अवशिष्ट ऋचाओं से सोम, असुनीति (प्राण देवता) द्यावा पृथिवी आदि की स्तुति की। "आजनम्" १०-६० इत्यादि द्वादशर्च सूक्त की चार ऋचाओं से प्रथम असमाति राजा की स्तुति की। पुनः इन सबों की माता, अगस्त्य की स्वसा ने राजा की स्तुति की। पश्चात् अवशिष्ट ऋचाओं से सुबन्धु के प्राण बुलाए। पश्चात् अन्तिम ऋचा पढ़ कर लब्धसंज्ञ सुबन्धु को छूते गये। इति।

बृहद्देवता सप्तमाध्याय ८२ श्लोक से यही कथा आरम्भ होती है। विशेष यह है जो दोनों मायावी असमाति के पुरोहित हुए थे वे किरात और आकुली नाम के थे। ये कपोत (कबूतर) होके बन्ध्वादिकों के निकट पहुँच सुबन्धु के ऊपर गिरे। सुबन्धु मूर्छित होकर गिर गया। ये दोनों इसके प्राण लेकर राजा के पास गये। आगे पूर्ववत् कथा है। शाट्यायन ब्राह्मण में भी समान आख्यान आया है। विशेष यह है कि किलात और आकुलि दो मायावी थे। ये दोनों श्रौताग्नि में मांस अश्रौताग्नि में ओदन पका राजा को खिलाया करते थे। अतः इक्ष्वाकु के सब ही पुत्र परास्त हो गये इत्यादि।

शौनक कहते हैं अग्नि के समीप से देशान्तर जाना हो तो "मा प्रगाम" १०।५७ सूक्त जप कर जाये। इत्यादि अनेक आचार्यों ने इन तीन चार सूक्तों पर प्रायः किञ्चित् भेद करते हुए समान आख्यान लिखा है।

इस आख्यान की उत्पत्ति का कारण क्या है, वेद में इसका अंश कितना है और क्या भाव है? मन आवर्तन का क्या आशय है? राजा असमाति कौन है? सुबन्धु के भ्राता कौन हैं। इत्यादि मीमांसनीय हैं। वेदों पर क्या-क्या विलक्षण इतिहास रचे गये देखकर आश्चर्य प्रतीत होता है। क्या अभिचार कर्म भी वेद बतलाते हैं। कात्यायन आदिकों ने वेदों को क्या समझा था, मालूम नहीं।

अब सूक्तार्थ पर ध्यान दीजिये और विचारिये कि यह कौन सी शिक्षा

देता है। प्रथम सम्पूर्ण सूक्त से प्रार्थना की जाती है कि हम मनुष्य प्राणवत् मनोयोग के साथ यज्ञ करें, ईश्वरीय आज्ञा में सदा तत्पर रहें, कुमति हम में आकर नष्ट न करे। यज्ञ त्याग ही मृत्यु है और सम्पादन करना ही अमृत्व है। प्रथम मन्त्रार्थ देकर पुनः इसका भी तात्पर्य लिखेंगे। देखिये:—

(१) मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। माऽन्तःस्थुर्नो अरातयः। १०। ५७। १। यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि। २।

(इन्द्र) हे सर्वेश्वर सर्वद्रष्टा जगदीश आपकी कृपा से! (वयम्) हम गौपायन आदि निखिल मनुष्य (पथः+मा+प्रगाम) समीचीन वैदिक मार्ग से कदापि भी दूर न जाएँ। एवं (सोमिनः+यज्ञात्) सोमविशिष्ट यज्ञ से दूर न जाएँ। तथा (नः+अन्तः+अरातयः मा+तस्थुः) हमारे मध्य शत्रु स्थित न हों। १। (यः+यज्ञस्य प्रसाधनः) जो परमात्मा यज्ञ का प्रकृष्ट साधक है जो (तन्तुः) सब का सूत्रात्मा है जो (देवेषु+आतजः) जो देव में विस्तारित है (तम्+आहुतम्) उस समन्तात् पूज्य देव को (नशीमही) हम उपासक गण प्राप्त करें। २। नशति र्व्याप्ति कर्मा। नि० घ० २। ८। नश प्राप्ति अर्थ में है। इसकी व्याख्या ऐतरेय ब्रा० ३। ११ में है।

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन। पितृणाञ्च मन्मभिः। ३। आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक्च सूर्यं दृशे। ४। पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि। ५। वयं सोम व्रते तव मन स्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि। ६।

सर्व कार्य में समाहित मन अपेक्षित है। परन्तु स्तुति प्रार्थनोपासनात्मक महाक्रतु तो असमाहित चित्त से हो ही नहीं सकता अतः मन की एकाग्रता के लिए आगे प्रार्थना है (नु+मनः+आ+हुवामहे) हम मनुष्य प्रथम अवश्य ही इतस्ततः भ्रमणशील अतिवेगवान् मन को अपने निकट चारों ओर से बुलावें अर्थात् मन को स्थिर करें (नाराशंसेन+सोमेन) मनुष्य-कीर्ति वर्धक जो सोम याग है (च+पितृणाम्+मन्मभिः) और पितरों के माननीय जो स्तोत्र है इन दोनों साधनों से मनको स्थिर करें। सच्चरित्र शुभकर्मपालन, दुष्कर्मनिवृत्ति आदि से मनुष्य प्रशंसित होता यही नाराशंस याग है। पितरों के जो सन्मार्ग सम्बन्धी अनेक इतिहास हैं वे ही इनके स्तोत्र हैं। इन दोनों सच्चरित्रपालन से और महात्मा पूर्वजों के इतिहास-श्रवण से मन कर्तव्यपालन में स्थिर हो जाता है। अब उपासकगण अपने जीवात्मा से कहते हैं कि हे बन्धु मुख्यप्राण जीवात्मन्! आपका मन जो इतस्ततः भ्रमण कर रहा है। वह (ते+मनः+

पुन:आ+एतु) आपका मन पुन: आवे अर्थात् स्थिर होवे। (क्रत्वे) क्रतु अर्थात् वैदिक लौकिक कर्म के लिए (दक्षाय+जीवसे) बल के लिए और जीवन के लिए (च+ज्योक्+सूर्यम्+दृशे) और चिरकाल सूर्य के दर्शन के लिए मन स्थिर हो मन की स्थिरता से यज्ञ, यज्ञ से बल, बल से जीवन और जीवन से सूर्यादि ईश्वरीय पदार्थ का दर्शन होता है।४। (पितर:) हे प्राण! अपान आदि पितृगण (न:) हमको (दैव्य:+जन:+पुन: +मन:+दातु) दैव्यजन:दिव्य शक्ति पुन: प्रशस्त मन देवे। जिससे (जीवम्+व्रातम्) जीवित समूह को (सचेमहि) हम प्राप्त हों। मन का अस्थिर और चञ्चल होना एक प्रकार से मरण है। अत: प्रार्थना है कि हमें समाहित मन प्राप्त हो जिससे जीवित प्राणियों के तत्त्व का अनुभव करूँ।५। (सोम) हे यजनीय देव! (तनूषु+मन:+विभ्रत:+वयम्) शरीर में मन स्थिर करते हुए हम उपासक गण (तव+व्रते) आप के व्रतपालन के निमित्त ही (प्रजावन्त:+सचेमहि) प्रजावान् होवें। इस सम्पूर्ण सूक्त में देखते हैं कि यज्ञ के लिए मन की एकाग्रता के हेतु प्रार्थना है॥ इस ५८ अष्ट पंचाशत्तम सूक्त में भी मन की चंचलता दिखलाते हुए उसके वशीकरण की प्रार्थना है।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।१। यत्ते दिवं यत् पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्त्तयामसीहिक्षयाय जीवसे।२। यत्ते भूमिचतुर्भृष्टिं०। तत्त०।३। यत्ते चतस्त्र:प्रदिशो मिनो० तत्त०।४। यत्ते समुद्रमर्णवेमनो०।५। यत्ते मरीचीः प्रजतोमानो०।६।

हे सुबन्धो जीवात्मन्! (यत्+ते+मन:) जो तेरा मन (वैवस्वतम्+यमम्+दूरकम्+जगाम) इस सौर जगत् में दूर तक चला गया है (ते+तत्) तेरे उस मन को (इह+क्षमाय+जीवसे) यहाँ वास और जीवन के हेतु (आ+वर्तयामसि) लौटा लाते हैं० अर्थात् लौटाकर स्थिर करते हैं। क्षय निवासे। क्षिनिवासे।१। (यत्तेदिवम्) जो तेरा मन अति दूर द्युलोक और पृथिवी पर चला गया हैं तेरे उस मन को० इत्यादि।२। (यत्ते भूमिम्) जो तेरा मन पृथिवी के चारों तरफ लग गया है। तेरे उस मन को० इत्यादि।३। (यत्ते+चतस्त्र:) जो तेरा मन चारों दिशाओं में (यत्तेसमुद्रम्) जो तेरा मन समुद्र में (यत्तेमरीचीः) जो तेरा मन सूर्य किरणों में चला गया है। इत्यादि।

यत्ते अपो यदोषधी र्मनो.........७

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो०..........८

यत्ते पर्वतान् बृहतो मनो.........९

यत्ते विश्वमिदं जगमन्मनो०.....१०

यत्ते परा: परावतो मनो०.........११

यत्ते भूतञ्च भव्यञ्चमनो०........१२

जो तेरा मन जल और ओषधियों में....... ।७।

जो तेरा मन सूर्य और उषा में........ ।८।

जो तेरा मन वृहत पर्वतों में.......... ।९।

जो तेरा मन इस सब जगत् में... ।१०।

जो तेरा मन दूर से दूर स्थान में ..... ।११।

जो तेरा मन भूत भविष्यत् विषय में... ।१२।

दूर चला गया है। उस-उस विषय से हटाकर हे सुबन्धो ! हम स्थिर हैं॥

यह सर्वानुभव सिद्ध है कि मन अति चञ्चल है, नाना विषयों में दौड़ता रहता है। यह जीव जब मन: कथा में पड़ जाता है तब क्या-क्या नहीं अद्भुत बात सोचने विचारने लगता है। इसका कोई कवि वर्णन नहीं कर सकता। कभी सोचता कि राजा जगद्विजयी बनता। कभी न्यायी। कभी दानी। कभी कुछ। कभी कुछ बनता रहता है। इसको वश करना अति दुष्कर कर्म है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुबन्धु नाम के मृत पुरुष के मन को लौटा रहे हैं। पुन:

प्र तार्यायु: प्रतरं नवीय: स्थातारेव क्रतुमता रथस्य।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिं जिहीताम्।

१०।५९।१।

हे भगवन्! आपकी कृपा से (आयु:+प्रतारि) हम उपासकों की आयु बढ़े (नवीय:+प्रतरम्) नवीन प्रवृद्धतर आयु बढ़े। (इव) जैसे (क्रतुमता) कर्म्म कुशल सारथि के द्वारा (रथस्य+स्थातारा) रथाऽऽरूढ जन सुख पाते हैं तद्वत् सुख से आयु की वृद्धि हो। (अध+च्यवन:) यह पतित जीवात्मा आपकी कृपा से (अर्थम्+उत्तवीति) अभिलषित अर्थ बढ़ावे। हे भगवन्! (निर्ऋति:) यह पाप देवता अर्थात् पापात्मक कार्य (परातरम्+सुजिहीताम्) दूर से दूर चला जाये। १।

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सु निर्ऋतिं जिहीताम्। २।

(राये+नु) परमायु-रूप-सम्पत्तिलाभार्थ हम सब (सामान्) अवश्य साम

गान करें तद्द्वारा ही (निधिमत्+नु+अन्नं+ करामहे) ईश्वर-प्राप्ति-रूप निधि-युक्त अन्न पावेंगे एवम् (सुपुरुध+श्रवांसि) बहु यश पावेंगे। (जरिता) हमसे आदृता हो के वह निर्ऋति (नः+ता+विश्वानि) हमारे उन भौतिक सम्पूर्ण धनों को (ममत्तु) भले ही खा जाये परन्तु (परासरम्+निर्ऋतिः +सुजिहीताम्) वह निर्ऋति अत्यन्त दूर देश चली जाये। २

अभी ष्वर्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमि गिरयो नाज्रान।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्। ३।

(द्यौः न+भूमिम्) जैसे सूर्य पृथिवी को अभिभूत करे (गिरयः+न+अज्रान्) जैसे वज्र मेघों को छिन्न-भिन्न करें तद्वत् (पौंस्येः अर्य्य+अभि+सु+भवेम) हम उपासक पुरुषार्थ और उद्योगों से पाप रूप शत्रुओं का सुन्दर प्रकार से अभिभव करें (जरिता) स्तुता अर्थात् हमसे आदृता हो के वह निर्ऋति (ता+नः०) हमारे भौतिक सम्पूर्ण धनों को (चिकेत) जाने परन्तु (परातरम्०) हम से दूर चली जाये। अर्य्यः=अरीन् शत्रून। ३।

मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्। ४।

(सोम) हे यजनीय देव! (मृत्यु के हस्त में) (नः+मो+सु+परा दाः) हमको मत समर्पित कीजिये। हे देव! जिससे कि हम (उच्चरन्तम्+सूर्यम्+पश्येम+नु) उदित सूर्य देखें एवं जिससे (नः+जरिमा) हमारा वृद्धत्व (द्युभिःहितः) दिन-दिन प्रेरित होकर (सु+अस्तु) सुख पूर्वक अतिवाहित हो (निर्ऋतिः० पूर्ववत्। जरिमा=जराभाव, जरात्व वृद्धत्व। द्यु नाम दिन का है। ४।

ये चार ऋचाएँ अन्यान्य प्रार्थनासदृश स्वाभाविक प्रार्थनाएँ हैं। हम उपासक गण ईश्वर से आयु वृद्धि की प्रार्थना करते हैं। परन्तु जब तक निर्ऋति अर्थात् पापाचरण हम में विद्यमान रहेंगे, कदापि हम चिरञ्जीवी और सुखी नहीं हो सकते। अतः-२ द्वितीय, ३ तृतीय ऋचाओं में क्या ही सुन्दर भाव प्रकट किया गया है कि हम पापाचार को आदरपूर्वक कहते हैं कि यह हमारा सर्वस्व लेकर भी हम से दूर चला जाये। यही बारम्बार प्रार्थना आई है पुनः चतुर्थी ऋचा में उपासक प्रार्थना करते हैं—हे सोम! हमको मृत्यु के वश न कीजिये। हम ईश्वरीय विभूति देखें और हमारी जरावस्था सुख पूर्वक व्यतीत हो। इनमें सुबन्धु के मरने का गन्धमात्र वर्णन नहीं। न जाने पुनः आचार्यगण मृत्युपरक अर्थ कैसे करते हैं?

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः । रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व । ५ । असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् । ज्योक्पश्येम सूर्य मुच्चरन्त मनुमतेमृडया नः स्वस्ति । ६ ।

जैसे पापदेवता को निर्ऋति वैसे ही प्राणदायिनी देवी को असुनीति कहते हैं। (असुनीते) हे प्राणदात्री देवी ! (मनः+अस्मासु+धारय) हम उपासकों में पुनः मन रखिये। (जीवातवे+नः+आयुः+सुप्रतिर) जीने के लिए पूर्ण आयु हमको दीजिये। (सूर्यस्य+संदृशि) सूर्य संदर्शनार्थ (नः रारन्धि) हमको सिद्ध कीजिये। (त्वम्+घृतेन+तन्वम्+वर्धयस्व) आप स्वयं घृत से अथवा घृतोपलक्षित यज्ञ से शरीर पुष्ट कीजिये। ५। (असुनीते) हे प्राण-प्रदायिनी देवी! (पुनः चक्षु०) हममें पुनः चक्षु, पुनः प्राण और भोग स्थापित कीजिये। हम उदित सूर्य को चिरकाल देखें (अनुमते) हे प्राण देवी! हमें सुखी कीजिये। कल्याण हो। ६।

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः । ७ ।
शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा ।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवी क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत् । ८ ।

(पुनः+नः) पुनः हमको पृथिवी प्राण देवे द्यौ और अन्तरिक्ष पुनः प्राण देवें। सोम हमको पुनः शरीर देवे। पूषा पथ्या (हितकारिणी) वाणी देवे (या+स्वस्तिः) जो ऐहिक पारलौकिक कल्याण है वह प्राप्त हो। ७। (सुबन्धवे) जीवात्मा के लिए (यह्वी) महती (ऋतस्य+मातरा) सत्य-निर्मात्री (रोदसी) यह द्यावा पृथिवी (शम्) सुखकारिणी हो (यद्+रपः) जो पाप है उसको (अप+भरताम्) दूर करे (द्यौः०) द्यौ, पृथिवी पाप को दूर करे। हे आत्मन्! आपको (रपः+सु+किञ्चन) (अममत्) कोई पाप अपहत न करे। ८।

अव द्वके अव त्रिका दिवश्चान्ति भेषजा । क्षमा चरिष्णवेककं
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवी क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत् । ९ ।

मन के वशीकरणार्थ और परमायुः-प्राप्त्यर्थ ईश्वर ने अनेक भेषज अर्थात् औषध और वैद्य दिए हैं। उन्हें कार्य में लाने के लिए उपदेश देते हैं। (दिवः) द्युलोक से (द्वके) दो भेषज (अव+चरतः) जगत् में विचरते हैं। वे दो अश्विद्वय देव हैं। प्रातःकाल, सांयकाल, अहोरात्र, ज्योति और अन्धकार मिश्रित ब्राह्म मुहूर्त, प्राणापान इत्यादि को अश्विदेव कहते हैं। इस अहोरात्र को महावैद्य

समझ कर इससे जो अच्छे-अच्छे कार्य लेते हैं वे सुखी रहते हैं। इसी प्रकार प्रात: सायं जो ईश्वरोपासना करते हैं वे निष्पापी होते हैं। इत्यादि भाव जानना (त्रिका+भेषजा) इला सरस्वती और भारती से जो तीन प्रकार की वैदिक वाणी है यह भी परम वैद्य है। पुन: (क्षमा) पृथिवी पर (एककम्+ चरिष्णु) एक संचरणशील अर्थात् विज्ञान रूप वैद्य है (द्यौ:+पृथिवी+क्षमा) हे द्यौ! हे पृथिवी आप शान्त हों (यद्+रप:) जो पाप है (अपरभरताम्) उसे दूर कीजिये। (ते+किंचन+रप:+मो+सु+अममत्) हे जीवात्मन्! आपको कोई पाप हिंसित न करे। ९।

समिन्द्रेरय गामनड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।

भरतामप यद्रपो०।१०।

(इन्द्र) हे परमात्मन्! (गाम्+अनड्वाहम्) गमनशील वृषभ (समीरय) हमारे लिए भेजिए (य:) जो अनड्वान् (उशीनराण्या:+अन:) ओषधि देवी के शकट को (आवहत्) ले आवे भरताम् इत्यादि पूर्ववत्। १०।

जब हम मनुष्य कभी-कभी अपने आत्मा से कहते हैं कि "हे आत्मन्! तू क्यों प्रमादी होता, तू क्यों न उपासना में मन:समाधान करता इत्यादि" तब आत्मा ही आत्मा से कहता है। ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि इस शरीर में जीवात्मा ही एक विज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा है। मानो, यहाँ बाह्य जीव आन्तरिक जीव को चेताता है। यह शरीराभिमानी जीव, शुद्ध जीव से निवेदन करता है। इस उदाहरण में शरीर ही लक्ष्य होता है। जगत् में बाह्य शरीर की विविध यातनाएँ अवलोकन कर, देहाभिमानी जीव शुद्ध जीव को चेताता है। इस दार्शनिक विषय पर ध्यान देते हुए अब आगे ऋचाओं की व्याख्या देखिये। अब सम्पूर्ण दुष्कर्मों से निवृत्त और समाहित चित्त हो जीवात्मा के निकट हम सब प्राप्त हों यह दिखलाते हैं।

आ जन त्वेषसंदृशं माहीनानामुपस्तुतम्। अगन्म बिभ्रतो नमः।

१०।६०।१।

असमातिं नितोशनं त्वेषं निययिनं रथम्। भजेरथस्य सत्पतिम।२।

यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान् उतापवीरवान्युधा।३।

(नम:+विभ्रत:) नमस्कार करते हुए हम उपासक जीव (जनम्+आ+अगन्म) जीवात्मा के जनपद में प्राप्त होवें। कैसा जनपद (त्वेष+संदृशम्) दीप्त दर्शन। पुन: (माहीनानाम्+उपस्तुतम्) महात्मा पुरुषों से उपस्तुत। ईदृश जीवात्मा के राज्य को हम प्राप्त हों। जन=जनपद अथवा। जन=जीवात्मा। सब

प्राण मिल के कहते हैं कि यदि हम जीवात्मा को प्राप्त न होंगे तो कल्याण नहीं है और सब पूर्ववत्। १। (असमातिम्) अब साक्षात् जीवात्मा को ही (आगन्म) हम प्राप्त होवें कैसा जीवात्मा (नितोशनम्) जो हमारे निखिल पाप रूपी शत्रुओं का हन्ता है (निययिनम्+रथम्) रथवत् सर्वाभिमत फलसाधन है। और (भजेरथस्य) शरीर रूप भक्त रथ का (सत्पतिम्) सत्पत्ति है। २। असमाति उस जीवात्मा को कहते हैं जो प्रथम, मानो रूठ गया हो। नितोशन=नितोशतिर्वधकर्मा (सा०) भजेरथ। यहाँ समस्त पद है रथ=शरीर जो प्राण विशिष्ठ शरीर जीव का भक्त है। उसका जीव भी सत्पत्ति है (पवीरवान्+उत+अपवीरवान्+यः) खड्गधारी अथवा अखड्गधारी जो जीवात्मा (युधा) जीवनयात्रारूप युद्ध से (महिषान्+इव+जनान+अति+तस्थौ) मृगसमान, शत्रु जनों को अतिक्रान्त करके विद्यमान होता है। पवि=खड्ग। पवीरवान्=यदि यह जीवात्मा समाहित मन और इन्द्रियों से संगत हो तो इसके निकट कोई शत्रु न आ सकता। यदि आ ही जावे तो भी इसको विनष्ट कर देता है।

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते। दिवीव वञ्चः कृष्टयः। ४। इन्द्र क्षत्राऽसमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय। दिवीव सूर्यं दृशे। ५। अगस्त्यस्य नद्भ्यः सप्ती युनक्षि रोहिता। पणीन्यक्रमीरभि विश्वान् राजन्नराधसः। ६। अयं माताअऽयं पिताऽयंजीवातुरागमत्। इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरीहि। ७।

(यस्य) जिस शुद्ध जीवात्मा के (व्रते) शुभ कर्म रूप व्रत में (इक्ष्वाकुः+उप+एवते) सर्वद्रष्टा परमात्मा समीपवर्ती होता है (दिवि+इव+पञ्चकृष्टयः) उस जीवात्मा के पञ्चकृष्टि=पञ्च प्राणरूपा प्रजाएँ स्वर्गस्थवत् सुखी रहती है जो परमात्मा (रेवान्) सर्वधनसम्पन्न और (मरायी) निखिल-विध्नविनाशक है। ४। (इन्द्र) परमात्मन्! (रथ+प्रोष्ठेषु) शरीर रूप रथों के प्रियतम स्वामी (असमातिषु) रुष्ठ जीवात्माओं में (क्षत्रा+धारय) सर्व बल स्थापित कीजिये। (दिवि+इव+दृशे+सूर्यम्) जैसे आकाश में दर्शनार्थ सूर्य को आपने स्थापित किया है तद्वत प्रकाशरूप बल इन रुष्ठ जीवात्माओं में स्थापित कीजिये। (५) यहाँ तक जीवात्मा के कल्याणार्थ ईश्वर का सम्बन्ध दिखला पुनः जीवात्मा से मानों बुद्धि कहती है। हे जीवात्मा! (अगस्त्यस्य+नद्भ्यः) परमात्मा के पुत्र हम जीवों के लिए (रोहिता+सप्ती) लोहित वर्ण के दो घोड़े (युनक्षि) रथ में जोतिये (राजन्) हे देदीप्यमान! जीवात्मन् (विश्वान्) समस्त (अराधसः) अयज्वाः, आराधनारहित (पणीन्) सांसारिक विषयासक्त लुब्धक पुरुषों को (अभि+अक्रमीः) सर्वथा अभिभूत=पराजित कीजिये। ६। अगस्त्य=नगच्छीति

अगस्त्यः परमात्मा नद्=नन्दन, नन्दयिता। पणि=पण-व्यवहारेस्तुतौच। व्यावहारिक, वणिक्, लुब्धक, अराधसः। राध=आराधन। आराधन रहित को अराधस् कहते हैं। दुष्टों के संहार के लिए राजधर्म की आवश्यकता है अतः यहाँ रोहित अश्वों की चर्चा है। अब कहते हैं कि हे उपासक गुण! और हे प्राणेन्द्रिय! आपका माता पिता जीवात्मा ही है। इससे विरुद्ध न होइए। हे उपासको! हे प्राणो! (अयम्+माता+अयम्+पिता) यह हितेच्छू जीवात्मा ही आपका माता, पिता है (जीवातुः+आगमत्) यज्ञादिक शुभ कर्म्मों के सेवन से जीवन प्रद होकर पुनः आया है (सुबन्धो) हे मध्यमप्राण! (इद्म+तवप्रसर्पणम्) यह जीवात्मा ही आपका गमनसाधन है (एहि) दुष्ट कर्म से निकल यहाँ आइये (निरीह) इससे अवश्य निकालिये। ७। अब उपसंहार में पुनः मनः समाधान का उपदेश देते हैं—

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्। एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये। ऋग० १०.६०.८। यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्। एवा दाधार ते मनो०। १०.६०.९। यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्। जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये। १०.६०.१०।

(धरुणाय+कम्) सुख पूर्वक धारणार्थ (यथा+युगम्) जैसे युग को (वरत्रया) वरत्रा=रस्सीसे (नह्यन्ति) बाँधते है तद्वत् हे प्राण! सुबन्धो! (एव+ते+मनः) तेरा मन (दाधार) स्थिर करते हैं (जीवातवे) जीवनप्राप्ति के लिए (न+मृत्यवे) मृत्यु के लिए नहीं (अथो+अरिष्टतातये) और अविनाश के लिये। ८। (यथा+इयं+मही+पृथिवी०) जैसे यह महती पृथिवी इन वनस्पतियों को धारण करती है। तद्वत १ तेरा मन इत्यादि पूर्ववत्। ९। आगे प्राणवत् उपासक कहता है (वैवस्वतात्+यमात्) सर्वगत मृत्यु के निकट से (सुबन्धोः+मनः+आभरम्) सुबन्धु के मन को पुनः लोटाकर धृत करते हैं (जीवातवे) इत्यादि पूर्ववत्। १०।

न्यग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः। १०.६०.११।
अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः। १०.६०.१२।

(वातः+न्यक्+अव+वाति) वायु सूर्य लोक से नीचे-नीचे बहता है (सूर्यः+न्यक्+तपति) सूर्य नीचे होके तप्त होता अथवा तप्त करता है (अघ्न्याः+नीचीनम्+दुहे) गौ नीचे से दुही जाती है। इसी प्रकार (ते+रपः+न्यग्+भवतु)

तेरा पाप नीचे होवे। ११। (अयम्+मे+हस्तः+भगवान्) यह मेरा हाथ ऐश्वर्यवान् हो (मे+भगवत्तरः) यह मेरा हाथ भगवत्तर=परम ऐश्वर्यसम्पन्न हो। (अयम्+मे+विश्वःभेषजः) यह मेरा हाथ सब का वैद्य बने। (अयम्+शिवाभिमर्शनः) यह मेरा हाथ मंगलस्पर्शी होवे। १२।

ये चार सूक्त अन्यान्य सूक्तों के समान प्रार्थना-परक हैं। इन में मनोयोग देने से कोई इतिहास प्रतीत नहीं होगा। परन्तु असमाति, सुबन्धु, इक्ष्वाकु नाम आने से यत्ते यमं वैवस्वतं मनोजगाम दूरकम् प्रतार्य्यायुः। असुनीते मनो अस्मासु धारय'' ''इदं तव प्रसर्पणं सुबन्ध वेहि निरिह इत्यादि वर्णन से सन्देह होता है कि अवश्य कोई मर गया है। उसके जलाने के लिए प्रयत्न किया जाता है। परन्तु यदि कोई विचार दृष्टि से इनको पढ़े तो यह मालूम होगा कि ये ऋचाएँ उस समय विचारने के लिए हैं जिस समय मन बहुत चञ्चल हो रहा है। मनुष्य की शतशः दशाएँ बदलती रहती हैं। परन्तु मन जब अस्थिर हो जाता है तब वह कुछ नहीं कर सकता। इसको उन्मत्ततावस्था कहते हैं। यही यथार्थ में महामृत्यु है। अतः इन सम्पूर्ण सूक्तों में मन के आवर्तन अर्थात् मन की स्थिरता के लिए प्रार्थना है। देखिये इस में मन शब्द के कितने प्रयोग हैं। १—मनोन्वा हुवामहे। २—आ त एतु मनः। ३—पुनर्नः पितरो मनोददातु। १०+५७ इस षडर्च सूक्त में तीन बार मन शब्द का पाठ आया। १०+५८ इस सूक्त में बारह ऋचाएँ हैं। प्रत्येक में मन शब्द आया है। १०+५९ इस दशर्च में ४७—''असुनीते मनो अस्मासु धारय'' एक बार मन शब्द है। पुनः ११+६० इसमें—

''यथायुगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये। ८।
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन।
एवा दाधार ते मनो०.............। ९।
यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरत्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये। १०।''

जो यह वर्णन आया है कि जैसे पशु को रस्सी से बाँधते हैं वैसे ही तेरे मन को बाँधता हूँ, तेरे शरीर में स्थापित करता हूँ इत्यादि। इससे सिद्ध है कि मनोवशीकरणार्थ ही यह प्रार्थना है। और जो इस ''पुनर्नो असुं पृथिवीं ददातु'' ऋचा से प्राण की याचना है वह मन की चञ्चलता के कारण ही प्राण की याचना है। क्योंकि मन का चञ्चल होना ही प्राण का निर्गमन है। अब यह शंका हो सकती है कि ''यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्'' इत्यादि

ऋचाओं के कहने वाला कौन है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे-ऐसे विषय ही लोगों को भ्रम में डालते हैं। परन्तु सोचिये तो। जिस समय हम कोई अनुचित व्यवहार करते हैं तो क्या हम यह नहीं कहते हैं कि "हे मन! तू यह क्या कर रहा है? हे आत्मा! तू अविश्वासी क्यों हो रहा है? हे आत्मा! तू क्यों डरता है? तेरा रक्षक ईश्वर है"। मैं पूछता हूँ कि यहाँ कौन कहने वाला और कौन सुनने वाला है, इसका उत्तर तो दीजिये। यही विषय यहाँ पर ही है। वेद ईश्वरीयदृष्टि की समस्त दशाओं का प्रतिपादक है। उसी के अनुसार भी वर्णन् करते हैं। अब कुछ सामान्य वाक्य देकर कात्यायन प्रभृति की आख्यायिका का आशय लिखता हूँ।

आयु वृद्धि की भूरि-भूरि प्रार्थनाएँ वेदों में आई हैं परन्तु साक्षात् मृत्युत्राणार्थ भी अनेक प्रार्थनाएँ देखी जाती हैं। यथा:—

१—त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।७।५९।१२।

इस ऋचा का तत्त्व जान वसिष्ठ ऋषि मनुष्य मात्र को शिक्षा देते हैं। हे मनुष्यो! हम सब (त्र्यम्बकम्+यजामहे) तीनों लोकों के पिता का यजन करें वह त्रिलोक पिता (सुगन्धिम्) प्रसारित-पुण्य-कीर्ति है। अथवा विज्ञान-सुगन्धि-पूर्ण है (पुष्टिवर्धनम्) उपासकों की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक आदि पुष्टि का वर्द्धक है। ऐसे परम पिता की उपासना हम सब करें। हे मनुष्यो (बन्धनात्+उर्वारुकम्+इव) जैसे बन्धन से उर्वारुक नाम का फल पकने पर स्वयं टूट कर गिरता है तद्वत् (मृत्यो:मुक्षीय) मृत्यु से हम पृथक् हो जाएँ, परन्तु (न+अमृतात्) अमृत-स्वरूप पिता से पृथक् न होवें। इति। इस ऋचा का अर्थ "त्रिदेव निर्णय" में विस्तार से कहा गया है।

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः, प्रजां रीरिषो मोत वीरान्।१०।१८।१।यथा हान्यनुपूर्वं भवन्ती यथा ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु। यथा नः पूर्व मपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्।१०।१८।५।

(मृत्यो) हे मृत्यु देव! (परम्+पन्थाम्) अन्य मार्ग के (अनु) अनुकूल (परेहि) पराङ् मुख होके जाओ (य:+ते+देवयानात्-इतर:स्व:) जो आपका देवयान से भिन्न स्वपथ है उस मार्ग से जाओ (चक्षुष्मते+शृण्वते+ते+ब्रवीमि) आप द्रष्टा और श्रोता हैं अत: आपसे कहता हूँ कि (मा+न:०) मेरी प्रजाओं और वीरों का हनन न करें। १ (यथा+अहानि०) जैसे आनुपूर्विक अहोरात्र

होते रहते हैं जैसे नियमानुसार अच्छे प्रकार ऋतुओं के साथ ऋतु गमन करते हैं अर्थात् एक ऋतु के अनन्तर इतर ऋतु व्यवस्था के साथ आता है तद्वत् (यथा+अपर:+पूर्वम्+न+जहाति) आप ऐसी कृपा कीजिये कि पूर्व का अपर-अपर न त्याग करे अर्थात् पिता के पहले पुत्र न मरे। पुत्र से प्रथम पौत्र न मरे। (एव+धात:) हे धाता! विधाता परमात्मा! ऐसे (एषाम्+आयूंषि) इन मनुष्यों को आयु दीजिये कि जिससे ऐसी दुर्घटना न होने पावे।

इस प्रकार मृत्यु से बच कर ईश्वर प्रदत्त आयुष्य और भोग कैसे भोग सकते हैं। वेद में उसका उत्तर आया है कि यज्ञ ही से उपासक पार उतरते हैं परन्तु समाहित मन के बिना यज्ञ नहीं और वशीकृत इन्द्रिय बिना मन समाहित नहीं। अत: निखिल कल्याण-प्राप्त्यर्थ प्रथम मन को ही विविध यत्नों से समाहित करे। मन, प्राण (इन्द्रिय व्यापार) और आत्मा इन तीनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बनध है।

काम-क्रोध

काम और क्रोध ये दोनों आत्मा के हरण करने वाले मायावी राक्षस हैं। क्रम से कपोत और उलूक ये दोनों कहलाते हैं। जैसे कपोत (कबूतर) नाना वर्ण, विचित्र सुन्दर सरल मनोहर होता है, जगत् की कामना भी ऐसी ही है। और जैसे उलूक दिवान्ध, कुरूप, वीभत्स भयंकर पक्षी है, तद्वत् क्रोध है। जैसे ये दोनों पक्षधारी विहग है, वैसे काम और क्रोध के दो ही नहीं किन्तु अनेक पक्ष हैं। ये दोनों जिस पर कुदृष्टि करते हैं, उनका जीवन विविध राजयक्ष्मादि रोगों से अभिभूत हो पूर्व ही नष्ट हो जाता है। अत: इस काम क्रोध रूप कपोत और उलूक से प्रथम आत्मा की रक्षा करें। महाभारत उदाहरणों द्वारा बहुधा वैदिक अर्थ का प्रतिपादन करता है। राजा पाण्डु काम के वशीभूत हो यौवनावस्था में ही रोगग्रस्त हो के मृत्युमुख पतित हुआ और क्रोध—पाशबद्ध हो राजा दुर्योधन विविध दुर्गतियाँ भोगता हुआ सुबन्धु ससुहृद नष्ट हुआ।

असमाति (जीवात्मा) और इन्द्रिय गण

चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, जिह्वा ये चार प्रबल इन्द्रियाँ हैं। इनको प्राण नाम से भी पुकारते हैं। जब ये सत्कर्म में प्रवृत्त रहते हैं, तब ऋषि, देव, सप्तर्षि, मुनि, सुबन्धु, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि पदवी पाते हैं। जब इनकी नीच वृत्ति हो जाती है तब हय, सर्प, नाग, श्वान, वृक, सिंह, दुष्ट, शुन:शेप, निर्ऋतिपुत्र, त्रित, यक्ष्म आदि पद से इनका सत्कार किया जाता है। ये ही चार इन्द्रिय महाराज जीवात्मा के बन्धु, श्रुतबन्धु, सुबन्धु और विप्रबन्धु नाम के चार

पुरोहित हैं। राजा को जैसे विद्वान्, हितकारी, साधु अलोभी पुरोहित सुख पहुँचाता है, तद्वत् ये इन्द्रिय जीव को सुख पहुँचाते रहते हैं। जब किसी सांसारिक कारण वश ये इन्द्रिय गण आत्मा को यथार्थ आनन्द ब्रह्मानन्द न देकर ऐहिकभोग विषम-विषधर की ओर ले जाना चाहते हैं तब यह जीवात्मा इनसे पराङ्मुख हो अन्य शरणागत होना चाहता है। परन्तु वे प्राण (इन्द्रिय) आत्मा के पुरोहितवत् हितकारी हैं। अतः आत्मा की यह गति देख कर प्राणों को बड़ा क्रोध होता है। यही अभिचार करना है। परन्तु जड़ प्राण कर ही क्या सकते हैं। इनको भी लोभ से आत्मा फँसा लेता है। क्योंकि जीवात्मा चेता है। अतः यह अपने इन्द्रिय रूप पुरोहितों को जानता है कि ये मुझे कहाँ ले जा रहे हैं। इनके दुराचार के कारण मैं भोग भोगूँगा अन्धकार कारागार मेरे भाग्य में खचित होंगे इत्यादि आपत्ति-परम्परा स्मरण कर इन्द्रिय रूप पुरोहितों से अपनी जान छुड़ाना चाहता है अथवा इन्द्रियों से जैसा वेदविहित उचित काम, लेना चाहिए सो न लेकर केवल भोग-विलास में फँस जाना ही मानो आत्मा का, प्राणों का त्याग करना है। अथवा इन्द्रियगण, आत्मा को विमुख देख स्वेच्छाचारी और प्रमत्त उन्मत्त हो घोर भोगविलास में पड़ जाते हैं। कर्म करते हैं इन्द्रियगण। परन्तु फल भोगेगा यह जीव। जीव इन्द्रियों के कर्म देख कर, संतप्त, दग्ध, मूर्छित हो गिर जाता है। इन्द्रियों को घोर भोगविलास में फँसना ही मानो जीवात्मा के लिए अभिचार कर्म है। पुनः इन्द्रियों की क्या दशा होती है। इस इन्द्रियगण के ऊपर दोनों काम क्रोध रूप मायावी राक्षस, मानो, कपोत और उलूक रूप हो गिरते हैं। इनमें से मुख्य सुबन्ध के प्राण ही हर ले जाते हैं। इस प्रकार विषम विषधर के वश हो, मानो, सुबन्धु द्रुततर मूर्छित हो गिर पड़ता है। अब मानो, सहोदर इन्द्रिय इसको पुनः जीवित करने के लिए यत्न करते हैं। इसके कौन उपाय हैं? निःसन्देह-दुराचार से निवृत्त हो पुनः वैदिक शुभकर्मानुष्ठान में परायण होना ही पुनः जीवन प्राप्त करना है। मानो, इन्द्रिय अब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं कि भगवन्! सुपथ से हम पृथक् न होवें। हम को प्रशस्त मन दीजिये। इस सुबन्धु भ्राता को पुनः प्राण देकर परमानुग्रह प्रकाशित कीजिये। इत्यादि। जब इन्द्रियगण, मानो, अपने दुष्कर्म से पश्चात्ताप करने लगते हैं। तब मानो, पुनः ये जीवित होते हैं। और इनका सौंदर्य सुबन्धु भी जागृत होता है।

उनकी माता सुबुद्धि

जब मानो, ये पुनः शुभकर्म में तत्पर हो जाते हैं तो इनकी माता सुबुद्धि भी आकर जीवात्मरूप महाराज से मिला देती है। सब मिलकर, अब मानो

ईश्वर की उपासना में आसक्त हो जाते हैं। यही इनका पुनर्जीवन प्राप्त करना है।

असमाति—(न+समा+मतिर्यस्य स:+असमति:) इन्द्रिगणों के साथ जिस जीवात्मा की सम्मति समान न हो उसका नाम असमति है। ''असमति'' को ही वेद में ''असमाति'' कहते हैं जैसे विश्वमित्र को विश्वामित्र, लोपमुद्रा को लोपामुद्रा च्यवन को च्यवान कहते हैं॥ भोगविलास-परायण इन्द्रियगण से रूठे हुए जीवात्मा का ही नाम असमाति है क्योंकि इसके विशेषण में, भजेरथ, —सत्पति, रथप्रोष्ठ, माता-पिता आदि शब्द हैं। इसका रक्षक इक्ष्वाकु (ईक्षणकर्त्ता ईश्वर) है। अत: इसको ऐक्ष्वाक (इक्ष्वाकुपत्र) कहते हैं।

गौपायन-बन्धु आदि। (गा इन्द्रियाणि पातिति गोपो जीवात्मा तस्य गोत्रापत्यम् गौपायन:) गो=इन्द्रिय। इन्द्रियपालक को यहाँ गोप कहते हैं। जीव ही गोप है। इन्द्रियगण जीव के पुत्रवत् होने के कारण ''गौपायन'' कहाते हैं इत्यादि विषय अनुसन्धान योग्य। इसी विषय को लेकर ब्राह्मण और बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में अलङ्काररूप से आख्यान बनाया है। वेद में कोई अनित्य-अनित्य आख्यान नहीं। अब इतिहास और वेदार्थ पर विचार दृष्टि कीजिये। जो ऋषिगण इन सूक्तों का प्रचार कर जीवात्मा, प्राण और मन आदि का सम्बन्ध, इन के कल्याण के लिए यत्न बतलाया करते थे। वे भी इन ही नामों से जगत् में सुप्रसिद्ध हैं जैसे अलङ्काररूप में प्राणों का आत्मा से पृथक् होना, आपत्ति भोगना, पुन: ईश्वर के निकट आना और पश्चात् पुन: जीवात्मा से मिलकर प्राण धारण करना, आदि का वर्णन है। और यह घटना नित्य है। क्योंकि संसार में ऐसी घटना सर्वदा देखते हैं। अब इस नित्य घटना से हम शरीरविशिष्ट जीव अपने ऊपर घटावें। हम सदा ईश्वरपथ से विमुख हो नाना दु:ख पाते हैं। पुन: किसी महात्मा के उपदेश से सुपथपर आ समाहित-मन हो सुबुद्धि माता के प्रयत्न से ईश्वर से मिलकर सुखी होते हैं और मन्त्र की व्याख्या भी शरीरविशिष्ट जीव के लक्ष्य करके ही की गई है। परन्तु यह सब प्राणों की ही प्रार्थना समझनी चाहिए। इत्यादि बातें स्वयं विचारशील पुरुष विचारें। इति संक्षेपत:

निर्ऋति के दूत=कपोत और उलूक

पूर्व लिख आया हूँ कि काम को कपोत और क्रोध को उलूक कहते हैं। काम में कपोतत्व का और क्रोध में उलूकत्व का आरोप किया गया है। यहाँ दुष्ट अधर्म काम क्रोध का वर्णन है।

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिम् शन्नो अस्तु द्विपदे शंचतुष्पदे।

१०।१६५।१।

निर्ऋतिपुत्र कपोत इसके ऋषि हैं। (देवाः) हे ज्ञानी बोद्धाजनो! (यद्) यदि (इदम्) हम लोगों के गृह में (इच्छन्) शुभ कर्म के विनाश की इच्छा करता हुआ (इषितः) प्राप्त=आगत (निर्ऋत्या+दूतः) पाप का पूत (कपोतः) काम स्वरूप कपोत (आजगाम) आवे, तो (तस्मे) इसके निवृत्त्यर्थ (अर्चाम) हम ईश्वर की अर्चा करें (निष्कृतिम्+कृणवाम) इसका प्रायश्चित करें जिससे कि (नः द्विपदे+चतुष्पदे+शम्+अस्तु) हमारे द्विपद और चतुष्पदों में शान्ति रहे।

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु॥
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु।२।

(देवाः) हे बोद्धाजनो! (नः गृहेषु+कपोतःशकुनः इषितः) हमारे गृहों में काम स्वरूप कपोताख्य शकुन यदि प्राप्त हो तो वह (शिवा+अनागाः+अस्तु) सुखकर और अपापहेतुक हो जिससे कि (हि+अग्निः विप्रः) अग्नि समान मेधावी गण (नः+हविः+जुषताम्) हमारा पवित्रान्न ग्रहण कर सकें (नः+ पक्षिणी+हेतिः+परि+वृणक्तु) हम सब को यह पक्षवान् आयुध परिवर्जित करे।

हेति पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने॥
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः।३।

(पक्षिणी+हेतिः) यह पक्षवान् हननायुध (अस्मान्+न दभाति) हमको हनन न करे (आष्ट्र्यां+पदं+कृणुते) वह आयुध भोजनशाला और अग्न्याधान गृह में स्थान बना रहा है। (नः गोभ्यः+पुरुषेभ्यः+शम्+अस्तु) हमारे गौवों और पुरुषों के लिए शान्ति हो (देवाः+मा+नः+हिंसीत्+इह+कपोतः) हे देवो! यह कामाख्य कपोत हमको हिंसित न करे।३।

यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पद मग्नौ कृणोति॥
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे।४।
ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम्।
संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्वा न ऊर्जं प्र पतात्पतिष्ठः॥५।

(उलूकः+यत्+वदति) यह क्रोधात्मक उलूक जो अशोभन कथा करता है (तत्+अमोघम्) वह व्यर्थ हो (कपोतःअग्नौ+यद्+पदम्+कृणोति) और

जो कामाख्य कपोत अग्नि में स्थान बनाता है वह भी व्यर्थ हो (यस्य:+दूत:०) जिसका यह दूत हमारे निकट आ पहुँचा है उस सर्वगामी मृत्यु को नमस्कार होवे। ४। हे विद्वानों! (प्रणोदम्+कपोतम्) इस दु:खदायी कामाख्य कपोत को (ऋचा+नुदत) वैदिक शिक्षा द्वारा दूर प्रेरित कीजिये (इषम्) अन्नदायी (गाम्) गौ आदि पशुओं को (मदन्त:) आनन्दित हो (परि+नयध्वम्) पालन कीजिये एवं (विश्वा+दुरितानि+संयोपयन्त:) निखिल दुरितों को नष्ट करते हुए आनन्दित होइए और (पतिष्ठ:) यह अत्यन्त पतनशील काम (न:+ऊर्जम्+हित्वा) हमारे बल को त्याग (प्रपततात्) अन्यत्र उड जाये। ५।

आशय:—इस प्ररकरण में कपोत और उलूक शब्द से क्रमश: काम और क्रोध का ग्रहण है। इसमें ये प्रमाण हैं—क—तृतीया ऋचा कहती है कि यह कपोत आष्ट्री और अग्नि धान में स्थान बनाता है। ''अश्नन्ति+अस्यामिति+आष्ट्री पचनशाला।'' सायण। जहाँ पर बैठ कर लोग खाते हैं उसे आष्ट्री कहते हैं। यह सायण का अर्थ है। परन्तु आष्ट्री यह नाम पाचनशाला का ही नहीं किन्तु क्षुधा का भी है। या अश्नाति जीवान् सा आष्ट्री क्षुधा। क्षुत् वा क्षुधा की भी यही व्युत्पत्ति है। अग्निधान—अग्नि रखने के स्थान का नाम अग्निधान है, अर्थात् अग्नि कुण्ड। अब आप देखेंगे कि काम की उपमा, क्षुधा और अग्नि से दी गई है। काम को महाभोक्ता, महारोग, महाग्नि आदि कहा है। यथा ''महाशनो महापाप्मा'' (गीता) न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति-हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते (महा०) इत्यादि वेद में भी कहा जाता है कि भोजनशाला वा क्षुधा में और अग्नि कुण्ड में यह स्थान बनता है। इससे सिद्ध है कि यहाँ कपोत से काम का ग्रहण है। ख—पुन: पञ्चमी ऋचा कहती है कि उलूक मोघ, व्यर्थ, भाषण करता है अथवा इसका भाषण व्यर्थ हो। सबको स्वानुभव है कि क्रोधावस्था में सब कोई व्यर्थ-व्यर्थ अण्ट शण्ट बोलने लगता है। ग—पुन: द्वितीय ऋचा कहती है कि यह कपोत, सुखकारी, निष्पाप हो अर्थात् धार्मिककाम प्रशंसनीय और ग्रहणीय है। अधार्मिक काम सर्वदा त्याज्य है। अत: उपासकों के गृहों में शिव और अनपराधी, काम यदि निवास करे तो कोई क्षति नहीं। घ—पुन: इस सम्पूर्ण सूक्त में यह प्रार्थना है कि द्विपद और चतुष्पद का कल्याण हो, हम निखिल दुरितों (पापों) को दूर करें। अन्यान्य कामना की वृद्धि से ही सर्व द्विपद और चतुष्पद में अशान्ति और पाप की वृद्धि होती है अत: काम में कपोततत्व का और क्रोध में उलूकत्व का आरोप करके यह वर्णन है। अत: शौनक आदिकों ने जो कहा है कि ''जब कभी गृह में कपोत आवे तो इस सूक्त का जप और इससे हवन करें''

यह सब प्रार्थना असद्वाद होने से त्याज्य है। यहाँ पक्षी कपोत से तात्पर्य नहीं।

कूप पतित त्रित ऋषि

हम बारम्बार कह चुके हैं कि वेद मानवीय-दशाओं के प्रत्येक बिन्दु के प्रदर्शक हैं। मनुष्य कभी-कभी उद्भ्रान्त और उन्मत्त हो जाता है। कभी-कभी ज्ञानी, मानी, मनीषी, धीर-वीर पुरुष भी नितान्त व्याकुल होके अनाप शनाप बकने लगता है। बेहोश हो जाता है। सुध-बुध भूल जाती है। बात-बात में शङ्का होने लगती है। महाकवि बाल्मीकि जी सीताहरण के पश्चात् रामचन्द्र की कैसी उद्भ्रान्ति उन्मुग्धता वर्णन करते हैं, कालिदास शकुन्तला की प्रतिकृति देखते हुए दुष्यन्त को कैसे विस्मृतात्मा बनाते हैं। चित्रपट देखते हुए दुष्यन्त को यह ज्ञान नहीं रहा कि मैं साक्षात् शकुन्तला को नहीं देखता हूँ। बाण लेके चित्रगत भ्रमर को मारने के लिए दौड़ता है। दमयन्ती नल के वियोग में व्यग्र होकर जिस ओर से कुछ भी खटखटाहट आती है उसी ओर दौड़ती है। नि:सन्देह मनुष्य की ऐसी दशा वास्तव में हो जाती है। यह देखा गया है कि कोई-कोई मृत्तपुत्रा माता दौड़-दौड़ के बिछौने पर बालक को देखने जाती है लड़के को क्रीड़ा स्थान में ढूँढ़ने लगती है। कभी-कभी पूर्ववत् खाने के लिए भोजन रख देती है, कहीं से शब्द आने पर उसी ओर दौड़ जाती है। प्राय: ऐसी-ऐसी घटना बहुत महान् पुरुषों के जीवन में देखी जाती है। और भी जब कभी कोई कुछ उन्मत्त सा हो जाता है तब उसे बहुत सी अनावश्यक बातें भी सूझने लगती हैं। वह कभी-कभी अपनी दरिद्रता पर पश्चाताप करता है। कभी किये हुए उपकार को स्मरण करता है। उपकृत पुरुष को मानो अपने सामने देखता है उसको भली बुरी सुनाता है। कभी किसी देवता का स्मरण करता है। कभी-कभी सूक्ष्म विषय की ओर चला जाता है। यह बात सत्य है कि विद्वानों को सब से बढ़ कर चिन्ता होती है। अज्ञानी पुरुष किसी बात को सोचता ही नहीं फिर उसे चिन्ता कहाँ से हो। विद्वानों के जीवन में देखा गया कि चिन्त्य वा काम्य वस्तु की प्राप्ति जब तक नहीं हुई है तब तक वे पागल से प्रतीत होने लगे हैं। चिन्ता में गोते खाते हुए वे शिशुवत् गृह मार्ग भूल गये हैं। जाना है पूर्व, पश्चिम को चले गये हैं। रास्ते में बेकाम घण्टों खड़े रह गये हैं। आगे थाली परोसी पड़ी है, घण्टों चुपचाप बैठे हुए हैं। कोई आ के कहता कि आप किस चिन्ता में बहे जा रहे हैं तो भोजन करने लगे हैं। निद्रा बेचारी भाग जाती है। शरीर कृश हो जाता है। यहाँ तक देखा गया कि सामने कूप खाई आदि नहीं दीखते और उनमें गिर गये। इसमें सन्देह नहीं कि विद्वानों की विलक्षण चिन्ता होती है। शास्त्रों में जो विद्वानों की तपस्या लिखी है वह

यथार्थ में उनके मनन करने की दशा का वर्णन है। कहा गया है कि उनके शिर पर पक्षियों ने घोंसला तक बना लिया। यह इनकी चिन्तावस्था की बेहोशी का वर्णन है। ये सारी घटनाएँ त्रित के जीवन दृष्टान्त से दिखलाई गई हैं। त्रित कोई खास पुरुष नहीं। जिसका मन सत्य के खोज में लगा है वही त्रित है। (त्रिषु लोकेषु मनस्त नोतिति त्रितः) सत्य की मार्गणा में जो मनोरूप अश्व को तीन लोक में दौड़ा रहा है वह त्रित है।[१] यद्वा (त्रीन् लोकान् तनोति विस्तारयति यः स त्रितः परमात्मा सोऽस्यास्तीतिसोपि त्रितस्त्रैतनो वा) जो तीनों लोकों का विस्तार करे वह त्रित अर्थात् ईश्वर है। वह ईश्वर जिसे हो वह भी त्रित कहाता है उसे त्रैतन भी कहते हैं। संस्कृत में यह चाल है कि कहीं तो प्रत्यय होके रूप में भेद हो जाता है कहीं ज्यों का त्यों ही रह जाता है। जैसे वेद, वैदिक, व्याकरण, वैयाकरण। परन्तु पाप, पाप, सुख यहाँ नहीं बदला। पापी को भी पाप कहते हैं सुखी को भी सुख कहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, ब्रह्म। ब्रह्म नाम वेद का है। परन्तु जो वेद पढ़े उसे भी ब्रह्म कहते हैं। यहाँ प्रत्यय होने पर रूपान्तर नहीं हुआ। इसी प्रकार त्रित नाम यथार्थ में ईश्वर का है। उसे जो अध्ययन करे वह भी त्रित कहा जा सकता है। पक्षान्तर में त्रैतन भी बन जाता है वेदों में त्रित त्रैतन दोनों पद आते हैं। अथवा (तीर्णतमो मेधया) जो मेधारूप नौका से अज्ञान रूप अन्धकार पार करे उसे भी त्रित कहते हैं। इत्यादि।

त्रित के आदर्श से वेद दिखलाते हैं कि जो खोज करता है। उसे अवश्य मिलता है। परन्तु विद्या की मार्गना सहज नहीं। इससे भी बढ़के सत्य की गवेषणा कठिन है। ईश्वरीयतत्व तो अत्यन्त ही कठिन है। इस गवेषणा में विद्वान् उद्भ्रान्त जब तक न हो तब तक वह अभीष्ट कामना सिद्ध नहीं होती। परन्तु खोजने वाला अवश्य पाता है। जो कोई सत्य को खोजना चाहता है, वह त्रित के समान प्रथम अपने को भूल जाये और रात्रिन्दिवा उसी की चिन्ता में रहे तो निश्चय ही वह अपने मनोरथ को पावेगा।

त्रित प्रार्थना करता है (१-१०५-२) कि हम लोक में देखते हैं कि अर्थी को अर्थ मिलता है। परन्तु मैं जो चाह रहा हूँ वह नहीं मिलता। मैं (चतुर्थ ऋचा से लेकर) सब देवों के निकट जाता हूँ। परन्तु कोई नहीं सुनता। मैं अति व्याकुल हो रहा हूँ (१-१०५-७) मैं वहीं हूँ जो पहले था, मैं वही यज्ञों में स्तुति पाठ करने वाला हूँ। वही ऋषि ज्ञानी विद्वान हूँ। परन्तु क्या कारण है कि

---

१. जैसे दुर्ग, स्वर्ग, विहग, रंग, तुरंग आदि में उग्रम का केवल ग रह जाता है वैसे ही यहाँ तन् का त मात्र रह गया है।

मुझ को व्याधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) सता रही हैं। जैसे तृषित मृग को वृक खाने को दौड़े, वैसे ये व्याधियाँ मुझे खा जाना चाहती हैं। (१-१०५-७) जैसे अनेक भार्याएँ पति को सताती हैं जैसे मूषिकाएँ आलिप्त चर्म्म को काटती हैं वैसे ये व्याधियाँ मेरी चारों तरफ खड़ी होके मुझे निगलना चाहती हैं। हाय! मेरी प्रार्थना न कोई पृथिवी पर और न कोई द्युलोक में सुनता है। इत्यादि अनेक कथा इसमें आप लोग देखेंगे और अन्त में जिज्ञासु को कैसे जिज्ञास्य वस्तु मिलती है यह भी देखेंगे और फिर आख्यान किस प्रकार ब्राह्मणादिक ग्रन्थों में बनाई गई और देश-देशान्तर में इसका क्या-क्या रंग बदला है यह सब देख के आप आश्चर्यान्वित होंगे यदि आप इतिहास प्रिय हों तो। अब मैं प्रथम सूक्तार्थ लिखता हूँ।

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतः वित्तं मे अस्य रोदसी।

१।१०५।१।

(चन्द्रमाः) यह चन्द्रमा (अप्सु+अन्तः) अन्तरिक्ष के मध्य वर्तमान (सुपर्णः) सुन्दर किरणों से युक्त हो (दिवि+आ+धावते) द्युलोक के प्रकाश में सुख से दौड़ रहा है। (विद्युतः+हिरण्यनेमयः) हे विद्योतमान रमणीय-रश्मिगण! (व+पदम्) आपके पद को मेरे इन्द्रिय चिन्ताग्रस्त होने के कारण (न+विन्दन्ति) नहीं पाते हैं (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी (अस्य) इस (मे) मेरे क्लेश को (वित्तम्) जानो।१।

आशय। चिन्तित पुरुष का मन रात्रि के शब्दादि शून्य समय में अधिक व्यग्र हो जाता है। और प्रथम चन्द्र की ओर दौड़ता है "चन्द्रमा मनसो जातः" जैसे आँख का सम्बन्ध सूर्य से वैसे मन का चन्द्र से है। चिन्तित पुरुष कहता है आह! यह चन्द्रमा कैसे आकाश में सुखसे दौड़-दौड़ रहा है। परन्तु मैं व्यथा के मारे एक पद भी नहीं चलता, परन्तु चन्द्रवत् मन अनन्त आकाश के मैदान में दौड़ रहा है। चन्द्र के साथ सूर्य किरण हैं और उसे प्रकाश है परन्तु मेरे साथ कोई नहीं। और मैं चिन्ता रूप अन्धकारमय अगाध कूप में पड़ा हूँ। जो ये किरण सब को सुख प्रद होते हैं। मुझे इनसे सुख नहीं मिलता। हा! मेरे दुःख को न कोई पृथिवी पर और न द्युलोक का देखने हारा है। व्यथित पुरुष को चन्द्र के किरण सुखप्रद नहीं होते हैं। ईश्वरीय रंग में रंगा हुआ पुरुष चारों तरफ देखता है। सब से अपना दुःख निवेदन करता है। द्यावापृथिवी शब्द से द्युलोकस्थ और पृथिवीस्थ पदार्थों का ग्रहण है। चन्द्रमाः=चन्द्रमाह्लदनं सर्वस्य

जगतो निर्मिमीत इति चन्द्रमाः। सुपर्णः=सुषुम्नाख्येनसूर्यरश्मिनायुक्तः। वित्तम् विदज्ञाने लोटिरूपम्।

अर्थमिद्वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्।

तुञ्जाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे वित्तं में अस्य रोदसी। २।

(अर्थिनः+अर्थम्+इद्+वै) धनार्थी पुरुष, निश्चय अभिलषित धन पाते हैं। (जाया+पतिम्+आ+युवते) जाया निज पति को प्राप्त करती है। और दोनों मिल के (वृष्ण्यम् पयः+तुञ्जाते) वीर्यरूपपय को संघटित करते हैं। और जाया (रसम्+परिदाय) रस को लेके (दुहे) पुत्र उत्पन्न करती है। (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी! (अस्य+मे+वित्तम्) इस चिन्तित मेरी अवस्था को जानिये। २।

आशय=पुनः चिन्तित पुरुष का मन सांसारिक सुख की ओर दौड़ता है। और मन में कहने लगता है कि सब कोई अपेक्षित व अभिलषित वस्तु पा रहे हैं परन्तु मेरा अभीष्ट ईश्वर प्राप्त नहीं होता। इस चान्द्रमसी (चाँदनी) रात्रि में नर नारी सुख से जीवन बिता रहें हैं। परन्तु मेरा मन व्यग्र होने के कारण मेरी जाया मुझसे और मैं उससे जुदा हूँ। हे भगवन्। मेरी चिन्ता को तू जान। जब तक तू प्राप्त नहीं होगा मैं सांसारिक सुख को न भोगूँगा। युवते=युमिश्रणे। तुंजाते। तुजि, पिजि हिंसा बलदान निकेतनेषु। प्रजननाय अन्योन्य संघट्टनेन प्रेरयतः। दुहे=दुह प्रपूरणे। पुत्ररूपेण जनयति। २।

मो षु देवा अदः स्व रव पादि दिवस्परि।

मा सोम्यस्य शंभुवः शूने शूम कदाचन। वित्तमे०। ३।

(देवाः) हे देवगण! (दिवःपरि) द्युलोक पर्यन्त वर्तमान जो (अदः+स्वः) यह शान्तिमय रात्रि का सुख है। वह (मो +सु+अवपादि) विपन्न=भ्रष्ट न होवे (शंभुवः+सोम्यस्य) यह जो सुखप्रद चन्द्रमय जगत् (रात्रि) है इसके (शूने) निकालने में हम (कदाचन+मा+भूम) कारण कदापि न होवें। (वित्तम्०) हे द्यावा पृथिवी! मेरे दुःख को जानो। ३।

आशयः—वह व्यथित त्रित कहता है कि इस चांदनी रात्रि में पृथिवी से द्युलोक तक सुख का प्रवाह प्रवाहित है। ऐसा न हो कि मेरे दुःख से यह दुःखित हो जाये। हे भगवन्! मैं दुःख में रहूँ परन्तु मेरे दुःख का प्रभाव इस सुखमय जगत् पर न पड़े। इतनी भी कृपा कर और मेरे दुःख की ओर भी ध्यान दे। मो, मा=निषेधार्थक। सुं=एव। पादि=पदगतौ। सोम्य=सोम=चन्द्रमा उससे युक्त। शंभू=कल्याणजनक। शनू=अगमन। ३।

यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् दूतो वि वोचति।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्त्ति नूतनः। वित्तंमे०।४।

मैं (अवमम्+यज्ञम्) रक्षक यज्ञ=अर्थात् शुभकर्म से अथवा यजनीय अग्नि से (पृच्छामि) पूछता हूँ (सः+तद् दूतः) वह परमात्मा का दूत है। (वि+वोचति) वह विचार के प्रत्युत्तर देवे। हे अग्ने (पूर्व्यम्+ऋतम्) आपका पूर्व कालीन ऋत=सत्य (क) कहाँ है। (कः+नूतनः+विमर्ति) कौन नूतन देव उस ऋत को धारण करता है। यह आप कहें। (वित्तम्०)

आशयः—ऐसी अवस्था में चिन्तित पुरुष उलहाना भी देता है। उपकार स्मरण कराता है। उपकृत होना चाहता है। अतः पीड़ित कहता है कि हे अग्ने! हे संचित शुभ कर्म! मैंने बराबर आप में हवन किया। सुनता हूँ कि आप दूत हैं। सब दुःख कह के सुनाते हैं। पूर्वजों के प्रति भी आप का उपकार सुना जाता है। परन्तु मेरी बारी में आप को क्या हुआ। क्या अब आप उसके दूत नहीं हैं। कोई अन्य दूत है। यहाँ लोगों को सन्देह न हो आलङ्कारिक वर्णन मात्र है। यज्ञ के द्वारा अभीष्ट पाते हैं। इस हेतु यज्ञ से अथवा यज्ञ कारणीभूत अग्नि से कहा जाता है। ४।

अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः। कद्व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिः। वित्तम्०।५। कद्व ऋतस्य धर्णसि कद् वरुणस्य चक्षणम्। कदर्यम्णो महस्पथाऽतिक्रामेम दूढ्यो। वित्तम्०।६।

(देवाः) हे देवगण! (अमी+ये+त्रिषु+स्थन) आप जो तीनों लोकों में वर्तमान हैं और जो (दिवः+आरोचने) जो आप द्योतमान सूर्य के आलोक में वर्तमान हैं (वः+ऋतम् कद्) उन आपका ऋतु भक्तों के प्रति कहाँ है (अनृतम्+कद्) दुष्टों के प्रति द्वेष कहाँ हैं। (वः+प्रत्ना आहुतिः+क) आपकी पुरातन आहुति कहाँ है। (वित्तम्०) पूर्ववत्। हे देवो! (वः) आप लोगों की (ऋतस्य+धर्णसि+कद्) सत्य की धारणा कहाँ गई। (वरुणस्य+चक्षणम्+कद्) दुःख निवारक वरुण अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह युक्त दर्शन कहाँ है (महः+अर्यम्ण+कद्) पूज्य अर्य्यमा देव का सुन्दर मार्ग से आगमन कहाँ है। निःसन्देह ये सब धर्म कहीं गये नहीं, आप लोगों में ही हैं। परन्तु हम नहीं समझते। हे भगवन्! हम आपकी कृपा से (दूढ्यः) पापमति दुःखदायी आधिरूप शत्रुओं को (अतिक्रमेम) उल्लंघन करें (वित्तम्०)। ६।

आशयः—व्यग्र पुरुष जड़ चेतन का विचार करने नहीं लगता। व्यग्र की बुद्धि प्रमत्त पुरुष के समान ही हो जाती। मन ही मन बकता रहता है। सीता

के वियोग में रामचन्द्र वृक्षों से पूछा करते हैं। अतः इन ऋचाओं में दिखलाया जाता है कि जड़ चेतन उभयविध देव से चिन्तित पुरुष कह रहा है और वरुण अर्यमा आदि नाम परमात्मा के हैं। कत्=क। प्रत्न=पुराना। धर्णसि=धारणा। दूढ्यः=दुर्धियः। पापबुधीन। नि०।५।६।

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्। तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगम्। वित्तम्०।७। सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो। वितम्।८।

हे विद्वद्गण! (अहम्+सः+अस्मि) मैं वही हूँ (यः+पुरा) जो मैं पूर्व समय में था (सुते+कानि चित्+वदामि) यज्ञ में कुछ मन्त्र स्तोत्रादि वचम कहा करता था। परन्तु क्या आश्चर्य की बात है। (तम्+मा) उस मुझको (आध्यः) मानसिक व्यथाएँ खा रही हैं (न) जैसे (तृष्णजम्+मृगम्+वृकः) तृषित हरिण को हुँड़ार खाना चाहता है।७। हे भगवन्! (सपत्नीः+इव) जैसे सपत्नी=स्त्रियाँ पति को तपाती हैं वैसे ही ये (पर्शवः) मेरी पार्श्ववर्ती आँधियाँ (मा+अभितः+सम्+तपन्ति) मुझको सब ओर से संतप्त करती हैं और (मूषः+न+शिश्ना) जैसे मूषिकाएँ अन्न रसादिकों से लिप्त अथवा आर्द्र चर्म=सूत्रों को काट-काट कर खाती जाती हैं तद्वत् हे शतक्रतु=विश्वकर्मन् भगवन्! (ते+स्तोतारम्+मा) तेरे स्तुति पाठक मुझको (आध्यः) ये मानसिक व्यथाएँ (व्यदन्ति) सब तरह से खा रही हैं।८।

आशयः—इस प्रकार सबको उलहाना दे पुनः अपनी मानसिक व्याधियों की ओर आता है। कुछ सचेत हो कहता है कि जो पहले मैं था वही हूँ। पहले मेरा चित्त कैसा शान्त रहता था। न जाने अब क्या हो गया है। क्यों मैं अधैर्य हो रहा हूँ। क्यों मुझे ये आंधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) तंग कर रही हैं। हे भगवन्! आपके स्तुतिपाठक की क्या दशा हो रही है। आप देखते नहीं। आपकी स्तुति करने का फल कब मिलेगा मेरे क्लेश को तो देखिये। ऐसी दशा प्राय प्रायः चिन्तित उन्मत्त की हुआ करती है।

अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता।
त्रितस्तद्वेदाऽऽप्त्यः स जामित्वाय रेभति। वित्तम्०।९।

(अमी+ये+सप्त+रश्मयः) ये जो सूर्य की सात किरण हैं (तत्र+मे+नाभि+आतता) वहाँ तक मेरी नाभि=चिन्तारूप नाभि फैली हुई है। (आप्त्यः) दुःखरूप जल में डूबता हुआ भी (त्रितः+तत्+वेद) त्रित=चिन्तित पुरुष इसको जानता है। (स+जामित्वाय+रेमति) वह त्रित दुःख से निकलने के लिए प्रार्थना करता है।

आशय:—इस प्रकार व्यथित पुरुष की कभी-कभी रात्रि व्यथा में ही बीत जाती है। रात्रि बीतने पर भी चिन्ता नहीं जाती। पुन: यदि सूर्य देव को देखता तो उसी को उपालम्भ देने लगता है। कभी अपने को निन्दित वा विद्वान् समझने लगता है। इत्यादि दशा इस ऋचा में दिखलाई गई हैं। सूर्य के तप से वायु का संचालन होता है। तब वह प्राण-प्रद होता है। अथवा सूर्य के ही ताप से यह जगत् तापित है। अत: सूर्य का सम्बन्ध सब शरीर से है अत: त्रित कहता है कि मेरी नाभि सूर्य रश्मियों में आतत है। अथवा दो आँखें, दो कान, दो नाक और एक जिह्वा ये सात शरीरस्थ सात किरण है। इनसे नाभि का सम्बन्ध है। अर्थात् इसका द्वितीय अर्थ यह भी है (अमी+ये+सप्त+रश्मय:) ये जो दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और एक जिह्वा हैं—ये ही सात इस शरीर की रश्मि हैं। (तत्र+मे+नाभि:+आतता) उनमें मेरी नाभि बद्ध है अर्थात् णह बन्धने बन्धनार्थक नह धातु से नाभि बनता है। शरीर के बंधन का नाम यहाँ नाभि है। चिंतित पुरुष कहता है कि शरीर के सारे बन्धन सप्तरश्मि-युक्त शिर से सम्बन्ध रखते हैं। इस समय मेरा शिर बिगड़ रहा है इसके बिगड़ने से सारा शरीर ही शिथिल हो रहा है अथवा चिन्ता रूप नाभि शिर तक फैली हुई है। सप्त-रश्मि-युक्त शिर को भी गन्दा कर रही है। जो मैं प्रथम मन्त्र पढ़ा करता था, अब नहीं पढ़ सकता। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि चिन्ता रूप नाभि सातों इन्द्रियों को गला पचा रही है। इत्यादि इसका भाव जानना। (आप्त्य:+त्रित:+तद्+वेद) चिन्ता रूप जल में मग्न परम चिन्तन मैं इसका जानता हूँ इसी कारण अब (स:+जामित्वाय+रेभति) वह यह इससे निकलने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। जामित्वाय=निर्गन्तृत्वाय (सा०) जमतिर्गति-कर्मा। नि० ३। ९। रेभति रेभृ शब्दे भौवादिक:। ९।

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिव:।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीना नि वावृतु:। वित्तम्। १०।

(अमी+ये+उक्षण:+पञ्च) ये जो विविध प्रकार से सुख बरसाने वाले अग्नि, वायु, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र पाँच गण हैं जो (मह:+दिव: मध्ये+तस्थु:) इस महान् आकाश में स्थित हैं वे (देवत्रा+नु+प्रवाच्यम्) देवताओं के योग्य मेरे वचन को सुनने के लिए (सध्रीचीना:) साथ-साथ आते हैं फिर आके (नि+वावृतु:) लौट जाते हैं (वित्तम्०) पूर्ववत्। अथवा (अमी+ये+उक्षाण+पञ्च) ये जो नयनेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय पाँच हैं और जो ये विविध ज्ञान की वर्षा करने वाले हैं। (मह+दिव+मध्ये+तस्थु:) महान् शिरोरूप द्युलोक में स्थित हैं। (देवत्रा+नु०) वे देव मेरे योग्य वचन को सुनते हैं और

तृप्त हो, मानो, लौट जाते हैं। भाव यह है कि कभी मैं होश में रहता हूँ और कभी बेहोश हो जाता हूँ। यही इन्द्रियों का आना जाना है। १०।

आशय:—शाट्यायन कहते हैं कि पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु, द्युलोक में सूर्य, नक्षत्र में चन्द्रमा और अनन्त आकाश में विद्युत ये पाँच देव हैं। तैत्तिरीय कहते हैं कि पृथिवीस्थ, अग्नि, अन्तरिक्षस्थ वायु, द्युस्थ सूर्य, दिशास्थ चन्द्रमा और स्वर्लोकस्थ नक्षत्रगण ये पाँच देव हैं।[१] त्रित का मन इन्ही पाँचों देवों में आसक्त हैं। त्रित रात्रिन्दिवा चिन्ता में लगे हुए हैं। दिन में वही पृथिवी वही पृथिवीस्थ पदार्थ त्रित के मन को खींच लेते हैं रात्रि में मन्द-मन्द वायु, ऊपर चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्रगण त्रित की चिन्ता को और भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार दिन के बाद रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन आता जाता है परन्तु चिन्ता का अवसान नहीं होता है। अत: त्रित कहता है कि ये मेरे वचन सुनने को आते हैं पुन: चले जाते हैं। अथवा ये इन्द्रिय पर घटते हैं। जैसे कि द्वितीय अर्थ में दिखलाया गया है।

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिव:।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वती रपो। वित्तम्०। ११।

(दिव:+आरीधने+मध्ये+एते+सुपर्णा:+आसते) द्युलोक में ये सूर्य स्थित है। परन्तु (ते) वे यह्वती:+अत:+पथ:+तरन्तम् महान् आकाश के मार्ग से तैरते हुए (वृकम्०) चन्द्र का निषेध करते हैं। (वित्तम्०) पूर्ववत्। आशय यह है कि अब प्रभात हो गया है। सूर्य की किरणों के उदय से चन्द्र मलिन हो रहा है। जिसके साथ मेरा मन विनोद करता था वह भी अब नहीं रहा। अथवा (दिव:+आरोधने+मध्ये+एते+सुपर्णा:+आसते) सुपर्ण नाम इन्द्रियों के हैं। द्युलोक शिर है। जहाँ सब ज्ञान घेरे हुए हों उसे आरोधन कहते हैं। वृक नाम पाप का है। अब अर्थ यह हुआ कि ज्ञानेन्द्रियगण द्युलोकरूप शिर के अवरोध स्थान में बन्द हो रहे हैं। अत: (यह्वती:+अप:) महान् अन्तरिक्ष के (पथ:+ तरन्तम्) पथ से आते हुए (वृकम्) पाप को (सेधन्ति) प्राप्त होते हैं। (षिधुगत्याम्) बद्धपुरुष सरता लगता रहता है। इस कारण इसमें उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं। जिस कारण मेरे इन्द्रिय भी बद्ध हैं। अत: ये बिगड़ रहे हैं। अत: ये पाप की ओर जा रहे हैं। इसलिये, मानो, मुझे भी ये सब क्लेश पहुँचा

---

१. नोट—एतान्येव पञ्च ज्योतिषि यान्येषु लोकेषुदीप्यन्ते। अग्नि: पृथिव्यां वायुरन्तरिक्षे आदित्यो दिवि चन्द्रमा नक्षत्रे विद्युदप्स्विति।

२. अग्नि: पृथिव्यां वायुरन्तरिक्षे सूर्योदिक्षु नक्षत्राणि स्वर्लोके इति।

रहे हैं। इति। ११।

नव्यं तदुकथ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्। ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यः वित्तमे०। १२। अग्ने तव त्यदुक्थ्यं देवेष्वस्त्याप्यम्। स नः सत्तो मनुष्वदा देवान्यक्षि विदुष्टरः। वित्तम्०। १३। सत्तो होता मनुष्वदा देवाँ अच्छा विदुष्टरः। अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरो। वित्तम्०। १४।

(देवासः) हे विद्वानो! देखो! प्रभात हो गया है अब अग्निहोत्री के गृह में (हितम्) हितसाधन (नव्यम्) नूतन-नूतन (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (तत्+ सुप्रवाचनम्) वह शोभनोच्चारण स्वस्त्यनादिक स्तोत्र सुन पड़ने लगे (सिन्धवः ऋतम्+अर्षन्ति) नदियाँ पानी देनी लगीं हैं। अर्थात् क्रिया कर्म के लिए लोग नदी से पानी लाने लगे। (सूर्यः+सत्यम्तातान) सूर्य सत्य वैदिक कर्म को फैलाने लगा है अर्थात् सूर्योदय होने से लोग अग्निहोत्रादि कर्म करने लगे हैं। १२। (अग्ने+देवेषु+तव+तत्+उक्थ्यं+आप्यम्+अस्ति) हे प्रकाशक देव! देवों (विद्वानों) में आपका वह प्रशस्य बन्धुत्व विद्यमान है। अतः (सः+विदुष्टरः) वह परम विद्वान् आप (सत्तः) मनुष्यों के निकट बैठके (मनुष्यत् मनुष्य समान देवान्+यक्षि) विद्वानों को यज्ञ करवावें। आप्य=बन्धुत्व। १३। भगवन्! (सत्तः) आप दुःखनिवारक (होता) परमदाता (विदुष्टरः) परम विद्वान् हैं। अतः (मनुष्वद्+देवान्+आ+अच्छ) मनुष्यवत् देवों के सम्मुख उपस्थित होवें। (अग्निः+मेधिरः+देवः) प्रकाश स्वरूप परम ज्ञानी वह देव (देवेषु हव्या+सुसूदति) देवों में हव्य प्रेरणा करे। (विलम्०)। १४।

आशयः—त्रित कहता है कि प्रभात हो गया परन्तु मेरे दुःख का अवसान नहीं है। सब अपने-अपने कार्य में आसक्त हो गये। परन्तु मैं चिन्ता ही कर रहा हूँ। हे देव! आपका बन्धुत्व तो प्रसिद्ध है फिर न जाने मुझे क्यों भूले हुए हैं। एवमस्तु! मैं दुःखित रहूँ तो रहूँ परन्तु मेरे समान अन्यान्य विद्वान् दुःख के भागी न होवें। उन्हें आप भाग पहुँचावें।

ब्रह्मा कृणोति वरुणो गातुविदं तमीमहे। व्यूर्णोति हृदा मति नव्यो जायेता मृतम्। वित्तम्। १५। असौ यः पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः। न स देवा अतिक्रमे तं मर्त्तासो न पश्यथ। वित्तम्०। १६।

(वरुणः) जो अनिष्ट निवारक ईश्वर हम लोगों को (ब्रह्म+कृणोति) वाणी वा वेद है उस वाणी से (तम्+गातुविदम्) उसी मार्गवित् ईश्वर को (ईमहे) प्रार्थना करें। क्योंकि सब ही (हृदा) हृदय से उसी के लिए (मतिम्+

वि+ऊर्णोति) मननीय स्तुति उच्चारित करते हैं (नव्य:ऋतम्+जायेताम्) वह स्तुत्य अनिष्टनिवारक वरुण सत्य होवे। १५। (य:+असौ+पन्था +आदित्य:) यह जो पन्था अर्थात् मार्ग स्वरूप आदित्य है इसको जिसने (प्रवाच्यम्) स्पष्ट रूप से (दिवि:+कृत:) द्युलोक में स्थापित किया है। हे (देवा:) देवगण! (सं+न+अतिक्रमे) वह अतिकमणीय=उल्लंघनीय नही हैं। उसे कोई उल्लंघन नहीं कर सकता (मर्त्तास:) हे मर्त्य मनुष्यो! (तम्+न+पश्यथ) उसको नहीं देखते हो। (वित्तम्०) पूर्ववत्। १६।

आशय:—इस प्रकार चिन्ता करते-करते चिन्तित को निश्चय होता है। अथवा व्याकुलता के पश्चात ईश्वर की कृपा होती है। उस समय स्थिर मन होके उसको यह सूझने लगता है कि जिसने वाणी दी है उसी को वाणी से भेजें। क्यों मैं इस पवित्र वाणी को अन्यान्य कार्य में लगा रहा हूँ। वही सब मार्ग जानता है जिससे चाहेगा ले जायेगा। वह मेरे लिये सत्य अवश्य होगा। इसमें सन्देह नहीं कि जिसने यह महान् सूर्य स्थापित किया जो सूर्य सबको मार्ग दिखलाता है उसको ये मनुष्य नहीं देखते। मुझे भासित हो रहा है। हे परमात्मन्! धन्य तू है। इतनी व्याकुलता के पश्चात् तू प्राप्त हुआ है। १५। १६।

त्रित: कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पति: कृण्वन्नंहूरणादुरु। वित्तम०। १७।

(कूपे+अवहित:+त्रित:) आधिरूप महाकूप में निमग्न त्रित=परम चिन्तित यह पुरुष, अथवा चिन्तारूय कूप में अवहित समाहित (ऊतये+देवान्+हवते) रक्षा के लिए देवों को पुकारता है और (अंहूरणात्) पाप स्वरूप महाकूप से निकाल (उरु+कृण्वन्) विस्तीर्ण शोभन मार्ग करता हुआ (बृहस्पति:) सर्वदेशाधिपति यह परमात्मा (तत्+शुश्राव) उस भक्त का वचन अवश्य सुनता है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्त में ईश्वर अवश्य मनोरथ सिद्ध करता है। अत: इसमें दिखलाया गया है कि प्रथम पुरुष को अभीष्ट लाभार्थ बड़ी चिन्ता करनी पड़ती है। आदमी इस चिन्ता में विक्षिप्त हो जाता है। ज्यों-ज्यों अभीष्ट की प्राप्ति होती जाती है त्यों-त्यों चित्त भी शान्त होता जाता है और परमात्मा का परम अनुग्रह भी प्रतीत होने लगता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रियवस्तु अवश्य ही बड़े परिश्रम से मिलती है। जैसे दुष्यन्त को शकुन्तला, नल को दमयन्ती, राम को सीता, बड़ी-बड़ी कठिनाई के पश्चात् मिली है। परम प्रिय जो परमात्मा है वह सहज उपाय से कैसे मिल सकता है। १७।

अरुणो माऽसकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठ्यामयी। वित्तं मे अस्य रोदसी। १८।

(अरुणः) रक्त पिपासु अतएव अरुण अर्थात् रक्तवर्ण यह (वृकः) पापरूप वृक (पथा+यन्तम्) वैदिक मार्ग से चलते हुए (मा) मुझको (असकृत+ददर्श+हि) बारम्बार देख रही है। अर्थात् हे भगवन्! पापकर्म मुझको वैदिक पथ से उतार कर भ्रष्ट करने के लिए बारम्बार चेष्टा कर रहा है और (निचाय्य) मुझको देख-देख (उत्+जिहीते) मुझको पकड़ने के लिए मेरी ओर आता है। (पृष्ट्यामयी+तष्टा+इव) जैसे बढ़ई, लौहार, सुवर्णकार आदि बैठ कर और झुक कर काम करनेहारों की पीठ भर जाती है और दुखने लगती है। तब वे उठ कर अपनी पीठ को बारम्बार सीधी करते हैं। इसी प्रकार यह पापरूप वृक मुझको बारम्बार झुक-झुक के देखा करता है। यह आलंकारिक वर्णन है। वृक नाम पाप का है। आगे अनेक उदाहरण रहेंगे। वेदों में पाप को वृक, ऋक्ष, अन्धकार, चोर, बन्धन प्रभृति अनेक नाम से पुकारते हैं। इस प्रकरण में यह विस्पष्ट अर्थ है परन्तु यास्काचार्य ने निरुक्त ९। २० में इसका अर्थ प्रकरण विरुद्ध कर कलुषित कर दिया।

आशयः—यह है कि चित्त शान्त होने और अभीष्ट की प्राप्ति होने पर उपासक कहता है कि हे भगवन्! यद्यपि मेरा अन्तकरण सर्वथा अब तृप्त है तथापि पाप सर्वथा निवृत्त नहीं होता है। दूर से पाप झुक-झुक के मेरी ओर देखता है और मेरी ओर आने की चेष्टा करता है। इससे आप मेरी पूर्णतया रक्षा कीजिये। यह एक स्वाभाविक वर्णन है। मनुष्य इतना कमजोर है कि तपस्वी और ज्ञानी को भी पाप अपनी ओर कभी-कभी खींच ही लेता है। अतः यहाँ कहा गया है कि पापरूप रक्त वृक मुझको बारम्बार देख रहा है। व्याकरण आदि। अरुण=लाल। असकृत्=बारम्बार। उद्+जिहीत=ओहाङ्गतौ। निचाय्य= पूजानिशामनयोः। अत्र दर्शनार्थः। पृष्ठयामयी=पृष्ठि+आमयी। पृष्ठि=पृष्ठ। आमय= थकावट, रोग आदि। १८।

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभिष्याम वृजने सर्ववीराः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौ। १९।

(एना+आङ्गूषेण) इस स्तोत्र से (वयम्) हम उपासकगण (इन्द्रवन्तः) इन्द्रवान अर्थात् ईश्वरवान् होवें अर्थात् इन्द्र जो ईश्वर उससे युक्त होवें अथवा इन्द्र=जीवात्मा। दृढ़ आत्मवान् होवे (सर्ववीराः) पुत्र-पौत्रादिक सब वीर पुरुषों से युक्त हो (वृजने) पापरूप राक्षसों के संग्राम में (अभि+स्याम) शत्रुओं को अभिभव=परास्त करें (नः+तत्) हमारे इस वचन को (मित्रः+वरुणः+

आदितिः+सिन्धुः+उत+द्यौः+ममहन्ताम्) मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु और द्यौ पूर्ण करें। व्याकरण प्र०। एना=अनेन। आङ्गूष=स्तोम, आघोष, स्तोत्र, अभि+स्याम=अभिभवेम। बृजन=संग्राम। मित्र वरुण आदि सब नाम ईश्वर के हैं। १८।

यह सूक्त समाप्त हुआ। इसमें कोई इतिहास नहीं। यह केवल व्यग्रतावस्था का वर्णन मात्र है इसमें त्रित का कोई आख्यानक नहीं। आप्त्य, त्रित और कूप इन तीन शब्दों से महाभ्रम उत्पन्न हुआ है। परन्तु वैदिक पुरुषों को विदित है कि ईदृग् वर्णन वेदों में बहुधा आते हैं और वे सब आलङ्कारिक होते हैं। अब मेधावी जन विचार सकते हैं कि यहाँ मानसिक क्लेश को ही कूप के रूप में आरोपित किया है। और जिसका मन ईश्वर की प्राप्ति के लिए परम व्याकुल होके तीनों लोक में चक्कर खा रहा है कुछ सूझता नहीं अन्त में ईश्वर का निश्चय करता है। ऐसे पुरुष को यहाँ त्रित नाम से रूपित कर ईश्वर की प्राप्ति दिखलाई है। आज कल भी कहते हैं कि हम समुद्र में डूबे हुए हैं। हे भगवन्! उद्धार करो। यह वाक्य तब ही कहा जाता है कि जब आदमी दुःखरूप समुद्र में बह रहा हो।

महाभारत और कूप

महाभारत में भी जहाँ अत्यन्त दुःख दिखलाना होता है वहाँ कूप और चूहे का चित्र अवश्य खींचते हैं। आदि पर्व १३ त्रयोदशाध्याय में कहा गया है कि रुरु के पितर किसी गर्त (कूप=बागरहे) के वीरणस्तम्ब (खस के पौधे) पर अधोमुख लटके हुए हैं। उस वीरणस्तम्ब को चूहे सब ओर से खा रहे हैं। इत्यादि। वास्तव में रुरु के पितर अधोमुख गर्त में लटके हुए नहीं थे किन्तु पितरों का महाक्लेश दिखलाया गया है। क्योंकि रुरु को विवाह करने की इच्छा नहीं थी। अतः पितृगण बड़ी आपति में पड़े हुए हैं।[१]

पुनः स्त्री पर्व अध्याय ५, ६ में यह इतिहास है। एक द्विज को कभी महाघोर वन मिला। जिसमें व्याघ्र, सिंह व्याल आदि ऐसे-ऐसे भयङ्कर जन्तु थे कि जिनको देखकर यम भी डर जाये। वह आगे भागा। परन्तु वन का अन्त नहीं हुआ। आगे देखता है कि एक महाभयङ्कर स्त्री उसी वन में फाँस चारों ओर बिछा रही है। आगे भागा। किसी कूप में जा गिरा। वहाँ किसी लता पर

---

१. के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नंधोमुखाः।
वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते।
मूषिकेण निगूढेन गर्तेऽस्मिन्नित्यवासिना।

लटका रहा। कूप के अभ्यन्तर एक षण्मुख, द्वादशचरण महागज दीख पड़ा। एक कटहल की शाखा कूप के भीतर झुकी हुई है। इसके फल के ऊपर मधुकर दौड़ रहे हैं। उससे कुछ धारा गिरती है। उसी को वह पीता है। परन्तु जिस लता पर वह लटक रहा है उसे श्वेत और कृष्ण चूहे काट रहे हैं इत्यादि। इसका भाव स्वयं कहते हैं। यह संसार ही महावन है। नाना व्याधियाँ ही व्याल आदिक हैं। जराऽवस्था ही भयङ्कर स्त्री है। यह देह ही कूप है। इसके नीचे काल ही सर्प है आशा ही कूपस्थ विल्व है। सम्वत्सर ही गज है छह ऋतु और बारह इसके मास हैं। दिन और रात्रि ही श्वेत और कृष्ण मूषक हैं। इत्यादि। जब लोक में भी ऐसी-ऐसी शतशः कथाएँ विद्यमान हैं और विशेष कर प्रार्थनाओं में कूपपतित, समुद्रनिमग्न, भवसागर पतित आदि शब्द आते ही रहते हैं वहाँ पर यथार्थ कूप पतित नहीं माना जाता, केवल मानसिक व्यथा और दारिद्र्य आदि मानी जाती है तो मैं नहीं कह सकता कि वेद में "कूपेऽवहितः" इस पद से यथार्थ कूप में गिरना क्यों मानना चाहिये। अब आगे देखिये। अनेक ऋषि ऐसी प्रार्थना करते हैं।

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः। ऋग् १०.३३.२
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृडयाधा पितेव नो भव। ऋग्० १०.३३.३

ये दोनों ऋचाएँ त्रितसम्बन्धी सूक्त की ७ सप्तमी ८ अष्टमी ऋचा के तुल्य हैं। यहाँ ऐलूष कवष प्रार्थना करते हैं—हे भगवन्! (पर्शवः) पार्श्वस्थित= समीपवर्ती ये विविध चिन्ताएँ (सपत्नीः+इव) सपत्नियों के समान (अभितः+ मा+सम्+तपन्ति) चारों तरफ से मुझको संतप्त कर रही हैं (अमतिः) अज्ञानता (नग्नता) बुद्धिरूपवस्त्ररहितता (जसुः) बुद्धि के न होने से उपस्थित उपक्षय यह सब मुझे (निबाधते) बाधा दे रही हैं (वेः+मतिः+न+वेवीयते) व्याधा के भय से जैसे पक्षी की बुद्धि मारी जाती है तद्वत् मेरी बुद्धि थर्रा रही है। २। (शतक्रतो+मघवन्+इन्द्र) हे बहुकर्मन्! हे परमधनाढ्य! हे इन्द्र! परमात्मन्! (ते+स्तोतराम्+मा+आध्यः+वि+अदन्ति) तेरे स्तुति पाठक मुझको आंधियाँ अर्थात् मानसिक व्यथाएँ विशेषरूप से खा रही हैं (मूषः नः+शिश्ना) जैसे चूहे धृताक्त चर्म सूत्रों को काटते है तद्वत् ये चिन्ताएँ मुझे काट-काट खा रही हैं। हे भगवन्! (नः+सकृत्+मृडय) हमको एक बार भी सुखी कीजिये। (अध+नः पिता+इव+भव) और हमारे पिता के समान आप रक्षक होइए। क्या यह कवष भी कहीं कूप में गिरे हुए थे जो ऐसी प्रार्थना करते हैं। ३।

कुत्स और कूप

इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाढ़ह ऋषिरह्वदूतये।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्त्तन।

मण्डल १ सू० १०६। ६।

काट=कूप, कूआँ, कूप। कातु। कर्त्ता। वव्र। काट। खात। अवत। क्रिवि। सूद। उत्स। ऋश्यद। कारोतर। कुशय। केवट। ये १४ नाम कूप के हैं। निघण्टु। ३। २३। कुत्स नाम कुत्सित प्राण का है। जो जीव कुत्सित कर्मों में फंसकर विविध दुःख भोग पुनः ईश्वर की शरण में प्राप्त होता है, वह कुत्स ऋषि कहाता है। अर्थात् जीवन भर में कभी तो यह चेत जाता है। यदि नहीं चेतता तब तो राक्षस आदि नामों से ही पुकारा जाता। कुत्स का विषय आगे भी रहेगा। ऋचार्थ कुत्सऋषि यहाँ प्रार्थना करते हैं (काटे+निबाढः) चिन्तारूप महाकूप में पतित (ऋषिः+कुत्सः) ईश्वरशरणागत, यह कुत्सित पुरुष हे भगवन्! (ऊतये) रक्षा के लिए (वृत्रइणम्) निखिल-दुरित-निवारक (शचीपतिम्) कर्मफलाधिपति शची यह कर्म नाम है निघण्टु २। १। (इन्द्रम्) परमात्मा को (अह्वत) पुकार रहा है। (दुर्गात्+रथम्+न) जैसे सारथि दुर्गम स्थान से रथ को निकाल रक्षा करता है तद्वत् (सुदानवः+वसवः) हे सुदानप्रदवसुगण (विश्वस्मात्+अंहसः) निखिल पाप से (नः+निष्पिपर्त्तन) हमको निकाल बाहर कर रक्षा कीजये। क्या कुत्स भी किसी कूप में गिराए गये थे। ६।

आगे भी अन्तक और गोतम आदि के कूप में गिरने की चर्चा रहेगी। इसका भाव भी वहाँ ही दिखलाया जायेगा।

त्रित और त्रिशिरा

[१]अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन्धीतिं पितुरेवैः परस्य। सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति। ७। स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्। त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः। ८। भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्। त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क्। ९। मण्डल १०। सू० ८।

(अन्तः+धीतिम्+इच्छन्) शरीर के आभ्यन्तर में आन्तरिक कर्म करने की इच्छा करता हुआ (त्रितः+क्रतुना+वव्रे) त्रित ऋषि यज्ञ से वृत होता है। अर्थात् बाह्य विषय से विमुख हो भीतर ही इन्द्रियों को रोक आन्तरिक-कर्म-

साधनार्थ यह त्रित ध्यान योग में तत्पर होता है। (अस्य+परस्य+पितुः) इस साक्षात् अनुभूयमान चराचर जगत् में दृश्यमान परमपिता जगदीश की (एवैः) विविध रक्षाओंसे जो त्रित युक्त है। अर्थात् परम पिता का जब अनुग्रह होता है तब ही कोई ज्ञानवान याग में तत्पर होता है। पुनः वह त्रित कैसा है (पित्रोः+उपस्थे) द्यावा पृथिवी के मध्य में अर्थात् हृदय के बीच में (क्योंकि शिर=द्युलोक। पैर=पृथिवी है इन दोनों का मध्य हृदय है)(सचस्यमानः) सेव्यमान है। पुनः (जामि+ब्रुवाणः) योग्य स्तोत्र पढ़ता हुआ है। पुनः (आयुधानि+वेति) जो विविध आयुधोंको जानता है। अर्थात् विविध साधन सम्पन्न है।७। पित्र्याणिआयुधा+नि+विद्वान्) पितृ प्रदत्त विविध आयुधों को जानता हुआ (सः+आप्त्यः+त्रितः) वह आप्त्य त्रित ऋषि (इन्द्रेषितः+अभि+अयुध्यत्) इन्द्र से प्रेषित हो खूब युद्ध किया करता है और (सप्तरश्मिम्+त्रिशीर्षाणम्+जघन्वान्) सप्तरश्मियुक्त त्रिशिरा राक्षस को हत विहत कर देता है और (त्वाष्ट्रस्य+चित्+गाः+निः+ससृजे) त्वाष्ट्र की गौवों को हरण कर लेता है।८। (सत्पतिः)सज्जनों का पालक वह (इन्द्रः+अव+अभिनत्) इन्द्र देव उस त्रिशिरा को छिन्न-भिन्न कर देता है। जो त्रिशिरा (भूरि+इत्+ओजः+उदिनक्षन्तम्) बहुत ही बल को धारण करने हारा अर्थात् बहु बलधारी है। पुनः (मन्यमानम्) और जो अपने को शूरवीर मानने हारा है पुनः वह इन्द्र (गोनाम्) गौवों के स्वामी (विश्वरूपस्य) विविध रूपधारी (त्वाष्ट्रस्य+चित्)। त्वष्ट्रपुत्र त्रिशिरा के (त्रीणि+शीर्षा+आचक्राणः) तीनों शिरों को खूब आक्रमण कर (परावर्क्) काट लेता है।

आशयः—यह आप्त्य त्रित कौन है जो आन्तरिक यज्ञ में प्रवृत्त होता है और जो त्रिशिरा को हत विहत करता है। इन्द्र कौन है जो त्रिशिरा के तीनों शिरों को काट लेता है। और सप्तरश्मि त्रिशिरा कौन है जो त्वाष्ट्र विश्वरूप कहाता है। उत्तर। वेद अध्यात्म वर्णन बहुत किया करता है। अतः यह भी अध्यात्म वर्णन है। त्रित=सब उत्तमेन्द्रियों का अधिपति (क्योंकि जो कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय तीनों प्रकार के इन्द्रियों को अपने वश में रखने हारा है वह त्रित। और जल से इसकी उत्पत्ति है अतः यह आप्त्य कहाता है। अथवा इसकी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्ति है अतः यह आप्त्य है। अथवा व्यापक परमात्मा की शक्ति को फैला कर दिखलाया है अतः यह आप्त्य है। त्रिशिरा=सर्वदुष्ट इन्द्रियों का अधिपति। जब ये ही इन्द्रिय किसी कारण से दुष्ट हो जाते हैं तो इनसे विविध अपकार होते हैं। ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय इन तीनों से तीन प्रकार की हानियाँ करने लगते हैं। अतः इसका नाम त्रिशिरा

है। और इसके ये ही नयनद्वय आदि सात साधन हैं अत: इसको सप्तरश्मि कहते हैं। दुष्टेन्द्रिय नानारूप धारण करता है अत: यह विश्वरूप है। शरीर को विषय भोग से क्षीण कर देता है अत: यह त्वाष्ट्र (तक्षूत्वक्षूतनूकरणे) इन्द्र नाम जीवात्मा का है। यह एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि ये इन्द्रिय, दुष्ट और शिष्ट दोनों कहाते हैं। जब हम सुकर्म के द्वारा अपनी बुराई निकालना चाहते हैं तो उस समय, मानो, हम दुष्टेन्द्रियों का खून करते हैं वा उन्हें दबाते हैं। इसी प्रकार जब हम कुकर्म द्वारा अपनी भलाई को नष्ट करते हैं तब उस समय हम, मानो, शिष्टेन्द्रियों का खून करते हैं। ये दोनों भाव प्रत्यक्ष हैं। प्रत्येक पुरुष इस दृश्य का अनुभव करता है। अब, मानो, शिष्ट इन्द्रिय एक दल और दुष्ट इन्द्रिय द्वितीय दल, इन दोनों में खूब युद्ध होता है। इसी अध्यात्म युद्ध को दिखलाने के लिए दोनों दलों के नायक, सेना, अस्त्र, शस्त्र आदिक सब कल्पित किये जाते हैं। अब आप समझिए कि त्रित एक दल का और त्रिशिरा द्वितीय दल का अधिपति है। अब त्रित चाहता है कि इस दुष्ट दल को मार गिराऊँ। परन्तु यह कैसे नष्ट हो सकता। नि:सन्देह, जब यह साधन सम्पन्न हो ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर बाह्य विषय से विमुख हो हृदय के मध्य में स्थित हो अपने दलों सहित उपासना में लग जाये तो स्वत: उस विपरीत दल की निवृत्ति हो जायेगी। अत: ''अस्यत्रित'' इस ऋचा में कहते हैं कि परमपिता की विविध रक्षाओं से यह रक्षित है और यह विविध आयुधों को जानता है। यहाँ साधन ही आयुध है। इस प्रकार साधन सम्पन्न हो यह त्रिशिरा को हत विहत कर देता है। अब ''भूरीदिन्द्र'' इस ऋचा से दिखलाते हैं कि यथार्थ में आत्मा ही त्रिशिरा का घातक है। इन्द्रिय दल केवल इसका साधक है। जब इन्द्रिय दल रुष्ट हो जाते हैं तब यह जीव भी विवश हो उदासीन वृत्ति को, मानो ग्रहण कर लेता है। इत्यादि इसका अध्यात्म भाव है। और अधिदैवत में भी यह घट सकता है इस पक्ष में आप्त्यत्रित=मेघोत्पन्न विद्युताग्नि। त्रिशिरा=मेघ। इन्द्र=सूर्य।

यहाँ साफ पता चलता है कि आप्त्यत्रित कोई व्यक्ति विशेष नहीं अन्यथा यह घटना घटित नहीं हो सकती। परन्तु यहाँ तक त्रितकी बात समाप्त नहीं हुई। एतत्सम्बन्धी और कुछ ऋचाएँ है उन पर भी विचार करना आवश्यक है।

इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसाभिनद् वलस्य परिधींरिव त्रित:।

१।५२।५।

(त्रित:+परिधीन्+इष) परिधि=आच्छादक, ढकन, आदि। जैसे प्राणाधि-

देव विविध आच्छादक आवरणों को छिन्न-भिन्न कर देता है वैसा ही (यद्+ धृषमाण:+वज्री+इन्द्र:) जब परम वीर, बज्रधारी जीवात्मा भी (वलस्य+ परिधीन्+अन्धसा+अभिनत्) बल अर्थात् दुष्टेन्द्रियाधिपति बल की परिधियों को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर देता है।५। इस ऋचा का भी त्रिशिरा की आख्यायिका के समान ही आशय है। पुन—

यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।

यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः।८।१२।१६।

(इन्द्र) हे आत्मन्! (यद्) जब आप (विष्णवि) व्यापक परमात्मा के निमित्त (सोमम्) किसी पदार्थ को लेते हैं (वा+ध) यद्वा (यद्) जब (आप्त्ये+ त्रिते) व्यापक प्राण के निमित्त (यद्वा+मरुत्सु)यद्वा विविध प्रजाओं के लिए सोम ग्रहण करते है तब (इन्दुभि:सम्+मन्दसे) आप विविध पदार्थों से युक्त हो आनन्दित होते हैं। भाव यह है कि जब यह जीवात्मा अपने स्वार्थ में न फंस कर केवल परोपकार में तत्पर रहता है। तब ही यह आनन्दित रहता है। प्रत्येक पुरुष को उचित है कि परमात्मा को साक्षी रख अपने प्राण को परोपकारार्थ पोषण करता हुआ प्रजा मात्र के सुख के लिए चेष्टा करे। मरुत् नाम प्रजा वर्गों का है। यहाँ पर भी आप्त्य त्रित नाम प्राण का ही है।१६। त्रित् साक्षात् ईश्वर के अर्थ में भी आता है। यथा—

त्रित

यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिवा श्रिता। त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे युजे अश्वाँ अयुक्षत नभन्तामन्यके समे।८।४१।६।

(चक्रे+नाभि:+इव) रथ चक्र में नाभि के समान (यस्मिन्+विश्वानि+ काव्या+आश्रिता) जिस परमात्मा में सम्पूर्ण काव्य अर्थात् विज्ञान आश्रित हैं (त्रितम्+जूती+सपर्य्यत) उस त्रिलोक व्यापी ईश्वर को जूती=शीघ्र पूजी। किस लिये सो आगे कहते है। (व्रजे+गाव:+न+संयुजे) जैसे गोष्ठ स्थान में संयुक्त करने के लिए गौवों को (युजे) इकट्ठे करते है। तद्वत् (अश्वान् अयुक्षत्) हमारे विजय के लिए दुष्टेन्द्रियगण घोड़े जोत रहे हैं इस कारण ईश्वर की पूजा करो जिससे इन दुष्टों का आक्रमण न हो (समे) सब (अन्यके) अन्य=पर=शत्रु (नभन्ताम्) स्वयं विनष्ट हो जाएँ। नभतिहिंसाकर्मा नभ धातु का अर्थ हिंसा है। इस प्रकार विचारने से वेदों में न तो विरोध है और न अनित्य इतिहास प्रतीत होता है। अब आप्त्यत्रित शब्द लेकर जो-जो इतिहास उत्पन्न हुए हैं उनकी भी अति संक्षेप में समालोचना करते हैं।

त्रितकथोत्पत्ति

सायण तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ऋग्वेद १-५२-५ ऋचा के भाष्य में त्रित के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं—अग्नि ने जल में एकत, द्वित और त्रित नाम के तीन पुरुष उत्पन्न किये। त्रित उदक-पानार्थ प्रवृत्त होता हुआ किसी कूप में गिर गया। असुर गणों ने उनका प्रतिरोध करने के निमित्त उस कूप को किसी प्रस्तर आदि वस्तुओं से आच्छादित कर दिया। अन्त में यह त्रित परिधियों (कूप की आच्छादिका) को हटा उससे निकल आया।[1] पुनः ऋग्वेद १। १०। ५ सूक्त के आदि में ही शाठ्यायिनी इतिहास के अनुसार लिखते हैं कि पूर्व काल में एकत, द्वित और त्रित ये तीन ऋषि हुए। वे कदाचित मरुदेश के अरण्य में जाते हुए पिपासा से अत्यन्त व्याकुल हो जलाशय खोजने लगे। एक कूप मिला। त्रित ऋषि जलपानार्थ उस कूप में बैठ कर स्वयं पानी पी के और पानी लाके अपने भाइयों को भी पिलाया। वे दोनों जल पी त्रित को उसी कूप में गिरा उसको रथ के चक्र से ढाँक त्रित का सब धन ले चले गये।[2] त्रित कूप में पतित हो उद्धार के लिए सब देवों का स्मरण करने लगा। तब उस समय उस त्रित को देवतास्तावक यह सूक्त दृष्ट हुआ। जो "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि" यहाँ से आरम्भ होता है।

त्रिताय त्वा। द्विताय त्वा। एकताय त्वा। यजुः। १। २३।

इस यजुर्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करता हुआ शतपथ ब्राह्मण कहता है:—

चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास। स यमग्रे अग्निं होत्राय प्रावृणत स प्राधन्वद्। यं द्वितीयं प्रावृणत स प्रैवा धन्वद्। यं तृतीयं प्रावृणत् स प्रैवा

---

१. तथा च तैत्तिरीवैः समाम्नातम्। सोऽङ्गारेणायः अभ्य पातयत्। तत एकतो जायत। सद्वितीय मभ्यपातयत्। ततो द्वितीऽजायत। सतृतीय मभ्यपातयत्। ततस्त्रितोऽजायत। तत्र उपदानार्थ प्रवृत्तस्य कूपे पतितस्य प्रतिरोधाय असुरेः परिधयः कूपस्याऽच्छा-दिकाः स्थापिताः तान्यथासोऽभिनत्तद्वत्।

२. तत्र शाट्यायिन इतिहास माचक्षते-एकतोद्वित स्त्रित इति पुरा त्रय-ऋषयो बभूवुः। तेकदाचिन्मरुभूमा वरण्ये वर्त्तमानाः पिपासया सन्तप्तगात्राः सन्तः एकं कूप मविन्दन्। तत्र त्रिताख्य एको जलपानाय कूपं प्राविशत्। स्वयं पीत्वा इतरयोश्च कूपादुदक मुद्धृत्य प्रादात्। तौ उदकं पीत्वा त्रितं कूपे पातयित्वा तदीयं धनं सर्वमपहृत्य कूपं च रथचक्रेण पिधाय प्रास्थिषाताम्। ततः कूपे पतितः स त्रितः कूपा दुत्तरीतुं अशुकवन् सर्वे देवा मां समुद्धरन्त्विति मनसा सस्मार। ततस्तेषां स्ताव कमिदं स्मक्तं ददर्श। इति।

धन्वद्। अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये। सो अपः प्रविवेश। ते देवा अनुविद्य सहसैवाऽऽद्भ्य आनित्युः। सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ट्यू ता स्थ या अप्रषदनं स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति तत आप्त्याः सम्बभूवुः— त्रितो द्वित एकतः। १। ते इन्द्रेण सह चेरुः। यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। स तत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान। तस्य हैतेऽपि बध्यस्य विदाञ्चक्रुः। शश्वद्धैनं त्रिअ एव जघाना त्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवो हि सः। २। शतपथ। १। २। ३।

अर्थ=पूर्व समय में अग्नि चार भागों में विभक्त था। वह अग्नि जिसको उन्होंने (देवों ने) प्रथम, होत्र कर्म के लिए चुना भाग गया। पुनः जिस द्वितीय अग्नि को चुना यह भी भाग गया। पुनः जिस तृतीय अग्नि को चुना वह भी भाग गया। और जो आजकल का अग्नि है वह भयभीत हो कहीं छिप गया। वह जल में बैठ गया। उसको देवगण ढूंढ और पा के जल से शीघ्र ले आये। उस अग्नि ने पानी पर थूक दिया और कहा कि आप थूकने के योग्य हैं। क्योंकि आप सुरक्षित स्थान नहीं है। जिन आपसे मुझको मेरी इच्छा के विरुद्ध ये (देव) ले जा रहे हैं उस जल से त्रित, द्वित और एकत आप्त्य उत्पन्न हुए। वे तीनों इन्द्र के साथ विचरण करने लगे। जैसे आजकल भी ब्राह्मण राजा के पीछे चलता है। वहाँ जब उसने त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र विश्वरूप का हनन किया तब इन्होंने भी इसको वध्य समझा। झट उसको त्रित ने मार दिया। निश्चय, तब (उस दुःख से) इन्द्र छूट गया। क्योंकि वह देव है।

त्रितं कूपेऽवहितम् एतत्सूक्तं प्रतिबभौ, तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम् ऋङ्-मिश्रं गाथामिश्रं भवति। त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपिवा संख्याना-मैवाभिप्रेतंस्याद्। एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयोबभूवुः। निरुक्त। ४। ६।

यास्काचार्य कहते हैं कि कूप में पतित वा समाहित त्रित को यह (१। १०५) सूक्त प्रतिभासित हुआ। यह वेद इतिहास युक्त है। क्योंकि ऋङ्मिश्र और गाथामिश्र वेद होता है। त्रित शब्द का यह अर्थ है जो बुद्धि के द्वारा तीर्णतम अर्थात् अतिशय पार उतरा हुआ है। अथवा संख्या के कारण ही यह त्रितनाम है। क्योंकि एकत, द्वित और त्रित ये तीन उत्पन्न हुए।

इत्यादि अनेक गाथाएँ त्रित के सम्बन्ध में गाई जाती हैं। परन्तु ध्यान पूर्वक समीक्षा करने से विदित होता है कि त्रित किसी मनुष्य का यहाँ नाम नहीं है। क्योंकि तैत्तिरीय और शतपथ कहते हैं कि जल से त्रित द्वित एकत तीन उत्पन्न हुए। जल से कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं होता। यदि त्रित कोई मनुष्य होता तो इसके पिता माता ग्राम आदि की चर्चा होती। परन्तु है नहीं। अतः यह

मानव इतिहास नहीं। वेद में जो आप्त्य और त्रित शब्द है उसी को देख आचार्यों ने जल से उत्पत्ति और द्वित और एकत का सम्बन्ध लगाकर इतिहास कल्पित कर लिया है। और तीनों को भाई मान त्रित को कूप में गिराने की बात लिखी है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण से सब विस्पष्ट हो जाता है वह यह है। एकत, द्वित और त्रित ये तीनों यथार्थ में प्राण ही हैं। हम पृथिवी पर देखते हैं कि अग्नि और जल के संयोग से समस्त प्राण उत्पन्न होते हैं। वर्षा होते ही विविध पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। मनुष्य सम्बन्धी प्राण भी जल से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु सर्वत्र अग्नि शक्ति के बिना कोई प्राण उत्पन्न नहीं हो सकता। ये प्राण उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन प्रकार के हैं अतः यजुर्वेद मे ंतीन प्राणों का निरूपण किया है और उनके नाम त्रित, द्वित और एकत रखे हैं। और शतपथ में ऋग्वेद के समान ही यह त्रित इन्द्र की सहायता कर रहा है। विश्वरूप को मारता है और इन्द्र के साथ रहा करता है। इसका यही भाव है कि इन्द्र जो जीवात्मा इसके साथ उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्राण रहते हैं। परन्तु इसको सहायता उत्तम प्राण से ही मिलती है। इत्यादि भाव जानना। अब जब त्रित कोई व्यक्ति विशेष सिद्ध ही नहीं होता तब आकाश-कुसुमवत् इसका कूप में गिरना और वहाँ सूक्त देखना इत्यादि मिथ्या ही है। यास्क ने भी इस तत्त्व को न समझ के विपरीत वर्णन कर दिया है। जो विद्वान् आप्त्य त्रित अर्थात् व्यापक प्राण अथवा जलोद्भव प्राण के तत्त्ववित् थे और इस तत्त्व को जान मनुष्यों में प्रचार किया करते थे वे ऋषि भी इसी नाम से पुकारे गये। विद्वान् जन इस पर अब विचारें कि क्या इससे कोई मानव इतिहास सिद्ध होता है।

इति।

नदी पातित दीर्घतमा ऋषि

शुनःशेप की सदृशता दिखलाता हुआ मैं अनेक उदाहरण लिख आया हूँ और जालबद्ध मत्स्य ऋषि, मृत्यु मुखपतित ऋषि सुबन्धु और कूप पतित ऋषि त्रित इनके इतिहास भी शुनःशेप की पुष्टि के लिए ही दिखलाए हैं। यह भी मैंने त्रित के उदाहरण में कहा है कि "आस्य त्रित" ये दो शब्द वेदों में देख कैसा विलक्षण इतिहास प्राचीन जनों ने कल्पित किया है। इसी प्रकार वेदों के एक-एक शब्द के ऊपर पश्चात् विविध इतिहास उत्पन्न होते गये हैं। दीर्घतमा के उदाहरण से यह बात और भी विस्पष्ट रीति से सिद्ध होती है। मैंने कई बार कहा है कि वेद प्रार्थनामय ग्रन्थ हैं। मानवस्वभाव के चित्रों के अद्भुत निरूपक हैं। मनुष्य के हृदय में कैसे-कैसे तरङ्ग उठते रहते हैं, किस

प्रकार मनुष्य अपनी भावना की ओर दौड़ जाता है, कैसे अदृश्य शक्ति की ओर आँखें उठाकर देखने लगता है, इस अचिन्त्य की चिन्ता कर कैसे ये मनुष्य सुप्रसन्न हो जाते हैं, ये विज्ञानी जन संसार की विचित्र लीला देख कैसे मुग्ध, , विमुग्ध, क्षुब्ध हो जाते हैं और विचारने लगते हैं कि इस सब का क्या उद्देश्य है। कोई पुरुष कोटियों रुपये बटोरता जा रहा है। कोई उन द्रव्यों से विविध उचित अनुचित भोगों को ही भोग रहा है। भोगों की समाप्ति नहीं होती। इन्द्रिय दुर्बल होते जाते, परन्तु लालसा मनोरथ बढ़ते ही जाते हैं। विज्ञानी जन देखते हैं कि यह कितने दिनों के लिए हैं और क्यों हैं। जितने ही विचारते हैं उतना ही प्रतीत होता है कि इन सब का मन ही कारण है। इन इन्द्रियों को जितना ही भोगविलास की ओर लगाओ उतना ही ये प्रवृद्ध और वेगवान् होते जाते और विविध दुःखों के हेतु होते जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत इनको जितना ही शान्त और विषय-विमुख रखो उतना ही सुख है। काम स्वरूप अश्व को जितना हनन करो उतना ही क्लेश के पंजों से बचोगे। ईश्वरीय सृष्टि में अमृत और विष दोनों हैं। चाहे सुधापान करो, चाहे हलाहल विष। ऋषियों ने वैदिक ज्ञान द्वारा देखा कि प्रथम पक्ष ही सुरक्षित है। इसलिये वेद में बारम्बार इन विषय-वाटिकाओं से बचने की उपायभूत प्रार्थनाएँ आती हैं और इन प्रार्थनाओं के प्रताप से वे सदा सुरक्षित रहते थे। प्रार्थनाएँ ही इनका अच्छेद्य अभेद्य कवच थे। इनको पहन जगत् को सुखी करते हुए अन्त में अपने प्रभु के निकट निर्विघ्न पहुँच जाते थे। अब आप देखेंगे कि यह एक अति सरल भावपूर्ण आलङ्कारिक प्रार्थनामात्र है परन्तु इस पर कैसी घृणित कथा बन गई हैं।

उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मा मामिमे पतत्रिणी वि दुग्धाम्। मा मामेधो दशतयाश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्। ऋ० १.१५८.४। **न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः। शिरो यदस्य त्रैतनोवितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपि ग्ध।** ऋ० १।१५८।५

ये ही दो ऋचाएँ हैं। इन दो ही स्तम्भों पर अति कुरूप, अति घृणित निर्मूल और चित्र-लेखकों की अनभिज्ञता-सूचक गृह बनाया गया है। इनके देवता अश्विद्वय हैं और ऋषि दीर्घतमा ही हैं। वेदों में ये अश्विद्वय जीवोद्धारक प्रसिद्ध हैं। सप्तवध्रि, रेभ, भुज्यु, अत्रि, गोतम, च्यवान, कक्षीवान्, घोषा आदि जीवों का अति गहन स्थान से और असह्य पीड़ा से उद्धार कर रक्षा किया करते हैं। ये नासत्य, भिषग्, दस्र, वसु, रुद्र आदि अनेक नामों से पुकारे गये हैं। आगे अनेक आख्यान इनके उदारता-प्रदर्शक दिए जाएँगे। मुख्यतया

अहोरात्ररूप महाकाल के अधिष्ठातृदेवको अश्विद्वय कहते हैं। परन्तु जहाँ मातृपितृत्व दोनों गुणों का परमात्मा में अध्यारोप करके उनसे प्रार्थना करते हैं, वहाँ-वहाँ प्राय: अश्विद्वय नाम से प्रार्थना आती है। अब मन्त्रार्थ देखिये—

हे मातृ-पितृ स्थानीय देव! (उपस्तुति:) यह जो मैं आपके समीप पहुँच स्तुति किया करता हूँ वह मेरी उपस्तुति (औचथ्यम्+माम्+उरुष्येत्) स्तुति पाठक मेरी रक्षा करे। जिससे (इमे+पतत्रिणी) ये पक्षिवत् उड़नेहारे और नित्य आने जाने हारे दिन और रात्रि (माम्+मा+विदुग्धाम्) मुझको विदग्ध न करें अर्थात् ये अहोरात्र रूप महाकाल मुझे न जलावें (दशतय:+चित:+एष:) दश बार प्रज्वलित यह काष्ठ समूह (माम्+मा+धाक्) मुझको दग्ध न करे (यद्) जिस हेतु (वाम्) आपका आश्रित यह उपासक जन (त्मनि+बद्ध:) अपने में ही दृढ़तया पाशों से सुबद्ध होके (क्षाम्+निखादति) पृथिवी की धूल खा रहा है अपने दुष्कर्म से पृथिवी पर पीड़ित हो रहा है। ४। हे परमात्मन्! (मातृतमा:+नद्य:+मा+न+गरन्) मातृवत पोषण करने हारी ये नदियाँ मुझको न निगल जावें। (यद्+दासा:) जब ये कर्मफलभूत (ईम्+सुसमुब्धम्+अवाधु:) संकुचिताङ्ग मुझको बाँध कर नीचे मुख कर नदियों में फेंक देते हैं, उस समय ये नदियाँ मुझे न निगलें ऐसी कृपा करो और (यद्) जब (त्रैतन:) यह दास त्रैतन (अस्य+शिर:+वितक्षत्) इस मेरे शिर को खूब कूटा करता है तब हे भगवन्! (दास: स्वयम्+उर:+अंसौ+अपि+ग्ध) यह दास स्वयं अपने वक्ष: स्थल और कंधों को हनन किया करे। अर्थात् वह मुझे दु:ख न देकर स्वयं अपने को पीड़ित करे। ५।

आशय:—उरुष्येत्=रक्षेत्। उरुष्यती रक्षाकर्मोति यास्क: पतत्रिणी=पतत्री= पक्षी। यहाँ दिन और रात्रि का नाम पक्षी है। पक्षी के समान ही ये उड़ रहे हैं और पुन: आते जाते रहते हैं। अथवा पतनशील=पतत्री। दिन रात्रि के समान पतनशील कौन है। एध:=काष्ठ समूह। दशतय=दशवार (सा०) त्मनि=वेद में आत्मन् शब्द के 'आ' का लोप हो जाता है। क्षा=पृथिवी नि० ५। २३। गरन्=गृ निगरणे। यहाँ पाँच-छह बातें हैं वे ये हैं। १—मेरी स्तुति मेरी रक्षा करे। २— अहोरात्र मुझे दग्ध न करें। ३—यह दशबार संचित अग्नि मुझे न जलावे। ४—नदियाँ मुझे न निगलें। ५—ये दास मुझे बाँध कर नदियों में फैंकते हैं। ६—यह त्रैतन नाम का दास मुझ को शिर पर मार रहा है यह स्वयं अपने को विहत करे। ऐसी और इतनी बातों से इतिहास सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रथम बात पर कोई शङ्का नहीं। द्वितीय से देखें इसमें ''मा मामिमे पतत्रिणी विदुग्धाम्'' कहा गया है। अहोरात्ररूपकाल किस को दु:ख देता है? क्या यह शरीरधारी

देव है जो किसी को आ के दग्ध किया करता है। यह चेतन देव नहीं। किन्तु जो ज्ञानीजन हैं वे देखते हैं कि इस अहोरात्ररूप काल के विकराल कवल में किस प्रकार ये भस्म हो रहे हैं। ये प्रमत्त होके इसमें स्वयं भस्म हो रहे हैं। इसी प्रकार मुझे भी यह काल न खा जाये। इससे सिद्ध है कि यह आध्यात्मिक प्रार्थना है। अजीगर्त भी इसी अहोरात्र को सम्बोधित करके प्रार्थना करते हैं कि ''निस्वापयामिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने। आतृन इन्द्र०'' पृ० ७२ में अर्थ देखिये। अब तृतीय बात यह है कि ''मा मा मेधो दशतयश्चितोधाक्'' ''दश बार प्रज्वलित किया हुआ इन्धन मुझे दग्ध न करे'' यह वर्णन ही अध्यात्मकत्वद्योतक है। यहाँ ''दशतय'' शब्द क्यों आया है। निश्चय यह शब्द कुछ विलक्षण अर्थ का प्रतिपादन करता है। यह गर्भ में निवासावस्था का वर्णन है। यह जीव माता के उदर में दश मास निवास करता है। ये ही दश मास, मानो, काष्ठों के दश राशि हैं। मानो, प्रत्येक मास ही एक-एक इन्धन का ढेर है। गर्भस्थ जीव को यही जलाया करता है। अत: जीव प्रार्थना करता है हे भगवन्! जब मैं गर्भ में निवास करूँ तो उस समय आप मेरी रक्षा कीजिये। इत्यादि। आप यह देखें जो राजा सम्पूर्ण पृथिवी के ऊपर स्वतन्त्र होके भ्रमण कर सकता है, यदि उसको यह निश्चित रूप से मालूम हो कि मुझ को कई महीनों तक एक बहुत तंग, बहुत अन्धकारमय बहुत दुःखमय, अविदितवृत्त, अज्ञातवस्तु और भोज्यादि-रहित बहुत दुःखदायी, जलती कोठरी में अवश्य निवास करना होगा तो उस राजा को कितना क्लेश पहुँचेगा। कैसा व्याकुल होके पृथिवी पर गिरेगा। इसके दुःख का कोई अन्त लगा सकता है? क्या कोई विज्ञ कवि भी इसकी आन्तरिक व्याकुलता के चित्र को खींच सकता है? यही दशा विज्ञानी, स्वच्छन्दविहारी जीव की है। जब अपने दुष्कर्म से इसको यह पता लगता है कि मुझको उस कोठरी में अवश्य जाना है और दश मास वहाँ बद्ध होकर कैदी के समान अवश्य रहना है तब यह ज्ञानी जीव अपने कर्म पर पश्चाताप करता है और प्रार्थना करने लगता है कि हे भगवन्! अब पुनः मुझे ऐसी कुबुद्धि मत दो जिससे कि मुझ को इस अन्धकारमय कोठरी में पुनः-पुनः आना पड़े इत्यादि। यह जीव कहीं बाह्य बन्धन से बध होके यह प्रार्थना नहीं कर रहा है, किन्तु अपने कर्मो को स्मरण कर अन्तःकरण में पश्चात्ताप करता रहा है। ऐसा पश्चात्ताप करना प्रत्येक ज्ञानी जीव का स्वाभाविक धर्म होता है। अतः यह किसी व्यक्ति विशेष की प्रार्थना नहीं। आगे भी उस गर्भ निवासस्थान का वर्णन आवेगा। चौथी बात यह कही कई है कि ''न मा गरन् नद्यो मातृतमाः'' गर्भस्थान की जो नाड़ियाँ हैं ये ही यहाँ

नदियाँ है। पञ्चम बात यह है कि "दासगण बाँध के नीचे मुख कर मुझे नदियों में फैंकते हैं" यहाँ विविध दुष्ट कर्मों को ही दास कहा है। "दस उपक्षये" विनाशकर्त्ता को दास कहते हैं। दुष्ट कर्म ही जीव को नाना क्लेश पहुँचाते हैं। ये ही गर्भ रूप नदियों में जीव को बलात्कार बाँध कर फैंकते हैं। छठी बात यह है "शिरो यदस्य त्रैतनौ वितक्षत्" यह त्रैतप पद भी इसी अध्यात्मभाव को सिद्ध कर रहा है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय ये तीन प्रकार के इन्द्रिय हैं इनकी दुष्टता से जो भयङ्कर परिणाम होता है उसी का नाम त्रैतन है। यह त्रैतन आत्मा का ही पुत्र है क्योंकि आत्मा ने ही अपनी अज्ञानता से इसको उत्पन्न किया है। और यही आत्मा को असह्य क्लेश भी पहुँचाया करता है। नाना योनियों में जीव को यही कर्मविपाक त्रैतन घसीटता है। अतः प्रार्थना है कि यह त्रैतन मुझे बड़ा क्लेश पहुँचाता है। कौन नहीं जानता है कि जिसके ये तीनों प्रकार के इन्द्रिय प्रबल हैं और विषयवासना में लिप्त हैं। उसके शिर की क्या दशा होती है। इत्यादि अध्यात्म अर्थ को न देखकर सायण आदिकों ने वेदों के अर्थ करने में बड़ी भूलें की हैं। परन्तु अभी यहाँ तक ही यह विषय समाप्त नहीं हुआ। इसके सम्बन्ध में दो एक अन्यान्य ऋचाएँ भी प्रस्तुत करनी हैं। प्रथम इन्हीं दो ऋचाओं के अनन्तर जो भ्रमोत्पादक ऋचा आती है। वह यह है:—

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥ ६ ॥

हे भगवन्! (दीर्घतमाः) अन्धकारमय गर्भस्थान में निवास करने से दीर्घतम से आवृत पुनः (मामतेयः) ममता से भरा हुआ अथवा ममता का पुतला यह जीव आपके अनुग्रह की छटा का किञ्चित् प्रकाश पाने पर अथवा दशम काल उपस्थित होने पर अथवा दशम युग उपस्थित होने पर (जुजुर्वान्) उदररूप कारागार में आपकी स्तुति करता है। पुनः यदि आपकी कृपा होती गई तो (अपाम्+अर्थम्) कर्मों के फल को (यतीनाम्) प्राप्त प्राणरूप प्रजाओं के मध्य में (ब्रह्मा+भवति) ब्रह्मा होता है और (सारथिः) इनको सुपथ में ले जाने के लिए सारथि बनता है। ६।

दीर्घतमा—(दीर्घ विस्तृतं तमोयस्यसः। जीवात्मा को गर्भस्थान में विस्तृतम (अन्धकार) प्राप्त होता है। अतः यहाँ जीव दीर्घतमा कहा गया है मामतेय=यह मेरा, यह मेरा, यह अन्य, यह अन्य इस प्रकार के भाव का नाम ममता है। जीव इस ममता के वश में रहता है अतः इसको मामतेय अर्थात् ममता का पुतला कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो मामतेय होगा वह अवश्य ही

दीर्घतमा भी होगा क्योंकि ममबुद्धि रखने हारे ही बारम्बार अन्धकाराऽऽवृत गर्भ रूप कारागार में निवास करेंगे। अतः ये दोनों शब्द परस्पर हेतुगर्भित विशेषण हैं। जुजुर्वान्=मुझे आश्चर्य प्रतीत होता है कि सायण आदिक भाष्यकर्त्ता तथा अनुवादकर्त्ता जुजुर्वान् शब्दार्थ जीर्ण अर्थात् वृद्ध करते हैं। ये सब आगे पीछे कुछ भी विचार नहीं करते हैं। झट आधुनिक संस्कृत और पुराणों का संस्कार इनके अन्तःकरण में आ घुसता है तदनुसार अर्थ कर देते हैं परन्तु जहाँ विवश हो जाते हैं वहाँ इनके सब कुसंस्कार विस्मृत हो जाते हैं। जु धातु और इससे बने हुए शब्द प्रायः स्तुति अर्थ में आया करते हैं। प्रथम निघण्टु देखिये।

अर्चति। गायति। रेभति। स्तोभति। गूर्द्धयति। गृणाति। जरते। ह्वयते। नदति। पृच्छति। रिहति। धमति। कृपायति। कृपण्यति। पनस्यति। पनायते। वल्गूयति। मन्दते भन्दते। छन्दयति। छदयते। शशमानः। रञ्जयति। रजयति। शंसति। स्तौति। यौति। रौति। नौति। भनति। पणायति। पणते। सपति। पपृक्षाः। महयति। वाजयति। पूजयति। मन्यते। मदति। रसति। स्वरति। वेनति मन्द्रयते। जल्पति। इति चतुश्चत्वारिंश-दर्चति कर्माणः। निघण्टु। ३। १४।

आप देखते हैं कि ये ४४ शब्द अर्चति अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अर्चन, पूजन, स्तवन, स्तुति करना आदि शब्द एकार्थक हैं। क्योंकि पूजयति, स्तौति आदि शब्दों का पाठ भी इसी के अन्तर्गत है। पुनः वैदिक प्रयोग पर ध्यान दीजिये।

१ जरते सूनृतावान्। १। ५९। ७। **जरते=स्तूयते। (सा०)**

२ वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। १। २।

जरितारः=स्तोतारः=। जरन्ते।=स्तुवन्ति। (सा०)

३ जरते.....ऋषूणां जूर्णिः। १। १२७। १०।

जरते=स्तौति। जूर्णिः स्तुतिकुशलः। (सा०)

वेदों में शतशः उदाहरण हैं। पाठक देखें। यहाँ तीन ऋचाएँ उद्धृत की हैं। और सायण के ही अर्थ लिख दिये हैं। अन्यान्यों ने भी ये ही अर्थ किये हैं। अब मैं पूछता हूँ कि जब सब स्थान में ज्‌टुम् धातु स्तुत्यर्थ में आता है ज्टुञ् से बने हुए जरिता, जूर्णि आदि शब्द के अर्थ स्तुति करने वाला व स्तुतिकुशल होते हैं तो इस ऋचा में जुजुर्वान् शब्द का अनर्थ क्यों किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि वही पौराणिक संस्कार आ घेर लेता है। एवमस्तु।

दशमे+युगे=यहाँ युग शब्दार्थ मास है क्योंकि मैं प्रथम लिख चुका हूँ कि यहाँ गर्भ-निवास के दुःख का वर्णन है। पूर्व में ''दशतयः'' शब्द आया है वहाँ पर भी दश मास ही दश अग्नि हैं। दश वें मास में प्रायः जीव गर्भ से निकलता है और इस समय वैदिक विज्ञान के अनुसार इस जीव को चेतना प्राप्त होती है। यह जीव अपने सब कर्मों का स्मरण करता है और मानसिक प्रार्थना भी ईश्वर से करता है कि मैं ऐसे दुष्कर्म पुनः न करूँगा। हे भगवन्! अब रक्षा कीजिये। अतः कहा गया है कि यह दशमयुग प्राप्त होने पर प्रार्थना करता है। ईदृग् उदाहरण आगे भी कई एक मिलेंगे। अथवा युग शब्दार्थ प्रसिद्ध युग ही रखने में भी कोई क्षति नहीं मानी। गर्भनिवास का एक-एक मास एक-एक युग के समान है। अतः यहाँ दशमयुग कहा है। एवं इस अवस्था में जुजर्वान् का भी सायणादिक कृत ही अर्थ लें तो भी कोई क्षति नहीं। क्योंकि दशम मास प्राप्त होने पर यह वृद्ध होता है। अर्थात् गर्भ के दशम मास में वृद्ध के समान इसको सब पूर्वकृत कर्म सूझने लगते हैं परन्तु सायण आदि इस युग शब्द से कुछ अन्य ही अर्थ समझते हैं। एवमस्तु।

अपामर्थं यतीनाम्। अपशब्द कर्मवाचक है। यहाँ ''यती'' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। भाव यह है कि आत्मा प्रजापति कहा गया है। और इन्द्रियगण प्रजाएँ कहीं गई हैं। ये इन्द्रियगण पुनः-पुनः अपने कृत कर्म के फलों को भोगा करते हैं॥ अतः यहाँ स्त्रीलिङ्ग वाचक शब्द देकर इन्द्रियरूप प्रजाओं का ब्रह्मा यह जीवात्मा होता है ऐसा कहा गया है। अब पाठकगण स्वयं विचारें। ग्रन्थ की विस्तृति के भय से अधिक लिखना उचित नहीं समझता। और अब एक ऋचा और भी सुनिये जहाँ मामतेय अन्ध आदिक शब्द आए हैं।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
र रक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देशुः

१-१४७।३।

(अग्ने) हे प्रकाशमय देव, हे परमात्मन्! (ते+ये+पायवः) आप के जो ये जीवरक्षक विविध प्रबन्ध हैं वे (मामतेयं) ममता के पुतले (अन्धम्) और कामान्ध व विषयान्ध मुझ उपासक को (पश्यन्तः) देखते हुए कृपा कर (दुरिताद्+अरक्षन्) पाप से रक्षा करते हैं। और (विश्ववेदाः) सर्वज्ञानी सर्वद्रष्टा आप स्वयं (तान्+सुकृतः+ररक्ष) उन सुकृत प्रबन्धों की रक्षा करते हैं। हे भगवन्! आपकी कृपा से (दित्सन्तः+रिपवः+इत्) द्रोही कामादिक रिपुगण (न+अह+देशुः) मुझ उपासक को हिंसित न करें। ३। यहाँ पर भी अन्ध शब्द

कामान्ध आदि कुत्सित अर्थ में ही आया है न कि यथार्थ में। यह दीर्घतमा शापवश अन्धा हो गया था पश्चात अग्नि की कृपा से इनका अन्धत्व विनष्ट हुआ। अब यहाँ बहुत विचार हो चुका। अन्यान्य उदाहरण से भी आगे-आगे विस्पष्ट होता जायेगा। अब दीर्घतमा औतथ्य, मामतेय, अन्ध, नदी आदि शब्द देख लोगों ने जो कथा गढ़ी है वह यह है—

दीर्घतमः कथोत्पत्ति

बृहद्देवता चतुर्थाऽध्याय श्लोक ११ से इस प्रकार इतिहास आरम्भ होता है—उतथ्य[१] और बृहस्पति दोनों ऋषि पुत्र थे। उतथ्य की भार्या भार्गवी ममता थी। एक समय लघुभ्राता बृहस्पति बलात्कार ममता के तल्पारूढ हुए। वह प्रथम से ही अन्तर्वत्नी थी। अतः उस गर्भस्थ जीव ने बृहस्पति के शुक्र को अन्तः प्रविष्ट न होने दिया। इससे बृहस्पति क्रुद्ध हो बोले कि तुझे दीर्घ (बहुत) तम प्राप्त हो। अतएव इसका नाम दीर्घतमा हुआ। उत्पन्न होते ही वह अपने तेज से सबको दग्ध करने लगा। अतः यह अन्धा हो गया। पश्चात् देवों से वर पाकर अनन्ध हुआ। यह अनेक सूक्त का द्रष्टा हुआ इत्यादि। पुनः इसी अध्याय में २१ वें श्लोक से यह वार्त्ता आरम्भ होती है। एक समय वृद्धावस्था में इसको परिचारक दास नदी में फैंक आये और उनमें से एक त्रैतन नाम के दास ने इसको शस्त्र से भी खूब आहत किया। पश्चात् सब नदियाँ मिल के इसको अंग देश के समीप ले आई। वहाँ कक्षीवान् आदि अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। १-१५८-४ ऋचा की व्याख्या में सायण लिखते हैं कि स्वगर्भदासों (निजपुत्रों) ने जराजरितगात्र, जात्यन्ध, मामतेय, दीर्घतमा को एक समय प्रदाहार्थ अग्नि में फैंक दिया। वहाँ ही इन्होंने अश्विदेव की स्तुति की। प्रसन्न हो अश्विद्वय ने उसकी रक्षा की। पुनः उन गर्भदासों ने जल में डुबो दिया। वहाँ भी देवता ने रक्षा की। पुनः किसी त्रैतन नामक दास ने इसके सिर और वक्षस्थल तोड़ दिए पुनः अश्विदेव के अनुग्रह से अवयव युक्त हुआ। इत्यादि।

महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ में इस प्रकार इतिहास है यथा—भीष्मपितामह सत्यवती से कहते हैं कि इस विषय में एक और पुरातन इतिहास कहता हूँ। पूर्वकाल में उताथ्य नाम एक ऋषि थे। उनकी परम सम्मता ममता नाम्नी एक भार्या थी। एक समय उतथ्य के कनिष्ठ भ्राता देवगुरु बृहस्पति जी ममता के निकट आ गये। उन्हें देख ममता बोली कि आपके बड़े भाई से मैं

---

१. यह नाम ऋग्वेद ८।४९।२८ में आया है। महाभारत आदि में उतथ्य शब्द आता है।

गर्भवती हूँ। अतः आप लौट जाएँ। हे बृहस्पते ! इसने गर्भ में ही षडङ्ग वेद पढ़ लिये अब दूसरे का स्थान नहीं है। बृहस्पति ने ममता के वचन न सुने। अनन्तर गर्भस्थित मुनि ने भी बृहस्पति से कहा कि हे तात! आप अब शान्त होवें। इस गर्भ में दो की स्थिति संभव नहीं। हे भगवन्! यह स्थान स्वल्प है। मैं यहाँ प्रथम आया हूँ। आप अमोघवीर्य हैं। मुझे पीड़ा न पहुँचावे। बृहस्पति जी गर्भस्थ ऋषि की भी बात न सुन के ममता के समीप पहुँचे। पश्चात गर्भस्थ ऋषि ने बृहस्पति के शुक्र को भीतर न आने दिया। इस पर क्रुद्ध हो बृहस्पति ने शाप दिया कि तू दीर्घतम अन्धकार, प्रविष्ट होगा, अतः ऋषि के श्राप से वह दीर्घतमा जात्यन्ध ही जने। रूपसम्पन्ना, तरुणी, प्रद्वेषी नाम्नी एक ब्राह्मणी से इनका विवाह हुआ। इससे गौतम आदि कई एक पुत्र हुए, परन्तु वे सबके सब ही बड़े अज्ञानी हुए। जहाँ ये रहते थे वहाँ के ऋषिगण भी इनसे बड़े असंतुष्ट थे। इनकी भार्या प्रद्वेषी भी इनको अन्ध और निर्धन समझ कर आज्ञाकारिणी न थी और बहुधा बुरी-बुरी बातें सुनाया करती थीं। अपनी भार्या से ऋषि ने कहा कि मुझको क्षत्रिय कुल में ले चलो तो तुम धनवती बन सकोगी।

प्रद्वेषी बोली कि तुम्हारे दिए हुए दुःखदायी धन की मुझे इच्छा नहीं है। तुम जो चाहो करो। मैं पहले की तरह अब भरण पोषण न कर सकूँगी। दीर्घतमा बोले कि आज से मैं ऐसी लोक मर्यादा स्थापन करता हूँ, कि नारी एक पति पर जीवन भर निर्भर रहेगी। एक पति जीवित रहे वा मर जाये, कोई स्त्री दूसरे पति की शरण ले नहीं सकेगी। यदि कोई नारी दूसरा पति कर ले तो वह पतित होगी। ब्राह्मणी इनकी यह बात सुनकर क्रोधातुरा हो बोली कि हे पुत्रो ! इनको गङ्गा में डाल आओ। आगे लोभ और मोह से अभिभूत गौतम आदिक पुत्रों ने अन्धे बाप को बाँध कर बेड़े पर रख करके गङ्गा में बहा दिया। वह अन्धा विप्र बेड़े पर गङ्गा के सोते में बहते हुए मनमाने अनेक देशों में से हो चला। धार्मिक वर बलि नामक एक राजा ने बह कर निकट आए हुए उन अन्धे ऋषि को देखा और सत्कार से अपने घर में ले आए और पुत्र के लिए प्रार्थना कर बोले कि हे ऋषि! मेरे वंश की रक्षा के लिए मेरी स्त्री से सन्तान उत्पन्न कीजिये। ऋषि के राजा की इस बात पर सहमत होने पर राजा ने इनके पास सुदेष्णा नाम्नी अपनी स्त्री को भेज दिया। परन्तु राजरानी सुदेष्णा ने उनको अन्धा और बूढ़ा देख स्वयं उनके पास न जाकर अपनी दासी को भेजा। ऋषि ने उस शूद्रयोनि में कक्षीवान् आदि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये। अनन्तर राजा ने उन पुत्रों को देख ऋषि से कहा कि ये मेरे पुत्र हैं, परन्तु महर्षि

ने कहा कि ये आपके पुत्र नहीं हैं। ये मेरे हैं। इन्होंने मुझसे शूद्रयोनि में जन्म लिया है। रानी ने मुझको अन्धा और बूढ़ा जान निरादर किया। शूद्रा धात्रियों को भेजती रही। अनन्तर पुनः बलि ने उन ऋषि को प्रसन्न कर अपनी स्त्री सुदेष्णा को उनके निकट भेजा। ऋषि दीर्घतमा देवी सुदेष्णा के अङ्गों को स्पर्श कर बोले कि तुम्हारे आदित्य समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होंगे, उन पुत्रों के नाम अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र और सुह्य होंगे और इस भूमण्डल में उनके निज-निज नाम से एक-एक देश प्रख्यात होगा। अङ्ग के नाम से अङ्ग देश, बङ्ग के नाम से बङ्ग देश, कलिङ्ग के नाम से कलिङ्ग देश इसी प्रकार पुण्ड्र और सुह्य देश होंगे। इस प्रकार पूर्व काल में ऋषि से बलि के वंश की परम वृद्धि हुई।

इस प्रकार अनेक प्राचीन ग्रन्थों में दीर्घतमा सम्बन्धी विविध इतिहास कल्पित होते गये। यद्यपि ये कथाएँ प्रायःघृणित, अपाठ्य, अश्राव्य हैं तथापि इनमें जो अलौकिक घटनाओं का वर्णन है, वह इसके आलङ्कारिकत्व को सिद्ध करता है। प्रथम तो ऐतिहासिकों ने यह साहस किया है कि वेद के कतिपय शब्दों को ले के इतिहास गढ़ दिया। पुनः कुछ ऐसी घटनाएँ चित्रित की हैं कि जिससे अध्यात्म वर्णन में लग सके। यथा यह दीर्घतमा नदियों में फेंका गया। परन्तु नदियाँ डर कर इसको अंग देश में पहुँचा आई। यहाँ इन्द्रियगण ही नदियाँ हैं इन नदियों में जीव को कर्मफल फैंक देते हैं। यदि यहाँ इसने सुकर्म किये तो ये ही इन्द्रिय रक्षा भी करते हैं। पुनः स्त्री का नाम प्रद्वेषी रखा है। कुबुद्धि ही प्रद्वेषी स्त्री है। इत्यादि। बहुधा वर्णन अध्यात्म सूचक है। यह भी स्मरणीय है कि वेदों की छाया ले-ले के प्राचीन कवि इतिहास लिखने लगे थे। परन्तु यह सब इतने प्राचीन काल की बात है कि इसमें पचासों परिवर्तन हुए हैं। महाभारत तक इतना परिवर्तन हो गया कि इसका असली स्वरूप का कुछ भी पता नहीं रहा। यहाँ ही देखते हैं कि वृहद्देवता और महाभारत आदि के वर्णन में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है फिर कौन निश्चय कर सकता है कि वेद की छाया पर प्रथम किस कवि ने और किस रूप में इसको चित्रित किया था तथापि हमें वेद देख कर बहुत सन्तोष करना चाहिये और हम पूर्णतया वैदिक भाषा की छानबीन कर खोज लगावें। जहाँ तक हो इनके वास्तविक स्वरूप को परिश्रम के साथ ढूढ़ें। निराश न होवें। प्राचीनों पर न हँसे। क्या जाने उन्होंने किस रूप में इतिहास को प्रस्तुत किया हो। परन्तु मौखिक गान होते-होते इसका रूप ही सर्वथा बदल गया हो। इत्यलम्। अब पुनः कुछ यज्ञ सम्बन्धी आक्षेपों को दूर कर ईश्वरीय महिमा दिखलाऊँगा। भौवन विश्वकर्मा को भी लेके अनेक विवाद उपस्थित करते हैं। अतः इसकी भी समीक्षा देखिये।

विश्वकर्मा और सर्वमेध

अब यह उदाहरण सर्वमेध सम्बन्धी प्रस्तुत करता हूँ। इसके पाठ से श्रोत्रियजनों को अत्याश्चर्य प्रतीत होगा कि कैसी अज्ञानता लोगों ने फैलाई है। वेद के यथार्थ तात्पर्य न समझ कर कैसा अकथनीय कलंक वेदों पर आरोपित करते हैं। यूरोप के अनेक विद्वान् इस वक्ष्यमाण सूक्त की अनेक ऋचाओं का सर्वमेध में प्रमाण देते हैं। अत: अब इसकी समीक्षा कर्त्तव्य है। प्रथम यास्काचार्य का सर्वभ्रमोत्पादक लेख यह है:—

तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार। स आत्मान मप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तद्भिवादिन्येषर्ग् भवति ''य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति'' तस्योत्तरा भूयसेनिर्वचनाय।

निरुक्त दैवतकाण्ड अ०४। २६।

इस विषय में इतिहास कहते हैं। सर्वमेध नामक यज्ञ में भुवनपुत्र विश्वकर्मा ने समस्त प्राणियों का हवन किया था। अन्ततोगत्वा इसने अपने को भी हवन कर दिया था।''यइमा विश्वाभुवनानि। १०।८१।१ और विश्वकर्मन् हविषा। १०।८१।६ इत्यादि ऋचाएँ प्रमाण हैं। यह निरुक्तकार का भाव है। सर्वमेध और विश्वकर्मा की चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थों में आयी है। शतपथ ब्राह्मण सर्वमेध की आख्यायिका इस प्रकार आरम्भ करता है—

ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत नवै तपस्याऽऽनंत्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूताना श्रैष्ठ्यंस्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत् तथैवैतद् यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्य माधिपत्यं पर्य्यैति। शत० १३।७।१।१

स्वयम्भु ब्रह्म तप कर रहा था। इसने यह देखा कि निश्चय, तपस्या में अनन्तता नहीं है। अत: मैं निखिल भूतों (प्राणियों) में अपने को और अपने में सब भूतों को हवन करूँ। यह विचार करके इसने सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को हवन करके निखिल भूतों की श्रेष्ठता, स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया। सो यह यजमान भी इसी प्रकार सर्वमेधों में सर्वमेधों को (सर्व पवित्र पदार्थों को हवन करके सर्व भूतों की श्रेष्ठता स्वराज्य और आधिपत्य का अतिक्रमण कर जाता है।)

पुन: शतपथ ब्राह्मण के इसी प्रकरण में विश्वकर्मा भौवन का इस प्रकार इतिहास आता है। जिससे प्रतीत होता है कि यथार्थ में विश्वकर्मा सर्वमेध यज्ञ

सम्पादक कोई पुरुष भी हुआ है यथा—

तेन हैतेन विश्वकर्मा भौवन ईजे। तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वमभवत्। अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वं भवति य एवं विद्वान्सर्वमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद। १४। तं ह कश्यपो याजायांचकार तदपि भूमिः श्लोकं जगौ। न मा मर्त्यः कश्चन दातु मर्हति विश्वकर्म्मन् भौवन मन्द आसिथ उपमङ्क्ष्यतिस्या सलिलस्यमध्ये मृपैष ते संगरः कश्यपायेति १५। शत० १३।७।१।

विश्वकर्मा भौवन ने इसी सर्वमेध यज्ञ से याग किया। इससे यज्ञ करके सब प्राणियों का अतिक्रमण किया और यह सब कुछ हुआ। जो पुरुष ऐसा जानता हुआ सर्वमेध से यजन करता है, वह सब भूतों का अतिक्रमण करता है और यह सब सब कुछ होता है। १४। इसको कश्यप ने यज्ञ करवाया। इसके बारे में पृथिवी स्वयं गीत गाने लगी—हे विश्वकर्मा भौवन! कोई मर्त्य मुझको दान में नहीं दे सकता। तू मन्द है। यह पृथिवी जल के बीच निमग्न हो जायेगी। कश्यप के लिए तेरी प्रतिज्ञा व्यर्थ हो जायेगी।

एतेन हवा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण काश्यपो विश्वकर्माणं भौवन-माभिषिषेच। तस्मादु विश्वकर्मा भौवनः समन्तं सर्वन्तः पृथिवींजयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे। भूमिर्ह जगा वित्युदाहरन्ति। न मा मर्त्यः कश्चन दातु मर्हति विश्वकर्मन् भौवन मां दिदासिथ। निमङ्क्ष्येऽहं सलिल मध्ये मोघस्त एष कश्यपायाऽऽस संगरः। इति। ऐतरेय ब्रा० ८।२१।

इसका भी अर्थ पूर्ववत् ही है। इन सब में विश्वकर्मा भौवन की निज-हत्या की कोई वार्ता नहीं। और आगे वेद को देखेंगे उसमें तो ऐसी भी चर्चा नहीं। मैं नहीं कह सकता कि यास्काचार्य के समान विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार को छोड़ क्यों वेदों पर कलङ्क लगा गये। इन्हीं लेखों के आधार पर यूरोपियन और देशी विद्वान् सर्वमेध सिद्ध करते हैं। सायणचार्य ''यइमाविश्वा'' इस ऋचा का प्रथम यास्काभिमत अर्थ करके पुनः सृष्टिप्रलयकालपरक अर्थ करते हैं। इससे यास्कीय अर्थ में सायण का निरादर प्रतीत होता है। पुनः सायण ''ब्रह्म वै स्वयंभु'' इत्यादि शतपथ के वचनों को इस सूक्त के आदि में उद्धृत कर सम्पूर्ण सूक्त ब्रह्मपरक लगाते हैं। ब्रह्म ही सृष्टि बना अन्त में इसमें प्रवृष्ट हो विराजता है यही अन्त में इसका अपने को भी हवन करना है। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त की भी यही सम्मति है। एवमस्तु। हमें अब प्रथम वेद से देखना चाहिये कि कहाँ तक इस में मानव इतिहास का उल्लेख है और ऋषि

विश्वकर्मा भौवन की कहाँ तक चर्चा है। क्या पौराणिक समय के अनेक विद्वानों के समान विश्वकर्मा ने भी अग्नि में प्रविष्ट हो प्राण त्यागा था? वेद में इस सबकी कोई चर्चा नहीं। देखिये—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणः मिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आ विवेश।

१०।८१।१

यह परमात्मा का वर्णन है। (यः) जो परमात्मा (इमा+विश्वा भुवनानि) इन समस्त भुवनों को (जुह्वत) होम करता हुआ (न्यसीदत्) विद्यमान है। वह (ऋषिः+होता) ऋषि और होता है (नः+पिता) हमारा पिता है। (प्रथमच्छत्) जगत् का सर्वश्रेष्ठ आच्छादक है (सः) वह परमात्मा (आशिवा) आशीर्वाद से (द्रविणम्+इच्छमानः) सबको कल्याण धन चाहने वाला है (अवरान्+आविवेश) नीच से नीच हम जीवों में भी वह प्रविष्ट है।

भाव—समस्त जगत् को परस्पर उपकार में लगाना और पूर्ण सुख पहुँचाना ही ईश्वर का हवन करना है। अथवा (हुदानादानयोः) इस समस्त चेतन जड़मय जगत् को ईश्वर दान दे रहा है और प्रलयकाल में एक प्रकार से छीन भी लेता है। अतः कहा है कि समस्त भुवन को ईश्वर हवन कर रहा है हवन शब्दार्थ दान है। अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञ ऋषि यथार्थ में वही है। वही पूर्ण होता है। इत्यादि भाव ऊहनीय है अब आगे के मन्त्रों से ईश्वर प्रकरण विस्पष्ट प्रतीत होता है।

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।२।

यहाँ प्रथम लोकवत् प्रश्न किया जाता है। सृष्टि काल में (अधिष्ठानम्+किम्+स्वित्+आसीत्) स्त्रष्टा परमेश्वरका अधिष्ठान अर्थात् आधार आश्रय क्या था। (आरम्भणम्+कतमत्+स्वित्) मृत्तिकादिवत् आरम्भ करने की सामग्री कौन सी थी। (कथा+आसीत्) वह सामग्री कैसी थी। अब आगे एक प्रकार से उत्तर देते हैं। वह (विश्वचक्षाः) सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ हैं (विश्वकर्मा) विश्व—अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का कर्ता है। ऐसे महान् प्रभु के लिए आधार की आवश्यकता नहीं (यतः) जिससे (भूमिम्+जनयन्) पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ (द्याम्) द्युलोक को (वि+और्णोत्) मकड़ी के जाल के समान फैलाता है। वह (महिना) इसकी महान् महिमा है इसी महत्व से सारी सृष्टि रचता है। इसको कौन जान सकता है। आगे इस प्रश्न का विशेष रूप से उत्तर देते हैं।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्याँ धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।३।

(एकः+देवः) वहीं एक प्रभु है (विश्वतः+चक्षुः) सर्वत्र उसके नयन हैं (विश्वतोमुखः) सर्वत्र मुख है (विश्वतो बाहुः) सर्वत्र बाहु (उत+विश्वत्:पात्) और सर्वत्र पद हैं। वह (बाहुभ्याम्+संधमति) बाहुओं से परमाणुओं को सम्यक् प्रकार ध्मात अर्थात् संचालित अर्थात् परमाणुओं में गति उत्पन्न करता है। (पतत्रैः) उन संध्मात संचरणशील परमाणुओं से (द्यावा+भूमी+सम्+जनयन्) द्युलोक से पृथिवी पर्यन्त सर्व जगत् की रचना करता हुआ विद्यमान है। पतत्र=पतनशील परमाणुपुंज अथवा विद्युत्प्रवाह। इन्हीं सामग्रियों से सृष्टि रचता है। यह प्रश्नोत्तर है।

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।४।

(किम्+स्विद्+वनम्) वह कौन बन है (कः+उ+सः+वृक्षः) वह कौन वृक्ष (आस) है (यतः+द्यावा पृथिवी+निष्टतक्षुः) जिससे द्युलोक और भूलोक संगठित किये गये हैं (मनीषिणः) हे विद्वद्गण! (मनसा+एतद्+उ+पृच्छत+इत्) एकबार अपने-अपने मन से यह भी जिज्ञासा कीजिये। (भुवानानि+धारयन्) ब्रह्माण्ड को धारण करके (यद्+अधि+अतिष्ठत्) जिसके ऊपर वह स्थित होता है। इस की भी जिज्ञासा कीजिये। वैदिकों को मालूम है कि ईदृग् औपमिक और आलङ्कारिक वर्णन से वेद भरा हुआ है।

या ते धामानि परमाणि याऽवमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वाधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः।५।

इस प्रकार ईश्वर की अगम्य महिमा और अज्ञेयता दिखला विद्वानों को जिज्ञासु होने के लिए आज्ञा दे ईश्वर सृष्ट वस्तुओं के विज्ञान की प्राप्त्यर्थ प्रथम प्रार्थना करते हैं। तत् पश्चात् कुछ इस में और अग्रिम ऋचा में यह विचार आरम्भ करते हैं कि हमारी उपासना प्रार्थना स्तुति आदि से अथवा विविधि यजन से ईश्वर को कुछ लाभ पहुँचता है या नहीं। इस पर कहते हैं कि नहीं। हम यज्ञादिक से अन्य पदार्थों को लाभ पहुँचा सकते परन्तु ईश्वर को नहीं और ईश्वर की पूजा करने में हम सब सर्वथा असमर्थ हैं। इस हेतु आगे आलङ्कारिक वर्णन आरम्भ होता है। हे परमात्मन् तू अपनी पूजा अपने आप कर, तू अपना शरीर स्वयं पुष्ट कर। तेरा शरीर हम पुष्ट नहीं कर सकते। यद्यपि तू इस प्रकार अगम्य अगोचर अज्ञेय है। तथापि तेरी उपासना बिना हम क्षणमात्र

भी नहीं रह सकते। अतः हमारे यज्ञ में आया कर। आगे मन्त्रार्थ देखो—

हे ब्रह्मन्! (या+ते+परमाणि+धामानि) जो तेरे परमधाम हैं (या+अवमा) जो अधम-धाम हैं (या+मध्यमा) जो मध्यम धाम हैं (विश्वकर्मन) हे विश्वकर्मन्! विश्वकर्तः (उत+इमा) जो ये दृश्यमान सम्पूर्ण भुवन हैं। हे भगवन्! (सखिभ्यः) हम जीव आप के ही सखा हैं अतः इन तीनों प्रकार के धामों के विषय में हम सखाओं को (शिक्ष) पूर्ण शिक्षा दीजिये (स्वधावः) हे स्वधावन्! अर्थात् प्रकृतिमन् देव! (हविषि) यह ब्राह्मण्ड ही हविष्य है। इस ब्रह्माण्ड के कल्याण के निमित्त हे भगवन्! (स्वयम्+यजस्व) आप स्वयम् यज्ञ कीजिये (तन्वम्) इस संसार के तीनों शरीरों को (वृधानः) पुष्ट और वर्धित करते हुए विराजमान होइए।

उत्तम, मध्यम और अधम जो जीवों के तीन प्रकार के शरीर हैं वे ही मानों, ईश्वर के धाम हैं क्योंकि इन में इसका निवास है। इसके अतिरिक्त अनेक सूर्यादिक लोक हैं। अब ईश्वर से प्रार्थना हैं। इस सब का ज्ञान हमें दीजिये और आप स्वयं यज्ञ करके इन तीनों की पुष्टि कीजिये। अर्थात् हम मनुष्य यज्ञ करके अग्निवायु आदि देवों के शरीर पुष्ट करते हैं परन्तु आप यज्ञ कर हम जीवों के शरीर की पुष्टि कीजिये। हम आपकी क्या सेवा कर सकेंगे। आप ही हम सखाओं की सेवा कीजिये और सब पदार्थों का ज्ञान दीजिये जिससे कि उनसे काम लेने में समर्थ हों।

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु। ६।

(विश्वकर्म्मन्) हे विश्वकर्ता! (हविषा+वावृघानः) संसाररूप हविष्य को बढ़ाते हुए+यहाँ द्वितीयार्थ में तृतीया विभक्ति है (पृथिवीम्+उत्+द्याम्) पृथिवीस्थ और द्युलोकस्थ जीवों का स्वयम्+यजन स्वयं कीजिये। अर्थात् जैसे शिशु पिता की सेवा नहीं कर सकता पिता ही शिशु की सेवा करता है। तद्वत् आप ही सेवा कीजिये अर्थात हम जीवों को सब सुख पहुँचाइये। हे भगवन्! (अभितः) चारों तरफ (अन्ये+जनासः) आपके अतिरिक्त सब ही जन अज्ञानता के कारण (मुह्यन्तु) कर्तव्याकर्तव्य में मूढ हो रहे हैं "लङर्थ में यहाँ लोट् है वेद में सब विधि विकल्प से होते हैं" इस कारण (अस्माकम्+इह+मघवा+सूरिःअस्तु) यहाँ हमारे मध्य में कोई विद्यारूप महाधन युक्त विद्वान् पुरुष उत्पन्न हो जो सब पदार्थों का ज्ञान हम को देवे।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशंभूरवसे साधुकर्मा।७।

(अद्यवाजे) आज इस उपासनात्मक यज्ञ में (ऊतये) रक्षार्थ (विश्वकर्माणम्+हुवेम) विश्वकर्मा को पुकारते हैं (वाचस्पतिम्) वह वाचस्पति अर्थात् वेदाधिपति हैं (मनोजुवम्) मन लगाने के योग्य है (सः+नः+विश्वानि+हवनानि) वह हमारे समस्त हवनों को (जोषत्) सेवते हुए (अवसे) रक्षार्थ निवास करे (विश्वशंभूः) वह समस्त कल्याण का उत्पत्तिस्थान है (साधुकर्मा) इसका समस्त कार्य शुभमय है।

आशय=इस सूक्त में ये ही सात ऋचाएँ हैं। इसमें मनुष्य इतिहास का कहीं पता नहीं। इस सूक्त के ऋषि का नाम भी विश्वकर्मा भौवन है। अतः मनुष्य इतिहास का भ्रम उत्पन्न हुआ है। परन्तु बहुशःनिरूपण कर चुका हूँ कि वेद के मन्त्र में ऋषियों का नाम रखा गया है। विश्वकर्मा अर्थात् विश्वकर्ता ईश्वर इस सृष्टि की रचना कैसे करता है, कौन सामग्री है इसका ज्ञान कैसे हो सकता है, इसके उपदेशक हम में कैसे हो सकते हैं, कैसे इससे हम लाभ उठा सकते हैं, ईश्वर कैसे कल्याण पहुँचा रहा है इत्यादि परमावश्यक उपदेश इन ऋचाओं से ऋषि किया करते थे अतः इनका नाम भी विश्वकर्मा प्रसिद्ध हुआ। भौवन—भुवन का पुत्र भौवन ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं किन्तु भुवन सम्बन्धी विज्ञान के दाता जो ऋषि वह भौवन ऐसा अर्थ करना उचित है। इसमें मनुष्य विश्वकर्मा का अपने को होम कर देने की भी कोई चर्चा नहीं। इसमें विश्वकर्मा को प्राण त्याग की सिद्धि करनी सर्वथा अज्ञानता की बात है। हम लिख चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का इतिहास प्रायः सब ही कल्पित रहते हैं। विधि से इसका तात्पर्य रहता है। इतिहास से नहीं। शतपथ के प्रथम ब्रह्म सम्बन्धी इतिहास पर ध्यान दीजिये। ब्रह्म कहता है कि "मैं सर्व भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को होम कर दूँ। ब्रह्म ने ऐसा ही किया। अतः वह सर्वश्रेष्ठ बना। इस कारण जो यजमान सर्वमेध पदार्थ होम करता है वह ब्रह्म का श्रेष्ठ होता हवनकर्ता है"। यज्ञ करने से ब्रह्म की श्रेष्ठता हुई यह कल्पनामात्र है। अथवा सृष्टि रूप यज्ञ न रचता तो इसकी श्रेष्ठता कैसे प्रतीत होती। तात्पर्य केवल यह कि सबको सर्वमेध यज्ञ अवश्य करना चाहिये इतनी बात दिखलाने के लिए प्रथम इतिहास कल्पित हुआ है।

विश्वकर्मा-भौवन का सर्वमेध

प्रथम इतिहास से तो यह सिद्ध किया गया है कि यथार्थ में ब्रह्म ही सर्वमेध कर सकता है। मनुष्य नहीं। क्योंकि इसमें इतनी शक्ति नहीं कि यह

पृथिवीस्थ सब प्राणियों को भी लाभ पहुँचा सके तथापि इसके पास जो कुछ हो इसी से सर्वमेध यज्ञ अवश्य करे। अब द्वितीय उदाहरण से "मनुष्यों में सर्वमेध कर्त्ता प्रथम कौन हुआ है" यह मानुषेतिहास प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि विश्वकर्मा ही प्रथम मनुष्य है जिसने इसको प्रथम करके दिखलाया। यह काल्पनिक नहीं किन्तु यथार्थ इतिहास है। परन्तु इसने अपने को भी अन्ततोगत्वा होम दिया ऐसी चर्चा कहीं नहीं। सर्वमेध यज्ञ करने वाले उद्दालक और रघु आदि भी हुए हैं। इनके इतिहास में भी अपने को होमने की वार्ता नहीं पाई जाती है। हमारे ऋषि जैसा कहते थे वैसा ही करते थे। और ईश्वरीय गुण अपने में आरोपित करते थे। "य इमा विश्वाभुवनानि जुह्वत" इस ऋचा में ऋषि देखते हैं कि सर्व पिता जगदीश सबको होम कर रहा है। अर्थात् सबको कर्मानुसार सुख पहुँचा रहा है। एवम् ५ वीं और षष्ठी ऋचा में हम जीव ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं कि हे भगवन्! "स्वयं यजस्व पृथिवी मुतद्याम्" पृथिवी से लेकर द्युलोक तक को होमिये अर्थात् सुख पहुँचाइये अतः यह सब देखकर इस सूक्त के प्रचारक ऋषि ने भी विचारा कि प्रथम मनुष्यों में मुझे ही यह यज्ञ करके दिखलाना चाहिये। क्योंकि इसका मैं प्रचारक हूँ। सर्वमेध का प्रथम कर्ता विश्वाकर्मा भौवन हैं यह युक्ति से भी सिद्ध होता है।

यास्क और इतिहास

परन्तु विषय तो यह है कि इस सूक्त में मनुष्य विश्वकर्मा की कोई चर्चा नहीं यह आप लोगों ने परीक्षा कर ली। पुनः यास्काचार्य मनुष्य भौवन विश्वकर्मा से इसका कैसे सम्बन्ध जोड़ते हैं यह चिन्तनीय है। पीछे लिख आया हूँ कि सायण भी इनके अर्थ का आदर नहीं करते और ब्राह्मण शतपथ भी इनके अनुकूल नहीं। मैं शुनःशेप के इतिहास में दिखला आया हूँ कि यास्क भी वेदार्थ से बहुत दूर चले जाते हैं। यह कोई प्राचीन लेखक नहीं। अथवा निरुक्त भाष्यकर्ता दुर्गाचार्य ने इसके अर्थ करने का जो प्रयत्न किया है वह माननीय है।

सर्वमेध का तात्पर्य और उदाहरण

संस्कृत साहित्य में सर्वमेध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कठोपनिषद् में उद्दालक ऋषि का सर्वमेध करना प्रसिद्ध है और प्राचीन जितने राजा विजयी सम्राट् होते थे वे प्रायः इस यज्ञ को अवश्य किया करते थे। रघु राजा का इसमें ज्वलन्त प्रमाण है। सर्व पशुओं के मारने का नाम सर्वमेध नहीं। किन्तु अपने निकट जो मेध अर्थात् पवित्र धन हो उनको सत्पात्रों में बाँट देने का नाम सर्वमेध है। यही बात उद्दालक और रघु में देखते हैं।

सप्त शीर्षण्य प्राण

विश्वकर्मा भौवन के उदाहरण से भी वैदिक हत्या की विधि सिद्ध नहीं हुई। परन्तु यहाँ ही समीक्षा समाप्त नहीं हुई। अभी अश्वमेध गोमेध अजमेध आदि अनेक मेध परीक्षणीय हैं। इसके पहले पुरुषमेध के ऊपर भी कुछ वक्तव्य है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ''सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्'' यह ऋचा आती है। इसमें पुरुष पशु को बाँधने की विस्पष्ट आज्ञा है। फिर कौन कह सकता है कि पशु यज्ञों में बाँधे न जाते थे। और पश्चात् इनकी हत्या नहीं होती थी। इत्यादि आशंका पुनः उपस्थित होती है। इसलिये पुरुषमेध का वर्णन यहाँ आवश्यक है। प्रथम इसमें सप्त और त्रिःसप्त शब्द आये हैं। जब तक इस सप्त का भेद न प्रतीत हो तब तक महाभ्रम ही रहेगा अतः पहले मैं संक्षेपरूप से सप्त शब्द पर ही विचार आरम्भ करता हूँ।

१—सप्त शिरसि प्राणाः। प्राणाः इन्द्रियाणि। इन्द्रियाण्येवैतयाऽऽप्नोति। ताड्यमहाब्राह्मण। २। १४। २२। सप्त वै शीर्षन् प्राणाः। शीर्षन्नेव तत्प्राणान् दधाति। ऐतरेय ब्रा० १। ३। १७। ३—सप्तगते र्विशेषितत्वाच्च। वेदान्त सूत्रम्। २।४।५।५।४—सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः। शाङ्करभाष्यम्। २।४।५।

इत्यादि ब्राह्मणों और उपनिषदों के वाक्यों में शिर स्थित सात प्राणों का वर्णन बहुधा आया करता है। ''शिर में सात प्राण स्थित है'' इतने कहने से ही बोध होता है कि ''दो श्रोत्र, दो नयन, दो घ्राण और एक जिह्वा'' इन ही सातों का यहाँ निरूपण है क्योंकि ये ही सात नियत और प्रत्यक्षरूप से मस्तक में विद्यमान हैं और शङ्कराचार्य, रामानुज आदि भाष्यकारों ने भी इन ही सातों का ग्रहण किया हैं। आगे भी अनेक प्रमाण से ये ही सात सिद्ध होंगे। वेदान्त शास्त्र स्वयं ''सप्तगतेः'' इस सूत्र से इनका ही निरूपण करता है।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त। मु० उ०।

यह भी इन ही सात प्राणों का वर्णन है। ये शिरःस्थित ''दो कान, दो नयन, दो नाकें और एक जिह्वा'' ये सात प्राण इसी जीवात्मा से उत्पन्न होते हैं। इनके ही विषयों के प्रकाशक सात ज्वालाएँ हैं। इन सातों के सात विषय ही सात समिधाएँ हैं। इनका विज्ञान ही सात होम हैं। ये ही सात लोक हैं जिनमें प्राण विचरते हैं। ये ही सात गुहाशय अर्थात् गुहा के अभ्यन्तर शयन करने हारे

हैं।

"ये ही सात प्राण सात ऋषि हैं"

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोक मीयु स्तत्र जागृतो अस्वप्नजौसत्रसदौ च देवौ।
यजुः ३४।५५।

(सप्त०) इस शरीर में सात ऋषि स्थापित हैं। (सदम्) सदा (अप्रमादम्) अप्रमाद अर्थात् सावधान होके ये ही (सप्त+रक्षन्ति) सात रक्षा करते रहते हैं (स्वपतः+लोकम्) जब आदमी सो जाता है। तो उस सोए हुए के हृदयाकाश रूप लोक में (सप्त+ईयुः) ये ही सात प्राप्त रहते हैं। ये कैसे हैं (आपः) व्यापक हैं। (तत्र) उस सुषुप्ति की अवस्था में (देवौ) दो देव प्राण, आपान (जागृतः) जागते रहते हैं। (अस्वप्नजौ) क्योंकि इन दोनों को स्वप्न नहीं होता है। अतः ये अस्वप्नज कहाते हैं पुनः (सत्रसदौ) जीवों की रक्षा में सदा बैठे रहते हैं।

शरीर में स्थित ये सात ऋषि कौन हैं ? मेरी सम्मति में ये ही "दो कर्ण, दो नयन, दो घ्राण और जिह्वा हैं क्योंकि पूर्वोक्त "शीर्षण्य" विशेषण से शिरःस्थित ये ही सात सिद्ध होते हैं। यह ऋचा निरुक्त दैवत काण्ड ६-३७ में भी आई है। यहाँ यास्क कहते हैं "छः इन्द्रिय और सातवीं विद्या" छः इन्द्रियों से कर्णद्वय, नयनद्वय, घ्राणद्वय का ग्रहण है इनको इन्द्रिय भी कहते हैं। "प्राणाः इन्द्रियाणि" यह ऊपर का प्रमाण देखो। और विद्या पद से वाणी का ही ग्रहण है क्योंकि वाणी से ही विद्या पढ़ते हैं। स्वामी जी पांच "ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि" अर्थ करते हैं। महीधर जी का भी यही अर्थ है। आगे बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रमाण से विस्पष्ट होगा कि शिरःस्थित कर्णादिक ही सात ऋषि हैं। यथाः—

अर्वाग्‌विल श्चमस ऊर्ध्ववुध्नस्तस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। बृ० उ० २।२।३।

इसका स्वयं याज्ञवल्क्य यही अर्थ करते हैं कि मानो शिर एक चमस (यह एक पात्र विशेष का नाम है) जिसका (अर्वाग्‌विलः) बिल नीचे है। अर्थात् मुख रूप छिद्र नीचे है। (ऊर्ध्वबुध्नः) इसका मूल ऊपर है अर्थात् शिर के केश और ऊर्ध्व भाग ही मानों जड़ है सो ऊपर विराजमान हैं (तस्मिन्) इसी शिरोरूप चमस में सारे यश स्थापित हैं। (तस्य+तीरे+सप्त +ऋषयःआसते) इसके तीर पर सात ऋषि हैं और अष्टमी वाणी वेद से सम्वाद कर रही है। यहाँ सात ऋषि होवेंगे। स्वयं कहते हैं कि यह शिर का वर्णन है। अतः शिरः स्थित

ही सात ऋषि होंगे। स्वयं नाम गिनाते हैं। ये दोनों कान गौतम, भरद्वाज हैं। ये दोनों नयन विश्वामित्र, जमदग्नि हैं, ये दोनों घ्राण वसिष्ठ, कश्यप हैं। और वाणी अत्रि हैं। अत: शरीरस्थ सात ऋषि पद से इन ही सातों का ग्रहण है। परन्तु पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन बुद्धि इन सातों का ग्रहण हो तो कोई क्षति नहीं है। क्योंकि इनका भी शिर से सम्बन्ध है। प्रत्युत शिर में ही समस्त ज्ञानशक्ति है।

"ऊर्ध्वः सप्त ऋषीनुपतिष्ठस्व" ताण्ड्य० १-५-५ ऊर्ध्व अर्थात् शिरोभाग प्राप्त करके कर्ण आदि सात ऋषियों का उपस्थान करो। यहाँ पर भी "ऊर्ध्व" पर शिरोगत सप्त प्राणों का ही ग्रहण करवाता है।

ये ही सप्त होता हैं

येभ्यो होत्रांप्रथमा मायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म्म यच्छत सुगा नः कर्त्त सुपथा स्वस्तये।

१०।६३।७।

(समिद्धाग्निः+मनुः) मनु यहाँ जीवात्मा का नाम है। मन्ता बोद्धा जीवात्मा आन्तरिक अग्नि को प्रज्वलित करके (मनसा+सप्त+होतृभिः) मन और कर्णद्वय आदि सात होताओं के साथ (येभ्यः+प्रथमाम्+होत्राम्+आ+येजे) जिन आदित्यों के लिए प्रथम यज्ञ करता है (आदित्याः) हे आदित्य देवो! वे आप (अभयम्+शर्म+यच्छत) अभय और सुख देवे। (नः+स्वस्तये+सुपथा+सुगा+कर्त) और हमारे कल्याण के लिए सुन्दर वैदिक मार्गों को सुगन्तव्य बनावें। सातों शीर्षण्य इन्द्रियों के जो विज्ञान हैं वे ही आदित्य हैं। क्योंकि विज्ञान ही अदिति अर्थात् अखण्डता देवी के पुत्र हैं। इनका ही कभी नाश नहीं होता। यहाँ सात होता और अष्टम मन का पाठ है। नवम यजमान स्थानीय मनु (जीवात्मा) है ये ही नव सदा मिलके आन्तरिक यज्ञ करते रहते हैं।

सप्त होत्राणि मनसा वृणानाः
इन्वन्तो विश्वं प्रति यन्नृतेन। ३।४।५

ये विज्ञानरूप देव (मनसा+वृणनाः) मन से प्रार्थित होने पर (विश्वम्+इन्वन्तः) सब को प्रसन्न करते हुए (ऋतेन) सत्यता के साथ (सप्त+होत्राणि+प्रतियन्) सातों होताओं को प्राप्त होते हैं।

यहाँ विस्पष्ट है कि मन की सहायता के बिना सप्त प्राणों में विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। अतः सप्त होता पद से सप्त शीर्षण्य प्राण और अष्टम मन ये मिलके आत्मा को यजमान बना सदा होम करते रहते हैं। अतः ये सात होता कहाते हैं।

ये ही सप्त सिन्धु (नदियाँ) हैं

अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।
अजयो गा अजयः शुर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्।

१।३२।१२।

सृक और वृक आदि वज्र के नाम हैं निघण्टु २-२०। (इन्द्र) हे इन्द्र! जीवात्मन्! (यद्) जब (एकः+देवः) वृत्र नामक एक प्रधान देव (सृके+त्वा+प्रत्यहन्) आपसे वज्र छीन लेने के हेतु आप पर प्रहार करता है (तद्) तब आप (अश्व्यः+वारः+अभवः) घोटक के बाल के समान होते हैं अर्थात् जैसे घोड़े का पुच्छस्थ बाल अनायास ही मक्षिका निवारण करता है वैसे आप वृत्र को कुछ भी न गिन के उसको निवारण कर देते है। (गा+अजयः) उससे गौवें जीत लेते हैं (शूर) हे शूर! (सोमम्+अजयः) उससे सोम को जीत लेते हैं और तत् पश्चात् (सप्त+सिन्धून्) सात सिन्धूओं को (सर्तवे+ अवासृजः) बहने के लिए छोड़ देते हैं। १२।

यो हत्वाऽहि मरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य। यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः।२।१२।३।

(यः+अहिम्+हत्वा+सप्त+सिन्धून् अरिणात्) जो अहि को हनन करके सात सिन्धुओं को बहने के लिए प्रेरित करता है (यः+बलस्य+अपधा) जो बल नामक असुर के अवरोध=रुकावट से (गाः+उदाजत्) गौवों को निकाल लेता है (यः+अश्मनोः+अन्तः+अग्निम्+जजान) जो दो पत्थरों के मध्य अग्नि उत्पन्न करता है (समत्सु+संवृक्) और जो संग्रामों में शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर काटता है (जनासः+सः+इन्द्रः) हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिण मस्फुरद्वज्र बाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।२।१२।१२

(यः+सप्तरश्मिः) जो कर्णद्वयादि-रूप सात किरणों से युक्त है (वृषभः+ तुविष्मान्) जो आनन्दवर्षक और बलवान् है (सप्त+सिन्धून्+सर्तवे+अवासृत्) जो सुख पूर्वक बहने के लिए सात नदियों को प्रेरित करता है (वज्रबाहुः) जिसके हाथ में वज्र है (द्याम्+आरोहन्तम्+यः अस्फुरत्) जो द्युलोक को चढ़ते हुए रौहिण नाम राक्षस को घात करता है (सः+जनासः+इन्द्रः)हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।

यहाँ सप्त सिन्धु के तीन उदाहरण दिए गये हैं। वेदों में इसके अनेक उदाहरण हैं। नदी प्रकरण में इस पर विस्तार से लेख देखिये। इन तीनों में आप

देखते हैं कि इन्द्रदेव वृत्र, अहि और रौहिण नामक तीन असुरों को विनष्ट करता है इनसे गौवों को छुड़ा लाता है और सात सिन्धुओं को बहाता है। प्रश्न होता है कि इन्द्र कौन है ? ये वृत्र आदि कौन हैं ? और ये सात सिन्धु कौन हैं ? इन सबके विषय में आगे लेख रहेगा। यहाँ संक्षेप से यह है—इन्द्र नाम जीवात्मा और सूर्य का है। वृत्र आदि नाम मेघ और पाप अज्ञान आदि का है। सात सिन्धु यह नाम सातों प्राणों और सातों किरणों का है। यहाँ अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=जीवात्मा। वृत्रादि=अज्ञान। सप्तसिन्धु=कर्ण आदि सप्त प्राण। अब मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देने मात्र से यह बात ज्ञात हो जायेगी। यह सबको विदित है कि अज्ञानरूप महान् असुर जीवात्मा को सदा अपने वश में कर लेता है। पुनः सत्संग से इसको चेतनता प्राप्त होती है। तब यह उस असुर को मार डालता है। इस जीवात्मा के जो सात प्राण हैं वे अज्ञानावस्था में अज्ञान के ही अधीन रहते हैं अतः इनका अच्छे प्रकार प्रकाश नहीं होता। अज्ञान के नाश होते ही ये सातों प्राण अवकाश पा पूर्ण रूप से विज्ञान की ओर फैलते हैं। यही इनका असुर के नाम के अनन्तर बहना है। अतः सप्तसिन्धु नदी पद से भी इन्हीं शीर्षण्य प्राणों का ग्रहण है। इति संक्षेपतः।

ये ही सात विप्र हैं

स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो नवग्वैः।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः।

१।६२।४।

(इन्द्र+शक्र) हे इन्द्र ! हे शक्र ! (सः+सः) सुप्रसिद्ध वह आप (रवेण) शब्द मात्र से (अद्रिम+फलिगम्+वलम्) अद्रि, फलिग और वल इन तीनों दुष्टों को (दरयः)विदीर्ण कर देते हैं। आप कैसे हैं (सप्त+विप्रैः)सात विप्रों से (स्वर्यः) स्तूयमान हैं (स्तुभा+स्वर्य्यः) पुनः आप उन सातों विप्रों की स्तुभ= अर्थात् स्तौत्रों से स्तूयमान है। वह स्तोत्र कैसा है (सुष्टुभा) जिसमें सुन्दर-सुन्दर स्तोत्र हैं पुनः (स्वरेण)वह स्तोत्र स्वर से संयुक्त है। वे विप्र कैसे हैं (नवग्वैः) नवग्व हैं पुनः (दशग्वैः) दशग्व हैं पुनः (सरण्युभिः) गमनशील हैं।

व्याख्या=लोक में प्रसिद्ध है कि नवम अथवा दशम मास में मनुष्य होता है जो नवम मास में उत्पन्न होता है उसके प्राण नवग्व और जो दशम मास में उत्पन्न होता है उसके प्राण दशग्व कहाते हैं क्योंकि रजोवीर्य के साथ ही प्राणों का भी बीज रहता है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन आता हैं कि अङ्गिरा

ऋषि दो प्रकार के हैं एक नवग्व, दूसरा दशग्व। जो नौ मास में यज्ञ समाप्त करते हैं वे नवग्व और दशमास में यज्ञ समाप्त करते हैं वे दशग्व। मातृगर्भ में नौ दश मास निवास करना ही नौ दशमास का यज्ञानुष्ठान करना है। ये नेत्रद्वय, कर्णद्वय, घ्राणद्वय और रसना सात ही मुख्य प्राण हैं। अत: ये सात विप्र कहे गये हैं। ये सरण्यु अर्थात् गमनवान् होने से सरण्यु कहाते हैं। इन्द्र नाम जीवात्मा का है यह मैंने बारम्बार कहा है। अद्रि फलिग और वल ये तीनों नाम मेघ के हैं। निघण्टु। १। १०। परन्तु यहाँ मेघ के समान आवरण करने वाले अज्ञान के ये तीनों नाम हैं। मेघ वा पर्वत वाचक जो शब्द हैं वे सर्वदा अज्ञान वाचक भी होते हैं। जैसे वृत्र, शम्बर आदि जब सातों प्राण प्रसन्न होके जीवात्मा की स्तुति प्रार्थना करते हैं तब वह प्रशंस्य जीव शारीरिक, मानसिक और ऐन्द्रियिक अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक अथवा शिरोरूप द्युलोकव्यापी, मध्यशरीर-रूपान्तरिक्षव्यापी, अधोभागशरीररूप पृथिवी व्यापी दु:खों को विदीर्ण करता है। जीवात्मा की आज्ञा के अनुसार जब ये प्राण (इन्द्रिय)चलते रहते हैं तब कहा जाता है कि ये प्राण जीवात्मा की स्तुति करते हैं। अर्थात् यह आत्मा जितेन्द्रिय है। व्याकरणप्रक्रिया। स्तुभ। स्तुभ=स्तुति करना इससे स्तुभ बनता है स्तोभ भी इसी से सिद्ध होता है (स्वर्य) स्वृ=शब्दक० और उपताप देना (स्वृशब्दोपतापयो:) नवग्व (नवभिर्गूर्गमनंयेषामिति नवग्वा:) (सा०) (नवभिमासैर्गच्छन्ति मातृगर्भात् बहिर्देशं गच्छन्ति इतिनवग्वै:)

सप्त सागर

आश्चर्य प्रतीत होता है कि इन वैदिक सात प्राणों (इन्द्रियों) को लेकर संस्कृत साहित्य में कितने प्रकार के विचार उत्पन्न हुए हैं। सात सागर, सात द्वीप, सात लोक, सात पाताल, सात पर्वत, सात फण इत्यादि अनेक सप्तक कल्पित हुए हैं और इसी के अनुसार सात दिन, सात स्वर, सात छन्द, सात विभक्तियाँ इत्यादि अनेक वस्तुओं की सृष्टि हुई। "सप्त सागर" वा 'सप्त समुद्र' का विचार क्यों उपस्थित हुआ? कारण प्रत्यक्ष है। वेदों में सप्त सिन्धु पद बारम्बार आया है। सिन्धु नाम नदी और समुद्र दोनों का है। "सिन्धु: समुद्रे नद्यां च नदे देशेभ दानयो:" विश्व:। अत: वैदिक शब्द से यह विचार आया। परन्तु वैदिक प्रकरण देखने से इन की इन्द्रिय वाचकता विशदरूप से सिद्ध हो जाती है। परन्तु पौराणिक समय में आकर वह अर्थ लुप्त हो गया और इस बाह्य पृथिवी पर सात समुद्र माने जाने लगे और इनके नाम रूप गुण आदि की भी सारी सृष्टि हो गई है। विष्णुपुराण में आता है—

जम्बू प्लक्षा द्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज। कुशः क्रौंच स्तथा

शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः। ५। एते द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः लवणेक्षु सुरा सर्पिर्दधि दुग्ध जलैः समम ६ वि० पु०। २।

जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप कहाते हैं। और लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध और जल इन सातों से युक्त सात सागर हैं। क्रमशः सातों द्वीपों के सात सागर हैं।

उत्पत्ति सहित सात सागर

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमि-कृत-परिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यतएव कृताः सप्तभुवो द्वीपाः। ३१। प्लक्षशाल्मलि कुश क्रौंच शाक पुष्कर संज्ञा स्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन वहिः समन्त उपक्लप्ताः। ३२। क्षारोदेक्षु रसोद सुरोद घृतोद क्षीरोद दधि मण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीप परिखाः।

—भागवत ५। १

प्रियव्रत राजा का यह वर्णन है। एक समय इस नृप ने अपने रथ को पृथिवी पर सात बार घुमाया। इससे सात समुद्र बन गये और इनके बीच-बीच की जगह सात द्वीप हो गये। इन द्वीपों का परिमाण पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का द्विगुण हैं। और इनके ये नाम हैं जम्बू, प्लक्ष आदि। सात सागरों के ये नाम हैं—क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद और शुद्धोद।

विचार करने की बात है क्या पृथिवी पर सात ही द्वीप और सात ही सागर हैं? क्या जैसा भागवत आदि पुराण वर्णन करते हैं कोई द्वीप और सागर इस पृथिवी पर हैं? एवं प्रियव्रत राजा क्या कोई सहस्रों कोश का मनुष्य था, क्या इसका रथ सहस्रों कोश को और विद्युत का था कि एक बार घुमाने से एक-एक सागर बनता गया फिर इसने सात ही बार क्यों रथ को हाँका? क्या इस राजा के प्रथम पृथिवी पर समुद्र नहीं थे। और पृथिवी के इस प्रकार के विभाग नहीं थे। इत्यादि बातों की जिज्ञासा से प्रतीत होता है कि यह बाह्य द्वीपों और बाह्य सागरों का वर्णन नहीं है। जो ऐसा समझते हैं वे महाभ्रम में हैं। और जो आचार्य भी सप्तसिन्धु वा सप्त समुद्र पद से बाह्य समुद्रों को समझते थे, वेभी भ्रम में ही थे। अतः सप्त सागर शब्द से भी इन्हीं सात प्राणों का ग्रहण है। क्योंकि शरीर में ये नियत और समुद्र से भी बढ़ कर इन से तरङ्ग उठती है अतः ये सागर नाम से पुकारे गये हैं। पृथिवी पर कोई नियत सात ही सागर नहीं और न सात द्वीप ही नियत हैं। अतः यह इस पृथिवी का वर्णन नहीं। सप्त द्वीप भी ये ही चक्षु आदि प्राण हैं।

सात लोक, सात पाताल

सप्त लोकों का भी वर्णन साहित्य में अधिक है भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक। ये सातों लोक एक से दूसरा ऊपर-ऊपर माना गया है जैसे भूर्लोक के ऊपर भुवर्लोक इत्यादि। एवं, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल ये सात लोक पृथिवी के नीचे माने जाते हैं।

स भूर्लोकः समाख्यातो विस्तरोऽस्य मयोदितः।......भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम।........स्वर्लोकः सोऽपि गदितो लोक-संस्थानचिन्तकैः। त्रैलोक्यमेतत् कृतकं मैत्रेय परिपड्यते। जनस्तपस्तथा सत्य मितिचाकृतकं त्रयम्। कृतकाकृतकर्योमध्येमहर्लोक इतिस्मृतः। एतेसप्तमयालोका मैत्रेय कथितास्तव। पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैष विस्तरः। वि० पु० २। ७। श्लोक १६। २१। अतलं वितलं चैव नितलं च गभस्तिमत्। महाख्यं सुतलं चाग्र्यं पातालञ्चापि सप्तमम्। वि० पु० २। ५। २। अतलं, वितलं, सुतलं, तलातलं, महातलं, तसातलं पातालमिति। भागवत ५। २४। ७।

प्रायः सब पुराणों में इनका वर्णन आता है। ये १४ चतुर्दश भुवन कौन हैं ? व्यर्थ ही इनको शरीर को छोड़ अन्यत्र खोजते हैं। ये १४ चतुर्दश कहीं अन्यत्र नहीं हैं। इस शरीर में ही ये स्थित हैं। यथा दो कान, दो नयन, दो घ्राण और एक रसना ये ही सात भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्य लोक हैं। शरीर के उपरिष्ठ मस्तक में ये स्थित हैं। अतः ये ऊपर के लोक कहाते हैं और दो हस्त, दो चरण, एक मूत्रेन्द्रिय, एक मलेन्द्रिय और एक शरीर का मध्य भाग अर्थात् ग्रीवा से नीचे और कटि से ऊपर ये ही सात अचल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल हैं। क्योंकि ये शरीर में नियत स्थान हैं अतः इनका ही ग्रहण करना उचित है। परन्तु बाह्य जगत् में ये ही चौदह नियत नहीं है सहस्रों लक्षों ब्राह्माण्ड यहाँ स्थित हैं तो १४ चौदह ही क्यों गिने जाएँ। अब यह सप्त प्रकरण समाप्त करता हूँ। अब मैं समझता हूँ कि अगली ऋचा का अर्थ दुरूह और शङ्कोत्पादक न होगा।

सप्तास्याऽऽसन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽ अबध्नन् पुरुषं पशुम्। यजु० ३१। १५

(अस्य+सप्त+परिधय+आसन्) इस जीव के सात परिधि हैं और (त्रिः+सप्त+समिधः+कृताः) २१ इक्कीस समिधाएँ की गई हैं। (यद्) जब

(यज्ञम्+तन्वाना:+देवा:) यज्ञ को विस्तृत करते हुए देवगण (पुरुषम्+पशुम्+अबध्नन्) पुरुष पशु को बाँधते हैं।

आशय:—पूर्व लेखानुसार सप्त पद से नयनद्वय कर्णद्वय घ्राणद्वय और जिह्वा का ग्रहण है। परिधि:आच्छादक, घेरा, खाई, व्यवधायक आदि। इस जीव को चारों तरफ से घेर कर इस शरीर में रखने हारे ये ही सातों इन्द्रियगण हैं। और इन सातों के जो उत्तम, मध्यम, अधम भेद से २१ प्रकार के विषय हैं वे ही मानो, समिधाएँ हैं। जैसे अग्नि समिधाओं को खाते हुए अपने अस्तित्व को बनाए हुए रखता है। तद्वत् यह जीवात्मा भी इन्द्रिय द्वारा इन २१ विषयरूप समिधाओं को भोगते हुए इस शरीर में निवास करता है। यही जीवात्मा पुरुष पशु है। जैसे पशु को खूंटे में बाँधते हैं अथवा बन्धनों से पशुओं को अपने वश में रखते हैं। तद्वत्, जब इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण मानसिक यज्ञ आरम्भ करते हैं तब इस पुरुष पशु को शरीर के भीतर बाँधते हैं और इन्हीं सप्तेन्द्रियों को इस आत्मा के रोकने के लिये मानो, सात, परित:स्थित खाईं अथवा आच्छादक दीवारें अथवा रुकावटें बनाते हैं और इन इन्द्रियों के जो २१ विषय हैं, ये ही समिधा के समान इसको भोगार्थ दिये जाते हैं। जैसे मनु:समिद्धाग्नि: मनसा सप्त होतृभि: यहाँ सात होता और मन के साथ यह मन्ता जीवात्मा आन्तरिक यज्ञ करता है। वैसा ही यहाँ पर भी मानो जीवात्मरूप पशु को बाँध अर्थात् एकाग्र कर इन्द्रियगण यज्ञ करते हैं। अथवा यह उत्पत्ति का वर्णन है। देवगण अर्थात् प्राकृतिक नियम रूप देवगण इस जीवात्मरूप पशु को सात परिधियों के अभ्यन्तर स्थापित करते हैं। इसके भोग के लिए २१ समिधाएँ बनाते हैं। इत्यादि अर्थ विचारणीय हैं। अब इस ऋचा से जो पशु वध का वा पुरुष वध का चिह्न निकालते हैं वे यथार्थ में बड़े अज्ञानी प्रतीत होते हैं। बहुत आदमी शंका करते हैं कि यहाँ बांधना शब्द क्यों आया है। इसका साधारण समाधान है कि क्या यह जीवात्मा पशुवत् इस शरीर में बद्ध नहीं है? यदि है तो बाँधना शब्द क्यों न आवे? दूसरी बात यह है कि पूर्व लेख में बारम्बार यह विषय आ चुका है कि हे भगवन्! मैं बद्ध हूँ। मुझे खोल दीजिये। मुझ पर से रस्सी दूर कीजिये इत्यादि। इससे सिद्ध है कि वैदिक विज्ञान के अनुसार जीवात्मा अपने कुकर्म के कारण बद्ध हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जो जीवात्मा दुष्कर्मों से निवृत्त है वह शरीर में रहते हुए भी अबद्ध ही है। स्वतन्त्र है, मुक्त है, और सर्वदा पश्चात्ताप से रहित है। यही विषय यजुर्वेद के सम्पूर्ण ३० तीसवें अध्याय में दिखलाया गया है। यथा—

''ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्''

अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए ब्राह्मण जीव को, वीर्य के लिए राजन्य जीव को इत्यादि विविध गुण विविष्ट जीवों को देवों ने विविध कार्य के लिए बाँधा है। यही भाव सम्पूर्ण अध्याय का है। जिस भाव को न समझ के भाष्यकारों ने इस अध्याय के अर्थ करने में बड़ा ही अनर्थ किया है। अब इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। अश्वमेध गोमेध आदि यज्ञों की समीक्षा अन्त में रहेगी।

इति नरमेधादि प्रकरणं

समाप्तम्।

अथ

अश्विदेवतात्मकसूक्तोक्तेतिहासाऽऽभास-निर्णय

आरभ्यते

अश्वि-देवता

ऋग्वेद के निम्न अङ्कित सूक्तों के देवता अश्विदेव हैं।

प्रथम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
३४	हिरण्यस्तूप
४६	प्रस्कण्व
११२	कुत्स
११६	कक्षीवान्
११७	कक्षीवान्
११८	कक्षीवान्
११९	कक्षीवान्
१२०	कक्षीवान्
१५७	दीर्घतमा
१८०	अगस्त्य
१८१	अगस्त्य
१८२	अगस्त्य
१८३	अगस्त्य
१८४	अगस्त्य

द्वितीय मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
३९	गृत्समद

तृतीय मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
५८	विश्वामित्र

चतुर्थ मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
४३	पुरुमीढ़, अजमीढ़
४४	पुरुमीढ़, अजमीढ़
४५	वामदेव

पञ्चम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
७२	पौर
७३	पौर
७५	अवस्यु
७६	अत्रि, भौम
७७	अत्रि, भौम
७८	सप्तवध्रि

षष्ठ मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
६२	भरद्वाज
६३	भरद्वाज

सप्तम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
६७	वसिष्ठ
६८	वसिष्ठ
६९	वसिष्ठ
७०	वसिष्ठ
७१	वसिष्ठ
७२	वसिष्ठ
७३	वसिष्ठ

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
७४	वसिष्ठ

अष्टम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
८	सध्वंस
९	शशकर्ण
१०	प्रगाथ
२२	सौभरि
२६	विश्वमना
३५	श्यावाश्व
७३	गोपवनः सप्तवध्रि
८५	कृष्ण
८६	विश्वक
८७	द्युम्नीक, प्रियमेध, कृष्ण

सूक्त संख्या	ऋषि नाम

वालखिल्य सूक्त

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
९	मेध्य

नवम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम

दशम मण्डल

सूक्त संख्या	ऋषि नाम
३९	घोषा
४०	घोषा
४१	सहस्त्य
१०६	भूतांश
१४३	अत्रि

इसके अतिरिक्त अन्यान्य कतिपय सूक्तों के भी अन्य देवताओं के साथ अश्वि देवता हैं। इनमें से १-११२। १-११६। १-११७। १-११८। १-११९। १-१२०।५-७८। और १०-३९। १०-४० इन सूक्तों में बहुत से इतिहासाऽऽभास विद्यमान हैं। जिन नामों पर इतिहास आभासित होते हैं वे ये हैं।

१ शयु २ अत्रि ३ मनु ४ स्यूमरश्मि ५ पठर्वा ६ शर्य्यात ७ विमद ८ सुदास ९ भुज्यु १० अध्रिगु ११ ऋतस्तुभ् १२ कृशानु १३ कुत्स १४ तुर्विति १५ दभीति १६ ध्वसंति १७ पुरुसन्ति १८ वर्तिका १९ पेदु २० गोतम २१ च्यवान २२ दध्यङ् २३ वध्रिमती २४ जह्नावी २५ जाहुष २६ शर २७ विश्वक २८ रेभ २९ श्याव ३० घोषा ३१ नार्सद ३२ कण्व ३३ वन्दन ३४ अन्तक ३५ कर्कन्धु ३६ वय्य ३७ शुचन्ति ३८ पृष्णुगु ३९ पुरुकुत्स ४० भरद्वाज ४१ परावृज ४२ अन्तक ४३ ऋज्राश्व ४४ श्रोण ४५ वसिष्ठ ४६ विश्पला ४७ वश ४८ कक्षीवान ४९ त्रिशोक ५० सूर्य ५१ मान्धाता ५२ दिवोदास ५३ त्रसदस्यु ५४ वम्र ५५ कलि ५६ सप्तवध्रि ५७ घोषा ५८ पृथि।

अब आगे प्रथम केवल एक सूक्त का अर्थ लिखता हूँ जिससे प्रतीत होगा कि इन में कितने इतिहासाभास हैं। पुनः एक-एक गाथा को ले निर्णय करूँगा कि इन सब का क्या तात्पर्य है।

अश्वि सूक्त १-११६

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः ।
यावर्भगाय विमदाय जायाम् सेनाजुवा न्यूहथू रथेन ॥ १ ॥

(बर्हिः+इव) जैसे गृहस्थजन चटाई आसन आदि गृहसामग्री के लिए समय-समय पर कुश काट कर रखते हैं तद्वत् मैं (नासत्याभ्याम्) अश्विद्वय के (स्तोमान् प्रवृञ्जे) विविध-स्तोत्र-सम्पादन करता हूँ (वातः+अभ्रिया+इव) जैसे वायु जल को इतस्ततः प्रेरित करता है तद्वत् मैं (इयर्म्मि) नानास्तोत्र अश्विद्वय के लिए प्रेरित करता हूँ (यौ) जो अश्विद्वय (सेनाजुवा+रथेन) शत्रुसैन्य-विध्वंसकारी रथ के द्वारा (जायाम्) पत्नी को (अर्भगाय+विमदाय) बालक विमद के समीप (नि+ऊहुथुः) पहुँचाया करते हैं। [१]वृजे-वृजीवर्जने। इयर्मि-ऋगतौ। अर्भग-अर्भमल्पं गायति। अर्भक एवा-र्भगः। १।

वीडुपत्मभिराशुहेमभि र्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना ।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ २ ॥

(नासत्या) हे असत्य रहित अश्विद्वय। आप (वीडुपत्मभिः) अतिवेगवान् (आशुहेमभिः वा) और अति शीघ्रगामी अश्वद्वारा प्राप्त होते हैं (देवानाम् वा जूतिभिः+शाशदाना) और देवों के उत्साह से उत्साहित होते हैं। (रासभः) आपका वाहन रासभ (गदहा) (प्रधने) बहुधनोपेत (यमस्य+आजा) यमप्रीति कर संग्राम में (तत्+सहस्रम्) शत्रुओं के सुप्रसिद्ध सहस्रों मनुष्यों को (जिगाय) जीता करता है+वीडु=बल का नाम है। ओजः। पाजः। शवः इत्यादि निघण्टु। २। ९। पत्मा=पतन्तीति पत्मा। आशुहेम=आशुशीघ्रं हिन्वन्ति गच्छन्तीति आशुहेमानः। हि=गतौ वृद्धौ च। जूति=प्रेरणा। आजि=संग्राम। प्रधन=प्रकीर्ण-धनोपेत। २।

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
त मूहथु नौंभि रात्मन्वतीभि रन्तरिक्षप्रुद्भि रपोदकाभिः ॥३ ॥

(कः+चित्+ममृवान्) कोई म्रियमान पुरुष (रयिम्+न) जैसे धन को त्यागता है। वैसे ही (अश्विना) हे अश्विद्वय! (तुग्रः+ह) वह सुविख्यात तुग्र नाम का राजा (भुज्युम्) अपने पुत्र भुज्यु को (उदमेधे) समुद्र में (अव+अहाः)शत्रुओं से युद्ध करने को त्यागता=भेजता है। हे अश्विद्वय! आप

---

१. इस प्रकरण में विमद में विमद आदि नाम और अश्विद्वय के उपकार का वर्णन बहुत आवेगा। इन सब का भाव आगे यथास्थान में देखिये।

(तम्+नौभिः+ऊहथुः) उस तुग्रपुत्र भुज्यु को नौकाओं पर चढ़ा कर अभीष्ट स्थान पर ले जाते हैं। जो नौकाएँ (आत्मन्वतीभिः) प्रयत्नवान् पुरुषों से युक्त हैं (अन्तरिक्ष+प्रुद्भिः) जल के ऊपर-ऊपर मानो, आकाश में ही चलने वाली हैं और (अपोदकाभिः) जो जल के सम्पर्क से रहित हैं। उदमेघ=समुद्र। उदकैर्मिह्यते सिच्यते इति उदमेघः समुद्रः (साः०)ममृवान्=मृङ् प्राणत्यागे। अव अहाः ओहाक त्यागे। अन्तरिक्ष प्रुद्भिः=प्रुङ्गतौ।

तिस्त्रः क्षप स्त्रिरहा ति व्रजद्भिर्नासत्या भुज्यु मुहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥ ४॥

(नासत्या) हे असत्यरहित अश्विद्वय! (भुज्युम्) समुद्र में निमग्न तुग्रपुत्र भुज्यु को आप (त्रिभिः+रथैः) तीन रथों के द्वारा (आर्द्रस्य+पारे+ऊहथुः) आर्द्रीभुत समुद्र के पार ले जाते हैं। एवम् (समुद्रस्यधन्वन्) समुद्र के जलवर्जित स्थान में ले जाते हैं। वे रथ कैसे हैं (तिस्त्रः पक्षः) तीन रात्रि और (त्रिः+अहा) तीन दिन लगातार (अति व्रजद्भिः) अत्यन्त चलने हारे (पतङ्गैः) पतङ्ग के समान उड़ने हारे (शतपद्भिः जिनमें सौ १०० पैर हैं (षडश्वैः) और जिनमें छह घोड़े हैं। ४।

अनारम्भणे तदवीरयेथा मनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्यु मस्तं शतारित्रां नाव मातस्थिवां सम्।५।

(अश्विनौ) हे अश्विद्वय! (समुद्रे) समुद्र में (तद्+अवीरयेथाम्) आप दोनों उस वीरोचित कर्म को सम्पादन करते हैं। कौन वह कर्म है सो आगे कहते हैं (यद्+भुज्युम्+अस्तम् ऊहथुः) जो भुज्यु को आप गृह पर पहुँचा देते हैं (शतारित्राम्+नावम्+आतस्थिवांसम्) जो भुज्यु शत-अरित्रों से युक्त नौका पर बैठा हुआ है। और समुद्र कैसा है (अनारम्भणे) जिसमें पकड़ने के लिए कोई आलम्बन नहीं है। पुनः (अनास्थाने) जिसमें विश्राम का कोई भूप्रदेश नहीं (अग्रभणे) हस्तग्राह्य शाखादि रहित है। भाव यह है कि हे अश्विद्वय! आप तुग्र-पुत्र भुज्यु को अगाध, निरवलम्ब, समुद्र में डूबने से बचाते हैं और शतारित्र नौका पर उसे बैठा कर उसको अपने घर पहुँचा देते हैं। यह आपका कर्म परम प्रशंसनीय और वीरोचित है। व्याकरणादि प्रक्रियाः—अवीरयेथाम् शूर वीर विक्रान्तौ। अस्तम्=अस्यते अस्मिन् सर्वमिति अस्तं गृहम्। गयाः। ऋदरः। गर्तः। हर्म्यम्। अस्तम्। इत्यादि निघण्टु देखो। ३।४।५।

यमश्विना ददथुः श्वेत मश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महिकीर्त्तेन्यं भूत् पैद्वोवाजी सदमिद्धव्यो अर्यः।६।

(अश्विना) हे अश्विद्वय ! (अघाश्वाय+यम्+श्वेतम्+अश्वम्+ददथुः) आप घोड़े को न मारनेहारे पेदु नामक राजर्षि को जो श्वेत अश्व देते हैं। वह (स्वस्ति+शश्वत्+इत्) पेदु के कल्याण सदा ही किया करता है (वाम्+तद्+दात्रम्+महि) आप दोनों का वह दान बहुत बड़ा है (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीय=प्रशंसनीय (भूत) है (पेद्वेः+वाजी) आपका दिया हुआ वह पेदु राजर्षि का घोड़ा पतनशील=शीघ्रगामी है (अर्य्यः) शत्रुओं का प्रेरयिता है (सदम्+इत्+हव्यः) सदा ही सबसे पूज्य है। अर्थात् पेदु नाम के किसी राजर्षि को अश्विद्वय एक विजयकारी श्वेत अश्व देते हैं यह इनका दान स्तुत्य दान है। व्याकरणादि प्रक्रिया। अघाश्व=अहन्तव्याश्व-दात्र=दान। महि=महत्। महि=पूजायाम्। कीर्त्तेन्य=कृत संशब्दने। अर्य्य=ऋगतौ। ६।

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भां असिञ्चतं सुरायाः।७।

(नरा) हे नेता अश्विद्वय ! (युवम्) आप (स्तुवते+पज्रियाय+कक्षीवते) स्तोता और पज्र वंशी कक्षीवान् नामक ऋषि को (पुरन्धिम्) बहुत बुद्धि (अरदतम्) देते हैं और आप (वृष्णः अश्वस्य)सेचन समर्थ घोड़े के (कारोतरात्+शफात्) कर्म कुशल अथवा कूपवत् गंभीर। कारोतर नाम कूप का है। निघं० ३।२३। खुर से (सुरायाः+शतम्+कुम्भान्) सुरा के १०० एक सौ घड़े खींचते हैं अर्थात् कक्षीवान् को देते हैं। व्याकरण पज्रिय=पज्र नाम अंगिरा का है। तत्सम्बन्धी पज्रिय। कक्षीवान्। घोड़े को बाँधने की रस्सी को कक्ष्या कहते हैं। जिसको कक्ष्या हो उसे कक्षीवान् कहते हैं। अरदतम्=रदविलेखने। पुरन्धि=पुरन्धिबर्हुधी रितियास्कः नि० ६।१३। असिञ्तम्=षिचिक्षरणे।७।

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनाऽवनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति।८।

(अश्विना) हे अश्विद्वय ! आप (हिमेन) हिमवत् शीतल जल से अत्रि ऋषि की (घ्रंसम्+अग्निम्) देदीप्यमान अग्निज्वाला को (अवारयेथाम्) निवारित करते हैं (अस्मै+पितुमतीम्+ऊर्जम्+अधतम्) और इस अत्रि के लिए अन्नमय बल प्रदान करते हैं। पुनः (ऋबीसे)प्रकाशरहित पीड़ागृह में (अवनीतम्) प्रापित (सर्वगणम्) पुत्र पौत्रादि समस्तगण सहित (अत्रिम्+स्वस्ति+उन्निन्यथुः) अत्रि को कल्याण पूर्वक उस गृह से निकाल बाहर कर लेते हैं। व्याकरणादि प्रक्रिया। यह ऋचा अग्नि के पक्ष में भी लगता है। अत्रि

प्रकरण में देखो। निरुक्त। ६। ३६ में देखो। घ्रंस=देदीप्यमान, दिन। पितुमती=पितु यह अन्न का नाम है। अन्धः वाजः। प्रयः। पृक्षः। पितुः इत्यादि निघण्टु २। ७। में देखो। ऋबीस=अपगतभास, अपहृत भास इत्यादि निरुक्त ६। ३५। अत्रि=अद भक्षणे। ८।

पराऽवतं नासत्याऽनुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य। ९।

(नासत्या) हे असत्यरहित अश्विद्वय! आप (अवतम्+अनुदेथाम्) गोतम ऋषि के समीप अवत=कूप, पहुँचाया करते हैं। उस कूप को (उच्चाबुध्नम्+जिह्मबारम्+चक्रथुः) ऊपरमूल और नीचे द्वारवाला बना देते हैं अर्थात् कूए को उल्टा करके स्थापित कर देते हैं। ताकि उससे सर्वदा पानी गिरता ही रहे। और (तृष्यते+गोतमस्य) तृषायुक्त गोतम ऋषि के (पायनाय) पीने के लिए (आपः+क्षरन्) उस कूप से निरन्तर जल निकल रहा है। क्यों जल निकल रहा है? इस पर और भी कहते हैं कि (सहस्राय+राये) गोतम की पिपासा निवृत्त हो और सहस्रों प्रकार के धन प्राप्त हों इसलिये पानी निकल रहा है। व्याकरण प्र०। अवत=कूप। कूप, कातु, कर्त, वव्र, काट, श्वात, अवत, क्रिवि, सूद, उत्स, ऋश्यद, कारोतर, कुशय, केवट निघण्टु ३। २३ ये १४ नाम कूप के हैं अनुदेथाम्=णुद प्रेरणे जिह्मबार=वक्रद्वार। क्षरन्=क्षर संचलने। राये=रादाने। तृष्यते=ञितृषा पिपासायाम्। ९।

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्राऽऽदित्पतिमकृणुतं कनीनाम् १०

(नासत्या+दस्रा) हे असत्यरहित! हे दर्शनीय देवो! (जुजरुषः+च्यवानात्) जीर्ण=वृद्ध च्यवान अर्थात् च्यवन ऋषि, अर्थात् परम वृद्ध च्यवन ऋषि के ऊपर से आमने (वव्रिम+द्रापिम्+इव+प्रामुञ्चतम्) वृद्धावस्था को कवच के समान दूर कर देते हैं। वव्रि=सम्पूर्ण देह में व्यापक हो जो स्थित हो उस वृद्धावस्था का नाम व्रवि हैं। द्रापिः कवच। जैसे कोई कवच पहन करके पुनः उतार कर रख देता है। तद्वत् आप च्यवन ऋषि को प्रथम कवच रूपा जरावस्था को पहना पुनः उनसे उतार लेते हैं। पुनः (जहितस्य+आयुः+प्र+अतिरतम्) पुत्रादिकों से रहित ऋषि की आयु को बढ़ा देते हैं (आत्) इसके पश्चात (कनीनाम्+पतिम्+अकृणुतम्) युवती कन्याओं का पति उसे बनाते हैं। जुजुरुषः=ज्टृष् वयोहानौ। वव्रि=वृञ्वरणे। जहित=ओहाक् त्यागे। कनीन=कन्या। १०

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्।
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूढमु हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय॥ ११॥

(नरा+नासत्या) हे आरोग्यनेता! हे सत्यप्रिय! (वाम्+तद्+वरूथम्) आपका वह वरणीय कर्म (शंस्यम्+राध्यम्+च+अभिष्टिमत्) प्रशंसनीय, आराधनीय और कल्याणयुक्त हैं (यद्+विद्वांसा) जो जानते हुए आप (अपगूढम्+निधिम्+इव) पृथिवी के अभ्यन्तर छिपे हुए निधि के समान (वन्दनाय+दर्शतात्+उद्+ऊपथुः) वन्दन ऋषि को कूप से निकाल देते हैं। यह कार्य आपका प्रशंस्य है। शंस्य=शंसुस्तुतौ। वरूथ=उत्तमकर्म। दर्शत=दर्शनीय=यहाँ कूप अर्थ है॥ ११।

तद्वां नरा सनये दंस उग्र माविष्कृणोमि तन्यतुर्नवृष्टिम्।
दध्यङ्ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच॥ १२॥

(नरा+वाम्+तद्+उग्रम+दंसः) हे आरोग्यनेता अश्विद्वय! आप दोनों के उस उग्र कर्म को (सनये+आविष्कृणोमि) जगत् के लाभ के लिए आविष्कार अर्थात् प्रकाशित करता हूँ (न+तन्यतुः+वृष्टिम्) जैसे मेघस्थगर्जन मेघान्तर्गत वृष्टि को प्रकट करता है कौन कर्म हैं सो आगे कहते हैं। (ह+यत्+आथर्वणः दध्यङ्+वाम्+अश्वस्य+शीर्ष्ण+यद्+मधु+ईम्+प्र+उवाच) जो यह कर्म सुप्रसिद्ध है कि अथर्वपुत्र दध्यङ् ऋषि आपको अश्व के शिर से जब मधु ज्ञान का वर्णन करते हैं। अर्थात् दध्यङ ऋषि अपने शिर को अलग कर और घोड़े का शिर लगा आपको मधु विद्या सिखलाते हैं। हे अश्विद्वय! यह आपका परम उग्र कर्म है इसको जगत् के लाभ के लिए मैं प्रकट करता हूँ। व्याकरण। सनि=लाभ, षणुदाने। दंस=कर्म, अपः। अप्न दंसः निघण्टु। २। १। देखो १२।

अजोहवीन्नासत्या करा वां महेयामन् पुरुभुजा पुरन्धिः।
श्रुतं तच्छाशुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। १३।

(नासत्या) हे अश्विद्वय आप असत्यरहित है (महे+यामन्) और आपको यदि कोई उत्तम। यामन्=स्तोत्र सुनावे (करा) तो आप उसके लिए अभिमतफल के कर्ता होते हैं पुनः (पुरुभुजा) आप बहुतों के प्रतिपालक हैं। ऐसे (वाम्) आपको (पुरन्धिः) बहु-बुद्धिमती राजपुत्री वध्रिमती (अजोहवीत्) बारम्बार पुकारती रहती है (तद्+श्रुतम्) हे देव! उस समय उसके आह्वान को आप सुनते हैं जैसे (शासुः इव) शशाक=शिक्षक=आचार्य का वचन शिष्य सुनते हैं (अश्विनी) हे अश्विद्वय। (वध्रिमत्याः हिरण्वहस्तम्+अदत्तन्) पुकार सुनके वध्रिमती को हिरण्यहस्त नामक एक पुत्र देते हैं। करा=कर=कर्ता यामन्=स्तोत्र।

पुरुभुज=भुजपालनाभ्यवहारयोः। शासुः=शास्तुः आचार्यस्य (सा०)। १३।

आस्नो वृकस्य वर्तिकाअमभीकेयुवं नरा नासत्याऽमुमुक्तम्

उतो कवि पुरुभुजा युवं ह कृपमाणमकृणुतं विचक्षे। १४।

(नरा+नासत्या+पुरुभोजा) हे नर! नासत्य! हे पुरुभोज! अश्विद्वय (अभीके) संग्राम में (वर्त्तिकाम्+वृकस्य+आस्नः+युवम्+अमुमुक्तम्) वर्तिका को भेड़िये के मुख से आप छुड़ा लेते हैं, (उत+कृपमाणम्+कविम्+युवम्+ह+विचक्षे अकृणुतम्) और स्तुति करते हुए कविनामक ऋषि को आप दर्शन के योग्य बनाते हैं। आस्नः=आस्यात्=मुख से। अभीक-संग्राम। निघण्टु। २। १७। कृपमाणः-कृपिःस्तुतिकर्मा तुदातिषुद्रष्टव्यः (सा०) विचक्षे तुमर्थे सेन् प्रत्ययः। १४।

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितकम्यायाम्।

सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। १५।

(आजा) संग्राम में (खेलस्य) खेल नामक राजा सम्बन्धिनी विश्पला का (चरित्रम्+हि+अच्छेदि) चरण छिन्न भिन्न हो गया। (वेः+पर्णम्+इव) जैसे किसी पक्षी का पँख टूट गया और वह कार्य में अक्षमा हो गई। तब (परितकम्यायाम्) किसी रात्रि में सुप्रसन्न हो अश्विद्वय ने (विश्पलायै) विश्पला स्त्री को (सद्यः आयसीम्+जंघाम्+सर्त्तवे+प्रत्यधत्तम्) उसी समय लौह-निर्मित्त जंघा गमनार्थ प्रदान की। पुनः (हिते+घने) कल्याण कर धन के निमत्त वह जंघा दी गई। आजा=आजौ=संग्राम में॥ १५॥

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।

तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्। १६।

(पिता+तम्+ऋज्राश्वम्+अन्धम्+चकार) पिता उस ऋज्राश्व को अंध बना देता है जो ऋज्राश्व (शतम्+मेषान्+वृक्ये+चक्षदानम्) सौ मेष=१०० भेड़। वृकी (हुडारी, भेड़िनी) को खिला देता है। इस अपराध के कारण ऋज्राश्च की आँखे फोड़ दी जाती हैं और यह नयन विहीन हो जाता है। परन्तु (नासत्या+तस्मै+अक्षी+आ+अधत्तम्) हे असत्यरहित अश्विद्वय! आप इसको नयन दे देते हैं। जो आप (दस्रौ) निखिल-दुःख-निवारक और (भिषजौ) वैद्य हैं। आँख कैसी देते हैं (विचक्षे) देखने में समर्थ पुनः (अनर्वन्) जो नयन प्रथम देखने में असमर्थ थे। १६।

आवां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।

विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे। १७।

(नासत्या) हे असत्यरहित देव! (सूर्यस्य+दुहिता+वाम्+रथम्+आ+अतिष्ठत्) सूर्य की दुहिता आपके रथ पर आ बैठती जो (अर्वता+जयन्ती) आप के वेगवान् अश्व के कारण सर्वत्र विजय पाती है। (कार्ष्म इव) खेल के समय जिस काष्ठ को अवधि-सूचक बनाते हैं उसे कार्ष्म कहते हैं। जैसे घुड़दौड़ में कोई शीघ्र गामी पुरुष अवधि पर सब से पहले पहुँच जाता है। तद्वत् उस अवधि तक सब से प्रथम पहुँचने हारे आपके अश्व से सर्वत्र विजय करने हारी सूर्य दुहिता आपके रथ पर प्राप्त होती है। (सर्वे देवाः हृद्भिः अनु अमोदन्त) सब देवों ने इसको हृदय से अनुमोदन किया। उस समय आप दोनों (श्रिया+सम्+उ+सचेथे) सम्पत्तियुक्त होते हैं। सचेते=षच समवाये। १७।

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्भरद्वाजायाऽश्विना हयन्ता।

रेवदुवाह सचनो रथो वां वृषभश्च शिंशुमारश्चयुक्ता। १८।

(हयन्ता+अश्विना) हे पूज्य अश्विद्वय! (भरद्वाजाये+दिवोदासाय+वर्तिः यद्+अयातम्) अन्नों से भरणपोषण करने हारे दिवोदास के गृह पर जब आप आते हैं तब (वाम्+सचनः+रथः+रेवत्+उवाह) आपका सेवक रथ प्रशस्त धन युक्त पदार्थ ले आता है। जिस रथ में (वृषभः+च+युक्ता) वृषभ और ग्राह दोनों युक्त हैं। भरद्वाज=वाज=अन्न जो अन्न के द्वारा भरणपोषण करता है। हयन्ता=ह्वेञ् से बनता है। सचन=षच सेवते। १८।

रयिं सुक्षत्रं स्वपत्यमायुः सुवीर्यं नासत्या वहन्ता।

आजह्नावीं समनसोप वाजैस्त्रिरह्नो भागं दधतीमयातम्। १९।

(नासत्या) हे नासत्य अश्विद्वय! (रयिम्) धन (सुक्षत्रम्) शोभन बल (स्वपत्यम्) सुन्दर सन्तान (आयुः) आयु (सुवीर्यम्) सुन्दर वीर्य आदि सकल अभीष्ट वस्तुओं को आप (वहन्ता) उस-उस भक्तजनों को पहुँचाया करते हैं पुनः (समनसा) आप उदारचेता हैं वे आप (जह्नावीम्+आ+अयातम्) जह्नु ऋषि की प्रजा के निकट रक्षार्थ पहुँचते हैं। जो (वाजैः+उप) हविष्यादि अन्नों से युक्ता है (अह्नः+त्रि+भागम्+दधतीम्) दिनके तीनों भागों को धारण करने हारी है। १९।

परिविष्टं जाहुषं विश्वतःसीं सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः।

विभिन्दुना नासत्या रथेन वि पर्वतां अजरयू अयातम्। २०।

(नासत्या+अजरयू) हे नासत्य! हे जरारहित अश्विद्वय! आप (विश्वतः परिविष्टम्) चारों तरफ से शत्रुओं से परिवेष्टित (जाहुषम्+राजनम्) जाहुष नाम के राजा को (विभिन्दुना+रथेन) शत्रुभेदक आत्मीय रथद्व ारा (सीम्+

सुगेभिः+रजोभिः+नक्तम्+ऊहथुः) सुन्दर शोभन मार्गो से रात्रि में शत्रुओं के मध्य से उठा लाते हैं और (पर्वतान्+वि+अयातम्) उसके साथ सुख पूर्वक पर्वतों पर चले जाते हैं। २०।

एकस्या वस्तोरावतं रणाय वशमश्विना सनये सहस्त्रा।

निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसो वृषणावरातीः। २१।

(अश्विना+एकस्यः+वस्तोः+रणाय) हे अश्विद्वय! एक दिन के युद्ध के लिए (सहस्त्रा+सनाय) सहस्त्र प्रासियाँ हों इस कारण (वशम्+अवतम्) वश ऋषि की रक्षा करते हैं। (वृषणा+इन्द्रवन्ता) हे वर्षयिता! हे इन्द्रसंयुक्त अश्विद्वय! और आप (दुच्छुनाः) दुष्ट जो (पृथुश्रवसः+अरातीः) पृथुश्रव राजा के शत्रु हैं उनको (निर्+अहतम्) निःशेष करके हत कर देते हैं। २१।

शरस्य चिदार्चत्कस्यऽवतादा नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः।

शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरयेस्तर्य्यं पिप्यथुर्गाम्। २२

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः।

पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय। २३।

(आर्चत्कस्य+शरस्य+चित्+पातवे) ऋचत्कपुत्र शर नामके ऋषि के पीने के लिए (नीचात्+अवतात्+उच्चा+वाः+आचक्रथुः) नीच कूप से जल ऊपर ले आते हैं। और (नात्सया) हे नासत्यद्वय! (जसुरये+शयवे+चित्) परिश्रान्त शयुनाम के ऋषि के लिए (शचीभिः+स्तर्यम्+गाम्+पिप्यथुः) अपने उदार कर्मो से माता गौ को दुग्धवतीं बना देते हैं। २२। (अवस्यते+स्तुवते+ ऋजूयते+कृष्णियाय+विश्वकाय) रक्षाभिलाषी स्तुतिपाठक और ऋजुस्वभाव कृष्णिय विश्वक ऋषि को (नात्सया+शचीभिः) हे नासत्यद्वय! आप दोनों आश्चर्य कर्म करके (विनष्टम्+विष्णाप्वं) विनष्ट विष्णाप्व नामकपुत्र (दर्शनाय+ददथुः) दर्शन के लिए देते हैं जैसे (पशुम्+न+नष्टम्+इव) जैसे नष्ट पशु को कोई धर्मात्मा पुरुष उसके स्वामी के निकट पहुँचा देता है। तद्वत् कहीं विनष्ट विष्णाप्व को उसके पिता के समीप आप पहुँचाया करते हैं॥ २३॥

दश रात्रीरशिवेना नव द्यूनवनद्धं श्नथितमप्स्वन्तः।

विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथुः सोममिव स्त्रुवेण। २४।

(अप्सुः+अन्तः) जल के मध्य पातित (अशिवेन+अवनद्धम्) अमंगल-कारी रस्सी से बद्ध (श्नथितम्) पीड़ित (दश+रात्रीः+नव+द्यून्) दश रात और ९ नौ दिन (उदनि+प्रवृक्तम्) जल में ही बहते हुए और रक्षकादिक

पुरुषों से रहित (रेभम्+उन्निन्यथुः) रेभ ऋषि को आप कूप से ऊपर ले आते हैं (स्रुवेण+सोमम्+इव) जैसे स्रुवा को सोम से उठाते हैं। वैसे ही रेभ ऋषि को कूप से आप उठा लाते हैं। २४।

प्र वां दंसास्यश्विनाववोच मस्य पतिःस्यां सुगवःसुवीरः।
उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायु रस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्। २५

(अश्विनौ) हे अश्विद्वय! (वाम्+दंसांसि+प्र+अवोचम्) आप के अद्भुत २ कर्मों को इस प्रकार कहता सुनता रहता हूँ आपकी कृपा से (अस्य+पतिः+स्याम्) इस राष्ट्र का पति होऊँ (सुगवः+सुवीरः) शोभनगवोपेत और सुवीर होऊँ (उत् पश्यन्+दीर्घम् आयुः अश्नुवन्) और संसार देखता हुआ दीर्घ आयु को भोगता हुआ मैं (अस्तम्+इव+इत्) गृह के समान ही (जरिमाणम्+जगम्याम्) जरावस्था को प्राप्त करूँ। २५। इति सूक्त समाप्तम्।

इसके आगे अश्विदेवात्मक सूक्त जितने हैं उन्हें प्रथम देख लेने चाहिये। अब मैं प्रसिद्ध और विस्पष्टार्थ इतिहासाऽऽभास का प्रथम निर्णय करूँगा। जिससे पाठकों को आगे-आगे सुविधा होती जाये।

पेटिकाबद्ध सप्तवध्रि और अश्वि-देवता।

जिस-जिस सूक्त के देवता अश्विदेव हैं उस-उस में जीवों के उद्धार का वर्णन आश्चर्यरूप से कहा गया है। सब ही धार्मिक तत्त्ववित् पुरुष मानते हैं कि ईश्वर के प्रबन्ध से यह सृष्टि चल रही है। केवल इस पृथिवी पर ही लाखों प्रकार के जीव हैं। वनस्पति से लेकर मनुष्यजाति तक कैसे-कैसे चमत्कृत, अद्भुत जीव दीख पड़ते हैं। इन्हीं चेतन जीवों को सुखी रखने के लिए ये सूर्य, चन्द्र, वायु, आकाश, पाताल, मेघ, पृथिवी आदि पदार्थ सृष्ट हुए हैं। यद्यपि मनुष्य-शरीर सबसे उत्तम सृष्टि है तथापि ईश्वर के लिए सब ही जीव कृपापात्र हैं। समदृष्टि से सब जीवों को पितावत् देखता है। ये जो नाना जीव हैं, इनकी रक्षा पोषण, पालन कैसे ईश्वर कर रहा है इस विषय को विविध भावों, विविध गाथाओं और अनेक अलंकारों से भूषित कर वेद गाते हैं।

मातृ-कुक्षि-यद्यपि जीव के लाखों शरीर हैं। कोई सुखमय, कोई दुःखमय, कोई हमारी दृष्टि में घृणाजनक, कोई सर्वथा इन्द्रियरहित, और ये सब एक से एक अद्भुत हैं। तथापि माता का उदर बड़ा ही आश्चर्योत्पादक है। सब को आश्चर्य होता है कि इस पेट में जीव कैसे रहता है कहाँ से खान-पान पाता है। फिर इस में निवास किये हुए जीव को क्या-क्या सुख दुःख होता है? जीव ईश्वर से क्या-क्या याचना करता है। याचना करता है या नहीं। ज्ञान रहता या

नहीं। ये सब बातें आश्चर्य-जनक हैं। पुनः वेदों में मातृ-कुक्षि को कूप, समुद्र, जलाशय, अन्धकारावृत कन्दरा, भवन, पेटिका आदि अनेक नाम दिये हैं। अतः प्रथम माता के उदर में जीव की क्या दशा रहती है इसी वर्णन से मैं यहाँ आरम्भ करता हूँ।

जीवात्मा का यौगिक नाम सप्तवध्रि है। सप्त=सात। वध्रि=बन्धन जिसके सात बन्धन हों—दो चक्षु, दो नासिकाएँ, दो कर्ण और एक जिह्वा ये सातों इसके बन्धन हैं। वेद और उपनिषदों में इन सातों के विविध वर्णन आए हैं। सप्त ऋषि, सप्तगु, सप्तशीर्षा, सप्ताश्व, सप्तहय आदि नामों से भी ये पुकारे गये हैं। दो हाथ, दो पैर, मूत्रेन्द्रिय, गुदा और पेट। ये सात मिल कर भी इसके बन्धन होते हैं। इन दोनों को ही मिलाकर १४ लोक कहे हैं। चक्षु आदि भूर्लोकादि नामों से और पैर आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। पूर्व में इसका सविस्तार वर्णन हो चुका है। अथवा वध्रि यह नाम ही इन्द्रिय का है। "वध्रयसित्वन्द्रियाण्याहु र्हृषीकाणीतिचाप्युत।" आत्मा को ये इन्द्रिय ही बाँधने वाले हैं। अतः इन्द्रिय का नाम वध्रि है। (सप्तवध्रयोयस्य सः) जिसके सात इन्द्रिय हों। अथवा

एते सप्त स्वयं स्थित्वा देहं दधति यन्नृणाम्।
रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जःशुक्राणि धातवः॥

रस, रुधिर, मांस, मेद (स्नायु) अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सातों धातु, मानों इसके बन्धन हैं। इत्यादि अनेक कारणवश आत्मा का नाम सप्तवध्रि है। यद्यपि सामान्यतया सब जीवात्मा का नाम सप्तवध्रि है तथापि जब यह जीव गर्भ में आता है तब इसका विशेष नाम सप्तवध्रि होता है क्योंकि बन्धन यहाँ वास्तविक प्रतीत होता है। यहाँ से बद्धवत्स के समान एक पद भी इधर-उधर नहीं हो सकता। इस उदररूप पेटारी से कैदी के समान नियत समय पर ही बाहर आ सकता है अतः मातृ-गर्भ में यथार्थरूप से बन्धन भासित होता है। इस कारण विशेषकर गर्भस्थजीव को सप्तवध्रि कहा है।

सप्तवध्रि की याचना, और ऋषित्वः—जब यह सप्तवध्रि उदर में आके निवास करता है। तब यह सदा ईश्वर को स्मरण किया करता है। यह अलौकिक वर्णन है। क्योंकि जीव चेतन, नित्य, विज्ञान स्वरूप है ऐसा योगिगण इसको समझते हैं। हम मानते हैं कि जीव शुद्ध-चेतन-अज, अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध है। शरीर के साथ इस पर अज्ञानता छा जाती है। मातृ गर्भ में बोल करके तो ईश्वर से प्रार्थना नहीं करता, परन्तु मानसिक याचना करता रहता है क्योंकि इसका मानसिक ज्ञान सदा एक रस रहता है। जिस कारण इस अवस्था

में भी यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव को नहीं त्यागता है और ऋषिवत् हृदय में ईश्वर का साक्षात्कार और स्तुति प्रार्थना करता रहता है अत: कुक्षिस्थ जीव को भी ऋषि नाम से पुकारा गया है।

वनस्पति वृक्ष:—यह माता का उदर, मानो, एक पेटिका (सन्दूक=पेटारी) है। कर्मरूप शत्रुओं ने, मानो इस जीव को इस उदररूप पेटिका में नव दश मास के लिए बन्द कर रखा है। जीव ईश्वर से निवेदन करता है कि भगवन्! इस पेटिका को खोल दो जिससे कि सुगमता से मैं इससे निकल कर आपकी ज्योति देख आप की सुकीर्ति को सदा गाया करूँ। हे भगवन्! मैं पेटी में बद्ध हूँ। मेरे अपने ही कृतकर्म मेरे परम शत्रु हैं वे मुझे यहाँ ले आए हैं। मुझ को विवश कर यहाँ बाँध रखा है। आप ही इसके खोलने वाले हैं इत्यादि मानसिक प्रार्थना जीव की उदर में दिखलाई गई है। यहाँ वनस्पति और वृक्ष शब्द माता के उदररूप पेटिका समझनी चाहिये यही आशय ऋचाओं का है। इतिहासविद कथा वर्णन करते हैं कि अत्रि-गोत्र में एक ऋषि सप्तवध्रि नाम के थे। उनके बहुत शत्रु थे। वे प्रत्येक रात्रि सप्तवध्रि को एक पेटिका (सन्दूक) में बंद कर कहीं रख दिया करते थे जिससे कि ऋषि निज स्त्री के साथ रात्रि में मिल नहीं सकते थे। दिन होते ही फिर पेटिका से उन्हें निकाल देते थे। इस प्रकार ऋषि बड़े क्लेशित हुए और सन्तान से भी रहित हो गये। तब ऋषि ने एक दिन अश्वी देवता का स्मरण किया। वह प्रसन्न हो पेटिका को खोल कर दृष्टिचर हुए। वह ऋषि भी इनके अनुग्रह से रात्रि में जाके निज दयिता के साथ मिले और वह गर्भवती हुई। परन्तु वह ऋषि शत्रुओं के भय से रात में पुन: उसी पेटिका में जा छिपते थे। इत्यादि।

ऐसी कथा का कहीं भी इस सूक्त में पता नहीं है। वनस्पति, वृक्ष और सप्तवध्रि के मोचन की प्रार्थना देख कथक्करों ने कथा गढ़ ली। परन्तु शोक की बात है कि जब ७ वीं ८ वीं ९ वीं ऋचाएँ गर्भाधान के समय में अब भी पढ़ी जाती हैं तो इसी प्रकरण में सम्पूर्ण सूक्त क्यों न घटाया जाये। सायण कहते हैं कि ये तीनों ऋचाएँ गर्भस्राविणी उपनिषद् हैं। जब ऋषि की स्त्री गर्भवती हुई तो इन ही तीन ऋचाओं में सप्तवध्रि नामक ऋषि ने अश्वी की स्तुति की। इत्यादि सारी कल्पना हेय हैं। इस सूक्त का आशय भागवतकार को प्रतीत हुआ, परन्तु ....चतुर्वेद भाष्यकार सायण को भासित नहीं हुआ। यह शोक है।

सप्तवध्रि और भागवत

तृतीयस्कन्ध में कपिलजी निजमाता देवहूति से गर्भस्थ जीव के सम्बन्ध

में इस प्रकार कहते हैं। हे माता! प्रथम रात्रि में वह रेत कलिल अर्थात् गोंद के समान, पञ्चरात्रि में बुद्बुद, दश वें दिन कर्कन्धु अर्थात् बेर फल के समान हो जाता है। एक मास में शिर, द्वितीय मास में बाहु, पैर आदि। तृतीय में नख, रोम आदि। चतुर्थ में धातु। पञ्चम में क्षुधा पिपासा। षष्ठ में जरायु से आवृत होता है। सप्तम मास में वह जीवात्मा ऋषि निज जन्म कर्म स्मरण करने लगता है। उसको सहस्त्रों जन्मों की बातें सूझने लगती हैं। इस समय

''नाधमान ऋषि र्भीतः सप्तवध्रिः कृतांजलिः।

स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः।'' भा० ३।३१।

याचना करता हुआ भयभीत कृताञ्जलि वह सप्तवध्रि ऋषि विक्लव वाणी से उसकी स्तुति करता है जिसने उदर में स्थापित किया है। यहाँ वैदिक शब्द ही भागवतकार ने उद्धृत किये हैं। टीकाकार ''सात इन्द्रिय हों जिसे उसे सप्तवध्रि'' कहते हैं और प्रमाण देते हैं ''वध्रयस्त्विन्द्रियाण्याहु-र्हृषीकाणीतिचाप्युत'' यह जीव क्या प्रार्थना करता है इसको बड़ी उत्तमत्ता के साथ लिखा है। मैं उनसे कतिपय श्लोक यहाँ उद्धृत कर देता हूँ—

जन्तुरुवाच—तस्योपसन्न मवितुं जगदिच्छयात्त-नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्। सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्श्यतोऽनुरूपा। १२। यस्त्वत्रबद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयी मवलम्व्य मायाम्। आस्ते विशुद्धमविकार मखण्डबोध मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि। १३। यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्। तेनाविकुण्ठ महिमान मृषिं तमेन वन्दे परं प्रकृति पूरुषयोः पुमांसम्। १४। यन्माययोरुगुणकर्म निबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरं स्तदभिश्रमेण। नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या+कया महदनुग्रहमन्तरेण। १५। ज्ञानं यदेत ददधात् कतमः स देव स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्त्तितांशः। तं जीव कर्म पदवीमनुवर्त्त-मानास्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम। १६। देह्यन्यदेह विवरे जठराग्निा सृग् विण् मूत्रकूप पतितो भृशतप्तदेहः। इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान् निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदानु। १७। येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन। स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः कोनाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्। १८। पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे। यत्सृष्टयास तमहं पुरुषं पुराणं पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम्। १९। सोऽहं धसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे। यत्रोपयातमुपसर्पति

देवमाया मिथ्यामतिर्यदनुसंसृति चक्रमेतत्। २०। तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्ये आत्मानमाशु तमसः। सुहृदात्मनैव। भूयोयथा व्यसनमेतदनेकरध्रं मा मे भविष्य दुपसादित विष्णुपादः। २१। भागवत ३। ३१।

इसमें जो पौराणिक सिद्धान्त है उससे मैं सहमत नहीं। यहाँ गर्भवास की अवस्था में जीव की क्या दशा होती है और जीव किस प्रेम से प्रार्थना करता है, यही केवल लक्ष्य है। जीव स्वरूप से चेतन और ज्ञानी माना गया है। संभव है कि इसको इस समय में स्मृति होती हो। इसमें भी जीवात्मा को सप्तवध्रि कहा गया है।

सप्तवध्रि ऋषि

अश्विदेवतात्मक सूक्तों में से ५-७८ वें और ८-७३ वें सूक्त के ऋषि भी सप्तवध्रि है। यह अत्रिपुत्र अथवा अत्रि-गोत्रोत्पन्न ऋषि थे। गर्भस्थ जीवों के पालन पोषण सम्बन्धी कार्यों के तत्ववित् थे अतः उनको सप्तवध्रि पदवी दी गई। जीवात्मा के उद्धार की वार्ता जहाँ-जहाँ आई है, वहाँ-वहाँ प्रधानता से अश्वि-नाम आया है। अहोरात्रात्मक काल का नाम अश्वी है। इसी को मित्रावरुण, यम और यमी भी कहते हैं। ईश्वर की ही यह विभूति है जिसमें मातृत्व पितृत्व दोनों शक्तियाँ हों। जहाँ-जहाँ उभयविध भाव आरोपित कर ईश्वर को ही लक्ष्य में रख उसी को धन्यवाद देते हुए काल देव की प्रार्थना करते हैं, वहाँ-वहाँ अश्विनाम से ब्रह्म का यश गाते हैं। इसके विशेषण में नासत्य, दस्र, भिषग्, शुभस्पति आदि शब्द आते हैं। जिस हेतु अश्विदेव जीवों पर परमानुग्रहकारक हैं। और सप्तवध्रि जीव के तत्त्ववित् पुरुष को कहते हैं अतः सप्तवध्रि ऋषि प्रधानतया अश्विदेवात्मक सूक्तों के ही प्रचारक हैं। अब जिन ऋचाओं से भ्रम उत्पन्न होते हैं वे ये हैं—

चक्रथुः सप्तवध्रये। १०। ३९। ९।

हे अश्विदेव! आप सप्तवध्रि अर्थात् गर्भस्थ जीव की उदर रूप पेटी को खोल दिया करते हैं।

प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत।
अन्तिषत् भूतु वा मवः। ८। ७३। ९।

हे अश्विदेव! (सप्तवध्रिः) जीवात्मा (आशसा) आपकी स्तुति अथवा कृपा से (अग्नेः+धाराम्) गर्भस्थित अग्निधारा को (प्र+अशायत) प्रशमन अर्थात् शान्त करता रहता है (वाम्+अवः) आपका रक्षण (अंति+सत्) हम जीवों के निकट में सदा वर्तमान (भूतु) होवे।

वि जिहीष्व वनस्पते योनिः सूष्यन्त्याइव।

श्रुतं मे अश्विना हवं सप्तवध्रिञ्च मुञ्चतम्। ५.७८.५

भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये।

मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः। ६।

विशेष कर इन ही दो ऋचाओं पर इतिहास बनाते हैं इनका अर्थ सूक्त के साथ ही देखिये।

अथ सूक्तार्थ

अश्विना वेह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम्।

हंसाविव पतत मा सुतां उप। १।

अश्विना हरिणाविव गौराविवानुयवसम्। हंसाविवपततमासुतां उप। २

अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये। हंसाविव

पततमा सुतां उप। ३। ऋग्वेद मण्डल ५। सू० ७८।

(अश्विना) हे जगदाधार! जगत्-चिकित्सक! (नासत्या) हे असत्यरहित परमात्मन्! (इह+आ+गच्छतम्) इस प्रसवरूप यज्ञ में आइये। (मा+वि+वेनतम्) निःस्पृह न होइए। (हंसौ+इव) हंस पक्षी के समान (सुतान्+उप) इन विविध प्रकार की सोम आदि ओषधियों के समीप (आ+पततम्) अवतीर्ण होइए। इससे यह भी ध्वनि है कि प्रसवकाल में पदार्थों की सत्यता के जानने वाले धर्मात्मा वैद्यों को भी बुलावें और सब पदार्थ उन्हें दिखलावें। आगे भी वही भाव जानना। १।

(अश्विनौ) हे अश्वी! (हरिणौ+इव+गौरा+इव) जैसे गौ और हरिण=मृग (यवसम्+अनु) हरित तृण के पीछे दौड़ते हैं। वैसे आप भी इस प्रसवोन्मुख बालक के समीप आइये। हे परमात्मन्! हंस के समान आ के इन पदार्थों की विवेचना कीजिए। २। (वाजिनीवसू) हे विज्ञानधन (अश्विनौ) जगदाधार परमात्मन् (इष्टये+यज्ञम् जुषेथाम्) पुत्रेच्छा की पूर्ति के लिए इस यज्ञ में प्रीति कीजिये। हंस के समान इन पदार्थों के निकट अवपतन कीजिये। ३।

अत्रिर्यद्वामवरोह न्नृबीस मजोहवीन्नाधमानेव योषा।

श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छत मश्विनां शंतमेन। ४।

हे जगदाधार! (नाधमाना+योषा+इव) जैसे याचना करती हुई प्रिया नित पति को प्रसन्न करती है। वैसे ही (यद्) जब-जब (ऋबीसम्+अवरोहन्) दुःखमय जगत् को पाकर (अत्रिः) माता पिता आचार्य तीनों से विरहित

अनाथ बालक[१] (वाम्+अजोवहीत्) आपको पुकारता है। तब-तब निःसन्देह! (अश्विनौ) हे भगवन्! आप (श्येनस्य+नूतनेन+जवसा +चित्) श्येन पक्षी के नवीन वेग के समान (शन्तमेन) शान्तिदायक वेग से (आ+अगच्छतम्) आते हैं और आके उसकी रक्षा करते हैं।४।

वि जिहीष्व वनस्पते योनिः सूष्यन्त्या इव।

श्रुतं मे अश्विना हवं सप्तवध्रिं च मुञ्चतम्।५।

भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये।

मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः।६।

अव प्रसविणी स्त्री के शरीर की ओर देख कर कहता है। (वनस्पते) हे अस्थिमज्जा-मांस-रूप वन का पति! शरीर! (सूष्यन्त्याः+योनिः+इव) प्रसवोन्मुखी स्त्री के अंग समान (वि+जिहीष्व) प्रत्येक अंग खुल जाये जिससे कि यह बालक पेट से शीघ्र निकल आवे। इस शारीरिक बन्धन खोलने के लिए (अश्विनौ) हे अश्वी! (मे+हवम्+श्रुतम्) मेरा आह्वान सुनिये। और सुनकर (सप्तवध्रिम+च) इस सप्तबन्धन वाले जीवात्मा को (मुञ्चतम्) खोल दीजिये।५। (भीताय+नाधमनाय) भयभीत और प्रार्थयमान (ऋषये+सप्तवध्रये) गर्भस्थ जीवात्मा के लिए (अश्विना) हे जगदाधार (युवम्) आप (मायाभिः) निज शक्ति से (वृक्षम्) शरीररूप वृक्ष को (सम्+वि+च+अचथः) सम्यक् प्रकार से संचालित और विचालित कर दीजिये जिससे कि यह गर्भस्थ जीव सुखपूर्वक निःसृत हो। यह माना गया है कि गर्भ में जीवात्मा ईश्वर से मानसिक प्रार्थना करता है कि भगवन्! मुझे इस वास से उद्धार कर पुराणों में इसका सविस्तार वर्णन आया है।[२] अतएव कहा गया है कि सप्तवध्रि भयभीत है और प्रार्थन कर रहा है।६।

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः।

एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः।७।

---

१. अत्रि=न विद्यन्ते माता, पिता आचार्यश्चेति त्रयोयस्य स अत्रिः। यद्वा न विद्यते त्रिषुलोकेषु सहायकोयस्य सोत्रिरनाथात्मा।

२. श्रीमद्भावत तृतीयस्कन्ध अध्याय ३१ में देखो। उल्वेन संवृतस्तस्मिन् अन्त्रैश्च बहिरावृतः। आस्तेकृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपष्ठशिरोधरः।...........तत्र लब्धस्मृति दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्। स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्मकिन्नामविन्दते १०।..... नाधमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः। स्तुवीत तं विक्लवया वाचायेनोदरेऽर्पितः।११। इत्यादि पीछे कुछ श्लोक उद्धृत भी किए गए हैं।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा।८।
दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि।९।

जैसे वायु सरोवर आदि को परितः कम्पायमान करता है। वैसे ही हे प्रिय! तेरा गर्भ कम्पित होवे और इससे दशमास्य अर्थात् गर्भ में दशमास स्थित जीव बाहर निकले।७। जैसे कम्पायमान वायु वन को कम्पित करता है। जैसे समुद्र सदा चलायमान रहता है। वैसे ही हे दशमास्य जीव जरायु के साथ माता के जठर से निकलो।८। यह कुमार माता के जठर में दश मास शयन करता रहा अब यह जीव हे परमात्मन! आप की कृपा से अक्षत ही निकले और इसकी माता भी अक्षता हो।९। इति

यह सम्पूर्ण सूक्त स्त्री के प्रसव काल की प्रार्थनामात्र है। वेद प्रत्येक शुभ समय में ईश्वर की प्रार्थना के लिए शिक्षा करते हैं और ऐसे समय में धार्मिक वैद्यों को बुलाने की भी आज्ञा देते हैं। अन्तिम तीन ७ वीं ८ वीं ९ वीं ऋचाएँ तो आजकल भी गर्भाधान के समय पढ़ी जाती हैं पुनः इसका नाम ही ''गर्भस्राविणी'' उपनिषद् है। अर्थात् जिसके जप से गर्भस्थ बालक सुखपूर्वक निःसृत हो। ईश्वर की प्रार्थना प्रत्येक कार्य में सहायिका होती है। इससे विस्पष्ट है कि यह सूक्त गर्भस्थ जीव विषय का शिक्षक है न कि व्यक्ति विशेष परक है। आश्चर्य है कि इससे अज्ञानीजन लौकिक इतिहास निकालने का प्रयत्न करते हैं।

जल पातित रेभ ऋषि।

दश रात्री रशिवेना नव द्यूनवनद्धं श्नथितमप्स्वन्तः।
विप्रुतं रेभ मुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण।

१।११६।२४।

कुह यान्ता सुष्टुतिं काव्यस्य दिवो नपाता वृषणा शयुत्रा।
हिरण्यस्येव कलशं निखातमुदूपथुर्दशमे अश्विनाऽहन्।

१।११७।१२।

हे अश्विद्वय! (स्रुवेण+सोमम्+इव) जैसे ऋत्विक् स्रुवा से लेकर सोमरस को ऊपर उठाता है। वैसे ही आप (रेभम्+उन्निन्यथुः) रेभ ऋषि को जल में से ऊपर उठा लेते हैं। कैसा वह रेभ है। (प्रवृक्तम्+उदनि+विप्रुतम्) बन्धुबान्धवों से परिवर्जित और जल में विप्लुत अर्थात् निमग्न। पुनः (अप्सु+अन्तः) जल

के मध्य (श्नथितम्) हिंसित और (दश+रात्रीः +नव+द्यून) १० रात्रि और ९ दिन लगातार जल के भीतर (अशिवेन+अवनद्धम्) अमंगलकारी दाम से बंध हुआ। २४। (अश्विना) हे अश्विद्वय! (निखातम्+हिरण्यस्य+कलशम्+इव) जैसे कोई विज्ञ पुरुष पृथिवी के अभ्यन्तर निखात सुवर्ण के कलश को जमीन के भीतर से ऊपर निकाले वैसे ही आप (दशमे+अहन्+उदूपथुः) दशवें दिन रेभ को जल के भीतर से निकाल बाहर करते हैं। हे अश्विद्वय! ऐसे परम विज्ञ आप (कुह) कहाँ रहते हैं आप सर्वदा (काव्यस्य+सु+स्तुतिम् यन्ता) काव्य की सुन्दर-सुन्दर स्तुति को लक्ष्य कर गमन करते हैं (दिवोनपाता) द्योतमान सूर्य के पुत्र हैं। (वृषणा) सुखवर्षा करने हारे और (शयुत्रा) बालकों के रक्षक हैं।

व्याकरणादिः—अशिव=अमंगलप्रद दाम, रज्जु, रस्सी। द्यून=दिन, निघण्टु १। ९। यहाँ द्यु नाम दिन का है परन्तु वेद में द्यु का द्युन बन जाता है। अनबद्ध=णह बन्धने। श्नथित=श्नथ हिंसार्थः। विप्रुत=प्रुङ्गतौ। उदनि=जल में। (उदक=उदन्) दिवोनपाता=द्योतमानस्य सूर्यस्यपुत्रौ। उदूपथुः=उन्नीतवन्तौ, शयुत्रा=शिशु, शयु ये दोनों एकार्थक है। शयुं शिशुंत्रायेते यौ तौ शयुत्रौ। विभक्ति के लोप, सु, या, आदिक जो वैदिक प्रक्रियायें हैं। उन्हें यहाँ नहीं लिखते। क्योंकि ग्रन्थ विस्तार बहुत हो जायेगा।

याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे। याभिःकण्वं प्र सिषासन्तमावतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम १। ११२। ५।

हे अश्विदेवते! (याभिः) जिन रक्षाओं से आप (निवृतम्) कूप में पातित (सितम्) पाशों से बद्ध (रेभम्) रेभ को (स्वदृशे) सांसारिक सुख को दिखलाने के हेतु (अद्भ्यः ऐरयतम्) जलों से निकाल बाहर करते हैं (उत्+वन्दनम्) और वन्दन को और (याभिः) जिन रक्षाओं से (प्र+सिषासन्तम्) आलोक देखने की इच्छा करते हुए (कण्वम्) कण्व की (आवतम्) रक्षा करते हैं (ताभिः उ+ऊतिभिः) उन रक्षाओं से (अश्विनौ+सु+आगतम्) आप अच्छे प्रकार आवे आपका स्वागत हो। व्याकरण—रे=रेभृशब्दे रेभति स्तौतीति रेभः। निवृत=निवारित। सित=षिञबन्धने। वन्दन=वदि अभिवादनस्तुत्योः। वन्दते=स्तौतीतिवन्दनः स्वः=सूर्य निरु० २। १४। सिषासन्तम्=वनषण संभक्तौ। ५।

अश्व न गूढमश्विना दुरेवैऋषिं नरा वृषणा रेभमप्सु। सं तं रिणीथो विप्रुतं दंसोभिर्न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि १। ११७। ४॥ उद्वन्दनमैरतं दंसनाभिरुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभिः। निष्टौग्रयं पारयथः समुद्रात्

पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् १।११८।६। युवं ह रेभं वृषणा गुहां हित-मुदैरयन्तं ममृवांसमश्विना युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वतं चक्रथुः सप्तवध्रये१०।३९।९।

(गूढम्+अश्वम्+न) जैसे कोई छिपाए हुए अश्व को दुर्गम स्थान से निकाल बाहर करे वैसे ही आप (नरा+वृषणा) हे नेता! हे कामवर्षक! अश्विद्वय! (दुरेवैः) दुष्ट कर्मों से (अप्सु+गूढम्) जल में पातित और छिपाए हुए (विप्रुतम्+तम् +रेभम्+ऋषिम्) उस विप्लुत रेभ ऋषि को अर्थात स्तुति पाठक प्राण ऋषि को (दंसोभिः+सम्+रिणीथः) निकाल कर सुन्दर बना देते हैं। हे देव! (वाम्+पूर्व्या+कृतानि+न+जीर्यति) आप के चिरन्तन कर्म भी जीर्ण नहीं होते हैं।४। (दस्रा+वृषणा) हे दस्र! हे वृषण! आप (दंसानाभिः+वन्दनम्+ऊद्+ऐरतम्) आश्चर्यजनक कर्मों से वन्दन ऋषि को कूप से निकालते हैं। (शचीभिः+उत+रेभम्) और कर्मों से रेभ का उद्धार करते हैं (तौग्रयम्+समुद्रात्+निष्पारयेथः) तुग्रपुत्र भुज्य को समुद्र से पार कर देते हैं। (च्यवानम्+पुनः+युवानम्+चक्रथुः) और च्यवान को पुनः युवा बनाते है।६। (वृषणा+अश्विना) हे वृषण! हे अश्विद्वय! (गुहा+हितम्+ममृवांसम्+रेभम्+ह+युवम्+उदैरयतम्) गुहास्थापित और म्रियमाण रेभ का आप दोनों उद्धार करते हैं और (युवम्+उत्+अत्रेय+तप्तम्+ऋबीसम्+ओमन्वन्तम्+चक्रथुः) आप अत्रि के लिए संतप्त अग्नि कुण्ड वा अग्निगृह को शीतल कर देते हैं (सप्तवध्रये) पुनः सप्तवध्रि को मंजूषा से निकाल बाहर करते हैं।९। इत्यादि अनेक ऋचाओं में रेभ की चर्चा आती है।

आशय—रेभ सम्बन्धी अनेक ऋचाएँ यहाँ उद्धृत कर दी हैं इनमें मानव अनित्य इतिहास का गन्धमात्र भी नहीं है। स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक नित्य इतिहास में कोई-कोई ऐसी विलक्षण और अलौकिक बात रहती है कि जिस पर ध्यान देने से शीघ्र सत्यार्थ का पता लग जाता है। इसमें १० रात्रि और ९ दिन अथवा दशम दिन ये दो वाक्य गुप्तार्थ-प्रकाशक हैं। १।११६। २४ में "दशरात्रीः.....नव द्यून" और १।११७।१२। में "दशमे...अहन्" ये दो वाक्य आए हैं। अब विचार करना चाहिये "अश्विदेव रेभ को दशवें दिन जल में से बाहर निकालते हैं" इसका कौनसा विस्पष्ट आशय हो सकता है। निःसन्देह, यह अध्यात्म वर्णन है। यहाँ दश दिन शब्द से दशमास का ग्रहण है। ऐसे स्थल में दिन शब्द मासवाचक होता है। संख्या वाचक शब्द के निर्णय में इसको देखिये। रेभ=इस शब्द का प्राण अर्थ है। रेभति=स्तौतीति रेभो जीवात्मा। जो गर्भ स्थिति होने पर ईश्वर की स्तुति करे उसे रेभ कहते हैं।

रेभ शब्दार्थ ही स्तुति पाठक है। रेभ, जरिता, कारु, नद, स्तामु, कीरि, गौ, सूरि, नाद, छन्द, स्तुप, रुद्र, कृपण्यु, ये १३ त्रयोदश नाम स्तोता के हैं। निघण्टु ३।१६ में देखिए। यह जीव अपने कर्मवश हो गर्भ रूप जलाशय में आ गिरता है। यहाँ माता के उदर को ही अप, उदक, गुहा आदि शब्दों से पुकारा है। इस जीव का कर्म ही बन्धन, दाम, रज्जु है। यही कर्म रूप बन्धन, इस प्राण को बाँधकर गर्भ में रखता है। कालरूप महादेव ही इसको उस जलाशय से निकाल बाहर करता है। यहाँ जो दो उपमाएँ दी गई हैं कि जैसे अध्वर्यु सोमरस को स्रुवा से ऊपर और जैसे कोई विज्ञपुरुष पृथिवी के भीतर से सुवर्ण कलश को उखाड़े वैसे ही इस जीव को दशम वा नवम मास में यह कालदेव उदरवास से निकाल देते हैं। यही इनका महत्त्व है। अत: यह कालाधिष्टातृदेव अश्विद्वय परम स्तुत्य हैं। इस प्रकार यहाँ भाव विस्पष्ट है। न जाने इस सरल भाव को न विचार आचार्यों ने वैदिकार्थ को क्यों कलुषित कर दिया है। अतः सायणचार्य आदिक भाष्यकारों का अर्थ सर्वथा त्याज्य है।

शङ्का—यहाँ अवनद्ध, श्नथित, सित, ममृवान् आदि शब्द आए हैं। यह रेभ जल में गिरा हुआ है। बहुत क्लेश पा रहा है। अश्व के समान छिपा हुआ है। सुवर्ण कलश के समान इसको जल से ऊपर करते हैं। पुन: ''अश्वं न गूढ मश्विना दुरेवैः—ऋषि नरा वृषणा रेभमप्सु'' १।११७।४। इस में साक्षात् ऋषि शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसा विशद निरूपण है तब आप कैसे कह सकते हैं कि इसमें मानव इतिहास नहीं है? समाधान-सप्तवध्रि के उदाहरण में देखा है कि वहाँ भी ऋषि शब्द का प्रयोग है, परन्तु वहाँ विस्पष्ट सिद्ध है कि वहाँ गर्भस्थ जीव का ही वर्णन है। जिस कारण गर्भ में मानसिक प्रार्थना जीव किया करता है अत: ऋषि कहाता है और पूर्व में कह भी आए हैं कि ऋषि शब्द प्राणवाचक है। और गर्भनिवास एक स्वत: महाकारागार है अत: अवनद्ध आदिक शब्द आए हैं। मैं पूछता हूँ कि ''दश रात्रि और नव दिन'' अथवा ''दशम दिन'' ये शब्द क्या सूचित करते हैं? यदि कहा जाये कि ऋषि को किसी ने पानी में ९, १० दिन बाँध रखा हो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं ऐसा दण्ड लोक में होता है। नहीं। यह बात ठीक नहीं। क्योंकि नियम व्यवस्था को छोड़ अनियम की ओर जाना अच्छा नहीं। यहाँ नवम वा दशम मास में जन्म होना नियत है। अत: इसी का ग्रहण करना चाहिये। ''दशरात्रि'' और ''नव दिन'' ये शब्द रात्रि और दिन की पृथग्गणना करके दिए हैं और ''दशम दिन'' ये शब्द अहोरात्र को एक मान कर दिए गये। लोक में भी ऐसा प्रयोग होता है। यह दशमदिन शब्द ही शङ्का का निवारण कर देता है। आगे-

आगे के उदाहरण भी इसके पोषक होते जाएँगे।

शिक्षा—दुःख के पश्चात् अवश्य सुख प्राप्त होता है। दुःख के दिन बहुत नहीं होते हैं। जो अपने अपराध के लिए पश्चाताप करता है उसका अवश्य उद्धार होता है। महा क्लेश में भी व्याकुल न होके ईश्वर की शरण की चिन्ता रखनी चाहिये। कभी किसी क्लेश को दुरतिक्रम न समझना चाहिए। महासागर में भी डूबते हुए को बचा लेना ईश्वर के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे समय में भी धैर्य को न छोड़ ऋषिवत् ईश्वर की चिन्ता में परायण हो जाये। अपना अस्तित्व भूल अपने को ईश्वर के समीप समर्पित करदे। इत्यादि इससे शिक्षा प्राप्त होती है पुनः इन ऋचाओं में "सोममिव स्रुवेण" "हिरण्यस्येव कलशं निखातम्" "अश्वम् न गूढम्" ये तीन उपमाएँ दी गई हैं। इससे वेद का जीव विषय में कैसा आदर है, यह पता लगता है। सोम एक बहुत प्रिय वस्तु है। सुवर्ण एक सुन्दर शुद्ध और बहुमूल्य पदार्थ है। वेद इससे शिक्षा देता है कि जो कोई इस सोमवत् प्रिय जीवात्मा-वस्तु को बात-बात में मलिन किया करते हैं या अपने कर्मों से दूषित कर इसको दुःख में डालते हैं वे ही यथार्थ में आत्मघाती हैं। जैसे यज्ञ में सोम का बड़ा आदर करते हैं तद्वत् इस जीव का आदर करना चाहिये। शुभ कर्म में इसको लगा रखना ही इसका आदर है और दुष्कर्म में लगाना ही परम निरादर है। सुवर्णवत् जीवन को शुद्ध, दर्शनीय और बहुमूल्य बनावे। जैसे बलिष्ठ अश्व के द्वारा क़ठिन पन्थ को सहजतया काटते हैं बड़े-बड़े संग्राम जीतते हैं वैसे इस प्राण की सहायता से मनुष्य कठिन जीवन मार्ग को तै कर सकता है। इत्यादि गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन वेद भगवान करते हैं। इति

कूप-पति-वन्दन ऋषि

रेभ के साथ-साथ वन्दन की भी चर्चा आई है। "याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दन मैरयतं स्वर्दृशे" १।११२।५। पुनः "उद्वन्दन मैरयतं दंसनाभिः" १।११८।६। इनका अर्थ पूर्व लिख आया हूँ। इसके अतिरिक्त अन्यान्य ऋचाओं में भी सम्बन्ध पाया जाता है। यथा—

युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः। १। ११९।७। युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुः। १०।३९।८

(करण) हे कर्मकर्त्ता अश्विद्वय! (युवम्+जरण्यया+निर्ऋतम्वन्दनम्+सम्+इन्वथः) आप दोनों जरावस्था से गृहीत वन्दन ऋषि की पुनः मरम्मत करते हैं। (दस्रा+रथम्+न) हे दस्र! जैसे कोई जीर्ण रथ को पुनः अभिनव बनावे वैसे ही वन्दन की मरम्मत कर नूतन बनाते हैं।७। (युवम्+ऋश्यदात्+

वन्दनम्+उदूपथुः) आप दोनों कूप से वन्दन को निकाल बाहर करते हैं। ऋश्यद=कूप निघण्टु ३।२३।

वन्दन शब्दार्थ भी जीवात्मा ही है। ''वदि अभिवादनस्तुत्योः'' गर्भ में जो ईश्वर से प्रार्थना करे उस प्राण-विशिष्ट जीवात्मा को वन्दन कहते हैं। गर्भस्थान ही कूप है। इससे इस जीव का कालचक्र उद्धार करता है। यही जीव बद्ध होकर शरीर छोड़ पुनः जन्म ले के अभिनव बनता है। यद्यपि इसका शरीर ही वृद्ध वा युवा होता है स्वयं जीव सर्वदा समान रहता है। तथापि इस शरीरावस्था के कारण ही इसमें नवीनत्व आदि का आरोप होता है। अतः यहाँ वन्दनपद से भी कोई इतिहास सिद्ध नहीं होता। जो ईश्वर की वन्दना करेगा अवश्य महाविपत्ति से भी उसका उद्धार होगा। वह ईश्वर की कृपा से सदा अभिनव बना रहेगा। वन्दन के विषय में एक ऋचा बहुत ही उत्तम है। वह यह है—

सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम्।
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय १।११७।५।

(दस्रा+अश्विना) हे दर्शनीय! हे रोगनाशक अश्विद्वय! (न) जैसे (निर्ऋति+उपस्थे+सुषुप्वांसम्) पृथिवी के गोद में अथवा पाप के कोड में सोता हुआ कोई महापुरुष हो (न+तमसि+क्षियन्तम्) जैसे अन्धकार में निमग्न सूर्य हो (न+शुभे +दर्शतम्+रुक्मम्) जैसे शोभनार्थ-निर्मित और दर्शनीय कनक हो वैसे ही (निखातम्+वन्दनाय) कूप के आभ्यन्तर गाड़े हुए वन्दन ऋषि को आप (उद्+ऊपथुः) कूप से ऊपर उठा लाते हैं। वेद में न शब्द निषेध, उपमा, समुच्चय आदि अर्थों में आता है। वन्दनाय=द्वितीयार्थ में चतुर्थी है। निर्ऋति=पाप और पृथिवी।५।

रेभ के प्रकरण में लिख आया हूँ कि जीव के विषय में वेद का कैसा आदर है। यहाँ वन्दन की उपमा सूर्य और रुक्म से देते हैं। मनुष्य इस जीवात्मा के गुण से सर्वथा अनभिज्ञ है। आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपने को नहीं जानता। जैसे सूर्य समस्त अन्धकार को क्षणमात्र में विनष्ट कर देता है। और यह प्रकाशस्वरूप और तेजोमय है। पृथिवी पर विविध प्रकार से लाभ पहुँचाता है। तद्वत् यह जीवात्मा भी है। इसी आत्मा से सकल शास्त्र निकले हैं। इसी आत्मा से व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, ज्योतिष, छन्द और विविध काव्य निकले हैं। इसी से सहस्रशः कलाएँ निकली हैं। इसी से रेखागणित, बीजगणित, भूविद्या, सर्वभूतविद्या पदार्थविद्या, औषधविद्या, पर्वतविद्या, समुद्रविद्या, शरीर विद्या, पशुविद्या, मनोविज्ञान, भूगोल

विज्ञान, खगोल ज्ञान इत्यादि कहाँ तक गिनावें जो-जो विद्याएँ पहली हैं जो-जो अब हैं और जो-जो होंगी वे सब ही आत्मा से ही निकली हैं। यद्यपि यह आत्मा आकृति में बहुत छोटा है तथापि इसमें पृथिवी समा जाती है। इसमें सब समुद्र अवकाश पा लेते हैं। हिमालय पर्वत भी एक कोने में आ जाता है। इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणों का पता नहीं लगता है। हे मनुष्यों! यह आत्मा आश्चर्य, अद्भुत, महाद्भुत पदार्थ है इसको जितना बढ़ाओगे उतना ही बढ़ता जायेगा और इसको जितना छोटा करते जाओगे उतना छोटा होता जायेगा। इसी आत्मा में सारी विद्या छिपी हुई है। मनन करने से निकल आती है। देखो साक्षात् वेद भगवान् इसकी सूर्य और कनक से उपमा देते हैं। क्या कहीं सूर्य छिप सकता है? परन्तु मेघ हमारी दृष्टि से उसको वंचित कर देता है इसी प्रकार घोर पापरूप मेघ जब इस पर आक्रमण करता है तो आत्मा दुःखित हो काँपने लगता है। हे मनुष्यो! यह सुवर्णवत् बहुमूल्य और दर्शनीय वस्तु है। इसको व्यर्थ न फैंको। इससे सुवर्णवत् अपने को भूषित करो सौन्दर्य बढ़ाओ और इसी आत्मरूप सुवर्ण से परम धनाढ्य बनो। सूर्यवत् इसके द्वारा अज्ञानान्धकार को सर्वथा विनष्ट करो। पूर्वोक्त ऋचा के समान ही इस वक्ष्यमाण ऋचा पर भी विचार कीजिये।

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्।

यद्विद्वांसा निधिमिवापगूढमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय। १। ११६। ११।

(नरा+नासत्या) हे आरोग्यनेता! हे सत्यप्रिय देव! (वाम्+तत्+शंस्यम्+राध्यम्) आपका वह कर्म प्रशंसनीय और आराधनीय है पुनः (अभिष्टिमत्+वरूथम्) कल्याणयुक्त और वरणीय है। कौन वह कर्म है सो आगे कहते हैं। (विद्वांसा) जानते हुए आप (निधिम्+इव+अपगूढम्+वन्दनाय) गुप्तनिधि के समान अपगूढ़ वन्दन को (दर्शतात्+ऊपथुः) कूप से ऊपर उठा लेते हैं। (यत्) यह जो आपका आश्चर्य कर्म है। वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इति संक्षेपतः।

समुद्रपतित भुज्यु ऋषि का उद्धार

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः। त मूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः। १। ११६। ३। तिस्रः पक्ष स्त्रिरहाऽति व्रजद्भिर्नासत्या भुज्यु मूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारेत्रिभी रथैः शतपद्भिःषडश्वैः। ४। अनारम्भणे तदवीरयेथा मनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। ५।

(ममृवान्+कः+रयिम्+न) जैसे म्रियमण कोई पुरुष प्रिय सम्पत्ति को

त्यागे (तुग्रह:+भुज्युम्+उदमेधे+अव+अहा:) वैसे ही तुग्र नाम का राजा अपने प्रिय पुत्र भुज्यु को समुद्र में त्यागता है यह बात प्रसिद्ध है। (अश्विना+नौभि:+तम्+ऊहथु:) हे अश्विद्वय! आप उसको नौकाओं के द्वारा उस समुद्र से ले आते हैं। (आत्मन्वतीभि:+अन्तरिक्ष+प्रुद्भि:+अपोदकाभि:) जो नौकाएँ प्रयत्न और धैर्य से युक्त हैं। मानों जल के ऊपर-ऊपर अन्तरिक्ष में ही गमन करने हारी हैं और जिनमें जल प्रवेश नहीं हो सकता। ऐसी नौकाओं पर चढ़ाकर हे अश्विद्वय! आप समुद्र से उसको ले आते है। उदमेघ=समुद्र। उदकैर्मिह्यते सिच्यते इति उदमेघः समुद्रः। अहा:=ओहाकृत्यागे अन्तरिक्ष प्रुद्भि:=प्रुङ्गतै। ३। (नासत्या+भुज्युम्+त्रिभि:रथै:+ऊहथु:) हे नासत्य अश्विद्वय! आप भुज्यु को तीन रथों से ले आते हैं। वे कैसे रथ हैं (तिस्र:+पक्ष:+त्रि:+अहा+अतिव्रजद्भि:) तीन रात्रि और तीन दिन लगातार चलते हुए पुन: (पतङ्गैः) अत्यन्त गमनशील पुन: (शतपद्भि:+षडश्वै:) जिन रथों में १०० एक सौ पद अर्थात् चक्र हैं और ६ घोड़े हैं। रथों पर चढ़ा भुज्यु को कहाँ ले जाते हैं सो आगे कहते हैं (समुद्रस्य+धन्वन्+आर्द्रस्य+पारे) समुद्र के जलवर्जित स्थान में और आर्द्रीभूत समुद्र के पार ले जाते हैं। अर्थात् हे अश्विदेव! जिनमें १०० चक्र और ६ अश्व हैं जो लगातार तीन रात्रि और तीन दिन चलते ही रहते हैं ऐसे-ऐसे तीन रथों पर बैठाकर भुज्यु को समुद्र के पार कर देते हैं। पक्ष:=रात्रि। धन्वन्=जलवर्जित स्थान। ४। (अश्विना+अनारम्भणे+अनास्थाने+अग्रभणे+समुद्रे) हे अश्विद्वय! आलम्बनरहित, आस्थानरहित और हस्तग्राह्य-वृक्षादि-वर्जित जो समुद्र है उसमें आप (तत्+अवीरयेथाम्) उस परम वीरोचित कर्म को करते हैं (यद्+शतारित्राम्+नायम्+आंतस्थिवांसम्+भुज्युम्+अस्तम्+ऊहथु:) जो शतारित्रयुक्त नौका पर आराम से बैठे हुए भुज्यु को अपने गृह पर ले आते हैं। अवीरयेथाम्="शूरवीर विक्रान्तौ" अस्त=गृह। निघण्टु। ३। ४।

सायण प्रथम ऋचा के आरम्भ में इतिहास लिखते हैं—"अश्विदेव का प्रिय तुग्र नाम का कोई राजर्षि था। अन्य-अन्य द्वीपों में इसके अनेक शत्रु थे। उनसे यह बड़ा क्लेशित रहता था। इसने अपने पुत्र भुज्यु को सेना-सहित नौका पर बिठला उन शत्रुओं को वश करने के लिए भेजा। वह नौका बीच समुद्र में जाके प्रबल वायु के कारण टूट-टूट के डूब गई। भुज्यु उस समय अश्विदेव की स्तुति करने लगा। प्रसन्न होके अश्विदेव ने सेना-सहित उसको अपनी नौकाओं पर बिठला तीन दिन और तीन रात्रि में पिता के गृह पर पहुँचा दिया।" इन सबका आशय आगे दिखाऊँगा। इसमें वेदानुसार इतिहास कल्पित

नहीं है।

अजोहवी दश्विना तौग्रयो वां प्रोडहः समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्। निष्ट मूहथुः सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति। १। ११७। १५। ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथु रजोभिः। अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसोनिरुपस्थात। ६। ६२। ६

हे देव! (प्रौढः+समुद्रम्जगन्वान्+तौग्रयःअव्यथिः+वाम्+अजोहवीत्) पिता से प्रेषित समुद्र में प्राप्त अर्थात् समुद्र में डूबता हुआ तुग्रपुत्र भुज्यु, अव्यथितमन होके आपको पुकारता है (अश्विना+वृषणा+मनोजवसा सुयुजा+ रथेन+तम्+स्वस्ति+ऊहथुः) हे अश्विद्वय! हे वृषण! आप मनोवेग अश्वयुक्त रथ के द्वारा उसको कल्याण पूर्वक ले आते हैं। १५। (तुग्रस्य+सुनुम्+भुज्युम्+ भुजन्ता+ता) हे अश्विद्वय! तुग्र के पुत्र भुज्यु की रक्षा करते हुए वे आप (अरेणुभिः+रजोभिः) धूलिरहित मार्गो से (योजनेभिः+पतत्रिभिःविभिः) रथ युक्त पतनशील घोड़ों के द्वारा (अर्णसः+उपस्थात्) जल के समीप से (समुद्राद्+ अद्म्यः) समुद्ररूप जल से उस भुज्यु को निकाल बाहर करते हैं। ६।

इस प्रकार अनेक ऋचाओं में तौग्रय भुज्यु की चर्चा आती है। परन्तु सर्वत्र समुद्र कथा की ही विशेषता है। कहीं तो रथों, कहीं नौकाओं और कहीं घोड़ों पर चढ़ाकर ले आने की बात है। जैसा सायण प्रभृतियों ने लिखा है कि शत्रुओं के विजय के लिए अपने प्रिय पुत्र को तुग्र ने समुद्र में प्रेषित किया यह भाव मन्त्रों से प्रतीत नहीं होता। किन्तु आशय यह प्रतीत होता है कि जैसे म्रियमाण पुरुष को अवश्य ही धन त्यागना पड़ता है। वैसे ही किसी अपराधवश तुग्र को भी समुद्र में अपना प्रिय पुत्र त्यागना पड़ा। यह समुद्र में डूबने लगा। अश्विदेव ने इसका अनेक प्रकार से उद्धार किया।

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअपप्सरस स्तावानाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।

यजुः १८। ४२

इस मन्त्र में भी भुज्यु शब्द आया है। यहाँ यज्ञ के विशेषण में भुज्यु पद है। इसका पालनकर्त्ता यहाँ अर्थ है। भुज पालनाम्यवहारयोः।

आशय—इस आख्यायिका में भी कतिपय ऐसे विलक्षण अर्थ हैं जिनसे झट अध्यात्म अर्थ प्रतीत होने लगते हैं। वे ये हैं। १—तुग्र और भुज्यु ये दोनों नाम। २—त्रीन रात्रि और तीन दिन। ३—तीन रथ। ४—शत चक्र। ५—छह अश्व। ६—शतारित्र नौका। ७—पुत्र को समुद्र में त्यागना इत्यादि। १—तुग्र

यह नाम कर्म का है। जो न्याय करने में उग्र है। भुज्यु यह गुप्त नाम जीवात्मा का है। प्रत्यक्ष नाम भोक्ता है। भोक्ता और भुज्यु एकार्थक हैं। २—अथवा भुनक्ति आत्मानं पालयतीतिभुज्युरात्मां जो स्वयं पुरुषार्थ से अपनी रक्षा करे उस जीवात्मा का नाम भुज्यु है। २—अश्वि सूक्त में तीन शब्द के अधिक प्रयोग हैं। आगे उदाहरण देखिये। जैसे मास को शुक्ल कृष्ण पक्षों और रवि, सोम आदि सप्तकों में विभक्त करते हैं। तद्वत् त्रिक अर्थात् तीन-तीन अहोरात्रों में भी विभक्त कर सकते हैं। त्रिक में बहुत पदार्थ विभक्त हैं। तीन देव, तीन लोक, तीन सवन, त्रिविक्रम, त्र्यरुण, त्रिशिरा, तीन को ही ११ ग्यारह गुणा कर ३३ देव हैं इत्यादि। इसी प्रकार अहोरात्रात्मक काल को त्रिक में विभक्त किया है। अत: तीन दिन तीन रात्रि शब्द यहाँ आया है। ३—तीन रथ=यह शरीर ही तीन रथ है। कटि से नीचे एक रथ, कटि से ऊपर और गर्दन से नीचे दूसरा रथ, और गर्दन से ऊपर तीसरा रथ। अथवा भौतिक शरीर एक रथ, ऐन्द्रयिक शरीर दूसरा रथ, प्राणमय शरीर तीसरा रथ अथवा स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर, लिङ्ग शरीर इत्यादि तीन रथ जाने। ४—शतचक्र आयु के जो १०० एक सौ वर्ष हैं वे ही इन रथों के १०० चक्र हैं। ५—छह अश्वपञ्च-ज्ञानेन्द्रिय और षष्ठ मन ये ही इन रथों में छह घोड़े जोते हुए हैं। ६—यह शरीर ही रथ है। यही नौका है। जिसमें शतवर्ष-परिमित आयु का एक वर्ष ही एक-एक चक्र और अरित्र है। यहाँ समुद्र और भूमि दोनों का निरूपण है, इस कारण शरीर की उपमा रथ और नौका दोनों से दी गई है। ७—माता का गर्भ स्थान ही यहाँ महासमुद्र है। यही निरालम्ब और निराश्रय है। कर्मरूप पिता जीव को इसी में त्याग देता है। अब सम्पूर्ण का भाव यह है कि यह जीव इस संसार में आते हैं यह प्रत्यक्ष है। आस्तिकों का सिद्धान्त है कि शरीर से भिन्न परम सूक्ष्म जीव नाम का कोई पदार्थ है। यद्यपि शरीर रहित केवल चेतन जीव का अनुभव हम नहीं कर सकते अथवा इसका ज्ञान हम लोगों को नहीं हो सकता तथापि ईश्वर के राज्य में केवल चेतन जीव भी कहीं किसी अवस्था में अवश्य रहते होंगे। ये शुद्ध जीव इस विविध शरीर में क्यों आते हैं। इसका उत्तर केवल यह है कि कर्म ही इसका कारण है। आप प्रथम अपनी ओर देखें। कभी आप चाहते हैं कि इस सम्पूर्ण पृथिवी की मैं परिक्रमा करूँ, कभी समुद्र के अथाह जल में घूम-घूम कर जल जीवों की लीला देखूँ, कभी आकाश में उड़ कर इसका पूरा पता लूँ, कभी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में घूम-घूम कर सब लोक-लोकान्तर देखा करूँ। आह ! मनुष्य की क्या-क्या अभिलाषा नहीं होती। यह जीव नाना अभिलाषाओं से युक्त हो नाना देश देशान्तरों, नाना

लोक-लोकान्तरों, नाना योनियों में घूमा करता है। अपने-अपने कर्म के अनुसार जो जीवात्मा जैसा उच्च रहता है। वैसा ही इसको लोक, योनि, स्थान सब कुछ मिल जाता है। इस भुज्यु के प्रकरण में अलंकार रूप से दिखलाते हैं कि इसका कर्म ही पिता है। क्योंकि यदि कर्म शेष न हो और किसी प्रकार की कामना भी न हो तो यह कहीं जा नहीं सकता। कर्म ही मानो, इसको उत्पन्न करता है। कर्म ही इसको इधर-उधर ले जाता है। यही इसकी रक्षा भी करता है। अतः कर्म ही इसका पिता है। जैसे म्रियमाण पुरुष प्रिय धन को त्यागता है। वैसे, मानो, यह कर्मरूप पिता इस प्रिय पुत्र को महासमुद्र में छोड़ देता है। वह महासमुद्र यहाँ कौन है ? मैं कह चुका हूँ कि अश्विसूक्त में गर्भवास का अधिक वर्णन है। अतः यहाँ माता का उदर ही महासागर है। यह जीव पिता से प्रेरित हो इन्द्रिय गणों को साथ ले इस महासमुद्र में आ गिरता है। हाय! अब यहाँ इसका कोई अवलम्ब नहीं। किस चीज को पकड़ कर यहाँ निवास करे। यहाँ कोई आश्रय नहीं। किसी का दर्शन नहीं। चारों तरफ ही निर्जन और शून्य। इस प्रकार इस उदर रूप समुद्र में आ डूबने लगता है। परन्तु ईश्वर की कृपा से इस जीव को अपने सब कर्म सूझने लगते हैं। उस समय ईश्वर की प्रार्थना करने लगता है। जैसे कोई बाह्य समुद्र में डूबता हुआ ईश्वर से प्रार्थना करे। ईश्वर का प्रबन्ध ही अहोरात्रात्मक अश्वि देव है। ये अश्विदेव, मानो, वहाँ आते हैं इसकी यह दशा देख इसको धैर्य देते हैं। और उस उदर में शरीर रूप एक नौका बना देते हैं। जिसमें आयु के १०० वर्ष ही अरित्र लगे हुए हैं। हे जीव! इसी नौका पर बैठ जाओ यही पार कर देगा। जब इससे निकलोगे तो यही रथ काम देगा। जिसमें १०० सौ वर्ष ही १०० चक्र हैं। और मन सहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय ही छह घोड़े हैं। इसी नौका और रथ पर चढ़ा के उदररूप और संसार रूप महासागर से इस जीव को ईश्वरीय प्रबन्ध पार उतार देता है। आप थोड़ी देर यह देखें कि जब यह जीव माता के उदर में आता है, तब शुद्ध चेतन स्वरूप ही रहता अर्थात् लिङ्ग शरीर को छोड़ अन्य शरीर इसका नहीं रहता। अथवा लिङ्ग शरीर भी नहीं रहता। उपाधि-शरीर इसका कोई नहीं रहता। जो इसका अपना स्वरूप है, उसी स्वरूप में रहता है। कर्म की प्रेरणा से यह जीव उदर में आ जाता है। यहाँ इसके लिए शरीर रूपी नौका अथवा रथ बनना आरम्भ होता है। नौ वा दश मास में तैयार हो जाता है। ईश्वरीय प्रबन्ध इसको इसी पर बैठा देता है और उस पर बैठा के प्रथम माता के गर्भ से बाहर ले आता है। पश्चात् यदि यह जीवात्मा अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विधिपूर्वक कर्म करता गया तो इस बाह्य संसार सागर से भी पार उतर पुनः

ईश्वर के निकट पहुँच जाता है अन्यथा इसी में गोता खाता रहता है।

परन्तु यह कल्याण और मंगल मार्ग किस जीव को प्राप्त हो सकता है ? नि:सन्देह, जिसका समय अनुकूल है उसी जीव का उद्धार होता रहता है। किस जीव का समय अनुकूल हो सकता है ? नि:सन्देह जो ईश्वरीय नियमों पर चलता है ? ईश्वरप्रदत्त आज्ञा का सदा पालन करता है। सर्वदा परमात्मा के नियमों से डरता रहता है। इसी कारण इस प्रकरण में नाम भी अन्यर्थ रखे गये हैं। जैसे रेभ=स्तुतिपाठक। वन्दन=जो सदा ईश्वर का अभिवादन और स्तुति करता रहता है। ''वदिअभिवादनस्तुत्योः'' सप्तवध्रि=वह यह जीव है जो ईश्वर से भयभीत होके प्रार्थना किया करता है। भुज्यु, कण्व, विपश्ला आदि नाम भी इसी भाव को दिखलाते हैं। यहाँ आप देखते हैं कि अश्विद्वय ही सबका उद्धार कर रहे हैं। अहोरात्रात्मक अथवा कालात्मक जो ईश्वरीय प्रबन्ध है, इसी का नाम अश्विद्वय है। प्रत्येक वस्तु के सुधरने बिगड़ने में अवश्य कुछ काल लगता है। जो जीव सदा इस अहोरात्रात्मक काल के तत्त्व जानने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् यह काल अपूर्व बहुमूल्य है। जो क्षण निरर्थक बीतेगा वह लाखों रुपयों में भी पुन: लौट कर नहीं आवेगा। अच्छे-अच्छे कार्य में ही इसको लगा रखना चाहिये। जप, ध्यान, अध्ययन, अध्यापन, परोपकार, परहितचिन्तन, परमार्थ में तत्परता आदि जितने शुभ कर्म हैं उनमें ही इसको लगाना चाहिये। आह ! जो अनभिज्ञ पुरुष इस समय को काम में लगाना नहीं जानते हैं वे क्या-क्या दुःख नहीं भोगते हैं। देखते हैं कि जो विचारशील बालक अपने समय को पूर्णतया पठन पाठन में लगा देता है उसकी कैसी उज्ज्वल कीर्ति देश में फैल जाती है। जो अहोरात्र परोपकार में ही लगा रहता है वह कैसा पूज्य बन जाता है। जो रात्रिन्दिवा न्याय और शुभ कामना से धन उपार्जन कर देश के हित कार्य में लगा देता है उससे उसका कैसा स्वच्छ यश विस्तृत होता है और कितनी सुविधाएँ और कितनी रक्षाएँ हो जाती हैं। सबसे बढ़कर जो सदा बिना भूले हुए बिना किसी त्रुटि के ईश्वरीय आज्ञाओं के एक-एक अक्षर के पालन करने में इस समय को लगाते हैं वे, नि:सन्देह अजर अमर हो जाते हैं। आह ! कैसा अज्ञान का महाप्रताप है कि देखकर भी मोह नहीं जाता। देखकर भी अच्छे कार्य में नहीं लग पाता। उन अज्ञानी, कामान्ध, धनान्ध पुरुषों को तनिक भी नहीं सूझता है कि वे अपने काल को व्यर्थ कार्यों में क्यों बिता देते हैं ? उन्हें यह नहीं सूझता कि कोटियों आते हैं और कोटियों बिना कुछ स्मारकचिह्न छोड़े जा रहे हैं और सौ वर्षो के आभ्यन्तर नई सृष्टि हो जाती है। पृथ्वी पर से झुण्ड के झुण्ड उठते जाते हैं।

उनका नाम भी अवशिष्ट नहीं रहता परन्तु दूसरी ओर जो कोई अपने इस अनर्घ समय को अच्छे काम में लगाते हैं उनके शरीर का विनाश होने पर भी वे कभी विस्मृत नहीं होते। उनकी पूजा होती है। उनके गुणों को गाते हैं। उनकी क्रियाओं से लाखों जीव उपकार उठाते रहते हैं। वसिष्ठ, विश्वामित्र, नारद, भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों को कौन नहीं स्मरण कर रहा है। पाणिनि, पंतञ्जलि, व्यास, गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनि, बुद्ध, जिन, शङ्कर, रामानुज, दयानन्द, ईसा, कबीर, नानक आदि महापुरुषों के गुणों को कौन पुरुष भूल सकता है ? मैं कहाँ तक उदाहरण बतलाऊँ आपके सामने शतशः पुरुषों के जीवन हैं। ये सब ही समय के तत्त्व को जानते थे, इसी कारण ये महापुरुष हुए हैं। अतएव वेद बारम्बार गाता है कि कालदेव ही सबका उद्धार करता है। इसको शुभ कर्म में लगा रखना ही इसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सेवा है। काल की परवाह न करना ही मृत्यु है। स्वयं काल इसको खा जाता है। परन्तु जो इसको भक्ति और विधि के अनुसार सेवते हैं, इसकी शुश्रुषा में लगे रहते हैं उनको यह काल नहीं खाता, यही वैदिक भाव है। प्रत्येक विद्वान् इसको विचारे। परन्तु जो लोग इस भाव को न समझ इसको यथार्थ इतिहास समझते हैं उनसे पूछना चाहिये कि किस अभिप्राय से तीन रथ, छह घोड़े, शत चक्र आदि का वर्णन आया है। क्यों नौका शतारित्रा कही गई है। बराबर तीन दिन तीन रात्रि क्यों रथ चलता रहता है ? निःसन्देह यह अध्यात्म वर्णन है। इस पक्ष में शतचक्रादि शब्द की सार्थकता भी होती है। अन्य भी इसका अर्थ हो सकता है जैसा कि महर्षि दयानन्द स्वामी ने किया है परन्तु यहाँ कोई अनित्य इतिहास की सिद्धि नहीं हो सकती। विचारशील पुरुष इसके गंभीराशय पर मीमांसा कर देखें कि वेद भगवान् ऐसी-ऐसी बातों से हम जीवों को कौनसी शिक्षा दे रहे हैं। इति।

अश्विसूक्त में त्रिशब्द

त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिःसुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम्। त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिःपृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्।४। त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुताऽवतं धियः। त्रिः सौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस्त्रिष्ठं वां सूरे दुहिताऽऽरुहद्रथम्।५। त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म्म वहतं शुभस्पती। ऋग् १।३४।६।

यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का ३४ चौंतीसवां सूक्त है। इसमें त्रिशब्द का अधिक पाठ है। तीन ऋचाएँ यहाँ उद्धृत हैं। हे अश्विद्वय ! (वर्तिः+अनुव्रते+

जने+त्रिः+यातम्) हमारे गृह में तीन बार और हमारे अनुव्रत पुरुषों के निकट तीन बार जाइये। (त्रिः+सुप्राव्ये+त्रिधा+इव+शिक्षतम्) तीन बार अच्छे प्रकार रक्षणीय स्थान में वर्तमान हम उपासकों को तीन बार प्रतिदिन शिक्षा दीजिये। (अश्विना+नान्द्यम्+त्रिः+वहतम्+अस्मे+पृक्षः त्रिः+पिन्वतम्) हे अश्विद्वय! सन्तोष का फल तीन बार पहुँचाइये। हमारे निकट विविध अन्न तीन बार दीजिये (अक्षरा+इव) जैसे मेघ जल बरसाता है। तद्वत् हम पर कल्याण की वृष्टि कीजिये।४। (अश्विना+युवम्+नः+त्रिः+रयिम्+वहतम्) हे अश्विद्वय। आप हमको तीन बार धन पहुँचावें। (देवताता+त्रिः+उत+धियम्+त्रिः+अवतम्) देवयज्ञ में आप तीन बार आवें और हमारी बुद्धि की दिन में तीन बार रक्षा करें (सौभागत्वम्+त्रिः+उत+श्रवांसि+त्रिः) हमको सौभाग्य तीन बार और यश तीन बार देवें। (सूरे+दुहिता+वाम्+त्रिष्ठम्+रथम्+आ+रुहत्) सूर्य की दुहिता आपके त्रिचक्रोपेत रथ पर आरूढ़ है।५। (अश्विना+दिव्यानी+भेषजा+नः+ त्रिः+दत्तम्) हे अश्विद्वय दिव्य औषध हमको तीन बार देवें (उ+पार्थिवानि+ अद्भ्यः+त्रिःदत्तम्) पार्थिव औषध भी तीन बार देवें और अन्तरिक्ष से भी औषध आन के हमको देवें। अद्भ्य०=आप नाम अन्तरिक्ष का भी है। (ममकाय+सूनवे+शंयोः ओमानम्+ वहतम्) हमारे सन्तान के लिए हे अश्विद्वय। कल्याण और सुख पहुँचाइये। (शुभस्पती+त्रिधातु+शर्म्म+वहतम्) हे शोभन पदार्थ रक्षक देव! त्रिधातु और शर्म्म दीजिये।६। इस प्रकार अश्विदेवता के साथ त्रि शब्द का अधिक पाठ है। "अतः तीन रात्रि और तीन दिन" शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण समय को त्रिक में विभक्त किया है यह जानना चाहिये। इति।

पेदु ऋषि को श्वेताश्व दान

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वति। तद्वां दात्रं महि कीर्त्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः १।११६।६

पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्। सहस्र-सां वाजिनमप्रतीतमहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम् १।११७।९

युवं श्वेतं पेदवे इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्। जोहूत्रमर्यो अभिभूतिमुग्रं सहस्रसां वृषणं वीड्वङ्गम् १।११८।९। युवं पेदवे पुरुवार-मश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। १। ११९। १०। युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाऽश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्। चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्। १०। ३९। १०।

(अश्विना+अघाश्वाय+यम्+श्वेतम्+अश्वम्+ददथुः) हे अश्विद्वय!

अघाश्व=जो घोड़े को न मारे उसे अघाश्व कहते हैं उस अघाश्व पेदु नामक ऋषि को जो श्वेत अश्व आप देते हैं (स्वस्ति+शश्वत्+इत्+चकार) वह उसका सदा ही कल्याण किया करता है। (वाम्+तद्+दात्रम्+महि+कीर्त्तेन्यम्+भूत) आपका वह दान बहुत बड़ा कीर्त्तनीय है। (पैद्वः+वाजी+सदम्+इद्+हव्यः+अर्य्यः) वह आपका दिया हुआ पदुका घोड़ा सदा ही पूज्य और ज्ञातव्य है।६। (अश्विना+पुरु+वर्पांसि+दधाना) हे अश्विद्वय! आप अनेक रूप धारण करने हारे हैं (पेदवे+आशुम्+अश्वम्+नि+ऊहयुः) आप पेदु के निकट शीघ्रगामी अश्व विशेष प्रयत्न से पहुँचाया करते हैं। वह अश्व कैसा है (सहस्रसाम्) सहस्रों प्रकार के धनों का विभागकर्त्ता (वाजिनम्+अप्रति+ इतम्) अति बलवान् और शत्रुओं से अप्राप्य (अहिहनम्) शत्रु विनाशक (श्रवस्यम्+तरुत्रम्) यशस्वी और तरिता अर्थात् खूब कूद कर चलने हारा। ऐसा अश्व आप पेदु को देते हैं। ९। (अश्विना+युवम्+पेदवे+श्वेतम्+अश्वम्+ अदत्तम्) हे अश्विद्वय! आप पेदु को एक सफेद घोड़ा देते हैं। पुनः वह कैसा है (इन्द्रजूतम्) इन्द्र अर्थात् विद्युत् समान गतिमान् (अहिहनम्+जोहूत्रम्) अन्धकार-हन्ता, अतिशय पूज्य (अर्य्यः) शत्रु का (अभिभूतिम्) अभिभावुक (उग्रम्+सहस्राम्+वृषणम्+वीड्वङ्गम्) उग्र, सहस्रों पदार्थों का दाता, आनन्द-वर्षक और दृढाङ्ग। ९। (अश्विना+युवम्+पेदवे+श्वेतम+दुवस्यथः) हे अश्विद्वय! आप पेदु को एक श्वेत अश्व देते हैं! वह घोड़ा पुनः कैसा है (पुरुवारम्) बहुतों द्वारा वरणीय (स्पृधाम्) संग्राम में स्पर्धमान शत्रुओं के मध्य से (तरुतारम्) पार उतर जाने हारा (शर्य्यैः+पृतनासु+दुस्तरम्) योद्धागण संग्रामों में जिसका पार पा नहीं सकते। (अभि+द्युम्) चारों तरफ देदीप्यमान, (चकृत्यम्) सर्व कार्य में प्रयोज्य और (इन्द्रम्+इव+चर्षणीसहम्) राजा के समान प्रजाओं की सब बात सहने हारा। १०। (अश्विना+युवम्+नवभिः+नवती+च वाजैः+श्वेतम्+अश्वम्+पेदवे+ददथुः) हे अश्विद्वय! आप ९० और ९ घोड़ों के साथ एक श्वेत अश्व पेदु को देते हैं। पुनः वह कैसा है (वाजिनम्) बलिष्ठ (चर्कृत्यम्) संग्राम में सब कार्य करने हारा (द्रावयत्सखम्) शत्रुओं के सखाओं को भी भगाने हारा (हव्यम्+मयोभुवम्) आहवनीय और सुखोत्पादक (न+नृभ्यः+भगम्) जैसे मनुष्यों को आप नाना भोग सामग्री देते हैं। तद्वत पेदु को ऐसा अद्भुत एक अश्व और पुनः ९९ घोड़े देते हैं। १०।

व्याकरणादि-अघाश्व=दात्र=अहन्तव्याश्व न हन्तुं योग्य अश्वः। दात्र=दान। महि=महपूज्याम्। कीर्तोन्य=कृत संशब्दने। पैद्व=पेदु सम्बन्धी। हव्य=ह्वेञ्स्पर्धीयाँ शब्देच ह्वेञ् से बना है=पुकारने योगय=स्तुत्य, पूज्य।

अर्य=ऋ गतौ+यत्। पुरु=बहुत। वर्प=रूप। निघण्टु। ३। ७। सहस्रसा=सहस्र+सा=षणुक्षाने। अहि+हन=अहि=मेघ, अज्ञान, अविद्या, सर्प, पाप आदि। तरुत्र=तृप्लवन-रणयोः। इन्द्र+जूत=जु इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः। जोहूत्र=ह्वेञ् धातु से यङ्लुगन्त। अर्य्यः=अरि शब्दका षष्ठी का रूप है। वीड्वङ्ग=वीडु=दृढ़। पुरुवार=पुरु=बहु, वार=वरणीय=स्वीकारणीय। स्पृधाम्=स्पृध संङ्घर्षे। तरुतृ तृप्लवनतरणयोः तृ+तृच्=उणादि से तरुतृ शब्द बन जाता है। शर्य्य योद्धा। पृतना=संग्राम। इति।

आशय—यह अश्विद्वय का कृपात्र पेदु कौन ?। जिसकी इतनी स्तुति वेद गाते हैं। वह श्वेत घोड़ा कौन है ? और इसके साथ अन्य ९९ अश्व कौन हैं ? वेद किसी महान् विषय के वर्णन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। ये माता, पिता, आचार्य के समान शिक्षा देते हैं। ये किसी असामान्य बात का निरूपण करते हैं। यदि इसी लोक-प्रसिद्ध अश्व का वर्णन यहाँ होता तो इसकी ऐसी महिमा नहीं गाई जाती। यह अश्व सामान्य पशु है। इसमें इतनी विशेषता नहीं जितनी वेद गाते हैं। पुनः यदि यही लोक-प्रसिद्ध अश्व होता तो यह अश्वी का दान परम प्रशंसनीय, परम स्तुत्य न माना जाता और १०० अश्वों के दान से देवता का कौनसा माहात्म्य है ? एक साधारण धनाढ्य १०० अश्व दान कर देता है। इन सब की विवेचना से प्रतीत होता है कि यह किसी विलक्षण और इससे भिन्न अश्व का वर्णन है। यहाँ पेदु को श्वेत अश्व देते हैं। जीवात्मा का वैदिक नाम पेदु है। ''पदगतौ'' गमनार्थक पद धातु से यह ''पेदु'' सिद्ध हुआ है। जो शुद्ध, पवित्र, निष्कलंक जीव सकल दुष्कर्मों से विमुख हो ऊपर-ऊपर को गमन करना चाहता है अर्थात् जो आत्मा अपने और दूसरों के उद्धार करने में सदा तत्पर रहता है, जो अपने और ईश्वरीय महत्त्व को संसार में प्रकट करना चाहता है और इस महान् कार्य के लिए प्रभु के निकट पहुँचता है, प्रभु से सहायता माँगता है ऐसे पवित्र जीव का नाम पेदु है। और ऐसे महापुरुष का शरीर ही श्वेत अश्व है। श्वेत शब्द शुद्ध, विशुद्ध, निष्कलंक अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस महान् आत्मा को शुद्ध पवित्र शरीर मिलता है। और इसके साथ ९९ अन्य अश्व भी मिलते हैं। इसका यह भाव है कि आयु १०० वर्षो की होती है। इन शत वर्षो से युक्त जो यह शरीर है यही, एक श्वेत अश्व है। और जो इसका एक-एक वर्ष है वे ही ९९ अश्व हैं। इसका भी आशय यह है कि एक-एक वर्ष युक्त शरीर एक-एक अश्व है। इस प्रकार यह शत अश्व हैं। मानो, कि प्रथम वर्ष का जो शरीर है वह दूसरे वर्ष का नहीं। जो दूसरे वर्ष का शरीर है वह तीसरे वर्ष का नहीं इसी प्रकार आगे-आगे समझो। यदि विचार

से देखा जाये तो गर्भावस्था से लेकर मरणावस्था तक प्रत्येक वर्ष में कुछ न कुछ भेद होता ही जाता है। अतः एक-एक वर्ष से युक्त शरीर एक-एक अश्व है। एक श्वेत अश्व का अधिक ऋचाओं में और ९९ अश्वों का केवल एक ऋचा में निरूपण है। अतः एक ही अश्व की मुख्यता है। इसी कारण इसी का अधिक निरूपण है। ९९ का भी अलंकार रूप से वर्णन कर दिया है। परन्तु गौण है अथवा इस शरीर में ९ द्वार हैं। इस ९ को ११ ग्यारह से गुणा कर ९९ कहा है। वेद की वर्णन करने की यह भी एक रीति है। संख्या प्रकरण में इस विषय को देखिये। आदित्य, वायु, अग्नि ये ही तीन मुख्य देव हैं। अतः ३ गुणा ११ तीन को ११ से गुणा कर ३३ बनाया है। ११ ग्यारह इन्द्रिय है और इनसे ही सब कार्य की सिद्धि होती है अतः ११ ग्यारह से प्रायः गुणा करते हैं। आगे भी इसके उदाहरण रहेंगे। इस अनेक भाव को दिखलाते हुए शरीर का ही यह वर्णन है यही स्थिर होता है। अब इस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

शिक्षा—ईश्वर से हम जो मांगेंगे यदि वह हमारा हितकारी है तो अवश्य मिलेगा। जैसे पिता पुत्र की आवश्यकता समझ स्वयं समय-समय पर उसको पूरा करता रहता है। अच्छे विज्ञानी पिता से माँगने की भी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं उसका ऐसा प्रबन्ध रहता है कि पुत्र को कभी माँगना नहीं पड़ता। इसी प्रकार अन्तर्यामी, महाज्ञानी, सर्वद्रष्टा परमात्मा का भी वैसा ही प्रबन्ध है। ज्ञानी से ज्ञानी पुरुष के प्रबन्ध में कभी-कभी त्रुटि हो जाती है परन्तु उस महान् प्रभु के प्रबन्ध में कभी लेशमात्र भी त्रुटि नहीं हो सकती। यही प्रबन्ध सबको सब पदार्थ पहुँचा रहा है। जब दुर्बल मनुष्य को कोई चीज ईश्वर की ओर से प्राप्त नहीं होती अथवा कोई विपत्ति आ जाती है तो परमपिता को वह उलहाना देने लगता है। वह यह नहीं समझता कि मुझको इस पदार्थ की आवश्यकता नहीं। यदि होती तो मिलती। और जो आपत्ति आती है। वह परमपिता दण्ड देता है। मनुष्य अपने जीवन के कर्मों पर दृष्टि डाले और ईश्वर के प्रबन्ध के तत्व समझें अन्यथा वह सदा दुःख में रहेगा। आलसी और अज्ञानी ईश्वरीय प्रबन्ध को नहीं समझते हैं अतः वे सदा दुःख में रहते हैं। यहाँ पेदु को श्वेत अश्व मिलता है। पेदु नाम ही है ज्ञानी गमनशील पुरुष का, जो चलने हारा है। आवश्यक है कि उसको पुष्ट दृढ़ाङ्ग अश्व मिलेगा। यथार्थ में पूछिये तो ईश्वर की ओर से दान में त्रुटि नहीं। प्रत्येक मनुष्य को श्वेत अश्व मिला है। परन्तु यह मनुष्य अपने अश्व को कृष्ण बना देता है। यही एक दुर्लभ अश्व है जो (सहस्र+सा) मनुष्य को सहस्रों प्रकार के धन दे रहा है। अतः सोचो तो जीव

इस मनुष्य शरीर से कितना आनन्द उठाता है। प्रथम जो गुण शरीर में नहीं है। वह भाषण शक्ति, मनुष्य शरीर में विद्यमान है जिस वाणी से प्रभु के गुण अच्छे प्रकार गा सकता है। इस वाणी द्वारा लाखों ईश्वर विमुख पुरुषों को सुपथ दिखला उद्धार कर सकता है जिससे परस्पर सुख दुःख निवेदन और समझा बुझा कर अनेक महान् कार्य हो रहे हैं। यदि विस्पष्ट वाणी नहीं होती तो यह मनुष्य का शरीर भी पशु के समान था। पुनः इस देह में ज्ञानरूप महासूर्य दिया हुआ है, जिससे मनुष्य अनन्त आनन्द भोगता है। मनुष्य-हरिण समान दौड़ नहीं सकता। विहगवत् आकाश में उड़कर देशान्तर नहीं जा सकता परन्तु बुद्धि से रेल और विमान पक्षी की अपेक्षा सहस्त्र गुणा उड़ता है। क्या बाईस्किल की गति हरिण रखता है, मोटर कार के साथ कोई पशु दौड़ सकता, क्या विमान के समान गति किसी पक्षी में है ? मनुष्य धूम नौका द्वारा मत्स्य से बढ़कर समुद्र की यात्रा कर लेता है। इस प्रकार इस शरीर से क्या-क्या अद्भुत परम सुन्दर, परमरमणीय, परममनोहर कार्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु हाय ! अज्ञानी पुरुष इस परम सुन्दर अश्व से क्या-क्या उलटा काम लेता है। कैसी भूल करता है। ईश्वरीय वाटिका को कैसा मलिन और कलुषित कर देता है। इस भूमि पर बड़े-बड़े महात्मा पुरुष आए। अज्ञानियों को बारम्बार चिता गये। परन्तु ये न चेते। अन्त में हाय ! हाय ! कर मर जाते हैं। मनुष्यो ! यह शरीर पुनः नहीं मिलेगा। एक ऋषि कहते हैं—"इह वेदवेदी दथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदन् महती विनष्टिः" देखिये वेद इस मानव शरीर को किस पवित्रता की दृष्टि से वर्णन करते हैं। वेद कहते हैं कि यह मानव-शरीर हव्य है अर्थात् स्तुत्य पूज्य है। इस शरीर की पूजा करनी चाहिये। अर्थात् जीवात्मा ऐसा शुभ कर्म करे कि इसको यह शरीर प्राप्त हो और प्राप्त होने पर इसका यथायोग्य सत्कार करे। पुनः कहा है कि यह "तरुता" है। अर्थात् इस शरीर से सहस्त्रों विघ्नों को नष्टकर दुःखमय सागर से पार उतर सकता है। पुनः कहा जाता है कि यह महान् दान है। कीर्त्तनीय दान है इत्यादि अनेक विशेषणों ये युक्त कर इस शरीर की गीतिका वेद गाते हैं। ऐसे परम पवित्र शरीर को परम अशुद्ध बना देता है। इसकी शुद्धि और अशुद्धि क्या है ? ईश्वर की आज्ञा पर चलना ही इसकी शुद्धि है और इसके विपरीत आचरण करना ही इसकी अशुद्धि है। पृथिवी पर बहुत आदमी बाह्य शुद्धि पर ध्यान रखते है परन्तु आन्तरिक शुद्धि को सर्वथा भूल जाते हैं। असत्य बोलते, पर द्रव्य हरण करते, अन्याय से देश लूटते, अन्याय से लाखों मनुष्यों पर अत्याचार करते हैं। अभिमान से ईश्वर के स्थान पर अपनी पूजा करवाने लगते हैं। अपने को इतना बड़ा समझते हैं कि

दूसरों के साथ भाषण करना भी अनुचित समझते हैं। महा अभिमान से सहस्त्रों को कुचलते रहते हैं इत्यादि ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सहस्त्रशः कार्य कर इस शरीर को दूषित कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यह शरीर इनसे छीन लिया जाता है और महा अन्धकार मय शरीर में ये फेंक दिए जाते हैं। अतः वेद भगवान् इन ऋचाओं और पेदु के उदाहरण द्वारा शिक्षा देता है कि हे मनुष्यो! तुम्हें मैंने उत्तम मानव शरीर दिया है। इससे सकल विघ्नों से पार उतर सकते हो। उतरो। मत भूलो। यदि इस बार चूकोगे तो फिर पता नहीं लगेगा। इति।

गोतम ऋषि को कूप की प्राप्ति

परावतं नासत्याऽनुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्त्राय तृष्यते गोतमस्य। १। ११६। ९।

(नासत्या) हे असत्यरहित अश्विद्वय (अवतम्+परा+अनुदेथाम्) आप गोतम ऋषि के निकट एक कूप=कूआ ले आते हैं और (उच्चबुध्नम्+जिह्मवारम्+चक्रथुः) उस कूप के तल भाग को ऊपर और मुख को नीचे कर देते हैं। अर्थात् गोतम की सुविधा के लिए कूप को उलटा स्थापित कर देते हैं ताकि सर्वदा उससे जल गिरता रहे। और (सहस्त्राय+राये) विविध सुख की प्राप्ति के लिए (आपः+न+तृष्यते+गोतमस्य+पायनाय+क्षरन्) और तृषित गोतम ऋषि के पान के लिए उससे जल गिरने लगता है। अवत=यह कूप का नाम है निघण्टु। ३। २३। उच्चाबुध्नः=बुध्न=मूल उच्चैरुपरिष्टाद् बुध्नोमूलंयस्यसः। जिह्मवारः=जिह्मं अधस्ताद्वर्त्तमानं तथावक्रं बारंद्वारंयस्यतथोक्तः (सायण) न=च=और। तृष्यते=षष्ट्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। ९।

यहाँ सायण यह आख्यान लिखते हैं-कदाचित् स्तुतिपाठक ऋषि गोतम किसी मरुभूमि में पड़ कर पिपासा से व्याकुल होने लगे। अश्विदेव को यह खबर लग गई। वे शीघ्र अन्यदेश से एक कूप को ही उखाड़ कर ऋषि के समीप ले आए और स्नान, पान के सौकर्य के लिए कूप को मुँह नीचे और जड़ ऊपर करके स्थापित कर दिया। अश्विदेव का यह महाप्रताप है।

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद् विभिदुर्वि पर्वतम्। धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे। १। ८५। १०। जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशाऽसिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे। आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः। ११।

(ते+मरुत+ओजसा+अवतम्+ऊर्ध्वम्+नुनुद्रे) वे मरुद्गण अपने बल से कूप को ऊपर-ऊपर ले चलते हैं। (दादृहाणम्+चिद्+विभिदुः) और मार्ग

में अवरोधकारक पर्वत को भी वो छिन्न-भिन्न कर देते हैं (वाणम्+धमन्त+महतः सोमस्य मदे+रण्यानि+चक्रिरे) और आकाश में वीणा बजाते हुए दानशील वे मरुद्‌गण पदार्थों के हर्ष के लिए विविध रमणीय वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं॥ १०॥ (तया+दिशा+अवतम्+जिह्मम्+नुनुद्रे) जिस दिशा में गोतम निवास करते हैं उस दिशा की ओर उस कूप को तिरछा प्रेरित करते हैं (तृष्णजे+गोतमाय+उत्सम्+असिञ्चन्) पिपासित गोतम के लिए जलप्रवाह सींचते हैं (चित्रभानवः+ईम्+अवसा+आगच्छन्ति) वे देदीप्यमान मरुद्‌गण इस ऋषि के समीप रक्षणार्थ आते हैं। (विप्रस्य+कामम्+धामभिः+तर्पयन्त) और उस विप्र गोतम की कामना को उपायों से तृप्त करते हैं॥ ११॥

आशय—इसका भी भाव विस्पष्ट है। जो ईश्वर के उपासक हैं। जो सांसारिक प्रलोभन से सदा दूर रहते हैं वे बड़े आनन्द में रहते हैं। ईश्वर की ओर से उनके लिए सदा आनन्द की वृष्टि होती रहती है। वह आनन्द ऊपर से आता है अर्थात् ईश्वर की ओर से आता है और सदा आनन्द सुधारस गिरता ही रहता है अतः वेद में कहा गया है कि कूप का तल भाग ऊपर और मुख नीचे हो जाता है। इस अर्थ में गोतम-शब्द स्तुति-पाठक वाचक है। रेभ, जरिता, कारु, नद, स्तामु, कीरि, गौ, सूरि, नाद, छन्द, स्तुप, रुद्र, कृपण्यु ये १३ त्रयोदश नाम स्तोता के हैं। निघण्टु ३। १६ ''अतिशयितः गौ र्गोतमः'' जो अतिशय स्तुति पाठक हो वह गोतम। निःसन्देह, जो ईश्वर की विभूति को जानते हैं और आनन्दरस के लिए लालयित हैं अवश्य यह काल उनके लिए आनन्द-रस ले आता है। इति। अथवा गोतम-पृथिवी पर के तृषित निखिल पदार्थ। ''गवि पृथिव्यां ताम्यति जलं कांक्षति सः गोतमः'' पृथिवी पर जो जल की कामना करे उसे गोतम कहते हैं अथवा गोतम नाम पृथिवी का ही है अथवा पृथिवी की आकांक्षा का नाम गोतम है। भाव यह है कि अश्वि-सूक्त में केवल मनुष्य जीवों के ही उद्धार का वर्णन नहीं किन्तु सब जीवों के उद्धार की वार्ता आई है। क्योंकि अश्विनाम ही अहोरात्रात्मक प्रबन्ध का है। काल ही, मानो, सब जीवों का प्रबन्ध करता है। जब वन के पशु और वनस्पति जल बिना मरने लगते हैं तो उस समय ईश्वरीय प्रबन्ध के अनुसार झटिति वर्षाऋतु आ जाती है और सब जीव पुनः जाग उठते है। यह अश्विदेव का ही प्रभाव है। इस अवस्था में मानिये कि यह मेघ ही कूप है। जिसका मूख तो पृथिवी की ओर नीचे है और जड़ ऊपर है। यह यथादृष्ट वर्णन है। हम देखते हैं कि मेघ ऊपर है परन्तु इसका जल नीचे गिरता है। अतएव इस गोतम का मरुत् से भी सम्बन्ध दिखलाया गया है। वीणा बजाते हुए मरुद्‌गण अपने बल से इस

मेघ रूप कूप को ऊपर-ऊपर ले चलते हैं और इस पृथिवी की ओर प्रेरित करते हैं भूमिस्थपदार्थ तृषित गोतम अर्थात् भूमि ऐसे मेघरूप कूप को पा के बड़े आनन्दित हो जाते हैं। इत्यादि इसका भाव है इससे कोई अनित्य इतिहास सिद्ध नहीं होता। इसी के समान शर ऋषि का भी वर्णन आता है वह यह है—

शरस्य चिदार्चत्कस्याऽवतादा नीचादुच्चा चक्रथुः
पातवे वाः। १। ११६। २२।

(आर्चत्कस्य+शरस्य+चित्) स्तुतिपाठक शरीर-विशिष्ट शरनाम जीवके (पातवे) पीने के लिए (नीचात् अवतात्) नीच कूप से (उच्चा+वाः+चक्रथु) जल को ऊपर ले आते हैं। वृक्षादि पदार्थों में रहने वाले जीवका नाम शर है। ईश्वरीय प्रबन्ध से इस जीव को पृथिवी के नीचे से पानी मिलता रहता है। जितने वृक्षादिक हैं वे अपने चरणों से पृथिवीस्थ जल को खींच-खींच के पीते रहते हैं अतः इन को पादप भी कहते हैं। अतएव ऋचा में कहा गया है कि पीने के लिए नीचे से ऊपर पानी आता है। इति।

अत्रि ऋषि की अग्नि से रक्षा। १४।

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनाऽवनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति। १। ११६। ८

(अश्विना) हे महाकाल! आप अत्रि की (घंसम्+अग्निम्) चारों ओर दीप्यमान अग्नि को (हिमेन+अवारयेथाम्) हिमवत् शीतल जल से निवारित करते हैं और (पितुमतीम्+अस्मै+अधत्तम्) अन्न युक्त रसात्मक बल पुनः इस में स्थापित करते हैं। पितु=अन्न निघण्टु २। ७ इस प्रकार हे भगवन्! आप (ऋबीसेअवनीतम्) प्रकाशरहित पीड़ा-गृह में अवपातित (अत्रिम्) अत्रि को (सर्वगणम्) परिवार-सहित (स्वति) कल्याणपूर्वक (उन्नियथुः) उद्धार करते हैं। इस ऋचा का अर्थ यास्काचार्य ने निरु० ६+३६ में इस प्रकार किया है। घ्रंस नाम दिन का है। निघण्टु। १। ९। अत्रि=पृथिवी पर के ओषधि वनस्पति आदि हविष को खाने हारा अग्नि। ऋबीस=अपगतभास, अपहृतभास अन्तर्हित-भास। अब सम्पूर्ण का यह अर्थ हुआ कि हे (अश्विनौ) अहोरात्रात्मक महाकाल! (अग्निम्+घ्रंसम्+हिमेन+अवारयेथाम्) अग्निवत् अतितीक्ष्ण निदाघ काल के दिन को शीतलवर्षा के जल से आप निर्धारित करते हैं। (अस्मै+पितुमतीम्+ऊर्जम् अधतम्) और इस अग्नि को अन्नमय बल देते हैं अर्थात् वृष्टि होने से विविध वनस्पति उत्पन्न होते हैं और मानो, ये ही अग्नि का बल बढ़ाने वाले होते हैं क्योंकि इन ही पदार्थों से अग्नि में खूब होम किया जाता है। (ऋबीसे+अवनीतम्) तेजरहित पृथिवी द्रव्य में ओषधियों के उत्पादन के

लिए स्थापित (अत्रिम्+सर्वागणं+स्वस्ति+उन्निन्ययुः) ओषधि वनस्पत्यादियों के भक्षक अग्नि को ब्रीहि आदि सर्वगण सहित कल्याण पूर्वक हे अश्विद्वय! आप ऊपर ले आते हैं। अर्थात् ओषधि वनस्पति आदिक में वर्तमान जो अग्नि उसको, मानो, ओषधियों के साथ-साथ ऊपर ले आते हैं।

इस ऋचा पर सायण यह इतिहास लिखते हैं-असुरगण अत्रि ऋषि को शतद्वार पीड़ागृह में बिठला तुषों को जला कष्ट देने लगे। ऋषि ने अपनी स्तुति से अश्विदेवता को प्रसन्न किया। वे पीड़ागृह में जा जल से अग्नि को निवारित कर अविकलेन्द्रि अत्रि को गणसहित कल्याण-पूर्वक निकाल लाए।

ऋषि नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रि मुञ्चथो गणेन। मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता। १। ११७। ३ युव-मत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्। ११८। ७। हिमेन घर्म्मं परितप्तमत्रये। १। ११९। ६।

(नरौ+वृषणा) हे नर! हे वृषण अश्विद्वय! आप (पाञ्चजन्यम्+ऋषिम्+अत्रिम्+गणेन+अंहसः—ऋबीसाद्+मुञ्चथः) पाञ्चजन्य=पञ्चज्ञानेन्द्रियों के हितसाधक ऋषि अत्रि को पुत्र-पौत्रादिकगण सहित पापरूप ऋबीस से मुक्त कर देते हैं। आप (मिनन्ता) शत्रुनिवारक हैं, (दस्योः+अशिवस्य+मायाः+अनुपूर्वम्+चोदयन्ता) पुनः उपक्षयकारी और अमङ्गल पुरुष की मायाओं को क्रमशः निवारक हैं॥ ३ ॥ (अश्विना+युवम्+तप्तम्अवनीताय+अत्रये+ओमानम्+ऊर्जम्+अधत्तम्) हे अश्विद्वय! आप तप्त गृह में पहुँचाए हुए अत्रि के लिए सुख कर रस पहुँचाया करते हैं।७। (अत्रये+परितप्तम्+घर्म्मम्+हिमेन) अत्रि के लिए परितप्त देदीप्यमान अग्नि को शीतल जल से निवारित करते हैं॥ ६।

इत्यादि अनेक ऋचाओं में अत्रि ऋषि की चर्चा देखते हैं। अश्वि-सूक्तों में दो तीन बातों पर ध्यान देने से अर्थ विस्पष्ट हो जायेगा। अत्रि के सम्बन्ध में तृप्त, घ्रंस, धर्म, ऋबीस और ऊर्ज, हिम, ओमा आदि शब्द आए हैं। यह अत्रि ऋबीस में लाए जाते हैं वहाँ यह सन्तप्त रहते हैं। पश्चात् शीतल जल से अश्विद्वय इन को तृप्त करते हैं इत्यादि। परितप्त कौन रहता है? उत्तर—जिसके माता पिता और आचार्य ये तीनों न हों। अथवा तीनों लोक में जिसके सहायक न हों। अथवा जिसकी शारीरिक, ऐन्द्रियकऔर मानसिक अवस्थाएँ बिगड़ी हुई हों। अथवा जिसकी आयु की तीनों अवस्थाएँ दुष्कर्मों में व्यतीत हुई हों। अथवा जिसके कायिक, वाचिक, मानसिक तीन कर्म दूषणीय हों वह अवश्य क्लेशरूप अग्नि से सदा दग्ध होता रहेगा। अत्रि का शब्दार्थ भी यही है। **"न त्रयोयस्यसोऽत्रिः"** जिस जीव को न माता से न पिता से और न आचार्य से

शिक्षा मिली उसकी यही दशा होती है। वह ऋबीस अर्थात् अपगतभास अर्थात् अन्धारयुक्त कोठरी में लाया जाता है। यह इसको दण्ड मिलता है। अज्ञानावस्था ही अन्धकार युक्त कोठरी है। वहाँ पुनः खान, पान आदि की सुविधा न होना ही, मानो, अग्नि में संतप्त होना है। जब इस प्रकार जीव क्लेशित होता है तो उस अवस्था में इस को कोई शरीरधारी सहायक नहीं सूझता है। वह अदृश्य शक्ति की ओर दौड़ता है और दुष्कर्म से निवृत्त होने लगता है। धीरे-धीरे ईश्वरीय प्रबन्ध स्वयं इसकी रक्षा कर देता है। इसके ऊपर सुख की वृष्टि होने लगती है। यह इसका भावार्थ है। अथवा यह भी गर्भ निवास-स्थान का ही निरूपण है। वह स्थान ऋबीस ही है। अपने दुष्कर्मरूप राक्षस इसको यहाँ ले आते हैं पश्चात् ही ईश्वरीय प्रबन्ध इसकी रक्षा करता है। अथवा "अद्‌भक्षणे" भक्षणार्थक अदधातु से अत्रि बना है। जैसा कि अन्य आचार्यों की भी सम्मति है जीव का अत्ता नाम बारम्बार आता है। अत्ता यह प्रत्यक्ष और अत्रि यह गुप्त नाम है। अत्रि इस नाम से और भी विशेषता है, वनस्पति, गेहूँ, जौ, चना, गुरूची आदि जो पदार्थ हैं वे अन्न नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें जो जीव निवास करे उस जीव वा प्राण समुदाय का नाम अत्रि है। पृथिवी पर देखते हैं कि ये वनस्पति ओषधियाँ सूर्य की थोड़ी ही गरमी से दग्ध होने लगती हैं। परन्तु प्राण इनमें भी निवास करते हैं। वे अति व्याकुल होने लगते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जब ये बिलकुल भस्म होने लगते हैं तो ईश्वर के प्रबन्ध से झटिति वर्षा ऋतु आ जाती है। पुनः वनस्पतियों में पूरा बल प्राप्त हो जाता है। प्राणों की रक्षा हो जाती है। यह वनस्पति-योनि अतिशय अन्धकारमय है अतः इसको ऋबीस अर्थात् अन्धकारमय कहा है। विशेष कर वृक्ष वनस्पति आदि में रहने वाला ही प्राण अत्रि नाम से पुकारा जाता है। इसमें एक और भी सुदृढ़तर प्रमाण मिलता है। वह यह है "कि अत्रये रातदुरेषु गातुपित" ७। ५७। ३। इस ऋचा में दिखलाया है कि जिनके सौ-सौ द्वार हों ऐसे अन्धकारमय गृहों में अत्रि फेंका गया है। शतद्वारवाले अन्धकारमय गृह वृक्ष, वनस्पति, गेहूँ, चने आदि ही हैं। इनमें जो प्राण निवास करते हैं उन्हें अत्रि कहिये अथवा जो इनमें अग्निशक्ति हैं उन्हें अत्रि कहिये, दोनों पक्ष संघटित होते हैं। अब जो ऋषि इस वनस्पति विद्या को अच्छे प्रकार जानते थे और वेदों द्वारा शिक्षा दिया करते थे वे ऋषि भी अत्रि नाम से पुकारे गये।

अथवा यास्ककृत अग्नि परक अर्थ है। किसी अर्थ का ग्रहण कीजिये इससे नित्य इतिहास सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद के सम्पूर्ण पञ्चम मण्डल के ऋषि अत्रि हैं। अतः पञ्चम मण्डल की स्तुति के समय अत्रि की चर्चा पुनः

करूँगा। इन्द्र सूक्त में भी अत्रि का वर्णन आता है। यहाँ केवल अश्विव-सूक्त सम्बन्धी दो एक विषय दिखला दिए गये हैं। परन्तु वृहद्‌देवता में जो कथा गढ़ी गई है वह सुनने के योग्य है। वह यह है:—

त्रिसाम्वत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत्सहितः साध्यैर्विश्वेदेवैः सहेति च। १।
तत्र वाग् दीक्षणीयाया माजगाम शरीरिणी।
तां दृष्ट्वां युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य च। २।
शुक्रं चस्कन्द तद्वायु रग्नौ प्रस्याद् यदृच्छया।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुं जज्ञेऽङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषि। ३।
प्रजापति सुतौ दृष्ट्वां तुष्टा वागभ्यभाषत।
आभ्यामृषिस्तृतीयोऽपि भवत्वत्रैव मे सुतः। ४।
प्रजापतिस्तथेत्याह भाषमाणां तु भारतीम्।
ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसम द्युति। ५।

एक समय साध्य और अश्विदेवों के साथ प्रजाकाम प्रजापति त्रैवार्षिक यज्ञ करने लगे। १। उस यज्ञ में वाग्देवी साक्षात् शरीर धारण कर उपस्थित हुई। इस देवी के रूप को देख प्रजापति और वरुण दोनों ही परम मोहित हो गये। २। और दोनों के शुक्र पृथिवी पर गिर गये। वायु देव वहाँ ही थे। झट इन्होंने उस शुक्र को उठा अग्नि में रख दिया। तब ज्वालाओं में से भृगु और अंगारों में से अङ्गिरा उत्पन्न हुए। ३। वाग्देवी दोनों पुत्रों को देख प्रजापति से बोली कि इन दोनों ऋषियों के साथ-साथ मुझे तृतीय पुत्र भी (अत्रैव) यहाँ ही दीजिये। ४। इस प्रकार प्रार्थन करती हुई वाग्देवी से प्रजापति ने कहा कि तथास्तु। तब वहाँ ही अत्रि ऋषि सूर्य के और अग्नि के समान जाज्वल्यमान उत्पन्न हुए।

यास्काचार्य ने और अन्यान्य ग्रन्थकारों ने समान ही कथा लिखी है—

अर्चिषि भृगुः सम्बभूव.......अङ्गारेसु अङ्गिराः। अत्रैव तृतीय मृच्छतेत्यूचु तस्मादत्रि र्न त्रय इति। निरुक्त। ३। १७।

मुझे बहुत ही शोक होता है कि इन आचार्यों ने वेद की एक बात भी सीधी नहीं लिखी। आश्चर्य-आश्चर्य और अश्लील-अश्लील कथाएँ लिख वेदों को भ्रष्ट कर दिया। इसी कारण वेदों पर से विश्वास जाता रहा। यहाँ "अत्रि" शब्द की काल्पनिक व्युत्पत्ति दिखलाने के लिए यह कथा गढ़ी गई है। अत्रि में अत्र शब्द है। यहाँ ही अन्य तीसरा भी पुत्र हो और हो भी गया इस

कारण इसका नाम अत्रि हुआ। वेदार्थदीपिका इसकी व्युत्पत्ति करता है "अत्र शब्दोऽस्यास्तीति अत्रिः" मालूम नहीं भारतवर्ष के लिए कैसा अन्धकारमय समय उपस्थित हुआ था जब ऐसे-ऐसे इतिहासों से लोग संतुष्ट हुआ करते थे। "अत्तीति अत्रिः" यह व्युत्पत्ति बहुत विस्पष्ट प्रतीत होती है। अथवा "न त्रयोऽस्य सन्तीति अत्रिः" ऐसी व्युत्पत्ति भी शंकाजनक नहीं प्रत्युत वेदार्थ के अनुकूल हो जाती है क्योंकि यह अत्रि अज्ञानता के कारण पीड़ित हैं। पीड़ित वे होते हैं जिन्हें माता, पिता, आचार्य से शिक्षा न मिली हो वैसे ही जीव वा प्राण इन अन्धकारमय औषधियों में उत्पन्न होते हैं। औषधि सम्बन्धी प्राणों का नाम ही यहाँ अत्रि है। जब-जब यह अत्रि व्याकुल होता है तब-तब इसकी पुकार सुनी जाती है। अतः कई ऋचाओं में कहा गया है कि हे भगवन्! जैसे अत्रि की पुकार सुनते हैं और जल से इन्हें तृप्त करते हैं वैसी मेरी प्रार्थना भी सुनिये। पूर्व में गोतम का उदाहरण दिखलाया गया है। गोतम शब्दार्थ भी मुख्तया पृथ्वीस्थ पदार्थ ही है। इसी प्रकार अत्रि शब्दार्थ वनस्पत्या-गत प्राण का है। यह भेद सदा स्मरण रखना चाहिये।

शयु की गौ को दुग्ध पूरण। १५।

शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम्। १। ११७। २२। अधेनुं दस्रा स्तर्य्यं विषक्तामपिन्वतं शयवे अश्विना गाम। १। ११७। २०। युवं धेनुं शयवे नाधितायाऽपिन्वतमश्विना पूर्व्याय। १। ११८। ८। अपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना। १०। ३९। २३।

(नासत्या+शचीभिः) हे नासत्य अश्विद्वय! आप अपने विविध कर्मों से (जसुरये) परिश्रान्त (शयवे) शयु ऋषि के लिए (स्तर्यम्+गाम्+पिप्यथुः) स्तरी गौ को दुग्ध से पूर्ण करते हैं। २२। (दस्रा+अश्विना) हे दुःख निवारक अश्विद्वय! आप (शयवे) शयु के लिए (वि+सक्ताम्) कृशावयवा (स्तर्य्यम्) स्तरी (अधेनुम्+गाम्+अपिन्वतम्) और दुग्ध न देने हारी गौ को दुग्ध से पूर्ण करते हैं। २०। (पूर्व्याय+नाधिताय+शयवे) पुरातन और प्रार्थना करते हुए शयु के लिए (अश्विना+युवम्+धेनुम्+अपिन्वतम्) हे अश्विद्वय! आप धेनु को दुग्ध पूर्ण करते हैं। ८। (अश्विना+शयवे+धेनुम्+अपिन्वतम्) हे अश्विद्वय! आप शयु के लिए धेनु को पूर्ण करते हैं। १३।[१]

---

१. दशस्यन्ता शयवे पिप्यथुर्गाम्। ६३। ७। वृकाय चिज्जसमानाय शक्त मुत श्रुतं शयवे हूयमाना। या वन्ध्यामपिन्वत मपोनस्तर्य्थं चिच्छक्त्-यश्विना शचीभिः। ७। ६। ८। ८ इत्यादि ऋचाओं में भी शयु की चर्चा है। अर्थ पूर्ववत् है।

व्याकरणादि प्रक्रिया। जसुरि=जसुहिंसायाम्। स्तरी=''स्तृ, ञ् आच्छादने'' आच्छादनार्थक स्तृ, धातु से औणादिक ई प्रत्यय करने पर स्तरी शब्द सिद्ध होता है। पिप्यथु:=प्यायी वृद्धौ पूर्व्य=पुरातन=पुराना।

आशय=इसका आशय बहुत विस्पष्ट है। सप्तवध्रि, रेभ आदि के उदाहरण से अब यह विषय विशद हो गया है कि अश्विदेवता जीवात्मा का उद्धार किया करते हैं। और अधिकांश में यह गर्भ निवासस्थान का वर्णन है। अत: यह भी पूर्व के समान ही है। दूध पीने हारे बच्चों के लिए जो ईश्वरीय प्रबन्ध है उसी का वह वर्णन है। देखिये। शयु और शिशु ये दोनों शब्द एक ही शी धातु से बने हैं। भू, मृ, शी, तॄ, द्व, चरि, त्सरि, तनि, धनि, मि, मश् जिभ्य:। इस उणादि सूत्र से ''शयु'' बनता है। शेते इति शयु बालक:। बालक का गुप्त नाम शयु और प्रत्यक्ष नाम शिशु है अथवा यों कहिये कि शिशु शब्द के प्रयोग लोक और वेद दोनों में है परन्तु शयु शब्द केवल वैदिक है। स्तरी=यह नाम माता का है। ''या स्तृणाति=या प्रेम्णा आच्छादयति सा स्तरी: माता'' जो प्रेम से अपने बच्चों को ढक ले उसे स्तरी कहते हैं। ''अवि तॄ, स्तृ-स्तृ, तन्त्रिभ्य ई:'' इस उणादि सूत्र से ई प्रत्यय होता है। शयु के विशेषण में तीन शब्द आए हैं। जसुरि, नाधित और पूर्व्य। शैशवावस्था में शिशु स्वयं कार्य करने में असमर्थ रहता अत: जसुरि अर्थात् परिश्रान्त, ईश्वर के ही आधार पर रहता है। अत: नाधित=प्रार्थना करने हारा और यह जीव बहुत ही पुरातन और ईश्वर का सखा है। अत: पूर्व्य कहाता है। अब अश्वि देवता शयु के लिए स्तरी गौ को दूध से पूर्ण करते हैं इसका भाव समझना कठिन नहीं। मातारूपा गौ को प्रथम से ही ईश्वरीय प्रबन्ध तैयार कर रखता है। जो पहले अधेनु थी वह धेनु बन जाती है। जिसमें दूध नहीं था अब दूध से पूर्ण शयु के निर्वाहार्थ आवश्यकता तक दूध देता ही जाता है। अत: बारम्बार ऋचाओं में कहा गया है कि कृशा और स्तरी गौ को शयु के लिए दूध से पूर्ण करते हैं। माता ही कृशा और अधेनु गौ है। शिशु के लिए इसी को ईश्वरी प्रबन्ध दूध से पूर्ण करता है। शयु शब्द के पाठ। १। ३१। २। शयु:=शयान: ३। ५५। ६। शयु: परस्तात् शयु:=शयान:। ४। १२। १२। शयुम्=शयनाम्। इत्यादि स्थल में सायण ने शयु शब्द अर्थ शयान किया है। जिस कारण बालक चल फिर नहीं सकता सोता ही रहता है अत: इसको शयु कहते हैं। शिशु का भी यही अर्थ है।

शयुत्र शब्द=ऋग्वेद में यह शयुत्र शब्द दो ही बार और अश्वि प्रकरण में ही आया है अन्यत्र नहीं। १। ११७। १२। में और १०। ४०। २। में शयुत्र शब्द पाठ है। ''शयुंत्रायेते इति शयुत्रौ अश्विनौ'' जो शयु की रक्षा करें वह शयुत्र।

ईदग् विशेषण अश्विदेव का कोई नहीं है। नासत्य भिषग्, दस्र, वृषण आदि अनेक विशेषण आए हैं परन्तु नाम के उद्देश्य से केवल यही शयु+त्र शब्द है। इसमें सन्देह नहीं कि यह शब्द अधिक गौरव प्रदर्शक है। क्योंकि माता के महान्धकार उदर में जीव की रक्षा का प्रबन्ध महा आश्चर्यजनक है एवं प्रथम से ही दुग्ध तैयार कर रखना यह भी अचिन्त्य ईश्वरीय प्रबन्ध है। अतः यह विशेषण विशेषरूप से आया है और इससे यह सिद्ध होता है कि यह बालक के प्रबन्ध का निरूपण है। इसी के समान मातरिश्वा शब्द भी है। ''मातरि मातृगर्भे यः श्वसिति स मातरिश्वा''।

शिक्षा—हे अविश्वासी मनुष्यो! देखो परमपिता का कैसा आश्चर्यजनक प्रबन्ध है। शयु अर्थात् प्रत्येक योनि के बच्चों को पालने का कैसा अलौकिक प्रबन्ध कर रखा है। पक्षियों को अपने बच्चों से कुछ लाभ नहीं पहुँचता। तथापि किस प्रेम से व किस अलौकिक बन्धन से बद्ध हो ये विहगगण अपने-अपने शावकों की रक्षा करते रहते हैं। जब कोई दुष्ट पुरुष वा अन्यान्य जीव इनके बच्चों पर आक्रमण करता है तो वे माताएँ अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इनकी रक्षा करना चाहती हैं। रक्षा न होने पर बहुत विलाप करती है। कई दिनों तक भूखी रह जाती हैं। व्याकुल हो-हो के रोदन करने लगती हैं। देखते हैं कि किस प्रकार ये विहग-माताएँ दाना चुग-चुग के अपने बच्चों को खिलाती हैं। इसी प्रकार का प्रायः सब शरीरों में शिशु के लिए स्नेह है। वानरी, गौ, भैंस आदि को देखिये। यदि ईश्वर इस प्रकार का इनमें प्रेम बन्धन स्थापित नहीं करता तो क्या कभी यह सृष्टि चल सकती थी? हे मनुष्यो! देखो इस उदाहरण से ईश्वर क्या शिक्षा देता है? असमर्थावस्था में और विपत्ति में अवश्य परमपिता रक्षा का प्रबन्ध करता है। आलसी जन इसका कुछ अन्य ही भाव लेते और ज्ञानी विज्ञानी कुछ अन्य आशय ग्रहण करते हैं। आलसी कहते हैं कि जो पिता हमको गर्भ में रक्षा करता है और पहले से ही दूध तैयार कर रखता है क्या वह परम पिता अब हमारी खबर नहीं लेगा? क्यों हम हाय! हाय! करें। क्यों हाथ पैर हिलावें उसी की सेवा क्यों न करें और क्यों बखेड़े में पड़ कर जीवन व्यतीत करें।

पंछी करे ना चाकरी अजगर करे न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाता राम।

पुनः भागवत् कहता है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासे र्वाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किंदुकूलैः ॥४॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाःपरभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्। रुद्धा गुहाःकिमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद् भजन्ति कवयो धन-दुर्म्मदान्धान् ४। भा० २। २

इत्यादि अनेक प्रमाण देके अपना अभिप्राय सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धन दुर्मदान्ध पुरुषों की कदापि सेवा न करे। अपने आत्मा को सदा के लिए पतित न बना दे। ईश्वर की सेवा अवश्य करें। परन्तु ईश्वर की सेवा कैसे करनी चाहिये। ईश्वर की सेवा क्या वस्तु है यह भी जानना चाहिये। क्या अहोरात्र ईश्वर-ईश्वर करना ही ईश्वर-सेवा है। नहीं। ईश्वर की सब आज्ञाओं का पालन करना ही ईश्वर-सेवा है। इस पर आगे विवेचना करेंगे। प्रस्तुत विषय यह है कि क्या इस दृष्टान्त से आलसी बनना सिद्ध होता है ? नहीं वे अज्ञानीजन परमपिता के अन्यान्य प्रबन्धों पर दृष्टि नहीं डालते। ऐ मनुष्यो! देखो यदि परमपिता की यही इच्छा होती तो मातृ-दूध के बाल्यावस्था के समान ही सब प्रबन्ध कर देता। परन्तु इसके विपरीत प्रबन्ध देखते हैं। इस शिशु का शरीर सर्वदा एक ही अवस्था में नहीं रहता। अब इसके सब अवयव पूर्वापेक्षा कार्यक्षम और सुदृढ़ होते लगते हैं! अब यह नयनविहीन पक्षरहित नहीं रहा। नयन खुल जाते हैं। पक्ष बढ़ने लगते हैं। आकाश में खूब उड़ने लगता है। अपना खाद्य स्वयं चुगने लगता है। यह दैनिक अंग वृद्धि अवश्य दशान्तर की सूचक है। ईश्वर का आश्चर्यजनक प्रबन्ध है कि इनमें स्वभाविक ऐसी एक शक्ति उत्पन्न होती है कि वह चुपचाप बैठ ही नहीं सकता बैठना ही उसे अच्छा नहीं लगता। आप देखते हैं कि छोटे-छोटे सुन्दर-सुन्दर पतंगे आकाश में बराबर नाचते रहते हैं। मधुमक्षिकाएँ अपने भन्-भन् शब्दों से और उड़ान से आकाश को भूषित करती रहती हैं। झिलियाँ रात्रि में भी अपनी गीतिका गाती ही रहती हैं। जब ये पडुकियाँ निश्चिन्त होके मध्याह्नकाल में वृक्षों की शाखा पर बैठ जाती हैं। तब भी वे अपने मनोहर गान से प्रकृति देवी को प्रसन्न करती हैं। इस प्रकार यदि देखेंगे तो मालूम होगा खगगण सम्पूर्ण दिन व्यवसाय करते ही रहते हैं। वही स्वाभाविक शक्ति है जो इनको बैठने ही नहीं देती। ये किस उद्देश्य से आकाश में नाचते दौड़ते घूमते गाते रहते हैं ? कोकिल किस उद्देश्य से प्रकृति देवी को प्रसन्न करती ? ये सब ही अकथनीय गाथाएँ हैं। यही दशा पशुओं में भी देखते हैं। जब तक इनकी आवश्यकता पूर्ण नहीं होती ये निश्चिन्त नहीं होते। जब तक ये असमर्थ थे तब तक इनकी वृत्ति पराधीन लगाई गई थी। परन्तु ज्योंही ये समर्थ हुए, पराधीन वृत्ति जाती रही, स्वयं अपने उदर-पूरण में लग जाते हैं और आश्चर्य यह है कि दूसरी

ओर माता का भी प्रेम न्यून होने लगता है। यहाँ तक कि वह अपने बच्चे को सर्वथा भूल जाती है। क्योंकि अब इसके स्मरण की आवश्यकता नहीं परन्तु इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि माता के दूध के समान ही ईश्वर अन्यान्य प्रबन्ध करके रखता है। भेद इतना ही है कि पिता ने जो अब अवयव दिए हैं उनको काम में लाने की आज्ञा देता है। जब यह शिशु असमर्थ था तब वैसा प्रबन्ध किया था अब हाथ और पैर सुदृढ़ हुए, इनसे काम लो, ज्ञान बढ़ा इससे कार्य करो, पर्यङ्क के ऊपर सोए मत रहो माता को ही क्लेश न पहुँचाते रहो। अब शरीरोपचय के साथ-साथ यह शिक्षा दे रहा है। इन बातों पर भी विचार करने से प्रतीत होता है कि मनुष्य आलसी होकर जीवन नहीं बिता सकता।

यदि मान लें कि पश्वादिवत् मनुष्य का भी कोई स्वाभाविक गुण और वैसा ही प्रबन्ध भी होना चाहिए तो इस अवस्था में भी पश्वादिवत् उदरपूरणार्थ इसको प्रयत्न करना ही पड़ेगा। कम से कम अपने भोजन के लिए इसको स्वयम् प्रबन्ध करना पड़ेगा और वही स्वाभाविक शक्ति इसको अपनी ठीक अवस्था में भी रखेगी। इसका शरीर कभी शिथिल होने नहीं पावेगा। परन्तु मनुष्य का क्या स्वाभाविक गुण है यह हम अब किसी साइन्स के द्वारा ठीक-ठीक पता नहीं लगा सकते और न उस अवस्था में हम प्राप्त ही हो सकते हैं। थोड़ी देर के लिए विचारिये क्या मनुष्य का पशुवत् नम्र रहना धर्म है ? क्या पशुवत् गृहादि से रहित हो कच्चे पदार्थ ही खाने का धर्म हैं ? ये किसी पदार्थ को पका कर न खाएँ ? क्या मनुष्य जाति व्याघ्रादिवत् मांस पर निर्भर रहे अथवा मृगादिवत् वनस्पतियों पर अथवा शुकादिवत् फलों पर ? क्या इनमें विवाह आदि की रीति न बँधे इत्यादि अनेक तर्क उठेंगे। और किसी वैसी बात की सिद्धि भी हो तो अब मनुष्य उस अवस्था में जाना नहीं चाहेगा। क्या सभ्य जाति अब नग्न रह कर जीवन बिताने के लिए तैयार है ? इस कारण इन संस्कारों को छोड़ वैदिक आज्ञाओं और ईश्वरीय नियमों की ओर ध्यान देकर निर्णय करें। ईश्वर की आज्ञा है कि मनुष्य में शिक्षा हो, वस्त्र पहनें, गृह बनावें, समय पर विधि पूर्वक विवाह करें, हिंसा न करें, द्रोह से बचें, उपकार करें, समाज संगठन करें, नित्य पिता की आज्ञा का पालन करें। उसके अनुसार चलें इत्यादि। अब ईश्वरीय नियम भी देखते हैं कि यदि कोई धनाढ्य पुरुष चाहे कि मैं हाथ पैर न हिलाऊँ और सब आनन्द भोगूँ तो यह नहीं हो सकता। प्रथम देखें कि यदि कोई विषयी चाहे कि मैं खूब रात दिन सोता ही रहूँ तो देखो ईश्वर का क्या प्रबन्ध है। उसको नींद ही न आवेगी। पाँच सात घण्टे सोने के पश्चात् उसे निद्रा देवी जवाब दे देगी। हाँ यदि पुनः वह कुछ शारीरिक

परिश्रम कर ले और कुछ खा पीले तो पुनः निद्रा आ जायेगी। इस प्रकार प्रथम आलसी पुरुष की निद्रा नष्ट हो जाती है। पश्चात् इससे नाना रोग उत्पन्न हो थोड़े ही दिन में मर जाता है। अतः शरीर की ही रक्षा के लिए प्रथम किसी प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता परमेश्वर ने लगा रखी है जिसके वश हो इसको अवश्य हाथ हिलाना पड़ता है। देखो! बालक निद्रा के अतिरिक्त किसी समय क्षणमात्र भी निरुद्यम नहीं रहता। हाथ पैर मारता ही रहता है। उनको जोर से फैंकता रहता है, जब पृथिवी पर खेलने योग्य होता है तो देखते हैं कि एक न एक खेल करता ही रहता है कभी वह निश्चेष्ट नहीं होता। दिनभर खेलता और खाता है। रात्रि आते ही सुख से सो जाता है। ऐसी गाढ़ निद्रा आती है कि उसे आग पानी की कुछ खबर नहीं होती। बाल्यावस्था तक स्वाभाविक धर्म इससे काम लेता रहता है। तत्पश्चात् शिक्षा के और समाज के आधीन हो तदानुसार चलने लगता है। प्रथम अनेक ग्रन्थ पढ़ना, गृहस्थ बनना, नाना कार्यों में प्रवेश कर जीवन बिताना। इस प्रकार देखें तो ईश्वर की आज्ञानुसार आलसी होके मनुष्य रह ही नहीं सकता।

जो इस शैशवावस्था से यह उदाहरण ग्रहण करते कि बालकवत् हमें कुछ सांसारिक कार्य नहीं करने चाहियें केवल ईश्वर-ईश्वर करते रहो वह कहीं न कहीं से आहार अवश्य भेजेगा तो वे इससे विपरीत उदाहरण क्यों नहीं ग्रहण करते जैसे जब तक दूध की आवश्यकता थी तब तक माता से दूध मिलता रहा, अब माता का दूध बन्द हो गया। अब किस प्रकार जीवेंगे? ईश्वर ने अब भी प्रबन्ध कर रखा है परन्तु वह प्रबन्ध परिश्रम साध्य है। दूध बन्द होते ही पशु घास खाने लगता है। मातृ स्नेह कम होते ही पक्षिशावक उड़ने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य अन्न खाने लगता है। यह अन्न परिश्रम के बिना नहीं मिलता। खेती करो या शिकार करो, या नौकरी करो या कोई व्यवसाय करो इन उपायों के बिना अन्न प्राप्त नहीं होता। इससे ईश्वर शिक्षा देता है कि हे मनुष्यो! अब तुम्हारी बाल्यावस्था जाती रही है उठो, संसार को देखो, अब तुम्हारे हाथ पैर सब अंग ठीक कर दिये इनसे काम लो। इस प्रकार इससे शिक्षा न लेकर विपरीत शिक्षा लेते हैं। देखते भी हैं कि विपरीत ग्राही इस लोक में सदा निन्दनीय रहते हैं और उनका जीवन पशुवत् रहता है। इति संक्षेपतः

च्यवन को यौवन और स्त्री दान। १६।

१ — जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्। प्रातिरतं जहितस्याऽऽयुर्दस्राऽऽदित् पतिमकृणुतं कनीनाम् १। ११६। १०।

२—युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानंचक्रथुः शचीभिः १। ११७।१३।

३—पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्।१।११८।६।

४—प्र च्यवानाज्जुजुरुषो वव्रिमत्कं नमुञ्चथः। युवा यदी कृथः पुनरा काममृण्वे वध्वः।५।७४।५।

५—उत त्यद्वां जुरते अश्विना भूच्च्यावानाय प्रतीत्यं हविर्दे। अधि यद्वर्प इतऊती धत्थः।७।६८।६।

६—युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तम्।७।७१।५।

७—युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।१०। ३९।४।

(नासत्या+दस्रा+उत+जुजुरुषः+च्यवानात्) हे नासत्य! हे दस्र और आप जराजीर्ण च्यवन से (वव्रिम्+प्र+अमुञ्चतम्+द्रापिम्+इव) वव्रि अर्थात् शरीर व्यापिनी जरावस्था को खोल कर दूर कर देते हैं। जैसे कवच को। अर्थात् जैसे पहने हुए कवच को कोई उतार कर रखे वैसे, मानो, आप परमवृद्ध च्यवान के शरीर पर से वृद्धावस्था रूपा कन्था को उतार लेते हैं पुनः (जहितस्य+आयुः+प्र+अतिरतम्) पुत्रादि रहित उसकी आयु को बढ़ा लेते हैं। (आत्+इत्कनीनाम्+पतिम्+अकृणुतम्) तत्पश्चात् ही उसको कन्याओं का वा युवतियों का पति बना देते हैं! व्याकरणादि०। जुजुरुषः=जृष् वयोहानौ+ क्वसुः। वव्रिम वृञ् वरणे+कि प्रत्यवः। जहितस्य=ओहाक्त्यागे+ कनीनाम्= रयेर्मतौ बहुल मिति वचनात् कन्याशब्दस्यात्र संप्रसारणम्। (सायणः) परन्तु युवन् शब्द से भी कनीन बनता है।

२—(अश्विना+युवम्+शचीभिः+जरन्तम्+च्यवानाम्+पुनः+युवानम्+ चक्रथुः)हे अश्विद्वय! आप अपने आश्चर्य कर्मों से जीर्ण च्यवान को पुनः युवा बनाते हैं।

३—(पुनः+च्यवानम्+युवानाम्+चक्रथ्थुः) पुनः च्यवान को युवा कर देते हैं।

४—(जुजुरुषः+च्यवानात्+वव्रिम्+अत्कम्+न+प्र+मुञ्चथः जीर्ण च्यवान से जरावस्था को कवच के समान खोल कर पृथक् कर देते हैं (यदि) और जब (युवा+कृथः) आप उसको युवा कर देते हैं तब (पुनः+वध्व+कामम्+आ+ ऋणवे)पुनः स्त्री योग्य कमनीयरूप को वह प्राप्त-प्राप्त होता है। न=इव जैसे, अत्क=कवच (ऋणवे=प्राप्तवान्)

५—(उत+अश्विना+वाम्+हविर्दे+जुरते+च्यवानाय) और भी आपके अनेक कर्म हैं हे अश्विद्वय! आप को हविष्य देने हारे जीर्ण च्यवान के लिए (त्यत्+प्रतीत्यम्+अभूत) वह प्रत्यागमन होता है अर्थात् उसके रूप का प्रत्यागमन होता है (यद्+वर्पः+इतः+ऊतिम्ः+अधि+धत्थः) जो रूप मृत्यु से बचा कर देते है।

६—(युवम्+जरसः+च्यवानम्+अमुमुक्तम्) हे अश्विद्वय! आप जरावस्था से च्यवान को छुड़ा लेते हैं।

७—(युवम्+चरथाय+यथा+रथम्+सनयम्+च्यवानम्) हे अश्विद्वय! गमनार्थ पुराने रथ के समान जीर्ण च्यवान ऋषि को (पुनः+युवानम्+तक्षथुः) पुनः युवा बना देते हैं। इति।

शङ्का=इन सब ऋचाओं में च्यवान की चर्चा आती है। क्या यह किसी एक व्यक्ति का इतिहास नहीं? क्या यह कोई आश्चर्यजनक कर्म है?। क्या यह सम्भव है कि वृद्धावस्था की हड्डियाँ, जीर्ण, शिथिल, श्लथ पकी हुई त्वचाएँ और रुधिर, मांस आदि सब पदार्थ किसी देवता के अनुग्रह से वा किसी ओषधविशेष से वा मन्त्र यन्त्रादिकों से सर्वथा बदल जाएँ और फिर वह पुरुष युवा ही बना रहेगा अथवा पुनः ईश्वरप्रदत्त आयु के समान ही वह क्षीण होते-होते वृद्ध हो जायेगा। यदि पुनः वृद्ध होना ही है तो इस कृपा से विशेष क्या लाभ हुआ? हां! एक यौवन के स्थान में दो अनर्थकारी यौवन मिले क्योंकि वेद में भी कहा है कि "पतिमकृणुतम्+कनीनाम्" उसको अनेक स्त्रियों का पति बनाते हैं। यदि भोग विलास के लिए ही यह वृद्ध से युवा बनाया जाता है तो सिद्ध होगा कि वेद अनर्थ फैलाते हैं और स्त्रियों को केवल भोग्य वस्तु और बहुत नीच समझते हैं क्योंकि अनेक स्त्रियों का एक पति होना इसके लिए प्रबल प्रमाण है। और वैदिक देवताओं के ऊपर भी यह महान् कलङ्क लगेगा कि ये कैसे देव हैं जो विषय वासनाओं की ओर विषयी को ले जाते हैं। फिर मैं नहीं समझता कि वेद ऐसी-ऐसी तुच्छ बातों का वर्णन कर क्या लाभ समझते हैं प्रत्युत इससे अनर्थ फैलने की ही संभावना है। कोई कहे कि इन ऋचाओं का यह आशय नहीं तो यह नहीं हो सकता क्योंकि शब्दार्थ बड़े ही विस्फुट और सुबोध हैं। और इसी के प्रायः अनुकूल शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्रा०, महाभारत, भागवत, निरुक्त आदिक ग्रन्थ भी हैं। पुनः कौन कह सकता है कि इन ऋचाओं का यह अर्थ नहीं है। इत्यादि अनेक संशय इस आख्यान से उत्पन्न होते हैं। अतः यथाशक्ति इसके तात्पर्य का निरूपण करूँगा।

उत्तर—प्रथम हमें विश्वास रखना चाहिये कि वेद भगवान् मनुष्य जाति के लाभ के लिए प्रवृत्त हुए हैं। अतः इसके कल्याण का ही उपदेश करेंगे। पूर्वगत अनेक निदर्शनों से सिद्ध है कि वेदों के सब उपदेश शिक्षाप्रद हैं और इनके गूढ़ आशय हैं। परन्तु इनके यथार्थ स्वरूप को कोई विद्वान् पहचानते नहीं। मैं पूर्व में लिख आया हूँ कि वेद मानव-स्वभाव के निरूपक हैं। यह किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं। यह आश्चर्यजनक जादू नहीं और न यह अनर्थ प्रदर्शक हैं। किन्तु जगत् में देखा जाता है कि कभी-कभी बड़ा पतित, बड़ा नीच, महान् अकिञ्चन, महामूर्ख और महादरिद्री पुरुष भी कालचक्र के प्रताप से वा अपने प्राक्तन जन्म के फल से परम शुद्ध, परम उच्च, महाधनाढ्य, महामहोपध्याय और सम्राट् बन जाता है। कालचक्र के इसी अज्ञेय बुद्धि-विस्मयकर प्रभाव का इन सम्पूर्ण ऋचाओं में वर्णन है। अन्य किसी विषय वासना आदि का नहीं क्योंकि वेद भगवान सदा उच्च बात का वर्णन करते हैं अर्थात् लोक दृष्टि में पतितावस्था से उन्नतावस्था में आने का ही यह वर्णन है अब इसी भाव को इस में देखिये:—

१—प्रथम सम्पूर्ण ऋचाओं से दो बातें निकलती हैं—क-वृद्ध से युवा होना और ख-अनेक युवतियों वा युवती का पति बनना। अब इन बातों पर विचार करने से आशय सुबोध हो जायेगा। च्यवन को ही वेद में च्यवान कहते हैं। ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। च्यु धातु से दोनों बनते हैं च्युत प्रच्युत, अच्युत आदि शब्द इसी धातु से बने हुए प्रसिद्ध हैं। अतः सिद्ध है कि पतित=गिरे हुए पुरुष का नाम च्यवन है। यह जीवात्मा आदि सृष्टि से अब तक अनेक प्रकार से गिरता ही चला आया है अतः इसका गुप्त वा अप्रसिद्ध वा वेद सिद्ध नाम च्यवान है और लोक में इसी को च्युत वा च्यवन कहेंगे। अतः लोक में ईश्वर को अच्युत कहते हैं क्योंकि यह गिरते नहीं। इसके विरुद्ध जीवात्मा च्युत कहाता है। महाभारत भी अपने इतिहास से इस शब्द की यही व्युत्पत्ति करता है। [१]अतः सिद्ध है कि च्यवन वा च्यवान का अर्थ पतित है इससे अणु मात्र सन्देह नहीं।

यह सिद्ध होने पर अब आप विचार सकते हैं कि पतित पुरुष की जरावस्था कौन सी है ?। जरावस्था का शब्दार्थ जीर्णवस्था है] परमवृद्ध का नाम जीर्ण है। इस अवस्था में कैसी शोचनीय और शिक्षाप्रद दशा होती है सब

---

१. रोषान्मातुश्च्युतः कृक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत्। तं दृष्ट्वामातुरुदराच्युत मादित्यवर्चसम्। तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम्। १। ६। १।

जानते हैं। शरीर की त्वचाएँ ढीली, कुरूप और पत्ते सामान कांपती रहती हैं। आँखे बैठ जाती हैं, नाक और भौंह सिकुड़ जाती हैं, कान अब शब्द ग्रहण नहीं करते। इनका रूप भयङ्कर हो जाता है। इनके समीप कोई बैठना भी नहीं चाहता क्योंकि ये अब अपनी वाणी से किसी को मोहित नहीं कर सकते। इनके हाव भाव से अब कोई सुप्रसन्न नहीं हो सकता। ये अब अपने पुरुषार्थ से एक बालक को भी वश में नहीं रख सकते। इनके शरीर की दशा देख किसको दया नहीं आती और सब ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! इस जीर्ण पुरुष को यदि आप इस पृथिवी पर से शीघ्र उठा लेवें तो अच्छा है। कौन पुरुष है जो अति वृद्धावस्था की अति शोचनीय दशा को नहीं जानता हो अतः इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। इसी जीर्णावस्था के समान पतित पुरुषों की दशा होती है। पतित पुरुषों की जीर्णवस्था दुष्कर्म, पाप, अपठन, अविद्धता, मूर्खता, [१]दरिद्रता, लोकनिन्दा, अप्रसिद्धि, हृदय-मालिन्य, समाज में निरादर, अधिकार की अप्राप्ति, समाज से बहिष्कार, कलंक अयश आदि अनेक वस्तुओं से समझी जाती हैं।

भारतवर्ष में धर्मशास्त्रानुसार जो मनुष्य २४ वर्ष तक भी गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए नहीं जाता था वह महापतित समझा जाता था। जीर्ण पुरुष के समान उस व्रात्य के निकट कोई बैठता नहीं था उसकी बात कोई सुनता नहीं था। उसको विवाहार्थ कन्या नहीं मिलती थी। किसी समाज के उत्सव का आनन्द वह भोग नहीं सकता था।[२] विषयाभिलाषी जीर्ण पुरुषवत् वह पतित पुरुष सब आनन्दों से रहित हो जाता था। भेद इतना ही है कि जीर्ण नर को ईश्वरीय प्रबन्ध ही सकल पवित्र सामाजिक आनन्द के भोग से पृथक् रखता है। परन्तु व्रात्य को सामाजिक प्रबन्ध पृथक् करता है। यदि देखा जाये तो दोनों की दशा तुल्य ही है। यह तो विद्याविहीन पुरुष की दशा का संक्षिप्त विवरण है। अब जो किसी प्रकार विद्वान् हो गये हैं परन्तु किसी प्राक्तन जन्म के कर्मवश वा कुसंगति से वा अपनी ही कुबुद्धि से लोक-विरुद्ध, वेद-विरुद्ध आप्ताचार-विरुद्ध कर्म में फँस जाते हैं उनकी भी जीर्ण पुरुष की सी गति होती

१. विद्यारत्नेन हीनोयः स हीनः सर्व वस्तुषु सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति। इत्यादि श्लोकों पर ध्यान दो।

२. आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात् क्षत्रवन्धो राचतुर्विंशतेविंशः। ३८। अतऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृतः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्य विगर्हिताः। ३९। नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्। व्रात्यात यौनांम सम्बन्धान्ना-चरेद्ब्राह्मणः सह। ४०। मनु०। २।

है। कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि यदि सुप्रसिद्ध पुरुष का कोई गुप्त पाप प्रकट हो गया है तो वह स्वयं आत्महत्या कर लेता है। अथवा ग्राम, नगर, देश छोड़ कर कहीं भाग जाता है। विष खा, कूप में डूब, फाँसी से अपने को मार देता है। क्या ऐसे दृष्टान्त आपको विदित नहीं। संसार देखिये क्या कोई कवि पाप की भयंकर गति का वर्णन कर सकता ?। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि, धृष्ट, निर्लज्ज, महामूर्ख महापशुबुद्धि पुरुष कितने ही दुष्कर्म करता जाये परन्तु ऐसे निर्लज्ज को पश्चाताप नहीं होता। परन्तु जो विवेकशील होने पर भी इन्द्रिय-परायण हैं और वे गुप्त-रीति से समाज-विरुद्ध वा धर्म विरुद्ध आचरण करते हैं तो ऐसे पुरुष के भेद खुल जाने पर परिणाम बड़ा बुरा होता है। पूर्वोक्त दशाओं के अतिरिक्त इनकी कोई अन्यगति नहीं होती। इसी प्रकार दरिद्रता रूपिणी जरावस्था आदि भी भयङ्कर है। समाज में इसकी प्रतिष्ठा नहीं होती, उच्च आसन नहीं मिलता, श्रीमान् के निकट बद्धाञ्जलि हो दासवत् खड़ा रहना पड़ता है। यदि कहीं ऋणी है तब तो मृत्यु के मुख में ही वह गिरा हुआ है। वह सांसारिक निखिल सुखों से वृद्ध के समान निवृत्त रहता है। फटे चिथरे, मलिन शत-छिद्र एक ही वस्त्र को पहिने हुए दरिद्री पुरुष को देखकर ही श्रीमान् घृणा करने लगते हैं, उसे बैठने को जगह नहीं देते। क्षुधा के मारे वह अपने आत्मा को गिरा देता है, सब के सामने दीन भाव से हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है, गिड़गिड़ा कर बोलने लगता है, बोली भी साफ नहीं निकलती, भयवश अवाक् हो जाता है, पुरुषार्थ रहने पर भी अपुरुष बन जाता। विचार कर देखिये क्या दरिद्रता जीर्णावस्था से कम दुःखदायिनी है ?

१ — यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्तास च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

इस प्रकार आप देखेंगे तो मालूम होगा कि यहाँ महादरिद्रता, मूर्खता, विवेक-विहीनता, समाज बहिष्कृतता व्रात्यता आदि अवस्था का ही नाम जीर्णवस्था है न कि इस भौतिक शरीर की जीर्णावस्था। महादरिद्रता से महाधनिक बन जाना, अतिकिञ्चनता से उद्योग करके राजा हो जाना। मूर्खता से विद्वान् का पद तक पहुँच जाना, अप्रसिद्धि से प्रसिद्धि को, अयश से यश को, मलिनता से स्वच्छता को, अधर्म से धर्म को प्राप्त होना इत्यादि अभ्युदय की ओर जाना ही यहाँ यौवनावस्था की प्राप्ति है। अर्थात् सांसारिक प्रतिकूलावस्था से अनुकूलावस्था की ओर आना ही वृद्धावस्था से युवावस्था में आना है। ऐसे उदाहरण सब काल में पाए जाते हैं। आज भी ऐसी-ऐसी घटनाएँ होती ही रहती हैं। अमेरिका फ्रांस आदिक देशों में कभी-कभी महादरिद्र पुरुष भी

राजा बन जाता है। नेपोलियन बोनापार्ट एक महादरिद्री का बालक था। अपने जीवन में कई देशों का राजा बना और राजकन्या से विवाह भी किया। इतिहास के द्वारा दिखलाया गया है कि रावण एक साधारण पुरुष का बालक था परन्तु त्रिलोकी नाथ बन गया।

भूतकाल के शतशः ऐसे इतिहास मिलेंगे। ऐतरेय दासी पुत्र थे परन्तु वे वेद के भाष्यकर्ता हुए। ऐलूष कवष, सत्यकाम जाबाल आदि सहस्रशः पुरुष पतितावस्था से उन्नतावस्था को प्राप्त हो परमपूज्य लोकमान्य हुए। क्या आज ऐसी घटना आप प्रतिदिन नहीं देख रहे हैं। भारतवर्ष में ही श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूदेव मुकुर्जी, नवलकिशोर, गङ्गाविष्णु आदि पुरुषों के चरित्र पढ़िये। हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द इत्यादि पुरुषों पर कालदेव का कैसा अनुग्रह हुआ।

यह महाकालदेव किसी गुप्त को जगद्विख्यात कर देते हैं। किसी महादरिद्री को लाखों धन दे सुवर्णो से भूषित कर मनोहर बना देते हैं। किसी कुरूप को विद्यारूपिणी सुन्दरी माला से भूषित कर कैसा मनमोहन रूप देते हैं। कभी-कभी काल के ही प्रताप से महापापिष्ठ पुरुष भी अपने दुष्कर्मों से निवृत्त और धर्मपरायण हो जगत् में प्रशंसनीय कार्य करने लगते हैं। इसी का नाम वृद्धावस्था में आता है। और कीर्ति, लक्ष्मी, सम्पत्ति, विद्या, बुद्धि मेधा, तुष्टि, पुष्टि, आत्मरति इत्यादि सम्पत्तियों की प्राप्ति करके ही मानो युवतियों वा युवती का स्वामी होना है। वेदों में रूपक बाँध कर प्रायः वर्णन किया जाता है। यहाँ विद्या, विभूति, कीर्ति, सम्पत्ति इत्यादि को ही स्त्री कहा है। क्योंकि स्त्री रत्न सब रत्नों में श्रेष्ठ है। अतः सम्पत्ति-सूचक युवती वा वधू शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल (१।११६।१०) में "कनीनाम्" और दूसरे स्थल में(५।७४।५) में एक वचन वधू शब्द आया है। युवन् शब्द से कनीन शब्द बन जाता है। अतः कनीनाम् इसका अर्थ "युवतीनाम् स्त्रीणाम्" है।

शङ्का—यहाँ लोक प्रसिद्ध अर्थ त्याग गौण अर्थ का ग्रहण करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। युवती, वा, वधू शब्द से विद्या, सम्पत्ति, बुद्धि, कीर्त्ति आदि का ग्रहण करना और प्रसिद्ध अर्थ न लेना कौन सी बुद्धिमत्ता की है? उत्तर। आगे मैं अनेक उदाहरणों से दिखलाऊँगा कि स्त्री शब्द विद्या, बुद्धि, आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। दूसरी बात यह कि पतित पुरुष की वृद्धावस्था में आने का जब यह भाव है कि पतितवस्था से उन्नतावस्था में जाना। तब यहाँ उन्नतिसूचक ही अर्थ लेना उचित और युक्ति युक्त होता है।

शङ्का—देवता के अनुग्रह से क्या कोई वृद्ध से युवा नहीं हो सकता?

समाधान-न। शरीर की ऐसी रचना है कि हड्डी त्वचा आदिक पदार्थ इसी अवस्था में बदल नहीं सकते। दूसरी बात यह है कि अश्विदेव कोई चेतन देव नहीं जो लोगों को औषध दे-दे युवा बनाया करें। अहोरात्मक काल का ही नाम अश्विद्वय है। तीसरी बात यह है कि यदि अश्विदेव, ईश्वर के दूत हैं तो ये नियमविरुद्ध कार्य क्यों कर करेंगे ? ईश्वर का नियम है कि वृद्ध से पुनः युवा नहीं होता और दरिद्र से धनिक, मूर्ख से विद्वान्, पापी से धार्मिक होना इत्यादि कार्य नियमविरुद्ध नहीं अतः यहाँ युवती शब्दार्थ विद्या, सम्पत्ति आदि हैं और उन्नति की ओर आना ही वृद्ध से युवा होना है।

अथवा लोक प्रसिद्ध युवती शब्दार्थ के ग्रहण करने में भी कोई क्षति नहीं। क्योंकि वेद कहते हैं कि ऐसा पतित पुरुष भी कभी-कभी महाकाल चक्र के अनुग्रह से स्त्रियों का पति बन जाता है। इसमें वेदों का कौनसा दोष है। क्या मनुष्यों में ऐसी स्वाभाविक घटना नहीं हुआ करती है। मैं बारम्बार कह आंया हूँ कि अश्विदेव नाम अहोरात्र का है। अहोरात्ररूप जो ईश्वरीय प्रबन्ध है यही अश्विदेव है। अब आप देखें कि पतित पुरुषों पर भी महाकालदेव का कैसा अन्धा अनुग्रह हो जाता है। इतिहास के द्वारा दिखलाया गया है कि रावण महापतित था परन्तु देवगन्धर्व-नाग-कन्याएँ शतशः इसकी सेवा में विद्यमान थीं। भौमासुर कितनी कन्याओं के साथ विलास करता था। क्या आज ऐसे पतित राजे महाराज धनाढ्य पुरुष नहीं हैं जिनकी आज्ञा में एक कन्या नहीं किन्तु सहस्रशः देश-देश की युवतियाँ दुःख भोग रही हों ? भारतवर्षीय राजाओं और धनियों को देखिये। मूर्तिमती यही दशा वहाँ खड़ी है क्यों! दरिद्रतारूपा जरावस्था वहाँ नहीं है। अतः राजधानी में एक पतित राजा के पीछे-पीछे सहस्रशः कमनीया युवतियाँ नाच रही हैं। यह कृपा किसकी है ? निःसन्देह कालचक्र की ही। कालचक्र के प्रताप से इसकी विभूति की ओर कोई अंगुली उठा नहीं सकता।

अब जो वेद के ऊपर बहुभार्यत्व का कलंक लगाते हैं वे स्थिरमन हो किञ्चित काल विचारें तो इस आख्यान से कौन सी बात निकलती है ? इसका पता लग जायेगा। क्या वेद आज्ञा देते हैं कि अनेक भार्याएँ कर लो ? नहीं। तो फिर वेदों पर पुनः-पुनः क्यों कलंक लगाते हो ? यदि कहो कि—

''पति मकृणुतं कनीनाम्''

यह ऋचा विस्पष्ट कहती है कि अश्विदेव च्यवन को अनेक युवतियों का पति बना देते हैं। यदि बात अनुचित होती तो देवता होके अश्विदेव च्यवन को क्यों कर अनेक कन्याओं का पति बनाना अच्छा समझते हैं। १—उत्तर ये

सब कुसंस्कार शब्दार्थों के और वेदार्थ के गूढाशय के न जानने से उत्पन्न हुए हैं। मैं दिखला चुका हूँ कि च्यवन नाम पतित पुरुष का है। वेद ईश्वरीय सृष्टि के वर्णनपरक हैं और अश्विव नाम कालचक्र का है। अब आप देखें कि क्या ईश्वर की सृष्टि में ऐसे पतित पुरुष नहीं हैं जो दरिद्रतारूपा वृद्धावस्था से विहीन होने के कारण मदान्ध हो अनेक युवतियों के पति बन रहे हों ? यदि वेद में अनेक स्त्रियों को विवाह कर लेने की आज्ञा होती अथवा किसी ऋषि वा देवताओं की अनेक भार्याएँ होना सिद्ध होता तो वेद कलंकित होते। परन्तु वेद तो यह कहते हैं कि कालचक्र च्यवन अर्थात् पतित पुरुष की वृद्धावस्था हटा उसे सुन्दर युवा बना स्त्रियों वा स्त्री का पति बना देता है। इतने कथन से तब वेदों पर दोष आता यदि ऐसी घटना संसार में न होती। वेद ईश्वर-सृष्टि की दशा का वर्णन करते हैं। इस सृष्टि में देखते हैं कि महापतित पुरुष है परन्तु दरिद्रारूपिणी वृद्धावस्था इसके निकट नहीं है। लाखों सम्पतियों का स्वामी बना हुआ है। अतः यह कैसा ही कुरूप क्यो न हो अन्ध, बधिर, मूक क्यों न हो। किन्तु, मानो, इसको युवा ही समझ के अनेक स्त्रियाँ उसकी सेवा कर रही हैं। धनरूप आकर्षक यौवन से वह किस स्त्री को अपनी ओर नहीं खींच लेता है। यह सब काल का ही प्रभाव है। अतः वेद भगवान् ऐसा वर्णन करते हैं इससे इनमें कोई कलङ्क नहीं लग सकता। समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता क्या है ?। आजकल भी उन्नतिशील पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि समय उसके अनुकूल है इसी प्रकार दरिद्री को देख कर कहते हैं कि समय इसके प्रतिकूल है। जब कोई पुरुष उसी ही ग्रामों, नगरों, और उनके ही समुदायों में से बहुत बढ़ जाता है तो साधारण पुरुष अवाक् हो कारण ढूँढ़ने लगते हैं। यह क्या आश्चर्य देवी घटना आ पड़ी। यह कल मेरे साथ खेलता था आज लोकपूज्य बन रहा है। मैं पूर्ववत् ही हूँ। इसका भेद उन्हें कुछ विदित नहीं होता। परन्तु ध्यान-पूर्वक विचारने की यह बात है। यदि वे इसकी उन्नति के कारण को अच्छे प्रकार ढूँढ़ें तो यही पता लगेगा कि यह अश्विव देवता का बड़ा उपासक है अतः यह उपासक भी महान् पुरुष बना है। कोई पुरुष अकस्मात् बड़े नहीं बन गये हैं। सब ही ने बड़े परिश्रम के साथ इस कालदेव की निरन्तर पूजा की है तब ही वे अनुगृहीत हो केवल सम्पत्तियों के स्वामी नहीं किन्तु अजर अमर हो गये हैं। महात्मा पुरुषों के चरित्र में देखा गया है कि ये अपने क्षणमात्र समय को भी व्यर्थ बीतने नहीं देते। ये समय को कभी नहीं भूलते। ये नियत समय पर उठेंगे, स्वाध्याय करेंगे, विचारेंगे लिखेंगे पढ़ेंगे, नियत समय पर लोक से मिलेंगे, उपदेश देंगे उनसे कुछ सीखेंगे या

उनको कुछ सुनावेंगे। यदि उनका कभी प्रातःकाल व्यर्थ बीत जाता तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होता और अपने को धिक्कारने लगते। इस प्रकार जो आदमी इस कालचक्र की सदा उपासना में लगा रहता है वह कैसा ही पतित क्यों न हो कभी न कभी महान् पुरुष बन जाता है। बुद्ध, शङ्कर, रामानुज, कबीर, नानक, मुहम्मद, ईसा, राममनोहर, दयानन्द, केशव आदि महापुरुष इसी प्रकार बने हैं। वे बड़े ही कालोपासक थे। जो कोई काल को बुरे काम में लगा देते हैं वे बुरे हो जाते हैं और जो इसको शुभ कर्म में लगाते हैं वे सदा शुभ बने रहते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा झुकाव नहीं होता है। सब कोई दयानन्द वा बुद्ध नहीं बनते। सब कोई कुछ न कुछ पढ़ता है, परन्तु पुनः पाणिनि कोई न हुआ। अब कोई तुलसीदास नहीं दीखता। यदि इस पर दृष्टि डालते हैं तो यही कहना पड़ता है कि कालदेव के पक्षपाती हैं अथवा पूर्वजन्म का ही संस्कार इसका परममित्र हो उसको उन्नति शिखर पर चढ़ा देता है। कौन निश्चय कर सकता है कि भविष्यत् में यही बात होगी। मनुष्य इस तत्व के जानने के लिए सदा तरसता ही रहेगा। हां साधारण-साधारण बात का पता जानना कठिन नहीं परन्तु जो महापुरुष की जीवनी में महान् परिवर्त्तन हो जाता है और इससे अद्भुत-अद्भुत बातें निकल आती हैं इस को कोई जान नहीं सकता। इसी प्रकार सारी घटना हैं। कौन भारतवासी जानता था कि यहाँ मुसलमान राज्य करेंगे और पीछे अंग्रेज आवेंगे। अंग्रेजों में कौन आदमी था जिसने पहले ही कहा हो कि भारत का शासन मेरे वंश के अधीन होगा। अतः ईश्वर पर विश्वास कर सदा अपने कल्याण और जगत् के हितकार्य में तत्पर रहना चाहिये। इत्यादि शिक्षा इससे प्राप्त होती है। इत्यलम्।

च्यवन की आख्यायिका।

यत्र वै भृगवो वा अङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकं समाश्नुवत। तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वा आङ्गिरसः तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे।१।शर्य्यातो ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार स तदेव प्रतिवेशो निविविशे। तस्य कुमाराः क्रीडन्त इमं जीर्णि कृत्यारूपमनर्थ्यं मन्यमानाः लोष्टैर्विपिपिषुः। २। स शर्य्यातिभ्यश्चुक्रोध। तेभ्योऽसंज्ञां चकार पितैव पुत्रेण युयुधे भ्राता भ्रात्रा। ३।शर्य्यातो ह वा ईक्षांचक्रे यत्किमकरं तस्मादिदमा पदीति स गोपालांश्च अविपालांश्च संह्वयितवा उवाच। ४। स होवाच को वोऽद्येहकिंचिद-द्राक्षीदिति। ते होचुः। पुरुष एवायं जीर्णिः कृत्यारूपः शेते। तमनर्थ्यं मन्यमानाः कुमारा लोष्टैर्व्यक्षिपन्निति। स विदांचकार स वै च्यवन इति। ५।स रथं युक्त्वा सुकन्यां शार्य्यातीमुपाधाय प्रसिष्यन्द स आजगाम यत्रर्षि

रास तत् ।६ । सहोवाच । ऋषे नमस्ते यन्नावेदिषं तेनांहिसिषम् । इयं सुकन्या तया तेऽपह्नुवे संजानीतां मे ग्राम इति । तस्य ह तत एव ग्रामः संजज्ञे । स ह तत एव शर्य्यातो मानव उद्युयुजे । नेदपरं हिनसानीनि । ७ । अश्विनौ ह वा इदं भिषज्यन्तौ चेरतुः । तौ सुकन्यामुपेयतुः । तस्यां मिथुन मीषाते । तन्न जज्ञो । ८ । तौ होचतुः । सुकन्ये कमिमं जीर्णि कृत्यारूषमुपशेषे । आवामनुप्रेहीति । सा होवाच । यस्मै मां पिताऽदात् नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति । तद्धायमृषिराजज्ञौ । ९ । स होवाच । सुकन्ये किं त्वैतद-वोचतामिति । तस्माएतद् व्याचचक्षे स ह व्याख्यात उवाच यदि त्वैतत् पुनब्रुर्वतः सा त्वं ब्रूतान्नवै सुसर्वा विवस्थो न सुसमृद्धाविव अथ मे पति निन्दथ इति । तौ यदि त्वा ब्रुवतः केनाव मसवौ स्वः केनाऽसंमृद्धाविति सा त्वं ब्रूतात् पतिं नु मे पुनर्युवाणं कुरुत मथ वां वक्ष्यामीति तां पुन-रुपेयतुस्तां हैतदेवोचतुः । १० । सा होवाच । न वै सुसर्वाविद स्थो न सुसमृद्धाविव अथ मे पति निन्दथ इति तौ होचतुः । केनाव मासर्वौ स्वः केनाऽसमृद्धाविति । सा होवाच । पति नु मे पुनर्गुवाणं कुरुतमथ वां वक्ष्यामीति । ११ । तौ होचतुः । एतं ह्रदयमभ्यवहर स येन वयसा कमिष्यते तेनोदैष्यते तेनोदेंष्यतीति तं ह्रदमभ्यवजहर स येन वयसा चकमे चकमे तेनादयाय । १२ । तौ होचतुः । सुकन्ये केनाव मसर्वौ स्वः केनाऽ-संमृद्धाविति । तौ हऽर्षिरेव प्रत्युवाच । कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते ते वां यज्ञादन्तर्यन्ति तेनासर्वौ स्थः तेनासंमृद्धाविति । तौ ह तत एवार्श्विनौप्रेयतुः तावाजग्मतुर्देवान् यज्ञं तन्वानान् स्तुते बहिष्पवमाने । १३ । तौ होचतुः । उप नौ ह्वयध्वमिति । ते ह देवा ऊचु र्न वामुपह्वयिष्यामहे बहु मनुष्येषु संसृष्ट मचारिष्टं भिषज्यन्ताविति । १४ । तौ होचतुः । विशीर्ष्णा वै यज्ञेन यजध्वमिति । कथं विशीर्ष्णेति । उप नु नौ ह्वयध्वमथ वो वक्ष्याव इति । तथेति । ताऽउपाहवन्त । ताभ्यामेतमाश्विनं ग्रहमगृह्ण स्ता वध्वर्य्यू यज्ञस्याभवताम् । तावेतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम् तददस्तद्दिवाकीर्त्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते यथा यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतुः.....१५ । तौ होचतुः । मुख्यौ वा आवां यज्ञस्य स्वः । इत्यादि । शतपथ ब्राह्मण । ४ । १ । ५

शतपथ ब्राह्मण ४ । १ । ५ में इस प्रकार च्यवन की आख्यायिका आती है । जब भृगु अथवा अङ्गिरा के सन्तान यहाँ से स्वर्ग को चले गये । तब यहाँ भार्गव वा आङ्गिरस च्यवन रह गया । यह अतिवृद्ध और कृत्यारूप अर्थात् रोगग्रस्त था । इसी समय मानव शर्यात राजा कुछ परिवारों के साथ विचर रहा था और एक दिन च्यवन के निकट आ गया । शर्यात के साथ अनेक कुमार भी

थे। खेलते कूदते हुए इन कुमारों ने इस जीर्ण और कृत्यारूप च्यवन को देखा। उन्होंने समझा कि यह कोई अनर्थकारी जीव है। इसको लोष्टों से मार देना चाहिये सो वे इसको ढेलों से मारपीट कर वहाँ से चल दिए। ये उन पर बड़े क्रुद्ध हुए और उनमें असंज्ञा फैल गई। पिता पुत्र से और भ्राता-भ्राता से लड़ने झगड़ने लगे। शर्यात बड़ा चकित होने लगा कि यह क्या हुआ। मैंने कौन-सा अपराध किया है जिससे यह उपद्रव हो रहा है। वहाँ गौवों और भेड़ों के चरवाहे गोपाल और अविपाल थे उन्हें बुलाकर पूछा कि तुम लोगों ने यहाँ किसी को देखा है। उन्होंने राजा से कहा कि यहाँ एक जीर्ण रोगग्रस्त पुरुष है उसको आपके कुमारों ने अनर्थजान ढेलों से मारा पीटा है। जिज्ञासा करने पर मालूम हुआ कि यह तो च्यवन ऋषि है। तब रथ जोत निज कन्या सुकन्या को उस पर बिठला वहाँ आया जहाँ ऋषि था और ऋषि से प्रार्थना की कि हे ऋषे! आपको नमस्कार हो। मैंने आपको न जाना इस कारण यह अपराध हो गया क्षमा कीजिये। इस मेरी सुकन्या को लेकर अपराध क्षमा कीजिये। और मेरे परिवारों में संज्ञा प्राप्त हो। ऋषि प्रसन्न हुआ और शर्याति के सन्तान सचेत हो गये। परन्तु फिर कहीं अपराध न हो जाये अत: राजा वहाँ से चल दिया। उसी समय चिकित्सा करते हुए अश्विदेव घूम रहे थे। इस सुकन्या को आश्रम में देख उससे प्रीति करना चाहा परन्तु सुकन्या ने स्वीकार नहीं किया। ये अश्विदेव बोले कि हे सुकन्ये! किस जीर्ण रोगी को तू सेवती है। हमारे साथ चल। सुकन्या बोली कि मेरे पिता ने मुझको जिसके अधिकार में रख दिया है जब तक वह है। जीवन भर उसको मैं नहीं छोडूँगी। इन दोनों की बातें ऋषि ने भी जान ली। उन्होंने कहा हे सुकन्ये! वह तुमसे क्या कह रहे थे। सुकन्या ने जैसा हुआ था कह सुनाया। तब ऋषि ने कहा कि यदि पुन: तुमसे वह ऐसा कहे तो तुम उनसे कहो कि आप न तो पूर्ण और न समृद्ध हैं तथापि मेरे पति की निन्दा करते हैं! यदि इस पर वह तुमसे कहें कि हम कैसे अपूर्ण और असमृद्ध हैं तब आप कहना कि मेरे पति को आप पुन: युवा बना दीजिये तब मैं कहूँगी। अश्विद्वय पुन: सुकन्या के निकट आए और पूर्ववत् उससे प्रीति करना चाहा परन्तु सुकन्या ने वह सब बातें सुनाई जो उसको सिखलाई गई थीं। तब अश्विद्वय ने कहा कि आप अपने पति को इस सरोवर में ले जाओ। वह जैसा वय:क्रम चाहेगा उसके साथ वह उससे निकलेगा सुकन्या पति को सरोवर में ले गई और उससे वह च्यवन युवा होकर निकला। तब वह अश्विद्वय बोले कि अब आप बतलाओ कि हम कैसे अपूर्ण असमृद्ध हैं। ऋषि ने स्वयं

इसका जवाब दिया। कुरुक्षेत्र में जहाँ देवगण यज्ञ कर रहे हैं उन्होंने यज्ञ से आपको निकाल दिया है। अतः आप असम्पूर्ण और असमृद्ध हैं। यह सुन वे वहाँ से चल दिये और जहाँ देवगण यज्ञ कर रहे थे वहाँ आए और उन देवों से कहा कि हमको भी इस यज्ञ में आप क्यों नहीं बुलाते ? देवो ने उत्तर दिया कि हम आपको नहीं बुलावेंगे क्योंकि आप मनुष्यों के साथ मिला जुला करते हैं और चिकित्सा करते हुए इधर-उधर घूमा करते हैं। यह सुनकर अश्विद्वय बोले कि यह यज्ञ शिररहित है। इससे आप कैसे यज्ञ कर रहे हैं। यदि आप हमको बुलावें तो हम बतलावेंगे। देवों ने कहा एवमस्तु आइए और बतलाइए कि यह यज्ञ कैसे शिरोवर्जित है। उन्होंने आकर प्रथम अपना स्थान ग्रहण किया और यज्ञ के अध्वर्यु बन के यज्ञ के शिर को पुनः जोड़ दिया। दिवाकीर्त्यों के ब्राह्मण में शिर जोड़ने की विधि है......इत्यादि कह-कह कर अश्विद्वय ने कहा कि निश्चय, हम ही दोनों यज्ञ के शिर हैं इत्यादि वर्णन यहाँ आया है इसके आगे कहा है कि द्यावा पृथिवी ही अश्विदेव हैं।[1]

एतेन हवा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्य्यातं मानवमभिषिषेच तस्मादु शार्य्यातो मानवः समन्तं सर्वतः पृथिवी जयन् परीयाय अश्वेन च मेध्येनेज देवानां हापि सत्रे गृहपतिरास। ऐतरेय ब्राह्मण ८। २१।

ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है च्यवन भार्गव ने इस ऐन्द्र महाभिषेक से मानव शार्य्यात को सिक्त किया। इस हेतु शार्य्यात मानव विजय करता हुआ पृथिवी के चारों तरफ भ्रमण कर आया और अश्वमेघ याग किया। देवों के यज्ञ में गृहपति हुआ।

च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति युवं च्यवानं सनयं यथारथमित्यादि। नि०। ४। १९।

यास्काचार्य कहते हैं। च्यवन एक ऋषि है। जो स्तोम अर्थात् स्तोत्र का रचयिता हो उसे च्यवन कहते हैं। वेदों में ''च्यवान'' ऐसे पद आते हैं। जैसे ''युवं च्यवनाम्'' इत्यादि में यास्क के मत से च्यवन और च्यवान एक वस्तु है।

---

१. यह आख्यान जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण में भी आया है। यूरोप के विद्वान् प्रोफेसर ह्विटने साहिब, वेबर सा०, म्यूर सा०, डेल्बूक, मैक्समूलर और कुह्म आदिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इस आख्यायिका को लेकर अनेक वादानुवाद किया है और अपने देशीय कथा से तुलना की है।

सायण १-११६-१० ऋचा के भाष्य में लिखते हैं कि वलीपलियुक्त, जीर्णाङ्ग और पुत्रादिकों से परित्यक्त च्यवन नाम का ऋषि अश्विद्वय की स्तुति करने लगा। अश्विद्वय ने ऋषि की जरा को दूर कर पुनः यौवन दान दिया।

च्यवन की उत्पत्ति का महाभारत आदि पर्व पञ्चमाध्याय से यह आख्यान आरम्भ होता है कि भृगु की स्त्री पुलोमा जब गर्भवती थी तब एक असुर आके इसको ले गया। उस समय रोष और भय के कारण पुलोमा का गर्भ पृथिवी पर गिर गया। उस गिरे हुए बालक को देख वह असुर वहाँ ही भस्म हो गया। जिस हेतु ऐसी अवस्था में प्राप्त होकर यह बालक माता की कुक्षि से च्युत हुआ अतः इसका नाम ही च्यवन हो गया।

रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत्।
तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम्।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम्। महा०। १। १। ३।

भागवत नवमस्कन्ध तृतीयाऽध्याय में यों कथा है कि मनुपुत्र शर्य्याति एक समय कुछ सेना और निज कन्या के साथ च्यवन के आश्रम में गया। च्यवन उस समय तपस्या कर रहा था और वल्मीक कीटों (चींटी) ने इसके शरीर पर गृह निर्माण कर लिये थे। केवल दो नेत्र सूर्य के समान चमकते हुए दिखाई पड़ते थे। सखियों के साथ वहाँ विचरती हुई सुकन्या उस वल्मीक में दोनों नेत्र देख, परन्तु यह तपस्वी ऋषि के नयन हैं ऐसा न जान, तृण से उनको खोंसने लगी। उन दोनों आँखों से रुधिर चूने लगा। वह सुकन्या तो वहाँ से भाग गई, परन्तु सेना में बड़ा उपद्रव होने लगा। मल मूत्र सब के बन्द हो मरने लगे। पूछने से अपनी कन्या की कुचेष्टा जान राजा भयभीत हो मुनि को प्रसन्न कर च्यवन की प्रसन्नता के लिए उनको सुकन्या दे राजधानी लौट आया। च्यवन क्रोधी थे तथापि सुकन्या की शुश्रुषा से बड़े प्रसन्न हुए। एक समय इनके आश्रम में अश्विद्वय पधारे तो ऋषि ने प्रार्थना की कि मुझको सुन्दर रूप और यौवन दीजिये। हे अश्वी! आपको देवगणों ने वैद्य जान यज्ञ में सोमग्रह से निकाल दिया है सो मैं आपको भाग दिलाऊँगा। आप मुझको वह सुन्दर रूप दीजिये जो प्रमदाओं को अभीप्सित होता है। एवमस्तु कह उन दोनों भिषग्वर अश्विकुमारों ने ऋषि से कहा कि आप इस सिद्धि निर्मित सरोवर में प्रवेश कीजिये आपका उत्तम प्रमदा-योग्य रूप होगा। वह जराजीर्ण च्यवन उस ह्रद में ज्यों ही प्रविष्ट हुआ त्यों ही उससे एक समान परमसुन्दर तीन युवा पुरुष निकले। राजकन्या सुकन्या अपने पति को न पहचान अति व्याकुल हो अश्विद्वय की प्रार्थना करने लगी। वह सुकन्या को पति दिखला विश्वास

करवा वहाँ से चल दिये। इस प्रकार च्यवन ऋषि पुनः युवा हो भोग विलास करने लगे।

यह कथा पुनः महाभारत वनपर्व अध्याय १२१, १२२, १२३ वें विस्तार से वर्णित है। विशेष यह है कि अश्विवयों ने सुकन्या को परम सुन्दरी देख कहा कि तू इस वृद्ध कुरूप असमर्थ दरिद्र पति को त्याग हम दोनों में से किसी को चुन ले। सुकन्या ने इसको स्वीकार नहीं किया। तब उन्होंने कहा कि तेरे पति को युवा बना देते हैं तब तेरा जैसा मनोरथ हो वैसा करना। यह कह अश्वी ने च्यवन से कहा कि इस पानी में प्रवेश करो। च्यवन उस पानी में बैठ गये। पीछे ये दोनों भी उसमें जा पड़े। तीन एक समान परमसुन्दर हो पानी से निकले। सुकन्या स्तुति से अश्वी को प्रसन्न कर निज पति को ही पा अत्यन्त आनन्दित हुई। इति।

शतपथ की समीक्षा

शतपथ बड़ी उत्तमता से वेदार्थ की छाया दिखलाता है। अनेक भार्याओं की कथा का झंझट इसमें नहीं रखा है। मैं लिख आया हूँ कि ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक विषयों को प्रत्यक्षरूप में लाकर बतलाते हैं। अनेक गाथाएँ कल्पित कर वैदिकार्थ को मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद बनाने की सदा चेष्टा करते हैं। यह गाथा भी वेदार्थ की छाया लेकर कल्पित हुई है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। वेद कहते हैं कि च्यवन की जरावस्था को अश्विवदेव हरण करते हैं और स्त्री योग्य यौवन रूप उसको देते हैं। इसी बात को लक्ष्य में रख याज्ञवल्क्य इस गाथा को कल्पित करते हैं इस कारण इस घटना को सत्य कदापि नहीं समझना चाहिये क्योंकि जिस आधार पर यह गाथा निर्म्मित हुई है वही जब सामान्य सूचक है तो यह किस प्रकार व्यक्ति विशेष का सूचक हो सकता है। अतः जो कोई इसको लेकर वेद में वा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनित्य इतिहास सिद्ध करते हैं वे भ्रान्त हैं। एवमस्तु आगे देखिये। वेद में शर्याति, सुकन्या, ह्रद वा सिद्ध सरोवर सुकन्या और अश्विवदेवता का वार्त्तालाप, सुकन्या के पतिव्रत धर्म की सुरक्षा इत्यादि की कोई वार्ता नहीं है। इन सबको मनोहरार्थ और उपदेशार्थ श्रीयाज्ञवल्क्यजी कल्पना करते हैं। अब प्रथम सब आकस्मिक घटना बतलाते हैं। ''शर्याति वहाँ अकस्मात् आया और आपत्ति पड़ने पर उसको अपनी कन्या सुकन्या च्यवन को देनी पड़ी। अकस्मात् सुकन्या की भी मोहिनी छवि देख अश्विवदेव मोहित हुए और अन्त में इसके पति को स्त्री योग्य रूप दिया''। इससे यह दिखलाया कि काल की गति अकथनीय है। कभी-कभी ऐसी आकस्मिक घटना हो जाती है कि जिसे देख बड़े-बड़े विवेकी

पुरुष भी अवाक् हो जाते हैं और कहना पड़ता है कि ईश्वर की लीला अचिन्त्य और भाग्य भी कोई वस्तु है। न शर्याति च्यवन के आश्रम में आता न यह लोष्टों से आहत होता न उसे सुकन्या मिलती और न इस सुकन्या की दृढ़ता के कारण इस च्यवन को यौवन प्राप्त होता। यह सब ही आकस्मिक घटनाएँ हुईं। ठीक है। महापुरुषों के जीवन में आकस्मिक घटनाएँ देखी गई हैं। सम्भव था कि यदि श्रीस्वामी जी महाराज चतुर्दशी-व्रत न करते और शिव-मन्दिर में न जाते तो कदाचित् इस प्रकार का अविश्वास मूर्ति में न होता और ऐसे वैदिक धर्म्मोद्धारक न होते। संभव था कि यदि बुद्ध वृद्ध को न देखते तो कदाचित् वैसा वैराग्य उत्पन्न न होता। अतः काल की क्या गति है इसका निरूपण करना अति गहन है। कब क्या होगा इसको ठीक-ठीक कौन जानता है ?

गाथा का मुख्य प्रयोजन।

पतित पुरुष जब तक तपस्या, पश्चात्ताप, मनन, इन्द्रियावरोधन आदि व्यापार से सुबुद्धि प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसका पुनरुत्थान नहीं हो सकता। यही भाव इसमें विशेषरूप से चित्रित किया है यथा—याज्ञवल्क्य में है कि "भृगु और अङ्गिरा के सब सन्तान स्वर्ग को चले गये परन्तु च्यवन को यहाँ ही छोड़ गये"। ठीक है। क्योंकि पतित पुरुष को अपने बन्धु बान्धव भी छोड़ देते हैं यह ऊपर को नहीं चढ़ता किन्तु नीचे ही गिरता जाता है। यह च्यवन "जीर्णि और कृत्यारूप में" विद्यमान है। जीर्ण=वृद्ध और कृत्यारूप= रोगग्रस्त, कुत्सिताकार, भयङ्कर मूर्ति इत्यादि। पापी की मूर्ति शोक और पश्चात्ताप से भयंकर बन जाती है इसमें भी सन्देह नहीं। यह कृत्यारूप इसकी शोकावस्था और तपश्चरणावस्था सूचित करती है अतएव महाभारत आदि में कृत्यारूप की जगह में तपस्या का वर्णन है। आगे कहा गया है कि "शर्य्याति अपनी सेना और परिवार सहित विचरता हुआ वहाँ आता है इत्यादि" शर्य्याति नाम मन का है "शरीरं यादि पुनर्गच्छतीति शर्यातः" जो शरीर में पुनः प्राप्त हो। मृत सुबन्धु के उदाहरण में दिखलाया है कि मन का चञ्चल होना ही मानो मृत्यु है। वहाँ मन को पुनः-पुनः बुलाया है। "मनोन्वाहुवामहे" "पुनर्नः पितरो मनो ददातु" "मनोजगाम दूरकम्" इत्यादि वाक्य देखो। मन का चञ्चल होना ही, मानो, शरीर से मन का निकल जाना है और इसका स्थिर होना ही पुनः शरीर में मन का आगमन है। अब मानो च्यवन तपस्या, मनन, पश्चात्ताप कर रहा है। अतः आवश्यक है कि इसका मन पुनः लौट इसके निकट आवे। अतः शर्याति नामधारी मन, ग्राम से ग्राम में विचरता हुआ इसके निकट पहुँचता है। अब "शर्याति के कुमार च्यवन को लोष्टों से आघात करते हैं मन के कुमार

ही नयन, कर्ण, घ्राण, रसना और त्वचा आदिक हैं यह इन्द्रियगण तपश्चरण करते हुए च्यवन आत्मा को देख घबराते हैं। समझते हैं कि यह अनर्थकारी है अर्थात् यह तपस्या कर हम सबको नष्ट करना चाहता है। तपस्या से हम सब निर्वीर्य निस्तेज हो के मर जायेंगे अतः इसी को नष्ट करो। अर्थात् तपश्चरण करने में प्रथम जो इन्द्रिय अनेक विघ्न डालते हैं। यही च्यवन को लोष्टों से आघात करना है। ठीक है। पतित पुरुष कोड़ों, छड़ियों लोष्टों से पीटा जाता है परन्तु च्यवन दृढ़ रहता है और तपस्या द्वारा इन सब इन्द्रियों को अचेत बना देता है। अब "वे इतने अचेत हो जाते हैं कि एक दूसरे को पहचानता नहीं" तपस्या की दुर्बलता के कारण एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय के साथ मिल कर कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। अब इन्द्रिराज मन जी घबराने लगते हैं कि अब मेरी दशा क्या होगी। अतः विवश हो च्यवन के निकट वह उपस्थित होते हैं। और उससे प्रार्थना करते हैं कि "यह सुकन्या अर्थात् सुबुद्धि लीजिये इसके द्वारा संसार में पूज्य होइए"। निश्चय, बारम्बार मनन करने से सुबुद्धि प्राप्त होती है। अतः यह सुबुद्धि मन की कन्या मानी गई है और आत्मा इसी के द्वारा सारा कार्य करता है अतः मानो इसकी यह स्त्री है। अब इसको सुबुद्धि प्राप्त हुई। परन्तु पुनः "अश्विदेव अर्थात् कालचक्र इसके निकट आता और सुबुद्धि को भ्रष्ट करना चाहता है। परन्तु यह सुबुद्धि है अतः यह अपने स्वामी को नहीं त्यागती। अब काल भी इसके अनुकूल होता है और उपदेश देता है कि केवल सुबुद्धि से कार्य होना नहीं किन्तु ज्ञानरूप सरोवर में=विविध शास्त्ररूप महासरोवर में खूब गोता लगावें तब ही सुबुद्धि की भी शोभा है और सुबुद्धि के योग्य होगा। यथार्थ है काल का प्रभाव पुनः-पुनः पड़ता है। पुनः-पुनः आदमी उठता और गिरता परन्तु सुबुद्धि यदि प्राप्त हो जाये तो वह झट गिर नहीं सकता। सुबुद्धि प्राप्त होने पर भी जब तक विविध शास्त्रों में खूब डूबता नहीं तब तक लोग यही कहते हैं ईश्वर ने इसको सुबुद्धि दी है परन्तु यह शास्त्रों में परिश्रम नहीं करता। यदि करे तो यह मनोहर स्वामी बन जाये। नाना शास्त्रों में प्रवेश करना ही सरोवर में डूबना और पश्चात् ऊपर होना है अतएव विद्वान् के लिए निष्णात और स्नातक आदि जल सम्बन्धी शब्द आते हैं। और यही नाना शास्त्रों में निपुण होना जीर्णावस्था से यौवनवस्था में प्राप्त होना है। यही भाव पूर्व में दिखलाया गया है। याज्ञवल्क्य भी यही भाव सूचित करते हैं। अर्थात् वैदिक अर्थ को ही गाथा रूप में गा के अनेक प्रकार की शिक्षा देते हैं।

अब एक विषय यहाँ अवशिष्ट है इसको संक्षिप्त दिखला समाप्त करते

हैं। वह यह "अश्विदेव असम्पूर्ण और असमृद्ध हैं। देवता इन्हें यज्ञ में भाग नहीं देते। तथापि यह जाके धमकी दे बलात्कार यज्ञ में भाग लेते हैं। और यज्ञ के शिर को जोड़ते हैं। अपने को मुख्य सिद्ध करते हैं इत्यादि" इसका भी आशय अतिरोहित है। पुरुषार्थी अपने पुरुषार्थको ही देव समझते हैं, काल की कुछ परवाह नहीं रखते। काल की गति को तिरस्कृत कर अपने अनुष्ठान में लगे रहते हैं, अर्थात् भाग्य के अधीन वह नहीं रहते। समय के पीछे वे नहीं चलते किन्तु समय को ही अपने पीछे चलाते हैं। अपने पुरुषार्थ से अपने विचार के अनुसार समय को बना लेते हैं। देखा जाता है कि विद्वान् पुरुषार्थी ने जो सत्यासत्य सिद्ध कर चलाया, लोग उसी के पीछे चलने लगते हैं। इसी कारण पृथिवी पर सहस्रों मत फैले हुए दीख पड़ते हैं तो भी समय अति प्रबल है। आज कोई चाहे कि मुहम्मद के समान राजा और गुरु दोनों मैं बन जाऊँ तो यह अति कठिन होगा क्योंकि अब वह समय नहीं रहा। अब लोग पढ़ गये हैं। अनेक राज्य सम्बन्धी व्यवस्थाएँ इस प्रबलता के साथ नियत हुई हैं कि अब बलात्कार कर चलना कठिन है। इस समय विदेशियों को निकालना भारतवासियों के लिए अति कठिन काम है क्योंकि समय में बहुत परिवर्त्तन है। अतः समयदेव सर्वत्र बलात्कार पूज्य बन जाते हैं। इस में भी सन्देह नहीं कि जो आदमी समय को न जान कार्य में प्रवृत्त होता है उसका यज्ञ निश्चय, शिर रहित है। छोटी-छोटी बात में देखते हैं तो वहाँ भी समय की बड़ी आवश्यकता दीखती है। प्रातःकाल का कार्य यदि कोई मध्याह्न में करे तो उस निपुणता और गम्भीर्य से वह सम्पादित नहीं हो सकता। रात्रि में शयन न करके दिन में शयन करना हानिकारक होता है। शीत समय में जो उत्तम कार्य होगा वह ग्रीष्म में नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जो विद्वान् समय का आदर नहीं करते उनका सारा कार्य शिर रहित ही है, क्योंकि उनसे कोई उत्तम शिक्षाप्रद कार्य नहीं होता। आलसी होके वह बैठे रहते हैं। न कोई ग्रन्थ लिख सकते न कहीं जाके अपने उपदेश से उपकार पहुँचा सकते हैं, ऊटपटांग इनका कार्य होता रहता है। परन्तु जो समयदेव को अपने यज्ञ में भाग देते हैं अर्थात् समय को विभक्त कर अनुष्ठेय कार्य आरम्भ करते हैं वह अवश्य अपने यज्ञ को सुविधा के साथ समाप्त कर कृतार्थ होते हैं। जैसे वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, ऐतरेय, पाणिनि, कालिदास आदि अपने-अपने कार्य में कृतकृत्य हुए। तुलसीदास के समय में कोटियों मनुष्य थे। परन्तु तुलसीदास ने समय को यज्ञ में भाग दिया अतः आज तक और जब तक भारतवर्ष बना रहेगा उनकी सुकीर्ति स्थिर रहेगी। अतः अश्विदेव अर्थात् कालचक्र कहता है कि मुझे भी यज्ञ में बुलाया

करो। मैं ही यज्ञ का शिर हूँ इत्यादि। अब यों यदि देखिये तो काल स्वयं असमर्थ और अपूर्ण है। क्योंकि यह अहोरात्रात्मक काल स्वयं क्या कुछ कर सकता है ? सुवर्ण वा महारत्न स्वयं कुछ भी अधिकार नहीं रखते यदि इनको प्रयोग में लाके इनसे अभिलषित कार्य न किया जाये। इसी प्रकार जब समय देव किसी कार्य में परिणत किये जाते हैं तब ही यह पूर्ण और समृद्ध होते हैं अन्यथा यह स्वयं सदा अपूर्ण और असमृद्ध ही हैं। इनसे कार्य लेने वाला पूर्ण और समृद्ध हो जाता है। इत्यादि शतपथ का महा गूढ़ाशय है ऋषियों के वचन स्वल्पाक्षर और गूढ़ाशय होते हैं जितना ही विचारोगे उतने ही इनसे गुप्त-गुप्त अर्थ निकलते जाएँगे।

महाभारत भागवत आदि की आख्यायिका पर कुछ विशेष वक्तव्य नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थ की कथा को लेके कुछ परिवर्तन करके यह वर्णन करते हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि यह इसको इस प्रकार से निरूपण करते हैं कि यथार्थ ही पुरुष च्यवन प्रतीत होने लगता है। लोग समझने लगते हैं कि यह सब यथार्थ घटना है। यह किसी व्यक्ति का इतिहास नहीं किन्तु सामान्य वर्णनमात्र है। अत: जो कोई इस च्यवन को एक विशेष मानते है वे बड़ी भूल में हैं। यास्क ने च्यवन की जो व्युत्पत्ति की है यह सर्वथा काल्पनिक है। व्याकरण, महाभारत और वैदिक विज्ञान के विरुद्ध होने के कारण सर्वथा त्याज्य है। च्यवन ऋषि, मैं बारम्बार कह चुका हूँ कि वैदिक ऋषिवाचक शब्द पद सूचक हैं। जो विज्ञानी पुरुष के उद्धार के लिए वैदिक शिक्षा दिया करते थे वे भी इसी च्यवन नाम से पुकारे गये। इत्यलम्।

अन्धीकृत ऋज्राश्व को नयन दान। १७।

जगत् में उपदेश करते ही रहते हैं। प्राय: मनुष्यमात्र अपने को किसी न किसी सम्प्रदाय से बद्ध किये हुए हैं। परन्तु बहुत कम पुरुष हैं जो अपने दोषों वा अपराधों को स्वीकार करते हों। अपने अनुचित कृत कर्मों पर पश्चात्ताप करने हारे विरले ही पुरुष होते हैं। अविहित कर्म करके भी जगत् में धार्मिक कहलाते रहते हैं आश्चर्य की बात है कि मनुष्य का पता नहीं लगा सकता। कोई-कोई ऐसा गम्भीर धूर्त्त होता है कि वह जगत् को ठगता हुआ चला जाता है परन्तु जीवन भर इसकी धूर्तता प्रकट नहीं होती। सबसे छिप सकता है परन्तु ईश्वर से छिप नहीं सकता। जगत् में यदि कोई ईश्वरीय प्रबन्ध न होता तो नि:संशय यह संसार नहीं चलता। इसका कर्णधार अवश्य कोई गुप्त महापुरुष है। परन्तु इसको सब कोई देखते नहीं। यह अपना शासन कई प्रकार से प्रकट करता है। परन्तु वह उतना सूक्ष्म और अज्ञेय होता है कि साधारण पुरुष इसको

समझते नहीं। यदि किसी के ऊपर कोई आपत्ति आ पड़ती है तो इसका कोई सांसारिक कारण समझ लेता है। इससे इसको सन्तोष भी हो जाता है। इस प्रकार धोखे में मित्र को भी अमित्र बना लेता है। क्योंकि समझने लगता है कि अमुक पुरुष के कारण मैं इस दशा को प्राप्त हुआ हूँ। वह मेरा अवश्य शत्रु है। वह अन्धा अपने कृतकर्म को नहीं खोजता। लोगों को दोष दिया करता है। मनुष्य को सर्वदा सावधान रहना चाहिये। सदा अपने प्रभु की ओर टकटकी लगाए रहें। प्रभु का प्रबन्ध अपरिवर्त्तनीय, निर्लोभ, निःस्वार्थ, सर्वद्रष्टा, और न्यायपरिपूर्ण है। जो जैसा करेगा, वह वैसा ही फल अवश्य पावेगा। भगवान् का प्रबन्ध है कि मनुष्य वैदिक नियम पर चले। कैसा उत्तम मानव शरीर दिया गया है। इससे हम किस-किस सुकर्म और यश को सञ्चित नहीं कर सकते हैं ? हम पड़े-पड़े अन्धे हो जाते हैं। धनमदान्ध, विद्यामदान्ध, लोकमदान्ध, प्रभुत्वमदान्ध और भुजबलमदान्ध हो विविध अविहित कर्मों को करने लगते हैं। अपने १०० वर्ष की आयु को अकर्म में विनष्ट कर देते हैं। किञ्चिन्मात्र भी होश नहीं होता है। अपने आयु को हम पवित्र नहीं समझते। यदि समझते तो अपवित्र कार्य में इसको क्यों लगाते। क्या कोई श्वेत वस्त्र को मलिन करना चाहता है। जब कोई चीज लेता है तो कुछ दिन उसको बड़े यत्न से बचाए हुए रखता है। कारण यह है कि उस समय निर्मल और शुद्ध दीखता है। परन्तु आपका जीवन तो प्रतिदिन नवीन आता है। १०० वर्ष की आयु है। अब इसी में पल-पल बीतता और पल-पल नवीन आता है। इस आयु की पवित्रता और बहुमूल्यता को जो समझता है वही ज्ञानी पण्डित है। वेद ऋज्राश्व का उदाहरण प्रस्तुत कर उपदेश देते हैं कि प्रमत्त और अचेत पुरुष अवश्य अपनी अज्ञानता का फल भोगेगा और इसको दण्ड भी सुधारने के लिए ही दिया जाता है। यदि सुधर जाये तो पुनः अपनी दशा को प्राप्त हो सकता है। ऋज्राश्व की आँखें निकाली जाती हैं परन्तु पुनः इसको आँखें मिलती हैं। इससे सिद्ध है कि दण्ड सुधारने के लिए ही दिया जाता है। इससे द्वितीय बात यह भी सिद्ध होती है कि दण्ड देने का वही अधिकारी है जो पारितोषिक भी वैसा ही दे सके। अथवा सुधारने के लिए जो दण्ड दिया है उसके सुधरने पर वह लौटाया जाये। जैसे ऋज्राश्व की आँखें प्रथम ले ली गईं परन्तु दण्ड भुगतने और उस दुष्कर्म से निवृत्त होने पर पुनः आँखें लौटा दी गईं। यह लौटा देना कई प्रकार से हो सकता है। यहाँ इस पर विशेष विवाद करना उचित नहीं। यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि निग्रह और अनुग्रह करने हारा कौन देव है ?। निःसन्देह ईश्वर का प्रबन्ध ही निग्रह और अनुग्रह करता है।

काल ही इसका प्रबन्धक है। काल ही दण्ड देता है। यही सुझा देता है। यही सुधार देता है, यही परम शिक्षक है, यही परम भक्षक है। परमेश्वर ने इसको सर्वकार्यक्षम बनाया है। धीरे-धीरे आदमी स्वयं सीख जाता है। अपनी भूल मालूम करने लगता है। यह कालदेव ही दण्डधर और अनुग्रहकर्त्ता है। यद्यपि यह अचेतन दूत है परन्तु क्या ही आश्चर्य है कि यह सब कार्य कर लेता है। जिस हेतु अहोरात्रात्मक काल का ही नाम अश्विद्वय है। अतः इसी से उद्धार भी होता है। यही भाव पूर्णतया ऋज्राश्व के उदाहरण में दिखलाया गया है। अब प्रथम ऋचाओं का वर्णन देके पुनः इस पर विचार करूँगा।

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार। तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्।१।११६।१६।शतं मेषान् वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा। आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनाव धत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे।१।११७।१७।

(पिता+तम्+ऋज्राश्वम्+अन्धम्+चकार) पिता उस ऋज्राश्व को अन्धा कर देता है। (वृक्ये+शतम्+मेषान्+चक्षदानम्) जो ऋज्राश्व वृकी अर्थात् वाधिन को १०० एकसौ भेड़ मार कर खिला देता है। (नासत्या+दस्रा+भिषजौ) हे नासत्य! हे दर्शनीय! हे दुःखक्षयकारक परमवैद्य! अश्विद्वय! आप दोनों (तस्मै+विचक्षे+अक्षी+आधत्तम्) अन्धीकृत उस ऋज्राश्व को दर्शनसमर्थ सुन्दर दो नयन दे देते हैं (अनर्वन्) जो नयन प्रथम सर्वथा पंगु हो गये थे पुनः उनको गमनसमर्थ बना देते हैं। १६। (अशिवेन+पित्रा+तम्+प्रणीतम्) अमङ्गलकारी पिता ने ऋज्राश्व के नयन में अन्धकार कर दिया अर्थात् इसकी आँखें निकल वा लीं अथवा फुड़वा दीं। (वृक्ये+शतम्+मेषान्+मामहानम्) जो वृकी=हुडारिन को एक सौ १०० मेष खिला देते हैं। (अश्विनौ+ऋज्राश्वे+अक्षी+आ+अधत्तम्) हे अश्विद्वय! आप उस ऋज्राश्व में पुनः दोनों नयन अच्छे प्रकार स्थापित कर देते हैं। (अन्धाय+विचक्षे+ज्योतिः+चक्रयुः) आप देखने के लिये उस अन्धे के हेतु ज्योति कर देते हैं। अर्थात् पुनः उसको आँख दे देते हैं। दोनों ऋचाओं का प्रायः समान अर्थ है। १७।

शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।
जारः कनीनइव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकञ्च मेषान् १८

जब ऋज्राश्व १०१ एक सौ एक मेष वृकी को खिला देता है तो वह वृकी इसके आश्चर्य कर्म देख चिल्ला उठती है कि हे अश्विद्वय! हे स्वामिन्! इसने मेरी खूब सेवा की है अब आप कृपा कर इसको आँख दीजिये। यही

आशय इस ऋचा में दिखलाया जाता है। (अन्धाय+भरम्+शुनम्) उस अन्ध पुरुष के लिए पोषणकारण सुख चाहती हुई (सा+वृकी+अश्विना+वृषणा+नरा+इतिअह्वयत्) वह वृकी हे सुख वर्षाकारक! हे नेता! हे अश्विद्वय! इस प्रकार अश्विद्वय को पुकार-पुकार कहने लगी। (कनीनः+जारः+इव) तरुण, परदाररत पुरुष जैसे बहुव्ययौ होता और निजधन परस्त्री को देता है तद्वत् (ऋज्राश्वः+शतम्+एकम्+च+मेषान्+चक्षदानः) यह ऋज्राश्व १०१ एक सौ एक मेष मुझे खिला देता है। यह ऐसा बहुव्ययी है अतः हे स्वामिन! आप इस पर कृपा कर दृष्टि दीजिये जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का इस को पूरा ज्ञान हो। शून=सुख। कनीन=युवा। युवन् शब्द से भी कनीन बन जाता है। युवाल्पयोः कननन्यतरस्याम्। अथवा कनी दीप्तिकान्तिगतिषु। कनधातु से कनीन। अथवा कन्या से कनीन बनता है। जो कन्या का लम्पट हो उसे भी कनीन कहते हैं।

१८। ऋज्राश्व सम्बन्धी ये तीन ऋचाएँ अश्विसूक्त में हैं। परन्तु इन्द्रसूक्त में भी इसके सम्बन्ध की ऋचाएँ हैं। वे ये हैं—

रोहिच्छ्यावा सुमदंशुर्ललामी र्द्युक्षा राय ऋज्राश्वस्य।
वृषण्वन्तं विभ्रती धूर्षु रथं मन्द्रा चिकेत नाहुषीषु विक्षु।

१।१००।१६।

एतच्यत इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः १७

(ऋज्राश्वस्य) ऋज्राश्व की (मन्द्रा) मदकारिणी अथवा आह्लादकारिणी अश्वपंक्ति (नाहुषीषु+विक्षु) मनुष्य सम्बन्धी प्रजाओं में विस्पष्टतया भासित हो रही है। अथवा विज्ञानी बन रही है। वह मन्द्रा कैसी है (रोहित) रक्तवर्णा (श्यावा) श्यामवर्णा पुनः (सुमदंशुः) स्वयं जाज्वल्यमाना उज्ज्वलवर्णा पुनः (परम सुन्दरी) (द्युक्षा) देदीप्यमान स्थानों में निवासिनी पुनः (राये) धन प्राप्ति के लिए (धूर्षू+रथम्+बिभ्रती) रथ की धूरों में रथ को धारण किये हुए विद्यमान है। जो (वृषण्वन्तम्) जो रथ प्रशस्त वृष अर्थात् इन्द्र से युक्त है।

१६। (इन्द्र) हे परमैश्वर्य, सर्वद्रष्टा परमात्मन्! अथवा हे जीवात्मन् (ते+तत्+त्यत्+राधः+उक्थम्+वार्षागिरः+अभि+गृणन्ति) आप के लिए उस सुन्दर-सुन्दर भाव पूर्ण स्तोत्र को वृषागिर के पुत्र अच्छे प्रकार कह रहे हैं। वृषागिर का कौन-कौन पुत्र है सो आगे कहते हैं (प्रष्टिभिः+ऋज्राश्वः+अम्बरीषः+सहदेवः+भयमानः+सुराधाः) पार्श्वस्थ अन्य ऋषियों के साथ में ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान और सुराधा हैं। ये सब मिलके इन्द्र की स्तुति

किया करते हैं जो (वृष्ण:) सर्वदा कल्याण की वर्षा करने हारा है। १७। कोष व्याकरण—रोहित=रक्त। श्याव=श्याम। सुमद्र+अंशु=सुमद्=स्वयम् नि० ६। २२। ललामी=सुन्दरी। द्यु+क्षा=क्षिनिवासे। ऋज्राश्व=ऋज्रा गतिमन्तोऽश्वा यस्य स: (सायण) वृषण्वन्तम्=वृषसहित। मन्द्रा=सर्वेषाम् आह्लादकरी अश्वपंक्ति: (सा०) नाहुषी=मनुष्यसम्बधिनी=नहुष यह नाम मनुष्य का है। चिकेत=कित ज्ञाने। वार्षागिरि=वृषागिर के पुत्र। द्रष्टि=पार्श्वस्य।

आशय—इसका आशय भी सुबोध है। केवल दो तीन विषयों पर ध्यान देने से इसका गूढ़ार्थ प्रकाशित हो जाता है १—ऋज्राश्व एक शत १०० अथवा १०१ एक शत एक मेष एक वृकी को खिला देता है। २—वृकी भी अश्विदेवता को इसकी रक्षा के लिए पुकारती है। ३—इस अपराध से ऋज्राश्व को पिता अन्ध कर देता है। ४—पश्चात् अश्विदेव इसको नवीन और दर्शनीय नयनयुगल दे देते हैं। अश्विसूक्त में इतनी ही वार्ता है। ५—इन्द्र सूक्त में देखते हैं कि इसकी अश्वपंक्ति मनुष्य प्रजाओं में देदीप्यमान हो रही है और प्रष्टियों के साथ स्वयं इन्द्र देव की स्तुति प्रार्थना कर रहा है। और विशेषण में वार्षागिर शब्द आया है। ६—ऋज्राश्व और वार्षागिर शब्दार्थ। इन्हीं अर्थो पर विचार करने से आशय प्रकट हो जाता है।

ऋज्राश्व—"ऋज्रा गतिमन्तोऽश्वा यस्य स ऋज्राश्व:" जिसके घोड़े ऋज्र अर्थात् अति चञ्चल चपल हों उस पुरुष का नाम ऋज्राश्व है। "ऋज्र, इन्द्र, अग्र, वज्र, विप्र, कुब्र, चुक्र, क्षुर, खुर, भद्र, उग्र, भेर, भेल, शुक्र, शुक्ल, गौर, वत्र, इरा माला:" इस उणादि सूत्र २। २८। से गत्यर्थक ऋज धातु से ऋज्र बनता है। एवं "इन्द्रियाणि हयानाहु:" इत्यादि उपनिषद् वाक्य में इन्द्रियों को अश्व कहा है। अत: जिसके अश्व अर्थात् इन्द्रियगण अतिचपल हों वह ऋज्राश्व है। अर्थात् अवशीकृतेन्द्रिय, इन्द्रियाराम, लम्पट इसके लक्षयार्थ हैं। अतएव इसको कनीन जार से उपमा दी गई है। मेष और वृकी=मेष=भेड़, मेढ़ा। वृकी=हुडारिन, भेड़नी, बाघनी, गीदरनी। लोक में सुप्रसिद्ध है कि मेषों को वृकी खा जाती है। यहाँ आयु के जो १०० एक सौ वर्ष हैं वे ही मानो मेष हैं। क्योंकि मेष एक निर्दोष, सरल और घासभक्षक पशु होता है। यह मनुष्य जाति का परम हितकारी है। इसके दूध से आदमी निर्वाह कर सकता है। इसके लोमों से विविध प्रकार के कम्बल बनते हैं। यह पशु इतना सरल होता है कि सदा मुँह नीचे करके चलता है एक के पीछे दूसरा चलता है यदि अग्रगामी मेष कूप में गिर जाये तो एकाएकी सब कूप में गिर पड़ेंगे। यह विचारता नहीं कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। चञ्चलेन्द्रिय पुरुष की आयु ठीक मेष

के समान है। क्योंकि यद्यपि आयु परमोपकारी वस्तु है। इससे बड़े-बड़े कार्य लिए जा सकते हैं। परन्तु विषयी पुरुष की आयु को दुर्मति, कुक्रिया निगल जाती है। जैसे वृकी बिना प्रयास के मेषको खा जाती है। भेड़ चूँ भी नहीं करती। वैसे ही लम्पट नरकी आयु रूप मेषों को कुक्रिया रूपिणी वृकी झट से निगल जाती है। कुक्रिया, कुमति, दुष्कर्म सेवा आदि ही वृकी है। वेद में आरोप करके बहुधा वर्णन आया करता है। पाप, दुर्म्मति, अमति अज्ञान आदि को वेद बारम्बार वृक, वृकी, ऋक्ष आदि दुष्टहिंसक जन्तुओं के नामों से भी पुकारते हैं यथा "मा वां वृको मा वृकीरा दधर्षीन्मा" १।१८३।४। "पातं नो वृकादघायो:" १।१२०।७। "हे अश्विद्वय! आपके वृक और वृकी मुझे हिंसित न करे। ४। हे अश्विद्वय! पापाभिलाषी वृक से हमको बचाइये" इत्यादि अनेक उदाहरण वेद में विद्यमान हैं।

इतनी ही टिप्पणी से अब अर्थ सुबोध हो जायेगा। ऋज्राश्व अर्थात् इन्द्रियाराम पुरुष अपने परमोपकारी, परार्थसाधन, मुक्तिकरण आयु को किस-किस कुक्रियाओं में लगाकर नष्ट नहीं करता? दुर्म्मतिरूपा वृकी इसकी सेवा में उपस्थित रहती है। वह लम्पट प्रात:काल से सायंकाल तक कुचेष्टा की ही चिन्ता करता है। जैसे साधु पुरुष का सेव्य देव सुकर्म होता है वैसे ही असाधु दुराचारी का सेव्य देव कुकर्म होता है और इसी कुक्रिया वृकी की सेवा करते-करते इसकी आयु बीत जाती है परन्तु इसको चेतना नहीं होती उसकी उत्कट, घोर, दुर्दमनीय कुक्रिया से सब ही त्राहि-त्राहि करने लगते हैं। यह जो महती कुक्रिया में फँस कर आयु के १०० वर्षो को नष्ट कर देना है यही मानो वृकी को मेष खिला देना है। परन्तु ईश्वर परमन्यायी है। इसका न्याय दण्ड इसके ऊपर गिरता है और यह अन्धा हो जाता है। ईश्वर अथवा ईश्वर का प्रबन्ध अथवा कर्म ही जीवात्मा का पिता है यह पूर्व में दिखला चुका हूँ। मुख की शोभा से ही शरीर की शोभा समझी जाती है। जब कभी युद्धादिक क्षेत्र में शरीर से शिर पृथक् हो जाता है तो शरीर की पहचान कठिन हो जाती है। उस मुख की शोभा नयन है। निखिल इन्द्रियों के रहते हुए भी यदि नयन न हों तो वह कुरूप ही माना जाता है। प्राय: युवती बधिर, पङ्गु, को विरले परन्तु निजेच्छा से अन्ध को नहीं वरती। व्यसनी लम्पट की समस्त शोभा नयन पर निर्भर है। अत: इन्द्रियों में नयन की मुख्यता के कारण इसका यहाँ ग्रहण है। अत: चक्षु शब्द से सर्व इन्द्रियों का ग्रहण है। अर्थात् यहाँ चक्षु शब्द सर्वेन्द्रियों का उपलक्षक है जैसे प्रत्यक्ष शब्द। इसके नयन वाचक अक्षि शब्द से सर्वेन्द्रियों का ग्रहण होता है। अब आप देखें विषयी पुरुष की कौन-कौन गति होती है।

नयन की ज्योति न्यून होने लगती है। मुख की शोभा जाती रहती है। सब इन्द्रियें शिथिल पड़ जाती है। नाना आधि व्याधियाँ आ घेरती हैं। इत्यादि विविध व्याधियों से ग्रसित होना ही यहाँ अन्ध होना है। यह परमात्मा का अनिवार्य प्रबन्ध है जो बलात्कार विषयी को दण्ड भुगा देता है। यही ईश्वरीय प्रबन्ध जीवात्मा का पिता है। जैसे धर्म्मात्मा राजा का सुप्रबन्ध सब ही निर्दोषियों का पितावत् रक्षक होता है परन्तु अपराधियों का वही पिता दण्ड देने हारा बन जाता है। वैसे ही ईश्वरीय प्रबन्ध है। मनुष्य के प्रबन्ध में भूले हों तो हों परन्तु परमात्मा के प्रबन्ध में कैसे भूल हो सकती है। अत: देखते हैं कि विषयी नर कैसी-कैसी भयङ्कर यातनाएँ भोग-भोग कर प्राण त्यागता है। यह दण्ड अचिन्त्यरूप से दड्य पुरुषों पर वज्र समान आ गिरता है। कुकर्मों के फल भोगना ही ऋज्राश्व का अन्ध होना है। और जब इस प्रकार यह नाना आधिव्याधियों से पीड़ित होने लगता है। तब वही कुक्रिया रूपा वृकी सामने खड़ी हो जाती है और कहती है कि देख! अब मेरी सेवा मत कर, मेरे लिये तुझे यह कष्ट प्राप्त हुआ इत्यादि। उस यातना के समय ऐसी-ऐसी शुभ भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। उस समय वह उस वृकी को प्रणाम कर कहता है कि हे पाप देवते! अब मुझ पर कृपा करो मेरा पिण्ड छोड़ो, मुझे अब सुमति दो इत्यादि शुभ कामना की ओर जाना ही वृकी की पुकार है। यह सब स्वाभाविक वर्णन है।

वृकी की पुकार—वेद आश्चर्य प्रकार से मानव स्वभाव के प्रदर्शक हैं। क्या ही अकथ्य दृश्य यहाँ वेद दिखलाते हैं। १-११७-०६ में वृकी अश्विदेव को पुकारती है कि इसने १०१ एक सौ एक मेष मुझे खिलाए हैं। जैसे युवा जार पुरुष अपनी इच्छापूर्ति के लिए निज सम्पत्ति खर्च कर पीछे कर्ज ले-ले के उड़ाना आरंभ करता है। ऋण न मिलने पर चोरी, ठगी, डकैती आदि महादुष्कर्म से द्रव्य प्राप्त कर कामाग्नि में भस्म करता जाता है। वैसे ही इस ऋज्राश्व ने भी मुझको १०१ एक सौ एक मेषों से सेवा की है। हे अश्विदेव! इसकी अब रक्षा कीजिये। भाव इसका यह है कि सबसे महापापी वह है जो अपनी सम्पत्ति को दुर्व्यसन में विभक्त कर दूसरों की भी सम्पत्ति को चुरा, ठग, लूट धोखा दे येन केन प्रकारेण प्राप्त कर, कुकर्म में लगा कर भस्म कर रहा हो। इस ऋज्राश्व को १०० एक सौ ही वर्षों की आयु मिली है शतायुर्वै पुरुषः। परन्तु यह १०१ एक सौ एक खर्च करता है। अत: यह महापापी है। क्योंकि दूसरों की सम्पत्ति पर हाथ मारने लगा। कभी-कभी महापापी को देख, मानो, स्वयं पाप भी डरने लगता है। ऐसे-ऐसे घोर अत्याचार में फँसता

देख महापापी प्रस्तरहृदय का पुरुष भी काँपने लगता है। यही वृकी की पुकार है। परन्तु क्या ही अचिन्त्य काल का प्रभाव है। कभी-कभी देखा गया है कि अत्यन्त पापी जन बहुत शीघ्र सुधर जाता है। अर्थात् जिस समय नाना आधिव्याधियों से आवृत होता है उस समय महाघोर पापी के सामने कृत पाप मूर्तिमान् हो के नाचने लगता है। इसकी भयंकर मूर्ति देखकर यह पापी नीचे गिर जाता है। त्राहि-त्राहि कर प्रार्थना करने लगता है। बालहत्या, स्त्रीहत्या विविध नरहत्या, चोरी, ठगी, डकैती आदि सब घोरकर्म इसको सूझने लगते हैं। सोते, जागते, चलते, बैठते, खाते, पीते यह पापपुञ्ज इसको वज्र की मार मारने लगता है, सारी हत्याएँ एक भयंकर पर्वताकार काली मूर्ति बन इसके हृदय को विदीर्ण करने लगती हैं। उस समय इसको कोई रक्षक दृष्टिगोचर नहीं होता। पुनः ईश्वर की शरण में आ पश्चात्ताप करने लगता है और धीरे-धीरे ऐसा सुधरता है कि सब कोई आश्चर्य करने लगते हैं। क्या ऐसा इतिहास, ऐसी घटना, ऐसे आकस्मिक परिवर्त्तन आजकल नहीं पाए जाते हैं ? नि:सन्देह यह अचिन्त्य लीला आज भी खेली जाती देखी जा रही है। प्राचीन काल के इतिहास में वाल्मीकि का उदाहरण दिया जाता है। तुलसीदास को भी लोग ऐसे ही कहते हैं। इस प्रकार पाप से निवृत्त होना ही मानो, चक्षु की प्राप्ति है। यही इसका आशय है। इन्द्र सूक्त का भाव इन्द्र के ही प्रकरण में लिखूँगा।

शिक्षा—इससे ऐसा भ्रम कोई न करे कि महाघोर पाप करना ही कल्याण का मार्ग है। क्योंकि छोटे पापी से पाप नहीं डरता किन्तु महापापी पुरुष के महाअत्याचार देख स्वयं पाप-देव इसके उद्धार का प्रयास करते हैं जैसा ऋज्राश्व का उद्धार वेद प्रस्तुत करते हैं। और पुराणों में कहा भी गया है कि लंकेश रावण इसी कारण रोमहर्षण कुकर्म में प्रवृत्त हुआ कि ईश्वर शत्रुता से ही शीघ्र मुक्ति देगा। किन्तु वेद भगवान् का यह आशय नहीं है। ये मानव स्वभाव के प्रदर्शक हैं। मनुष्य जाति में ऐसी घटना पाई जाती है। अत: इसका निरूपण करते हैं। और ऐसी सुबुद्धि भी तो सब पुरुषों को उत्पन्न नहीं होती, जिसके पूर्व सुसंस्कार प्रबल होते सुसंग अनायास प्राप्त हो जाता प्रभावशाली आचार्य मिल जाते वह शीघ्र संभल निदर्शन मूर्ति बनता है। परन्तु इसका यह भाव नहीं है कि कृत कर्मों का उसे फल नहीं मिलता और उसे भोगना नहीं पड़ता। यहाँ ही ऋजाश्व को दंड मिला यह नयनविहीन हुआ। इस दण्ड भोग के समय उसको आकाश पाताल सूझने लगा। वही दुष्क्रिया उसके सामने आ चिताने लगती है कि तू अब मेरी सेवा मत कर, अब इस दण्ड भोगने के हेतु तुझे होश आ जायेगा। इससे यह शिक्षा मिलती कि अपराधी पुरुष को अवश्य दण्ड

मिलेगा और दण्ड भुगतने पर पुनः अपनी दशा पर आ जायेगा। क्योंकि दण्ड सुधारने के लिए दिया जाता है। चोर को राजदण्ड दिया जाता है। परन्तु दण्ड भोगने पर पुनः वह अपनी दशा पर पहुँचाया जाता है। इसी प्रकार ईश्वर का अटूट नियम है। इति।

अर्भग विमद को स्त्री की प्राप्ति। १८।

१—याभिः पत्नीर्विमदाय न्यूहथुराः। १। ११२। १९।

२—यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन।

१। ११६। १।

३—युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम्।

१। ११७। २०।

४—युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्युहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।

१०। ३९। ७।

५—कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं। १०। ६५। १२।

१—(याभिः+विमदाय+पत्नीः+नि+ऊहथुः) हे अश्विद्वय! आप जिन समस्त उपायों द्वारा विमद के लिए पत्नी ले आते हैं। पत्नीः=अमोव्यत्ययेन शसादेशः सा०।

२—(यौ+अर्भगाय+विमदाय+सेनाजुषा+रथेन) जो अश्विद्वय लघुबालक विमद ऋषि के लिए शत्रुसैन्य-विध्वंसकारी रथ द्वारा (जायाम्+नि+ऊहतुः) जाया को पहुँचाया करते हैं। अर्थात् बालक विमद नामक ऋषि को अश्विद्वय एक सुन्दर स्त्री देते हैं। अर्भगे="अर्त्तिगृभ्याँ भन्" ऋ+मन्=अर्भ। अर्भ ही को अर्भक कहते हैं। वेद में "क" के स्थान में "ग" हो जाता है। अथवा अर्भमल्पं गायतीति अर्भगः। कै गै शब्दे। अर्भ=अल्प। ग=गायक=जो थोड़ा गावे वह अर्भग। यह पदकृत शाकल्य का मत है।

इस ऋचा पर सायण लिखते हैं कि "विमद नामक राजर्षि के ऊपर स्वयंवर में कन्यालाभ करने के पश्चात् अन्यान्य राजगण मार्ग में आक्रमण करने लगे। उस समय अश्विद्वय ने विमद की बड़ी सहायता की और रथ पर विमद की स्त्री को विश्राम से बिठला उसके गृह पर पहुँचा आए।" गाथा का आशय आगे लिखूँगा।

३—(युवम्+शचीभिः) हे अश्विद्वय! आप विविध उपायों से (पुरुमित्रस्य+योषाम्) पुरुमित्र की योषा को (विमदाय+जायाम्+नि+ऊहथुः) विमद के लिए स्त्री बनाकर देते हैं। अर्थात् हे अश्विद्वय! आपका यह आश्चर्य

कर्म है कि पुरुमित्र की योषा को लाकर विमद को स्त्री बनाने के लिए देते है। पुरुमित्र=पुरुणि मित्राणि यस्य सः पुरुमित्रः। योषा=सायण इसका अर्थ कुमारी करते हैं। रमेशचन्द्रदत्त भी। Muir म्यूर साहब स्त्री अर्थ करते हैं। Griffith ग्रिफिथ child of पुरुमित्र अर्थ करते हैं।

४—(युवम्+रथेन) हे अश्विद्वय! आप रथ पर बिठला कर (विमदाय व शुन्ध्युवम्) विमद के समीप परमपवित्र स्त्री को (नि+ऊहथुः)ले आते हैं। जो (पुरुमित्रस्य+योषणाम्) जो पुरुमित्र की दुहिता है। यहाँ भी सायण ने योषणा का अर्थ दुहिता किया है।

५—(कमद्युवम्+विमदाय+ऊहथुः) एक कामोद्दीपनी स्त्री विमद को देते हैं।

वेद के स्वाभाविक, आश्चर्यजनक, अलौकिक भाव को न जान अतएव तत्त्व के प्रदर्शन कराने में सर्वथा असमर्थ भाष्यकारगण वेद के महत्त्व न दिखला कर प्रत्युत उसके स्थान में बालोचित, हास्यजनक, अश्रद्धोत्पादक विषय लिख बहुत अनर्थ कर गये हैं। मैं पूछता हूँ कि अर्भग विमद की गाथा को लिखकर सायणाचार्य प्रभृति देवता का कौनसा बड़ा महात्म्य विख्यात करते हैं। यदि एक देवता कहीं से एक स्त्री को लाकर किसी पुरुष को देता है तो इसमें देवता की कौन सी अद्‌भुत महिमा, कीर्ति, वीरता आदि प्रख्यात होती हैं। यह एक सामान्य बात है। एवमस्तु। अब वेद के आशय पर ध्यान देवें। गुरु की विद्या शिष्य को किस प्रकार प्राप्त होती है। इसी विषय को ये ऋचाएँ विशदरूप से दिखलाती हैं। यहाँ केवल "अर्भग, विमद, पुरुमित्र" इन तीन शब्दों के अर्थ पर ध्यान देने से इसका भाव हृदयङ्गम हो जाता है। अर्भग=बालक, अथवा बहुत थोड़ा गानेहारा। विमद=मद रहित, पुरुमित्र=जिनके बहुत मित्र हैं। अब "मदरहित बालक को अश्विदेव एक सुन्दरी स्त्री देते हैं" यदि लोक प्रसिद्ध ही अर्थ किया जाये तो अश्विदेव बड़े अज्ञानी ठहरेंगे क्योंकि जिसको मद नहीं है ओर जो अभी अर्भक अर्थात् बालक ही है वह पत्नी वा जाया वा स्त्री लेकर क्या करेगा? फिर सायण के अनुसार स्वयंवर में इस मदरहित बालक को एक सुन्दरी युवती स्त्री अपने पति के लिए चुनती है। यह प्रत्यक्ष स्वभाव विरुद्ध बात है। स्वतन्त्र युवती स्त्री मदरहित बालक को कभी पति नहीं बनाती। अतः सायणचार्यादि का अर्थ सर्वथा त्याज्य है। ये सब वेदों के तात्पर्य से सहस्रों कोश दूर थे। हाँ, शब्दार्थ अवश्य लिख गये हैं। इसमें भी कहीं-कहीं भूलें की हैं।

वेद का भाव यह है कि जिस समय छोटे-छोटे बालक विद्याध्ययन

करते हैं उस समय यद्यपि विद्या उन्हें आ जाती है, पद पदार्थ समझने लगते हैं, तथापि विद्यामद उन्हें प्राप्त नहीं होता अर्थात् विद्या के गूढ़ रहस्य को अच्छी प्रकार नहीं समझ सकते। परमपटु विद्यार्थी भी १५।१६ वर्ष के पश्चात् ही विद्या के वास्तविक तत्त्व को समझने लगता है। उससे आनन्द भोगने लगता है। शास्त्रों के गूढ़-गूढ़ तत्त्व प्रकाशित होने लगते हैं। दिन-दिन विद्या रसिक होता जाता है। अतः अल्पवयस्क विद्यार्थी को यद्यपि विद्या प्राप्त हो जाती है तो भी वह विद्या के मद से प्रायःशून्य ही रहता है। अतः यहाँ अर्भग, विमद शब्द का प्रयोग है। अर्थात् ईश्वर के प्रबन्ध द्वारा अल्पवयस्क मदरहित ब्रह्मचारी को विद्यारूपी स्त्री प्राप्त तो हो जाती है परन्तु वह उस अवस्था तक विमद अर्थात् विद्या तत्त्व का अनभिज्ञ ही रहता है। विद्यारूपा स्त्री के रस लेने में असमर्थ रहता है। यहाँ विरोधाऽऽभास दिखलाया गया। विमद बालक को स्त्री प्राप्त होती है यह प्रत्यक्ष विरोध है। परन्तु परिहार यह है कि विमद बालक को विद्यारूपिणी पत्नी प्राप्त होती है। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि छोटे-छोटे बालक वेद विद्या, व्याकरण विद्या, विविध शास्त्र विद्याएँ सीखते और उन्हें आ भी जाती हैं। अब वह विद्यारूपा पत्नी कहाँ से आती है और वह किसकी कन्या होती है। इस पर वेद कहते हैं कि "पुरुमित्रस्य योषाम्। १।११७।२०। पुरुमित्रस्य योषणाम्। १०।३९।७।" वह पुरुमित्र के समीप से आती है। पुरुमित्र की दुहिता होती है—"पुरूणि मित्राणि यस्य सः पुरुमित्रः। जिसके बहुत मित्र हों उसे पुरुमित्र कहते हैं। पुरुमित्र नाम यहाँ आचार्य का है क्योंकि जगत् में अध्यापक के ही बहुत मित्र होते हैं। यद्यपि भविष्यत् बड़े-बड़े राजा, महाराज, विद्वान्, उपदेशक, सिद्ध-सिद्धेश्वर, योगी, योगिराज पुरुषों को भी आचार्य अपने शासन में रखता और समय-समय पर उनकी भलाई के लिए विविध प्रकार के तीक्ष्ण शारीरिक दण्ड भी देता है तथापि सर्वदा सब शिष्य इसके मित्र ही बने रहते हैं। और ज्यों-ज्यों शिष्य युवा और जगत् में प्रसिद्ध होता जाता है त्यों-त्यों अपने आचार्य का परम भक्त बनता जाता है और अन्यान्य पुरुषों को भी गुरुभक्त तैयार करता रहता है। अतः पुरुमित्र यथार्थ में आचार्य ही होता है। और कोई नहीं। ये हितैषी आचार्य बारम्बार अहोरात्र मनन करके विद्यारूपिणी कुमारी उत्पन्न करते हैं। अतः ऐसी नवीनोद्भवा नवीनाविष्कृता विद्या आचार्य की कन्या कहाती है। अब आचार्य परम सुन्दरी विद्यारूपिणी कन्या उत्पन्न कर सुबोध, विनीत, वर्धिष्णु, भविष्णु, गृहीत ब्रह्मचर्य, आज्ञा पालक सुपात्र शिष्य को देख उसको कन्या देते हैं। यद्यपि इस कन्या दान के महत्त्व को अभी शिष्य नहीं समझता तथापि आचार्य इसको दे ही देते

हैं। यह जो गुरु के निकट से ईश्वरी-प्रबन्ध द्वारा शिष्य को विद्या प्राप्त होती है यही अश्विद्वारा अर्भग विमद को जाया प्राप्त होना है। इस सरल भाव को न जान वैदिक अर्थ को किस प्रकार सायणादिक कलुषित कर गये हैं।

विद्या और पत्नी—वेदों में विद्या की उपमा स्त्री से दी गई है यथा—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ १०.७१.४

कोई विद्यार्थी, वाणी को देखता हुआ नहीं देखता कोई सुनता हुआ नहीं सुनता। और किसी को वाणी अपना सम्पूर्ण अंग दिखला देती है। जैसे इच्छावती सुवस्त्रधारिणी पत्नी अपने पति के निकट सर्वाङ्ग प्रकाशित कर देती है। लोक में विद्या को स्त्री से उपमा दी है यथा:—

रुचिर-स्वर-वर्णवती, रसभावयुता जगन्मनो हरति।
तत्किं तरुणी ? नहि-नहि वाणी वाणस्य मधुरशीलस्य ॥

शिक्षा—बहुत पुरुष शंका करेंगे कि ऐसा अर्थ करने पर भी और मानो, युक्तियुक्त होने पर भी वेद का कौन सा माहात्म्य बढ़ गया। यह एक बहुत लघु बात है, प्रतिदिन देखते हैं कि आचार्य शिष्यों को पढ़ाते और शिष्य विद्या ग्रहण करते जाते हैं। इसके उपदेश से मनुष्य का कौन सा महान् कल्याण प्राप्त होगा। समाधान—वेद की प्रत्येक बात ईश्वर का महत्त्व सूचक है। प्रथम मनुष्य-जाति की सृष्टि ही अद्भुत है। पुनः इसमें वाणी और मन परम अद्भुत है। पुनः मनन के द्वारा विवेकशक्ति की अद्भुतता को कौन दिखला सकता है। किसी-किसी पक्षी का कण्ठ ऐसा उत्तम, मधुर और कौशलपूर्ण है कि उसके गान से मनुष्य भी मोहित हो जाता है। इसी प्रकार मधुमक्षिका और अन्यान्य खेचर ऐसे निपुण होते हैं कि कुसुम से रस निकाल-निकाल मधुर मधु तैयार कर लेते हैं, सुन्दर घोसलें निर्माण करते और उनमें बैठकर मनुष्य के समान हिडोला झूलते रहते। मनुष्य को छोड़ जलचर, स्थलचर, नभचर सब जीवों में स्वाभाविक गुण हैं, मकड़ियों के बच्चे किसी पाठशाला से सीख के जाल नहीं बुनते। मधुमक्षिकाओं के सन्तान किसी गुरु से पढ़कर पुष्पों से रस नहीं निकालते। कोकिल किसी अध्यापक से गानविद्या नहीं सीखते। मछलियों को सन्तरणविद्या अपने माता पिता से भी सीखनी नहीं पड़ती। वानर का शिशु शाखा से शाखा पर कूदने की विद्या किसी नट से नहीं सीखता। तथापि इनमें अपनी-अपनी विद्या का निर्भ्रान्त ज्ञान स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। क्या कोई निपुण कारीगर मधुक्षौद्र (मधुमक्षिका का छाता) के निर्माण की

गलती निकाल सकता है ? क्या कभी वानर कूदने में चूक कर गिरता है, परन्तु मनुष्य में ऐसी स्वाभाविक शक्ति नहीं देखी जाती। सब मनुष्य विद्वान् नहीं होते। परन्तु सब कोकिल गायक होते हैं। समस्त मनुष्यजाति को शास्त्रीय बुद्धि नहीं होती परन्तु समस्त मधुमक्षिकाजाति रस ग्रहण करके मधु बनाने में समान ही निपुण होती है। पंडित का सन्तान शिक्षा के बिना पंडित नहीं होता है। परन्तु शिक्षा के बिना ही जालनिर्मात्री मकड़ी की सन्तान वैसी ही पटु जालनिर्माता हो जाता है। क्या यह आश्चर्य-द्योतक बात नहीं। क्या ईश्वर प्रबन्ध की यह अद्‌भुत कुशलता नहीं। जो सब जन्तुओं और प्राणियों को अश्विदेव ने एक-एक ही शक्ति दी है परन्तु क्या ही आश्चर्य की बात है कि मनुष्य में शिक्षा के द्वारा सारी शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। क्या ही अचिन्त्य लीला है कि हम मनुष्य अपने अन्तःकरण की छिपी हुई वाणी को दूसरे के हृदय में रख देते हैं। परन्तु इस वाणी को कोई भी जाते आते नहीं देखता। परन्तु चली जाती है। आचार्य ऋचा बोलता जाता है। शिष्य उसको अन्तःकरण में स्थापित कर लेते हैं। फिर वह ऋचा आचार्य के हृदय में भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है। सहस्त्रों लाखों वर्षो की विद्याएँ मनुष्यजाति एक दूसरे में स्थापित करती जाती है। इस प्रकार असंख्य बातों के ढेर पर ढेर लगते जाते हैं। यह कैसी अद्‌भुत शक्ति इस जाति में हैं। हे मनुष्यो ! तुम ईश्वर के कृतज्ञ बनो ! अमृतपुत्रो ! देखो ! तुम्हें कैसा अद्‌भुत कितना बड़ा मन मिला है। सहस्त्रों पदार्थ सीख-सीख कर इसमें ही रखते जाते हो। तुम्हारे मन में हिमालय पर्वत समाया हुआ है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर आदि सब शहर आपके मन में निवास कर रहे हैं। नहीं-नहीं इतने ही नहीं आप जो कुछ पृथिवी पर और आकाश में देखते हैं सब ही आप के मन में आकर बैठ जाते हैं। आपके मन के समीप त्रिलोक तो एक बहुत लघु पदार्थ है, इसके अतिरिक्त गुरुशिक्षिता विद्यारूपिणी स्त्री भी आपके अलौकिक हावभाव को उत्पन्न करती रहती है। इससे बढ़कर ईश्वर के पृथिवी-राज्य पर कौन सा पदार्थ है ? तनिक ध्यान से विचारिये तो वेद भगवान् इस विमद को पत्नी प्रदान के उदाहरण से शिक्षा देते हैं कि हे मनुष्यो ! तुमको मैंने ऐसा शरीर दिया है कि जिसके द्वारा तुम विविध आनन्द भोग सकते हो। तुम्हारे लिये मैंने ऐसा प्रबन्ध किया है कि शिक्षा के द्वारा इस शरीर से समस्त कार्य कर सकते हो। तुमको विराट्रूप में मैंने उत्पन्न किया है। शिक्षा के द्वारा पक्षी के समान आकाश के भोग-भोग सकते हो। मत्स्य के समान जल का आनन्द उठा सकते हो। पदार्थों से मधुमक्षिका के समान मधुर-मधुर रस निकाल रसज्ञ हो सकते हो। शिक्षा के द्वारा मकरों के

जल से भी महोत्तम दुर्ग बना कर स्वच्छन्द विचरण कर सकते हो। तुम्हारा कण्ठ कोकिल कण्ठ को लजा सकता है। विविध वाद्य, नृत्य, संगीत सीख-सीख तुम किसको नहीं लुभा सकते हो। यद्यपि कमल सुंदर और कुसुम सुगन्धित और मनोहर सृष्ट किये गये हैं परन्तु तुम इनसे भी सुन्दर, सुरभि, रुचिर, कोमल बन सकते हो। तुम्हें कौन-कौन रत्न नहीं मिल सकते। यह सब तुम्हारे कल्याण के लिए ही मेरे प्रबन्ध हैं। परन्तु मेरे प्रदत्त पदार्थों को उचित रीति से यथायोग्य कार्य में न लाओगे तो तुम्हारा महान् अध:पतन भी है। पशु पक्षी उसी दशा में रहेंगे। परन्तु तुम नीचे गिरते जाओगे। तुम में विवेक शक्ति दी है और सबसे बढ़कर तुम्हारे लिए परम-कल्याण-साधन, सदा रक्षक, सत्योपदेष्टा, सदा निर्भान्त, वेदविद्या दी है। जहाँ तुम्हारा विवेक भी काम न कर सके, जहाँ मतभेद हो जहाँ तुम्हारी बुद्धि को कुछ पता न लगे, वहाँ वेद से पूछो। इसके अनुसार चलो। पुन:-पुन: एक अर्थ को विचारो। विवेक को खूब काम लाओ। निश्चय, तुम्हारा उद्धार होगा। अन्यथा तुम्हारा पता नहीं लगेगा।

इस विमद के उदाहरण से अन्यान्य शिक्षाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं। संसार में देखते हैं कि इस शरीररूप कल के द्वारा मनुष्य क्या-क्या अनर्थ बात भी नहीं सीख लेता। देखते हैं कि मदशून्य पुरुष मदोन्मत्त हो जाता है। यदि परमेश्वर पशु पक्षी आदि के सामने इसको भी बनाता तो ऐसा उपद्रवी, ऐसा शान्त, ऐसा धार्मिक, ऐसा अधार्मिक, ऐसा रक्षक और ऐसा भक्षक अर्थात् विरुद्ध गुणग्राही नहीं हो सकता। इस विमद के उदाहरण से अन्यान्य शिक्षाएँ भी बहुत-सी मिलती हैं। पशुओं के समान या तो सिंह या मेढ़ा रहता। परन्तु मनुष्य जाति में विरुद्ध-विरुद्ध गुण पाए जाते हैं। देखिये सिंहों में कोई सिंह माँस के विरुद्ध उपदेश नहीं करता। मेषों में कोई भी मेष माँसभक्षण के अनुकूल नहीं। कोई भी शुक आकाशोड्डयन के विरोधी नहीं। कोई भी मधुकर वाटिकाओं से मधुहरण का प्रत्यवाय नहीं समझता। अर्थात् इनमें एक समान ही प्राय: सब की बुद्धि, व्यवसाय और उद्यम है। मनुष्य जाति में विरुद्ध गुण कहाँ से आया ? एक कहता है कि मनुष्य का सब ही प्राणी आहार हैं। जैसे वनस्पतियों में से चुन-चुन उत्तमोत्तम पदार्थ ले खाते हैं वैसे ही जलचर, स्थलचर, खेचर प्राणियों में से उत्तमोत्तम प्राणियों को खाया करें। कोई प्रत्यावाच नहीं। देखते हैं कि वनराज का सब ही पशु भोज्य हैं क्योंकि यह सब से बलिष्ठ है तद्वत् मनुष्य पृथिवी पर के सर्व जीवों में विद्या द्वारा बलिष्ठ है। अत: सर्वजीव इसके खाद्य क्यों नहीं ? परन्तु इसके विपरीत अन्य शिक्षक कहते हैं कि यह महान्

अनुचित है। माँसभक्षक राक्षस हैं महानरक में महाऽन्धकार में सदा निवास करेंगे जो जीवहिंसक हैं। मनुष्य जाति सब का रक्षक है न कि भक्षक, बुद्धि से देखो क्योंकि पिता ने भले बुरे की पहचान के लिए विवेक रूप ज्योति दी है। इससे सारी परीक्षा करो। मनुष्य जाति की उत्पत्ति जिज्ञासा के लिए ही है। इस प्रकार मानव इतिहास के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि एक जाति जिसको अनर्थ कहती है दूसरी जाति उसी को सार्थक बतलाती है। आहा!!! मुहम्मद के अनुचरों के द्वारा किस-किस देश का सर्वनाश नहीं हुआ। भारतवर्ष मुहम्मदीयों के आक्रमण को सार्थक और अनुकूल नहीं समझा होगा। लाखों मनुष्य मारे गये, जलाए गये, क्या-क्या दशा नहीं हुई। परन्तु क्या वे इसको अनर्थ समझते थे? इसी प्रकार सिकन्दर के द्वारा कौन-सा उपद्रव बाकी रहा परन्तु क्या वह अपने को घातक चाण्डाल समझता था? यदि ऐसा समझता तो इस काम में कभी प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्युत वह देवता बनने के लिए चेष्टा किया करता था। परन्तु वह जहाँ-जहाँ लूटमार करते हुए गया होगा वहाँ-वहाँ के मनुष्य अवश्य इसको अनर्थकारी समझते होंगे। मैं केवल दिङ्मात्र सूचित करता हूँ और विरुद्ध गुण की ओर आपको ले जाना चाहता हूँ। पुनः हम देखते हैं कि अपनी जाति से सबको कुछ प्रेम और स्वजाति को कोई भी छिन्न-भिन्न करने में नहीं लगा है। अपनी जाति के ऊपर चढ़ाई करते हुए कोई सिंह नहीं देखा गया। किसी बलीवर्ग को गोजाति के शोणित पिपासु होते हुए कभी नहीं देखते हैं। परन्तु मनुष्य जाति में यह सब बातें विद्यमान हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि इसमें ईदृग् अवगुण वा गुण कहाँ से आया? इसके समाधान में कहना पड़ेगा कि विस्पष्ट वाणी, परस्पर बोधन शक्ति, स्मृति शक्ति, विवेक शक्ति शिक्षा का प्रचार और प्रबन्ध शक्ति आदि जो इसमें गुण दिए गये हैं वे ही अर्थ और अनर्थ दोनों के कारण हैं। यह जाति सदा उन्नतिशील है। इसमें धारणशक्ति है और विवेक द्वारा इसने पढ़ने की और लिखने की परिपाटी निकाली। जो कोई किसी विषय का अनुभव कर स्थिर करता और दूसरे को सिखला देता है अथवा लिखकर सर्वत्र फैला देता है अथवा अपना सम्पूर्ण अनुभव और कला आदि शिष्य को सिखला देता है। शिष्य भी उसे धारणकर यदि उसमें कोई न्यूनता होती है तो उसको दो एक अंश में पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार इसका खजाना बहुत बढ़ गया है। जो कभी पत्थर के अस्त्र-शस्त्र बनते थे, अब उनकी जगह में क्या-क्या अद्भुत अस्त्र-शस्त्र तैयार हो गये और हो रहे हैं। यह सब बातें एक दिन की नहीं किन्तु सहस्रों वर्षों की हैं। इस पर आप जितना ही विचारते जाएँगे उतना इसका महत्त्व प्रतीत होता जायेगा।

अब आप देखें कि पश्वादिवत् मनुष्य जाति भी एक प्रकार विमद और अर्भक अर्थात् मदरहित और बालस्वभाववत् ही सृष्ट हुई परन्तु बुद्धिरूपिणी अथवा वाणीरूपिणी अथवा विद्यारूपा जो इसको मदोद्दीपिनी और मदसंहारिणी स्त्री मिली वही अर्थ अनर्थ दोनों की सम्पादिका है। यह वाणी वा बुद्धि वा विवेचना भी शिक्षा से ही प्राप्त हुई है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने सिखलाया तत्पश्चात् गुरु परम्परा व्यवस्था ने। जो कोई इसको स्वीकार नहीं करते उन्हें भी यह मानना पड़ेगा कि इसमें प्राकृतिक ऐसी उन्नतिकारिणी शक्ति है जो पश्वादिक में नहीं है। इसी शक्ति ने जब पृथिवी पर विद्याप्रचार, शिक्षा आदि की प्रणाली स्थापित कर दी तब से ही ये अर्थ अनर्थ दोनों हो रहे हैं। कुश्ती करने की शिक्षा स्थापित हुई। लोग बीर बहादुर होने लगे। समाज संगठन कर रहने की प्रणाली प्रचलित हुई। बलिष्ठ झुण्ड दुर्बल झुण्ड को क्लेश पहुँचाने लगा। अस्त्र-शस्त्र आविष्कृत हुए। निरस्त्रों की हत्या होने लगी। सङ्गीत का प्रचार हुआ। गायक पूजित और धनिक होने लगे। नृत्य-विद्या की स्थापना हुई। मनुष्य अपने को विशेष रूप से सिंगारने लगा। खेती करने की व्यवस्था आविष्कृत हुई। पुरुषार्थी धनिक और आलसी अकिंचन होते गये। संग्रह करने का दृढ़ उपाय निकाला गया। मनुष्य जाति एक दूसरे पर आक्रमण करना सीखने लगी। चोरी और डकैती का पाठ पढ़ा। यदि संग्रह नहीं होता तो कौन किसके पदार्थ की चोरी करता। गीदड़ का चोर गीदड़ नहीं। विशेष कहाँ तक वर्णन करें। विमद जाति में मदकारिणी स्त्री प्राप्त हो गई। विद्यामद, धनमद, राजमद, अधिकारमद इत्यादि अनेक मद आ प्रविष्ट हुए। ईश्वर की कैसी यह अचिन्त्य शक्ति है, इसका किस प्रकार से वर्णन हो सकता है। वेद इस विमद के उदाहरण द्वारा इसी ईश्वरीय प्रबन्ध के चरित्र को दिखला रहा है। एक विषय यहाँ यह भी स्मरणीय है। जैसे स्त्री-जाति, परमपवित्रा, परमशुद्धा, परोपकारिणी, सरसहास्यकारिणी, धात्री, विधात्री, निर्मात्री देवी है वैसा ही इससे कार्य भी लेना चाहिये। ऋचा में जाया शब्द यहाँ उपलक्षणमात्र है प्रत्येक पदार्थ जैसा है वैसा ही उससे कार्य लेवें। जैसे स्त्री के निरादर करने से अथवा इससे यथोचित कार्य न लेने से कितनी हानियाँ हुईं और हो रही हैं। महाभारतयुद्ध का चीरहरण था। सीता का हरण ही लंकेश के अध:पतन का द्वार हुआ। इसी प्रकार यदि विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, राजलक्ष्मी, श्री, शोभा आदि स्त्रियों का निरादर करें वा अनुचित कार्य में लगाएँगे तो महाभारत के ही समान क्षति होती रहेगी और यदि उचित कार्य में लगाएँगे तो रामचन्द्रादिक-सम्पत्ति के समान मंगल होता जायेगा। इत्यलम्।

अश्विदेव को दधीचि के द्वारा मधुविद्या की प्राप्ति। १९।

इस समय को मनुष्य जाति बनाती और बिगाड़ती है। विद्वान् इसको सुन्दर और अविवेकी इसको कुरूप बनाते रहते हैं। भेद इतना ही है कि अज्ञानी को यह भी पता नहीं लगता कि मेरे व्यवहार से इस समय देवता कलंकित हो रहा है। परन्तु विवेकी पुरुष अच्छे प्रकार से समझता है कि मैं समय को अनुकूल, शांतिप्रद, लाभदायक, अभ्युदयकारक और परममनोहर बना रहा हूँ। यदि इस मार्ग में कोई बाधा न आ पड़ी और दूसरी ओर से इसके ऊपर तीक्ष्ण प्रहार न हुआ तो यह काल सबको धनाढ्य बना आनन्दप्रद होगा। भारतवासी कहते हैं कि आजकल घोर कलियुग प्राप्त हुआ है। क्यों ऐसा कहते हैं? और कब से कहते हैं? मुसलमान जब यहाँ आके इनकी पूज्य मूर्तियों को तोड़ने, स्त्रियों को लूटने, गाँव-गाँव को जलाने और बर्बाद करने, लाखों का पशुवत् घात करने और इनको बलात गोमाँस खिलाने इत्यादि अनेक उपद्रव करने लगे। जब इस प्रकार के अनेक रोमांचजनक महाभीषण कांड यहाँ उपस्थित हुए तबसे निःसन्देह, अब घोर कलियुग आ रहा है ऐसे कहने की प्रथा चली। अथवा जब-जब कहीं प्रचलित देशाचारों के ऊपर किसी के द्वारा असह्य प्रहार किया जाता है और उनका स्वरूप शीघ्र परिवर्तित होना आरम्भ होता है तब भी ऐसी जन श्रुति सर्वत्र आघोषित होने लगती है। जैसा भारतवर्ष में बौद्ध और जैन का, अरब में मुहम्मद का और जेरुजेलम में ईसा का काल था। अब मैं पूछता हूँ कि भारतवर्ष के ऊपर उस भीषण दुष्काल के लाने हारा कौन था? कहना पड़ेगा कि मुहम्मद के शिष्य। अब दूसरी ओर देखिये, आज कल विद्वद्गण पृथिवी पर क्या-क्या अद्भुत परोपकारी और सुखप्रद पदार्थों को नवीन-नवीन आविष्कृत कर समय को कैसा अनुकूल बनाना चाहते हैं। रेलगाड़ी, अग्निबोट, पुस्तक छापने का यन्त्र, टेलिग्राम, गैस और बिजली की रोशनी, विविध प्रकार से ज्वरमापक यन्त्र, दूर निरीक्षण यन्त्र, अणुवीक्षणयन्त्र, कपड़ा बुनने, तेल निकालने इत्यादि अनेक पदार्थों की कलें, विविध औषध, शतशः प्रकार के नवीन आविष्कार इत्यादि अनेक उपकारी वस्तुएँ समय को सुन्दर बना रही हैं। केवल पृथिवी के ऊपर के ही पदार्थों की छानबीन नहीं किन्तु अगाध समुद्रों के आभ्यन्तरीय पदार्थों की, अति दूर आकाशस्थ नक्षत्रादिक गणों की, पृथिवी के आभ्यन्तर गूढ़ रूप से छिपे हुए कोयले, सहस्त्रों वर्षों की अस्थियाँ, नूतन-नूतन धातु इत्यादि पदार्थों की और बुद्धि से रेडियम आदि शतशः वस्तुओं की गवेषणा किस बुद्धिमत्ता के साथ हो रही है। मनुष्य इस समय एक घण्टे में बिना परिश्रम के ६० मील से अधिक

चल सकता है। विमान के ऊपर चढ़ कर आकाश की सैर कर सकता है। अनायास क्षण मात्र में पृथ्वी से यथेच्छ जल निकाल लेता है। जड़ कलें नीचे से दो तीन मील ऊपर पानी पहुँचा रही हैं। मैं कहाँ तक वर्णन करूँ आँख खोल के देखिये। मनुष्य जाति को भोग विलास देनेहारे असंख्य पदार्थ चारों ओर से एकत्र हो रहे हैं। कहिये ऐसे अनुकूल काल को लाने हारा कौन है? निश्चय, वह विचार शील विद्वान्, वह प्रतिभाशाली, महामनस्वी मनुष्य जैसा चाहे वैसा ही समय को बना सकता है। भारतवर्ष में ही देखिये प्रथम यहाँ राजपूतों का राज्य था। बड़े-बड़े सम्राट् यहाँ शासन करते थे। उस समय कहीं भी यज्ञ में पशु हिंसा नहीं होती थी। परन्तु बहुत दिनों के पश्चात् इनके ही राज्य में ऋत्विक्गण वेद मन्त्र पढ़-पढ़ के सहस्रों पशुओं का यज्ञ में ही वध करने लगे। पुनः अति प्राचीन काल में अथवा वैदिक समय में कहीं भी भारतवर्ष में मूर्ति पूजा नहीं होती थी। परन्तु बौद्ध-जैन के पश्चात् घर-घर मूर्ति पूजा होने लगी। पुनः एक समय ऐसा उपस्थित हुआ कि बौद्ध-जैन सम्प्रदायों की लाखों मूर्तियाँ तोड़-तोड़ कर पृथिवी के भीतर गाड़ी गईं। समुद्र में फेंक दी गई, अग्नि में भस्म की गईं। पुनः इस्लाम धर्म यहाँ पहुँचा। हिन्दुओं की सारी मूर्तियाँ तोड़ी गई भग्न की गईं। तीर्थ यात्रा रोकी गईं। बलात्कार कोटियों पुरुष मुहम्मदीय बनाये गये। पुनः ईसा मसीह के शिष्य पहुँचे। देश में उपद्रव दूर होने लगे। धर्म सम्बन्धी अत्याचार तत्काल बन्द कर दिया गया। अब किसी की स्त्री को कोई बलात्कार छीन नहीं सकता। अब हठात् कन्या हरण नहीं होता। अब कन्या वध दूर हो गया। भयङ्कर चाण्डाल पिशाच सती प्रथा नहीं रही। तीर्थ यात्रा स्वतन्त्र होके करने लगे। परन्तु तर्क वितर्क का समय आ पहुँचा। ज्ञान का प्रकाश परितः विस्तृत होने लगा। पुनः वेद की चर्चा सर्वत्र फैली। अब जिस मूर्ति को अपने समीप तोड़ी जाती हुई देख उन्हें महा क्लेश होता था वे जिस पर प्राण न्यौछावर कर देते थे वे अब स्वयं उसको अपने हाथ से तोड़ डालते हैं फैंक देते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जिस प्रस्तर को प्रथम पूज्य समझते थे उसको अब गुड़िया का खेल मानते हैं। उसके विरुद्ध स्वयं उपदेश देते हैं क्यों ऐसा करने लगे? एक स्वामी आया और बतलाया कि अरे भारतवासियों प्यारे पुत्रो! क्या कर रहे हो। देखो! यह पत्थर है। यह मिट्टी है। यह सोना चांदी है। इन जड़ों से तुम्हारा कल्याण नहीं। इस पूजा को जहाँ तक शीघ्र छोड़ेंगे तुम्हारा कल्याण उतना ही शीघ्र होगा। ईश्वर की उपासना करो जो सर्वत्र व्यापक, अन्तर्यामी और तुम्हारे हृदय के भाव को जानने हारा है। उसी की उपासना करो।

इस स्वामी के हित वचन सब सुनने लगे। स्वयं मूर्ति पूजा छोड़ अपनी-अपनी मूर्ति को जल में प्रवाहित करअथवा उससे अन्य काम ले इनकी शरण में आ गये। पुनः यहाँ पर वही प्रश्न होता है कि ऐसा काल क्यों उपस्थित हुआ। कहना पड़ेगा कि एक संन्यासी महर्षि दयानन्द के कारण से। इस कारण मैं कहता हूँ कि मनुष्य जैसा चाहे वैसा ही समय को बना देता है। आहा! क्या आश्चर्य की बात है। रामानन्द ने अथवा रामानुजीय सम्प्रदाय के मुखियायों ने चाहा कि सब कोई मत्स्यमांस खाना छोड़ देवें। कण्ठी, तिलक, मुद्रा धारण करें। श्री रामचन्द्र की सीता सहित पूजा हो इत्यादि। उन्होंने जैसा चाहा वैसा ही होने लगा। बड़े-बड़े मांसभक्षक मांस छोड़ इनके शिष्य बन गये। जिस मिथिला और बंगाल में मत्स्य मांस का भोजन शकवत् माना जाता था अब वहाँ पर भी सहस्रों नर नारियाँ इससे पृथक् होने लगे। कंठी, तिलक पहन लिये। द्वारका में जा जीते अङ्ग जलाने लगे इस प्रकार आप देखेंगे तो मालूम होगा कि महाकाल का भी गुरु यही मनुष्यजाति है।

बात इसमें यह है कि कभी-कभी मनुष्यसमुदाय में से सर्वसाधारण की अपेक्षा कोई-कोई बुद्धिमान् पुरुष निकल आता है। इनमें भी कोई-कोई बुद्धिमान पुरुष निकल आता है। इनमें भी कोई-कोई मेधासम्पन्न, ऊहापोहसमन्वित, प्रतिभाशाली, परमोद्यमी, लोकवित्, दुःखसहिष्णु, निरालस, परमार्थद्रष्टा, परोपकारी, तत्त्ववित्, बड़े गम्भीर, पापविद्वेषी, पुण्यानुगामी, सत्यवादी, सत्यपरायण, सत्यान्वेषी, ईश्वर से सदा भय रखने हारे धर्मात्मा सात्त्विक पुरुष उत्पन्न होते हैं। इनके समस्त जीवन, धन, जन, मन, तन सब ही व्यवहार परोपकार के लिए ही होते हैं। ऐसे महापुरुष जगत् में कभी कोई विरल ही होते हैं। वे मनुष्यों के दुःख से बड़े दुःखित होते हैं। वे उन बुराइयों, उन पापों को, उन दुराचारों को पृथिवी पर से सदा के लिए निकाल देना चाहते हैं। पूर्वकाल में वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, अंगिरा, वामदेव आदि महापुरुष हुए हैं। परन्तु ये वे नहीं हैं जिनके इतिहास महाभारत, रामायण और पुराणादिकों में उल्लिखित हैं। वास्तव में इन महात्माओं का जीवन-चरित्र लिखा नहीं गया। पुनः व्यास, वाल्मीकि, शाण्डिल्य, याज्ञवल्क्य, बुद्ध, अशोक, पाणिनि, पतञ्जलि, शंकर, रामानुज, चैतन्य, दयानन्द आदि पुरुषोत्तम हुए। ईसा भी इसी कक्षा के महापुरुष हैं। इनके उपदेश भी हृदयग्राही हैं। परोपकार में ही विशेष कर इनका जीवन व्यतीत हुआ। अन्त तक सत्य का निर्वाह किया। आजकल इनके शिष्य पादरी महोदयगण लोगों को क्रिश्चियन बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु ईश्वरभक्त बनाने का नहीं। परन्तु ये अपने प्रभु के भाव

को नहीं समझते हैं। महोदय ईसा चाहते थे कि जगत् में मेरा पिता परमात्मा ही पूजित हो। परन्तु आज पिता की जगह में उसके सेवक उसकी ही पूजा करते हैं। वे चाहते थे कि पिता के नाम पर सब शुभ कार्य हो परन्तु आज ये यूरोप-निवासी पिता के नाम को छोड़ दूत के नाम पर सब कुछ कर्म करते हैं। क्राइस्ट का यह कभी भाव नहीं था। यदि एक महाराज की तरफ से एक अच्छा दूत आके प्रजाओं को अपने स्वामी की हित उचित आज्ञा सुनावे और उस पर चलाने के लिए प्रयत्न करे तो ठीक है परन्तु यदि इसी हितोपदेशक दूत को सब प्रजाएँ महाराज बनाना चाहें तो क्या वह स्वामिभक्त दूत कभी महाराज बनना चाहेगा और अपने उन शिष्यों को अच्छे न्यायी मानेगा और क्या ऐसी अनभिज्ञ प्रजाओं को राजा भी दण्ड न देगा। यहाँ मैंने अत्याचारी महाराज को दृष्टान्त में प्रस्तुत नहीं किया। एवं विषयान्तर में भी जाना उचित नहीं। प्रस्तुत और उपक्रान्त विषय यह है कि कभी-कभी बड़े महात्मा मनुष्य-समुदाय में से उत्पन्न हो सब को शुभ मंगलमय मार्ग में चला देते हैं।

यद्यपि ऐसे उदार महापुरुषों के कार्य में प्रथम नाना अन्तराय उपस्थित होते हैं। तथापि इनके सर्व कर्त्तव्य चिरस्थायी और जनहितसाधक होते हैं। धीरे-धीरे तत्प्रदर्शित मार्ग पर बहुत चलने लगते हैं। इस प्रकार समय में महान् परिवर्तन हो जाता है। ऐसे पुरुषों को समय के गुरु, समय-रचयिता, कर्त्ता, धर्त्ता कहते हैं।

परन्तु मनुष्यों के समुदाय में से अधिक ऐसे होते हैं कि जो निज नाम, निज पूजा, निज सम्पत्ति आदिकों को लक्ष्य कर सर्वसाधारण को बहकाना आरम्भ करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये बड़े चतुर और जनता के स्वभाव से बड़े ही परिचित रहते हैं। वे इतने लम्बायमान हृदय के होते हैं कि मरणपर्यन्त अपना गुप्तभेद प्रकाशित होने नहीं देते। ये अज्ञानी, हठी, स्वार्थी, अल्पदर्शी होते हैं। ग्राम वा नगर वा सम्पूर्ण देश ही चाहे नष्ट भ्रष्ट कुछ हो जाये परन्तु ये अपने ही स्वल्प अर्थ को देखेंगे। जनता इनके जाल में ऐसी फँस जाती है कि शताब्दियों तक बारम्बार बोधित होने पर भी उससे निकलना नहीं चाहती। ऐसे वकवृत्ति, विडालवृत्ति, ईषद्विद्य, पुरुष ग्राम, नगर, देश और द्वीपद्वीपांतर के प्रचलित सद्गुणों के ऊपर पानी फेर देते हैं और सर्वत्र आचरण ऐसा गिर जाता है कि वे एक प्रकार से पशु बन जाते हैं। हेतु यह है कि सर्व साधारण पुरुष उतने बुद्धिमान नहीं होते। वे उच्च शिक्षा न होने के कारण सूक्ष्म अर्थ को नहीं समझते। मोटी-मोटी बातें उनकी समझ में आ जाती हैं। कभी वे ग्रामीण बेचारे उन उदारचेता महात्माओं से मिल नहीं पाते। उन्हें तर्क वितर्क करने का

भी कोई मौका नहीं मिलता। इनसे आग पानी जो चाहो सो पुजवालो। इनकी बुद्धि भेड़ से बढ़ कर नहीं होती ऐसी जनता को वंचित करना कौन सा कठिन कार्य है ? इस हेतु झट पाखण्डियों के जाल में फँस जाती है। अब यह पाखण्डी जो पंथ चलाना चाहता वह इन अनभिज्ञों में चल पड़ता है। पीछे धीरे-धीरे समुदाय की प्रबलता के कारण विद्वानों, मूर्खों, धनिकों, दरिद्रों, राजाओं और प्रजाओं सर्व में वही आचार, वही विचार, वही सदाचार चलने लगता है। बड़े-बड़े विद्वान् भी उस सिद्धान्त के निकट शिर झुका लेते हैं। समुदाय के वलाधिक्य के कारण इस पर कोई प्रश्न करता ही नहीं बल्कि अन्ध हो उसका अनुकरण करना धर्म समझा जाता है। यदि किसी के हृदय में अपने आचार विचार पर आशङ्का उठी भी तो उसको लोग नास्तिक अथवा उन्मत्त समझ उसका बहुत निरादर करने लगते हैं। वह दुर्बल-हृदय पुरुष तुष्णीं हो मन की बात मन में ही रख छोड़ता है। बहुतों को किंचितमात्र भी अपने आचार विचार पर कभी सन्देह होता ही नहीं। ऐसी अवस्था में इन में से कोई-कोई पुनः महापुरुष उत्पन्न हो सारे कुसंस्कारों को नष्ट कर देते हैं। पुनः पूर्वापेक्षा समय में महापरिवर्तन घोर आन्दोलन उठता है। विविध किम्वदन्ती चारों तरफ फैलने लगती हैं। चिल्ला उठते हैं कि युग का परिवर्तन हुआ। इस प्रकार के समय को मनुष्य जाति सुन्दर समझती है परन्तु तो भी इतना लिख देता हूँ कि जो आचार कभी धर्म समझा जाता है वही कभी दुराचार, व्यभिचार और पाप माना जाता है। जैसे भारतवर्ष में कभी भैरवीचक्र में स्त्री को भ्रष्ट कर देना ही धर्म माना जाता था। परन्तु वह अब पाप समझा जाता है। कभी अपने गुरु को स्त्री, पुत्री आदि समर्पित करना वल्लभसंप्रदायी धर्म मानते थे परन्तु अब इस व्यवहार को पाप समझने लगे हैं। कभी महादेव के ऊपर कन्या चढ़ा देना महापुण्य माना जाता था परन्तु अब इसको महापाप कहने लगे हैं। कभी सती दाह वैदिक समझा जाता था परन्तु इसको प्रत्येक बुद्धिमान अब पैशाचकर्म कहता है। वेद में ऐसी-ऐसी मूर्खता और राक्षस वृत्ति की बात नहीं हैं। किसी अज्ञानी ने इस चण्डाल व्यवहार को चलाया होगा। पश्चात् उसको मेष बुद्धि देशी जन मानने लगे होंगे। अब तक कामाख्या देवी की पूजा होती है। शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा सर्वत्र विधि पूर्वक मनाई जाती है। परन्तु शीघ्र समय आवेगा कि इन पूजाओं को बड़ी घृणा-दृष्टि से देखेंगे। जो आचार व्यवहार किसी जाति का धर्म है वही दूसरी जाति का अधर्म है। ओह! कैसी विलक्षण पृथिवी पर मनुष्य जातियाँ हैं। हे मनुष्यो! प्रथम तुम अपनी ही जाति की लीला का अध्ययन करो। ऐ बुद्धिमानो! देखो! ईश्वर की ओर से इस काल के ऊपर

कौन-सी सम्पत्तियाँ और तुम्हारी तरफ से कौन-सी आपत्तियाँ आती रहती हैं। निःसन्देह, मनुष्य जिज्ञासा के लिए सृष्ट हुआ है। अपना कार्य करता चला जाये। हां! इतना आशय है कि मनुष्य जिसको करना आरम्भ करे उसको एकान्त में बैठकर विचारे। वेद शास्त्रों की सम्मति ले। अपने स्वल्प आयु को देख दुराचार की प्रवृत्ति से अपने को सदा बचावे। एवमस्तु। लेख बहुत विस्तर होता जाता है। इस प्रकार देखने से यही प्रतीत होगा कि मनुष्य जाति समय को जैसा चाहे वैसा ही बना सकती है। हम पुनः-पुनः कह आए हैं कि अश्वि नाम अहोरात्रात्मक काल है। अब विद्वान् पुरुष ही काल को सुन्दर बनाने हारे मधु को इसको तृप्त करने हारे हैं। इसी विषय को वेद भगवान् अश्विदेव के विद्याध्ययन से दर्शाते हैं।

१—तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच। १। ११६। १२।

२—आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्र वोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यं वाम्। १। ११७। २२।

३—उत स्या वां मधुमन्मक्षिकाऽरपन्मदे सौमस्यौशिजो हुवयति। युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिरः प्रति वामश्व्यं वदत्।

१। ११९। ९।

१—(नरा+वाम्+तद्+उग्रम्+दंसः+सनये+आविष्कृणोमि) हे आरोग्यनेता अश्विद्वय! आपके उस उग्रकर्म को लाभ के लिए प्रकाशित करता हूँ (तन्यतुः+न+वृष्टिम्) जैसे मेघस्थगर्जन मेधान्तर्गत जल को प्रकट करता है। वह कौन कर्म है सो आगे कहते हैं (यद्+ह+अश्वस्य+शीर्ष्णा+आथर्वणः+ दध्यङ्) जो यह अश्व के शिर से अथर्व-पुत्र दध्यङ् ऋषि (वाम्+यत्+मधु+ईम्+प्र+उवाच) आप को जो मधु विद्या और अन्यान्यविद्याएँ अच्छे प्रकार दिया करते हैं। अर्थात् अश्विदेव का यह महान् कर्म है कि जिनके लिए महर्षि दध्यङ् भी अपने शिर को पृथक् कर और अश्व का शिर लगा इनको मधु विद्या और अन्यान्यविद्याएँ पढ़ाते हैं।

२—(अश्विना+आथर्वणाय+दधीचे+अश्व्यम्+शिरः+प्रति+ऐरयतम)हे अश्विद्वय! आप अथर्वपुत्र दधीचि के लिए अश्वसम्बन्धी शिर जोड़ते हैं अर्थात् उनके शिर के स्थान में अश्व का शिर आप जोड़ देते हैं। (सः+ऋतायन्+वाम्+मधु+प्र+वोचत्) वह सत्यता का पालन करते हुए आपको मधु ज्ञान देते है। (दस्रा+यत्+त्वाष्ट्रम+अपिकक्ष्यम्) जो मधु ज्ञान तष्टा से उपलब्ध है और

जो अपिकक्ष्य अर्थात् जो सब कक्षा=सब श्रेणी तक पहुँचा हुआ है। आथर्वण=अथर्वसम्बन्धी, अथर्वपुत्र। अश्व्य=अश्वसम्बन्धी। अपिकक्ष्य=कक्षा=श्रेणी। जो प्रत्येक विद्या से सम्बन्ध रखता है।

१—हे अश्विद्वय! (उत+स्या+मक्षिका) और मक्षिका (मधु मत्+वाम्+अरपत्) मधु देने हारे आप की स्तुति करती है पुनः (औशिजः+सोमस्य+मदे+हुवन्यति) उशिक्पुत्र कक्षीवान् पदार्थ की मधुरता के लिए आप को पुकारता है। (युवम्+दधीचः+मनः आ+विवासथः) आप दोनों इस पूर्वोक्त कार्य के लिए दध्यङ् के मन की अच्छे प्रकार शुश्रूषा करते हैं। (अथ अश्व्यम्+शिरः+वाम्+प्रति+वदत्) पश्चात् वह अश्वशिर आपको मधु विद्या कहते है।

अश्विसूक्तों में दध्यङ् सम्बन्धी ये ही दो तीन ऋचाएँ हैं। इन्द्र सूक्तों में भी दध्यङ् की वार्ता आती है। इसी प्रकरण में आगे निरूपण करूँगा। अब प्रश्न होते हैं कि क्या यह कोई मानव इतिहास है? क्या यह सम्भव है कि मनुष्य निज शिर को कटवा के पृथक् रख दे और घोड़े के शिर को जोड़ के विद्या पढ़ावे? जिन देवों में यह शक्ति हो कि मनुष्य के शिर काट के उसके स्थान में घोड़े के शिर जोड़ कर जिला देवें। क्या ऐसे देवों को भी विद्या पढ़ने की आवश्यकता होती है? घोड़े के शिर से पढ़ाना क्या सम्भव है? इस में क्या कोई विशेष शक्ति है जो इसी शिर द्वारा दध्यङ् अश्विको विद्या सिखलाते हैं। पुनः वेद भगवान् विस्पष्टरूप से उपदेश क्यों नहीं देते। ऐसी-ऐसी प्रहेलिकाएँ विचार कर मनुष्यों को देते। इनसे कौन-सा लाभ वेद भगवान् समझते हैं। इत्यादि आशङ्काएँ उत्थित होती हैं।

समाधान—वेदों में जहाँ लोक विरुद्ध अर्थ प्रतीत हों वहाँ किञ्चिन्मात्र ध्यान देने से उसका आशय आशु विभासित होने लगता है। अश्वशिर से विद्या पढ़ाना लोक विरुद्ध अर्थ है। अतः यह अन्यार्थ सूचक है इस में सन्देह नहीं। क्योंकि वेद उन्मत्त-बालक-प्रलाप नहीं अतः इस आख्यान से ये वक्ष्यमाण अर्थ प्रदर्शित होते हैं। १—किस रीति से पढ़ाना चाहिये। २—विद्या मधु है। ३—समय को बनाने हारे विद्वान् होते हैं। ४—विद्वान् समय को मधु देते हैं। ५—जब तक सब को मधु प्राप्त न हो जाये तब तक विद्वानों को शिर तोड़ प्रयत्न करना चाहिये। इत्यादि।

१—किस रीति से पढ़ाना चाहिये।

वेद में कहा गया है कि "अश्विदेव को अश्वशिर से दध्यङ् विद्या पढ़ाते है" यह बतलाता है कि विद्या किस रीति से देनी चाहिये। क्योंकि

अश्वी उसको कहते है जो अश्व का पुत्र हो। यहाँ अश्वनाम सूर्य का है। दिन और रात्रि सूर्य के पुत्र हैं क्योंकि इसी से ये दोनों उत्पन्न होते हैं। अत: यह अहोरात्रात्मक काल अश्वी नाम से भी पुकारा जाता है। देवता प्रकरण में अश्विदेवाख्यान लिखूँगा। दिन और रात्रि दो हैं अत: अश्वि शब्द सर्वदा द्विवचन रहता है। दध्यङ् और दधीचि एक वस्तु है। वेदों में दध्यङ् और दधीचि लोक में दोनों प्रयुक्त होते हैं। ईश्वरीय तत्व जानने हारे को दध्यङ् कहते हैं "दधातीति दधि: धाता, विधाता परमात्मा, तमञ्चति, पूजयति सम्यङ् जानातीति दध्यङ्" अथवा जो ध्यान में रत हो वह दध्यङ् "दधिर्ध्यान-मञ्चतीति" अथवा दधि=दही अर्थात् जगत् के परिणाम को जो अच्छे प्रकार जाने वह दध्यङ्। दधि, दूध से बनता है। अत: दधि एक विकृत वस्तु है। दधिशब्द उपलक्षण है। अर्थात् दधि के समान सम्पूर्ण विकृत पदार्थों के तत्त्व तक जो पहुँचा हुआ हो वह दध्यङ्। यह सृष्टि प्रकृति का विकार है। एवं प्रति दिन वस्तु मात्र में उपचय अपचय और किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन होता ही रहता है। इन सब तत्त्वों को जो अच्छे प्रकार जाने वह दध्यङ्। अब मान लीजिये कि एक अश्व पुत्र विद्वान् के निकट पढ़ने को आता है। वह इसको कैसे पढ़ावे। बहुत आदमी कहेंगे कि यह बात ही ऊटपटांग है। नहीं। ऊटपटांग नहीं है। क्या मूर्ख को गदहा नहीं कहते हैं। यहाँ आरोप करके वर्णन करते हैं। हम देखते हैं कि बालकों को पढ़ाना कितना कठिन काम है। अज्ञानी समूह को समझाना कितनी विद्वत्ता और चातुर्य का कार्य है। बालक जिस रुचि का हो उसी रुचि के अनुसार यदि वह पढ़ाया जाये तो वह शीघ्र पढ़ जाता है। बालकों के शिर में विद्या घुसाने के लिए अध्यापकों को क्या-क्या कठिनाई उपस्थित होती हैं वे स्वयं जानते हैं। परीक्षा और अनुभव से यह सिद्ध है कि जिस बात को बालक इस समय किसी प्रकार से नहीं समझ सकता, धीरे-धीरे पढ़ने पर उसी को कुछ वर्ष के पश्चात् अच्छी प्रकार से समझने लगता है। इन बातों से यह सिद्ध है कि योग्यता के अनुसार अध्यापक को अवश्य पढ़ाना होगा। अपनी योग्यता यहाँ दिखलानी नहीं चाहिये। यदि एक विद्यार्थी ने साधारण गणित जाना है तो उसको धीरे-धीरे ही ऊपर ले जायेंगे। यदि अध्यापक निज पठित विद्या का परिचय यहाँ देने लगे तो इसकी अनुभव रहितता सिद्ध होगी। महामहोपाध्याय एक आरम्भिक विद्यार्थी को क्या पाणिनि का गूढ़ सिद्धान्त वा वैशेषिक वा न्याय का विवाद सिखलावेगा?। यदि कोई विद्वान् यह मन में विचारे कि जनसमूह सर्वथा ग्रामीण है। यह समुदाय सहस्त्रों वर्षों से बिगड़ा हुआ है। इसके मस्तिष्क में मेरी बात स्थान

नहीं बना सकती। इसमें इतना धैर्य नहीं कि मेरे उपदेश को अच्छे प्रकार सुने। यह बहुत अबोध, दुर्बोध समुदाय है। इनके साथ अपना समय व्यर्थ बिताना है। इत्यादि विचार वह विवेकी यदि उदास हो जाये तो क्या यह बात शोभित होगी? कदापि नहीं। विद्वान् को उचित है कि प्रथम अपनी सारी योग्यता, मान, प्रतिष्ठा को त्याग इनके समान बन के इनके मध्य में ही निवास करे। धीरे-धीरे मनतव्य की ओर रुचि उत्पन्न करे! शनैः-शनैः इनकी आँखें खोलता जाये। इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम उनको सब शिक्षा कटु प्रतीत होगी। वे शिक्षक को फांसी देने को भी कभी-कभी तैयार होंगे। वे रुष्ट होके उस उपदेशक से भाषण करना भी नहीं चाहेंगे। परन्तु शनैः-शनैः हेतुमत् विषय इनके हृदय में घर करता जायेगा। यदि कोई अनुभव रहित उपदेशक आज कल भारतवर्षीय गंवार प्रजाओं में जाकर प्रथम दिन ही यह उपदेश देवे कि रामचन्द्र एक मनुष्य था, ईश्वर नहीं, भागवत कर्त्ता बड़ा ही विषयी था। वह विषय-वासना की बातें फैला गया है। भागवत कभी पढ़ना नहीं चाहिये। इसी प्रकार मुसलमानों को मुहम्मद की कुछ ऊँच-नीच बातें सुनावे तो उस उपदेशक की क्या दशा होगी, संभव है कि विना बिचारे वे तर्क-वितर्करहित ग्रामीण जन उसके शिर का एक-एक केश उखाड़ डालें। जीभ काट लें। आग में उसे भस्मसात् कर दें। क्या मानव इतिहास में ऐसी-ऐसी शतशः घटनाएँ नहीं उपस्थित हुई हैं। परन्तु उसी जनता को उसी बुद्धि और रुचि के अनुसार प्रथम शिक्षा देते हुए चतुर शिक्षक दो चार वर्ष में अपने परमोद्देश्य की ओर ला सकता है। अतः मानव-चरित्रों के अवगाहन से सिद्ध होता है कि यदि मनुष्यों को मनुष्य बनाना है तो अपना शिर तो सर्वथा पृथक् करके रख देवें और प्रजाओं का मस्तिष्क धारण कर लें। धीरे-धीरे जब आप के शिर तक ये पहुँच जाएँ तो पुनः आप अपना शिर धारण कर लीजिये और अपने समान ही उनको बना दीजिये। पुनः कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। ऐसा ही प्रायः विचारशील पुरुषों का व्यवहार भी होता है। इसी प्रणाली से महान्-महान् कार्य सिद्ध हुआ। इससे यह परिणाम निकला कि क्या बालक-समुदाय को और क्या अनभिज्ञ-जन-समुदाय को जब कोई विद्या वा हितोपदेश देना हो वा सुपथ पर लाना हो तो अपनी योग्यता, मान प्रतिष्ठा को तो अपने घर ही रख आवें, यहाँ आकर इनके समान बन कर इनमें कार्य करना आरम्भ करे। ऐसी अवस्था को स्वीकार कर जो शिक्षा दी जाती है। इसी शिक्षा प्रणाली का नाम है कि अपने शिर से उपदेश न देकर किन्तु बालक वा प्रजाओं के शिर को धारण कर उपदेश देना। वेद में इसका संक्षिप्त नाम अश्व शिर है। जिस कारण यहाँ

अश्विदेवों में चेतनत्व का आरोप कर इनको विद्यार्थी बनाया है और अश्विशब्दार्थ अश्वपुत्र है। अत: यहाँ दध्यङ् अर्थात् अध्यापक के लिए भी अश्वशिर धारण करने का वर्णन है। यहाँ अश्वशिर उपलक्षक हैं, यह दिखलाता है शिष्य की बुद्धि के अनुसार शिक्षा देनी चाहिये। शिष्य के समान ही शिर धारण करे।

अब प्राचीन और आधुनिक शिक्षा प्रणाली के ऊपर ध्यान देने से भी यही सिद्ध होता है। अध्यापकों की गति उस पुरुष के तुल्य है जो दूसरे को अपनी पीठ पर बिठला नीचे से पर्वत के ऊपर ले जाया करता है। वह एक को शिखर पर छोड़ आता है। पुन: नीचे आके दूसरे को बिठला ऊपर ले जाता है। इस प्रकार वह सदा ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है। अध्यापक अथवा शिक्षक भी शिष्य को प्रारम्भ से विद्या-शिखर पर चढ़ाने के लिए प्रयत्न करते हैं। प्राचीन काल की रीति थी कि प्रथम गुरु उच्चस्वर से पाठ बोलते जाते थे पश्चात् उसी पाठ को सब शिष्य उच्चारण करते थे। जब एक पाठ अच्छे प्रकार से सब ने कण्ठस्थ कर लिया तब पुन: अन्य पाठ गुरु बोलते थे। इसी कारण शिष्य का नाम अनूचान होता है। जो पीछे-पीछे बोले वह अनूचान। और जो बातें समझाने की होती थी या गणित आदि का अध्ययन उसे भी बारम्बार आचार्य शिष्य को समझाता और सिखलाता था। मनन और अभ्यास के लिए पृथक् पाठ शिष्यों को दिए जाते थे। आज भी प्राय: यही प्रणाली है। छोटे-छोटे बच्चों के साथ अब भी बहुत बकना पड़ता है। बड़ों को बारम्बार समझाना पड़ता है। अभ्यासार्थ प्रश्न दिए जाते हैं। धीरे-धीरे निरक्षर बालक विद्वान् बन जाता है। मैं अब पूछता हूँ कि जब एक महामहोपध्याय एक प्रारम्भिक शिशु को पढ़ाना आरंभ करता है तो क्या वह अपनी योग्यता प्रकट करता है ? या विद्यार्थी के साथ स्वयं विद्यार्थी अध्यापक बनकर पढ़ाता है। आपको कहना पड़ेगा कि उस समय वह भी वैसा ही बालक वैसा ही विद्यार्थी स्वयं बन जाता है। इसी का नाम है कि अपने शिर से न पढ़ाना किन्तु शिष्य के शिर से पढ़ाना। मैं कह सकता हूँ कि इससे बढ़ कर कोई उत्तम प्रणाली नहीं है।

परन्तु शिष्य के हेतु गुरु को ऐसा व्यापार करना पड़ता है। इसमें शिष्य की प्रधानता होती है अत: वेद में कहा गया है कि यह अश्विदेवों का प्रताप है। अश्विदेव ही गुरु के शिर को पृथक् करते हैं और अपना शिर लगाते हैं पश्चात् पुन: गुरु के शिर को लाके जोड़ देते हैं। जब शिष्य भी पूर्ण हो जाता तब, मानो कि, गुरु भी अपने शिर से संयुक्त हो जाता है। इत्यादि इसका आशय न समझ कर जो इसको बालोचित बात समझते हैं वे यथार्थ में वेद के

रहस्य से बहुत दूर है। इति।

२—विद्या मधु है।

मधु एक मधुर पदार्थ होता है। विविध कुसुमों से विविध मक्षिकाएँ उसे इकट्ठा करती हैं। मधुछाता के ऊपर शतशः दंशकमक्षिकाएँ रक्षार्थ बैठी रहती हैं। मनुष्य इसको बड़ी कठिनाई और चतुराई से प्राप्त करता है। विद्या भी ऐसी ही है। विद्या बहुत मधुर है। विद्या के रस में जो निमग्न हो गये हैं, जो विद्यारसिक बन गये हैं उन्हें अन्य सब रस तुच्छ प्रतीत होता है, रात्रिन्दिवा पुस्तक पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी भोजन भी त्याग पढ़ते ही रहते हैं अथवा भोजन के समय भी उसी रस को स्मरण करते रहते निद्रा को अपना शत्रु समझने लगते हैं। यह निद्रा के लिए निद्रा नहीं लेते किन्तु इससे शरीर और मन नीरोग रहेगा और इसके द्वारा विद्यावधू का रस चूसना है। यह भोजन के लिए भोजन नहीं करते किन्तु विद्या के कारण भोजन करते हैं। लम्पट विषयी पुरुष भी अपनी प्रिया के समीप विद्याव्यसनी के समान अपने को सर्वथा नहीं भूल जाता। देखा गया है कि जब कोई विद्वान् विचार में लगा हुआ है तब उसके समीप से सेना चली गई है। बाजा गाजा के साथ बड़ी-बड़ी बारात कोलाहल कर निकल गयी हैं परन्तु उस विद्वान् को कुछ खबर नहीं। पुनः मधुपान से आदमी तृप्त हो जाता है परन्तु विद्या रूप मधु के पान से कोई तृप्त नहीं होता। पुनः प्रत्येक रस काल, शरीर आदि की अपेक्षा करता है किन्तु विद्यारस सर्वकाल, सर्व ऋतु, सर्वदेश और वाल्यावस्था छोड़ सर्व अवस्था में समान रूप से आनन्द पहुँचाता है। किमधिकम्। आप विचार करें कि विद्या कैसी मधुर वस्तु है?

मधु अनेक कुसुमों से एकत्रित होता है। विद्या भी ऐसी है। विद्या भी अनेक ज्ञानी पुरुषों से एकत्रित होती है। भिन्न-भिन्न विद्याओं को भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपने विवेक द्वारा प्रकाशित किया है, इसमें सन्देह ही नहीं। किन्तु एक विद्या भी अनेक महापुरुषों से प्रकट होके पूर्णता को प्राप्त हुई है। किसी एक ही विद्वान् ने संस्कृत का पूर्ण व्याकरण नहीं बनाया है। किन्तु धीरे-धीरे बनते-बनते पूर्ण व्याकरण पाणिनि के समय बन गया। इसी प्रकार अन्यान्य विद्याएँ भी मधुछाता के ऊपर दंशकमक्षिकाएँ रक्षार्थ बैठी रहती हैं। जिससे सब कोई इसको प्राप्त नहीं कर सकता। विद्या भी ऐसी ही है। अब्रह्मचर्य, अमति, कुबुद्धि, दुःसङ्ग, अमनन, अमनस्कता, अनम्रता, आलस्य आदि शतशः दंशक रक्षक विद्या नहीं लेने देते। जो मन्ता, बोद्धा, शुश्रूषु, निरालस्य, धैर्यसम्पन्न, आचार्ययुक्त, जितेन्द्रिय, अचल, एकान्तसेवी निरन्तराभ्यासी होते हैं, वे ही

विद्या प्राप्त कर लेते हैं। अतः विद्या वास्तव में मधु है।

३—समय को बनाने हारा विद्वान् होता है।

अहोरात्रवाचक अश्विदेव को यहाँ शिष्य इस कारण बनाया गया है कि स्वयं काल मनुष्यजाति के ऊपर विशेष प्रभाव नहीं डालता और सप्तवध्रि, रेभ, भुज्यु, च्यवन आदिकों के उद्धार का जो वर्णन आया है उससे लोगों को यह विश्वास न हो कि स्वयं काल सब कुछ कर लेगा। परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? अतः यहाँ दिखलाया जाता है कि कालदेव को भी परिश्रम के बिना मधु प्राप्त नहीं होता। यद्यपि काल सबको मधु दे रहा है परन्तु इसको भी दूसरे से मधु प्राप्त हुआ है। यद्यपि समय धीरे-धीरे पृथिवी को इस दशा में लाया है। पशु की अवस्था से मनुष्य को मनुष्य बनाया है। समय ने ही शनैः-शनैः विविध विद्याएँ पृथिवी पर लाई हैं। किसी पदार्थ को शिशु, युवा वृद्ध होने में अवश्य काल लगता है। ये पर्वत लाखों वर्षो में बने हैं और लाखों वर्षो में बिगड़ेगें। ये समुद्र कोटियों सम्वत्सरों से बनते बिगड़ते आए हैं। आज जहाँ शून्य अरण्य है वहाँ कभी लाखों नरनारियों का निवास था। आज जहाँ बड़े-बड़े प्रासाद, हर्म्य, पाठशालाएँ, न्यायालय, सहस्रशः वाणिज्य के पदार्थ हैं वहाँ कभी समुद्र अपने मत्स्य मकरादि परिवार-सहित क्रीड़ा कर रहे थे। इस प्रकार देखते हैं तो ''समयो हि दुरतिक्रमः'' ऐसा कहना ही पड़ता है। परन्तु यह सब रहने पर भी समय भी मनुष्यजाति का गुलाम है। यहीं देखते हैं आलस और अनभिज्ञ पुरुष कहते हैं कि अब कलियुग आ गया है। हम अब कुछ नहीं कर सकते। चारों तरफ भ्रष्टता फैल रही है। हम अब सुधार के लिए असमर्थ हैं। सर्वत्र लोग अन्न पानी बिना मर रहे हैं। अब किसकी कौन रक्षा कर सकता है। इतने कोटि नर-नारियों को कौन कुबेर अन्न पहुँचा सकता है। रक्तबीज के समान दरिद्र कंगाल पुरुषों से पृथिवी प्रकीर्ण हो गई है। दैवीशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसका सामर्थ्य है कि इनको बचावें। इत्यादि सहस्रशः अपुरुषार्थसूचक वचन कहके सबको निरुद्यमी और केवल दैवाधीन बनाते रहते हैं। परन्तु ऐसा करना उचित नहीं। मनुष्य में अद्‌भुत शक्ति ईश्वर ने स्थापित की है। यदि सब कोई स्थिर विचार कर उनमें से स्वल्प पुरुष भी सहमत हो जाएँ तो कालदेव को कान पकड़ कर नचा सकते हैं। समुदाय की बात तो जाने दीजिये। आप रावण आदि के इतिहास से क्या शिक्षा ग्रहण करते हैं। एक रावण ने त्रिलोक को विजय कर लिया। पुनः एक ही राम ने उस का संहार भी कर दिया। इससे दिखलाया गया है मनुष्य आश्चर्य से आश्चर्य कार्य कर सकता है। आप प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। एक मुहम्मद अपने

जीवन में कई एक देशों के राजा बन गये। इसी प्रकार नेपोलियन कई द्वीपों का सम्राट् बन चुका था। इतिहास को देखिये।

परन्तु हाय! भारतवासियों के लिए मुझे बड़ा शोक होता है। इनके समीप कोई ज्वलन्त उदाहरण नहीं। इनके समान ही जो मनुष्य थे उनको इन्होंने देव अथवा ईश्वर बना लिये अतः वह मनुष्य मानते रहते तो इनके हृदय में मनुष्य का गौरव रहता। परन्तु ये इनको ईश्वर कहते हैं। ईश्वर होके यदि इसने समुद्र पर बाँध-बाँधा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि इसने वानर और भालुओं से काम लिया तो कोई अद्भुत नहीं। क्योंकि जो लाखों ब्रह्मण्ड रचता बिगाड़ता रहता है उसके लिए समुद्र पर सेतु बाँधना अतितुच्छ निःसार तृण तोड़ने के समान भी कार्य नहीं है। इसी प्रकार इनके यहाँ जितने ऋषि, मुनि, आचार्य, धर्मप्रवर्तक, धर्मस्थापक, शास्त्ररचयिता, काव्यकर्त्ता, शूरवीर आदि महापुरुष हुए हैं वे सब ही ईश्वरावतार माने गये। इस दशा में मानवशक्ति का पता इनको कैसे लग सकता है? यह अब कैसे समझ सकते हैं कि मनुष्य क्या-क्या अद्भुत कार्य कर सकता है। यदि इनके समीप कोई लोकोत्तर-कार्य-कर्त्ता रखा जाये तो ये झट से कह देवेंगे कि इनकी जीभ पर सरस्वती विराजती है। इनके ऊपर देवता का अनुग्रह हुआ है। इन्होंने मन्त्र सिद्ध किये हैं। भगवती ने इनको वरदान दिया है। अतः ये ऐसा-ऐसा कार्य कर रहे हैं। इन पौराणिक भाइयों से कोई पूछे कि सृष्टि के आदि से अब तक मनुष्य ने कुछ उत्तम कार्य कर दिखलाया है या नहीं? तो इसका उत्तर होगा कि मनुष्य महा तुच्छ जीव है यह क्या कर सकता है हाँ, देवता जब अवतार लेते हैं तब वे स्वयं कुछ कर जाते हैं? इस मत के पोषक देश में मनुष्य के सामर्थ्य का क्या पता लगा सकते हैं। इस मत से देश में अति हानियाँ होती हैं क्योंकि कोई भी महान् कार्य के साधन में प्रवृत्त नहीं होता। भारतवासियो! इस अवस्था में तुम्हें अपनी परीक्षा करनी चाहिये। अपने सामर्थ्य को सब कार्यों में यथोचित उपयुक्त कर देखो। हिम्मत करो। काल को तुम अपना गुलाम बना ले सकते हो परन्तु शोक काल तुम्हें गुलाम बना रहा है। इस विषय पर पूर्व में भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है अतः इसको यहाँ समाप्त करते हैं और मनुष्यमात्र से निवेदन करते हैं कि हे मनुष्य जाति! तू अपने को पहचान। ४—विद्वान् सब को मधु देते हैं। ५—जब तक सबको मधु प्राप्त न हो तब तक विद्वानों को शिर तोड़ प्रयत्न करना चाहिये। इन दो विषयों पर यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं स्वयं पाठक विचार करें। अब आगे शतपथ ब्राह्मण के ऊपर इस सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। इति।

गायत्री प्रातःसवनम्। त्रिष्टुभ्माध्यन्दिनं। जगती तृतीयसवनम्। तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। १७। दध्यङ् ह वा आथर्वणः। एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदांचकार। यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष यज्ञो कृत्स्नो यज्ञो भवति। १८। स हेन्द्रेणोक्त आस। एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति। १९। तदुहाश्विनोर-नुश्रुतमास दध्यङ्ङ्ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं वेद यथा—यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यत्रैष कृत्स्नो यज्ञो भवति। २०। तौ हेत्योचतुः। उप त्वा यावेति किमनुवक्ष्यमाणाविति एतं शुक्रमेतं यज्ञं यथा-यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यत्रैष कृत्स्नोयज्ञो भवति। २१। सहोवाच। इन्द्रेण वा उक्तोस्मि एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयां स्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति तस्माद्धै विभेमि। यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यात। न वामुपनेष्य इति। २२। तौहीचतुः। आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावह इति। कथं मां त्रास्येथे इति यदा ना उपनेष्यसे अथ ते शिर श्छित्वाऽन्यत्राऽपनिधास्यावः अथाऽश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावः। तेन नावनुवक्ष्यसि अथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यति अथ ते स्वं शिरः आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति तथेति। २३। तौहोपनिन्ये तौ यदोपनिन्ये अथास्य शिरश्छित्त्वा अन्यत्र अपनिदधतु। अथाश्वस्य शिर आहृत्व तद्धास्य प्रतिदधतुः तेन हाम्या मनूवाच स यदाभ्यामनूवाच अथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेद। अथाऽस्य स्वं शिरआहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः। २४। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणोवामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेत्ययतं तदुव। चेतिहैवैतदुक्तम्। २५। तन्न सर्वस्मा-अनुब्रूयात्। एनस्यं हि तदन्थोनेन्म इन्द्रः शिरश्छिनददिति यो न्वेव ज्ञात-स्तस्मै ब्रूयादथ योऽनूचानोऽथ योऽस्य प्रियःस्यान्नत्वेव सर्वस्मा इव। २६। सम्वत्सरवासिनेऽनुब्रूयात् एष वै सम्वत्सरे। य एष तपति एष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मात्सम्वसरवासिनेऽनुब्रूयात्। २७। शतपथ ब्रा०। १४। १। १।

प्रातः सवन को गायत्री, माध्यन्दिन सवन को त्रिष्टुप् और तृतीय सवन को जगती छन्द सम्पन्न करता है। देवगण शिरोरहित यज्ञ के साथ पूजा और श्रम कर रहे थे। १७। परन्तु आथर्वण दध्यङ् इस शुद्ध रस को और इस यज्ञ को जानते थे और इसको भी जानते थे कि यज्ञ का शिर कैसे जोड़ा जा सकता है और यह यज्ञ कैसे पूर्ण हो सकता है। १८। किन्तु इन्द्र ने इनसे कहा था कि यदि आप इस विद्या को किसी अन्य पुरुष से कहेंगे तो आपका शिर काट लूँगा। १९। यह बात अश्विदेवता को मालूम थी कि आथर्वण दध्यङ् इस शुद्ध

रस को और इस यज्ञ को जानते हैं और यज्ञ का शिर कैसे जोड़ा जा सकता है और यह यज्ञ कैसे पूर्ण हो सकता इसको भी जानते हैं। २०। ये दोनों दध्यङ् के निकट आ बोले कि हम दोनों आपके शिष्य होना चाहते हैं। दध्यङ् ने पूछा कि आप क्या पढ़ना चाहते हैं ? उन्होंने उत्तर दिया कि इस शुक्र (शुद्धरस) को और यज्ञ को और इस यज्ञ का शिर कैसे पुनः जोड़ा जाये यह यज्ञ जैसे पूर्ण हो, ये सब हम पढ़ना चाहते हैं। २१। दध्यङ् ने कहा कि इन्द्र ने मुझसे कहा है कि दूसरे से यह विद्या मत कहो नहीं तो तेरा शिर काट लूँगा। उससे मैं डरता हूँ कि वह मेरा शिर न काट ले। अतः मैं आपको नहीं पढ़ाऊँगा। २२। उन्होंने कहा कि कोई हर्ज नहीं। हम दोनों आपकी रक्षा करेंगे। दध्यङ् ने पूछा कि आप कैसे मेरी रक्षा करेंगे। उन्होंने उत्तर दिया कि जब आप हम दोनों को शिष्य बना लेवेंगे तब आपका शिर काट कहीं अन्यत्र रख देंगे और अश्व का शिर ला लगा देंगे उस शिर से हम को आप पढ़ावेंगे और जब आप हमको पढ़ावेंगे तो इन्द्र आपका शिर काट लेगा। पश्चात् आपका निज शिर ला पुनः जोड़ देवेंगे। दध्यङ् ने कहा तथास्तु। २३। दध्यङ् ने उनको अपना शिष्य बनाया। जब दध्यङ् ने उनको शिष्य बनाया तब वे इनका शिर काट अन्यत्र रख आए और अश्व का शिर ला जोड़ दिया। पश्चात् दध्यङ् उस शिर से उनको पढ़ाने लगे। जब ये पढ़ाने लगे, तब इन्द्र ने इनका शिर काट लिया। पश्चात् अश्विद्वय ने उनका अपना शिर ला के जोड़ दिया। २४। वेद ने भी इसको कहा है "दध्यङ्ह यन्मध्वाथर्वणः" इत्यादि ऋचा में इसमें यही बात कहीं गई है। २५। इसलिये सबको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यह पाप जनक है और ऐसा न हो कि कहीं इन्द्र उसका शिर काट ले। परन्तु जो परिचित और ज्ञात हो उसको सिखलावे और जो अनूचान अर्थात् वेदज्ञ हो और जो गुरु का प्रिय हो ऐसे-ऐसे शिष्य को यह विद्या सिखलावे। परन्तु प्रायः सबको न कहे। २६। जो एक वर्ष गुरु के निकट वास करे। यही वर्ष है जो यह संतप्त हो रहा है। यही प्रवर्ग्य है यही इसको तृप्त करता है। इस हेतु जो सम्वत्सरवासी शिष्य है उसको यह विद्या सिखलावे। २७।

ब्राह्मण की समीक्षा

वेदार्थ को ले ब्राह्मण ग्रन्थ किस उत्तम रीति से काल्पनिक इतिहास बनाते हैं। जहाँ वेद केवल मानव-स्वभाव दर्शाते हैं अपने सामयिक-भाव और अन्यान्य-शिक्षाओं को उद्देश्य में रख ब्राह्मण झट सुन्दर मनोहर आख्यान निर्माण कर लेते हैं। वेद में केवल कहा गया है कि अश्व शिर से अश्वियों अर्थात् अश्वपुत्रों को दध्यङ् मधु विद्या पढ़ाते हैं और दध्यङ् के शिर पर अश्वशिर

अश्विदेव लगाते हैं। परन्तु अब यहाँ कहा जाता है कि इन्द्र ने दध्यङ् को निषेध कर दिया था कि तू यह विद्या किसी को मत दे। इस कारण अन्य शिर से दध्यङ् को पढ़ाना पड़ा। यह सामयिक और राज-स्वभाव का निरूपण है। शतपथ के दो उद्देश्य हैं—मुख्य उद्देश्य यह है कि विद्वान् ही यज्ञ का शिर जोड़ना जानता है। विद्वान् ही इस को पूर्ण बना सकता है। गौण प्रयोजन यह है कि कभी-कभी कोई-कोई राजा उच्छृङ्खल हो प्रजाओं के कल्याण में विविध बाधाएँ उत्पन्न करता है। परन्तु प्रजाओं की सहायता से विद्वान् उन बाधाओं को सहजतया दूर कर देता है। १—मैं पूर्व में लिख चुका हूँ कि दध्यङ् यह नाम तत्त्ववित् पुरुष का है। अथर्वा नाम परमात्मा का है अथवा अथर्वा नाम अचल का है। क्योंकि "थर्वतिर्गतिकर्मा" गत्यर्थक थर्व धातु है। जो अचल= स्थिर हो वह अथर्व। विद्वान् के सब कार्य स्थिर होते हैं। अत: यह अचल का पुत्र कहता है। कहा गया है कि "शिरोरहित" यज्ञ के साथ देवगण पूजा और श्रम कर रहे थे। परन्तु दध्यङ् शिर जोड़ना जानता था ठीक है। प्रजाओं के सब उद्यम तब तक शिरोवर्जित रह गये हैं जब तक विद्वान् इनमें सम्मिलित नहीं होते। अतएव ब्राह्मण अर्थात् तत्त्ववित् पुरुष का नाम ही मुख्य अर्थात् शिर है। यहाँ देव नाम साधारण प्रजाओं का है। "अब उन देवों में से दो देव—अश्विद्वय इस विद्वान् के निकट इस विद्या को पढ़ने के लिए आते हैं" इसका भी भाव यह है कि ऐसे तत्त्ववित् पुरुष बहुत स्वल्प होते हैं। अत: सर्वत्र ऐसे विद्वान् प्राप्य नहीं हो सकते। इस कारण सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे विद्वान् के समीप जा उस विद्या का उपदेश ले लेवें तब उनके शिष्य द्वारा सर्वत्र सर्व प्रजाओं में निरुपद्रव व्यवसाय चलता रहेगा। अत: यहाँ दिखलाया गया है कि अश्विद्वय इनसे विद्या पढ़ने को आते हैं। च्यवन के इतिहास के साथ लिख आया हूँ कि अश्विदेव स्वयं अपूर्ण और असमृद्ध हैं परन्तु ये दध्यङ् से विद्या सीख यज्ञ का शिर जोड़ना जानते हैं। देवता इन को भाग देना नहीं चाहते। ये बलात भाग ले लेते हैं। इत्यादि॥ समय को शिष्य इसलिये बनाया है कि विद्वान् की शिक्षा भी कुछ नहीं कर सकती यदि समय को अच्छे कार्य में लगाना न जानते हों। इससे सिद्ध यह हुआ कि प्रजाएँ जब तक विद्वान् और समय का आश्रय न लेंगी तब तक इनका कार्य अधूरा रहेगा। यही इसका मुख्य उद्देश है।

गौण उद्देश्य—"इन्द्र दध्यङ् को निषेध करता है कि तू यह विद्या किसी को मत दे।" इन्द्र नाम राजा का है। स्वार्थी राजा प्रजाओं में कैसी भयङ्कर रोमहर्षण आपत्तियाँ डालता रहता है यह किस विद्वान् को विदित नहीं। सब

से प्रथम यह प्रजाओं को मूर्ख रखना चाहता है। क्या भारतवर्ष ही में शूद्र पढ़ाए जाते थे ? यह एक स्वाभाविक बात है कि पाठित पुरुष सदा उच्च बन जाते हैं अथवा उच्च होने के प्रयत्न करते रहते हैं। विद्या रूप धन ही ऐसा मदकारी पदार्थ है कि जिसको यह मद प्राप्त हो जाये वह अन्य को तृणवत् समझने लगता है। अथवा यह एक सूर्यवत् प्रकाश है। इस तेज को उपलब्ध कर अन्धकार को भगा देना चाहता है। वंश परम्परागत राज वंश प्रायः अन्धकार में रहता है। अतः विद्या भास्कर के निकट इसकी स्थिति असंभाव्य हो जाती है। इस कारण स्वार्थी राजा विद्या की विस्तृति से घबराता रहता है। भारतवर्ष में उच्च आसन सदा विद्वान् को मिलता आया है। परन्तु विद्वान् परोपकारी, स्वार्थशून्य, प्रजा हितकारी, न्याय परायण सत्यपक्षावलम्बी, निर्भय, निर्विकार, धीर, धर्मवीर होते हैं। ऐसे महापुरुष, महामनस्वी राज दण्ड को सहते हुए भी प्रजाओं के हित करने से कदापि अवरुद्ध नहीं होते। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ में दिखलाया है कि दध्यङ् ने अपने शिर से पृथक् होना स्वीकार किया, परन्तु विद्या देने से विमुख नहीं हुए। हाँ, एक बात यहाँ और भी है कि विद्वानों को प्रजाओं की सहायता मिलनी चाहिये अतः यहाँ प्रजा प्रतिनिधिभूत अश्विद्वय दध्यङ् की सहायता करते हैं। पुनः ब्राह्मण यह विचार करते हैं कि विद्या किसी को नहीं देनी चाहिये यह तो सर्वथा अमन्तव्य और अहित है। हाँ इस में संकोच हो। अर्थात् गुरु के निकट जो एक वर्ष निवास करे, जो परिचित हो, जो गुरुशुश्रूषु, जो अनूचान हो इत्यादि सत्पात्रों में विद्या का आधान करे। इस नियम से यह सिद्ध होता है कि राजा की अपेक्षा विद्वान् प्रबल और मनुष्य हितकारी अधिक होते हैं। क्योंकि इन्द्र अर्थात् राजा चाहता है कि विद्या किसी को न दी जाये। परन्तु विद्वान् स्थिर करते हैं कि अमुक-अमुक अवस्थाओं में विद्या देनी चाहिये। और यह विद्वत्प्रचालित नियम विस्तृत भी हो जाता है।

परन्तु यह वैदिक नियम नहीं। वेद पात्रापात्र का विचार नहीं करते हैं। परन्तु शतपथ करते हैं। इससे सिद्ध है कि मनुष्य प्रायः दुर्बल होता है। अथवा समय देख के तदनुकुल नियम बनाता है। विद्या रत्न से सब को भूषित करो। ज्ञान प्रकाश से सब को प्रकाशित करो। अच्छा पदार्थ स्वयं अपना गुण प्रकट कर देता है। कस्तूरी के आमोद से स्वयं सब सुगंधित हो जाते हैं। कुसुम लताओं की शोभा बढ़ा देते हैं। चन्द्रज्योत्स्ना रात्रि को अलङ्कृत कर देती है। सूर्य नैश तम को क्षण मात्र में विध्वस्त कर देता है। क्या ज्ञान में वा विद्या में ऐसे गुण नहीं ? क्या जिस को आप रत्न देवेंगे वह कृतज्ञ न होगा ? यदि विद्या प्रकाश है तो क्या अज्ञान रूप तम को दूर न करेगा ? दुष्ट को शिष्ट, अप्रिय को

प्रिय, अज्ञात को ज्ञात, निरक्षर को साक्षर, मूर्ख को ज्ञानी न बनावेगा ? शतपथ दिखलाते हैं कि मनुष्य बहुत ही दुर्बल होता है। नाना ब्याज बतला कल्याण मार्ग को रोकता रहता है। यदि कहो कि अविवेकी पुरुष इससे विपरीत कार्य लेता है तो मैं पूछता हूँ कि तब विद्या का गुण क्या है ?। क्या कोई ये दोनों बातें कह सकता है कि मेरा नयन सर्वदा निरुपद्रव है तथापि मैं दिन में भी नहीं देखता हूँ। यदि विद्या नाम विवेक का है तो उसको पाकर तद्विरुद्ध कार्य कैसे करेगा। यदि कहो कि प्रत्यक्ष का अपलाप कैसे करें सहस्रों विद्वान् विपरीत कार्य करते हुए देखे जाते हैं। ठीक है। यह भी संसार में देखते हैं कि बहुत मूर्ख और पठित पुरुष दोनों शुभ कार्य करते हैं तो क्या विद्या पढ़ानी ही नहीं चाहिये। क्योंकि बिना पढ़े हुए भी बहुत पुरुष मंगल कार्य में लगे हुए हैं। इस विषय पर आगे लिखूँगा। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य जाति अगाध समुद्र है इसका पता लगाना सहज कार्य नहीं। अतः पदे-पदे मनुष्य खूब विचार कर जीवन यात्रा करे। अपना स्वतन्त्र विचार और सत्पुरुषों का जीवनादर्श इन दोनों को अपना गुरु समझे। इति।

दधीचि की अस्थि से वृत्र का हनन ॥ २० ॥

१—या मथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्नु स्वराज्यम्। १। ८०। १६।

२—इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्य प्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव।

१। ८४। १३।

३—इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति।

१। ८४। १४।

४—तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम्।

६। १६। १४।

५—येना नवग्वो दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे। देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्यानशुः। ९। १०८। ४।

१—(पिता+अथर्वा+मनुः+दध्यङ्+याम्+धियम्+अत्नत) पिता अथर्वा मनु और दध्यङ् ये जिस बुद्धि को विस्तीर्ण करते हैं। वह (तस्मिन्) उस इन्द्र के लिए होती है। (पूर्वथा+ब्रह्मणि+उक्था+इन्द्रे+समग्मत) वे विविध ब्रह्म=ब्रह्माण्डादि-प्रतिपादक पूर्ण शास्त्र और नाना ग्रन्थ सब इन्द्र में ही संगत होते हैं। वह इन्द्र कैसा है (स्वराज्यम्+अनु+अर्चन्) निजराज्य को विद्वानों के पीछे-पीछे पूजित करते हुए विद्यमान अत्नत=तनुविस्तारे। मैं पूर्व में लिख

चुका हूँ कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है और ऋषिवाची जितने शब्द है वे प्राणवाचक है। इसके अनुसार दध्यङ्=उत्तम प्राण मनु=मध्यम प्राण अथर्वा= निकष्ट प्राण ये सब जो कुछ कर्म वा पापपुण्य करते हैं। वह इन्द्र जीवात्मा को प्राप्त होता है। अथवा इन्द्र नाम न्यायपरायण राजा का है। और अथर्वा आदि नाम विद्वानों के हैं। इस मत के अनुसार विद्वान् जो कुछ सद्बुद्धि फैलाते शास्त्र और अन्यान्य ग्रन्थ लिखते हैं, वह सब राजा को प्राप्त होता है। क्योंकि राजप्रबन्ध से अधिक लाभ उठाता है। उन ग्रन्थों के अनुसार बलात्कार राजा चलाया जाता है। अतः विद्वानों की बुद्धि राजा में संगत होती है। यदि वह राजा स्वराज्य को सर्व प्रकार से पूजित बना रहा हो।

२—(अप्रतिष्कुतः+इन्द्रः) अप्रतिद्वन्द्वी इन्द्र (दधीचः+अस्थभिः)दध्यङ् की हड्डियों से (नवतीः+नव+वृत्राणि) ९० और ९ वृत्रों को (जघान) हनन करता है। अस्थभिः छन्दस्यापि दृश्यत इति अनजादावपि अस्थिशब्दस्य अनङादेशः (सा०)

३—(पर्वतेषु+अपश्रितम्) पर्वतों पर गोपित (अश्वस्य+यत्+शिरः+ इच्छन्) अश्व के जिस शिर की इच्छा करते हुए इन्द्रदेव (तत्+शर्यणावति+ विदत्) उसको शर्यणवान् में प्राप्त करता है।

४—अथर्वणः पुत्रः+दध्यङ्+ऋषिः+तम्+उ+त्वा+ईधे) अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ऋषि हे अग्ने! उस आपको प्रदीप्त करता है। जो आप (वृत्रहणम्) आवरक अन्धकार के हन्ता हैं और (पुरन्दरम्) अन्धकार के पुरों को विदारयिता हैं।

५—(नवग्वः+दध्यङ्) जो प्राण नव मास में उत्पन्न हो वह नवग्व और जो दश मास में उत्पन्न हो वह दशग्व कहाता है। नवग्व, दशग्व अथवा नवगू, दशगू ये दो शब्द बहुधा प्रयुक्त हुए हैं वह नवग्व दध्यङ् (येन+अप+ऊर्णुते) जिस सोम के द्वारा ज्ञान को खोलता है (येन+विप्रासः+आपिरे) जिस सोम से मेधावीगण सब कुछ प्राप्त करते हैं (देवानाम्+सुभ्ने) देवों के सुख के निमित्त (येन+चारुणः+अमृतस्य+श्रवांसि+आनशुः) जिस सोम से सुन्दर अमृत के यश को प्राप्त करते हैं। वह सोम सर्वथा प्रशंसनीय है।

कथोत्पत्ति।

दध्यङ् की चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त बृहद्देवता के ४। १० में, निरुक्त। १२। ३३ में एवं महाभारत भागवतादि पुराणों में सर्वत्र पाई जाती है। वेद और सुप्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में दध्यङ् पद आता है। महाभारत आदि में

कहीं दधीचि, कहीं दधचि और कहीं दध्यङ् भी आता है। यास्काचार्य की व्युत्पत्ति यह है "दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्त मस्मिन् ध्यानमीति" जो ध्यान में आसक्त हो अथवा जिसमें ध्यान आसक्त हो उसे दध्यङ् कहते हैं। प्रथम इसके ऊपर सायण आदिकों ने जो इतिहास लिखे हैं उन्हें मैं यहाँ संक्षेप से लिख के वेदाशय के ऊपर विचार करूँगा। पाठकों को विचारपूर्वक अध्ययन करना चाहिये। और देखें कि क्रमशः किस प्रकार आख्यायिका बढ़ती गई है।

दध्यङ् और शाट्यायनी।

१।८४।१३ वीं ऋचा के भाष्य में सायणाचार्य शाट्यायनी के मत के अनुसार यह इतिहास लिखते हैं-आथर्वण दध्यङ् जब तक जीवित रहे तब तक इनके दर्शनमात्र से असुरगण परास्त होते गये। परन्तु उनके स्वर्ग जाने पर यह पृथिवी पुनः असुरों से पूर्ण हो गई। इन असुरों के साथ युद्ध करने में असमर्थ हो इन्द्र ने दध्यङ् की जिज्ञासा की। मालूम हुआ कि वे स्वर्ग को चले गये। वहाँ के लोगों ने पूछा कि क्या दध्यङ् का कोई अवशिष्ट अङ्ग यहाँ नहीं है ? उन्होंने उत्तर दिया कि यहाँ अश्वसम्बन्धी शिर है जिससे अश्विद्वय को मधुविद्या पढ़ाई थी। परन्तु वह कहाँ रखा हुआ है यह मालूम नहीं। इन्द्र ने कहा कि उसकी आप खोज कीजिये। अन्वेषण कर उन्होंने इन्द्र से कहा कि वह शिर शर्य्यणावान् सरोवर में रखा हुआ है। कुरुक्षेत्र के निकट जो सरोवर है उसका नाम शर्य्यणावान्। तत्पश्चात् इन्द्र उस अश्व शिर को उपलब्ध कर उसकी हड्डी ले असुरों का संहार करने लगे। अन्त में उसी हड्डी से इन्द्र ने सब असुरों को परास्त किया। १।८४।१४। वीं ऋचा की व्याख्या में शर्य्यणावान् शब्द का अर्थ सायण करते हैं। शर्य्यणा किसी देश का नाम है। इसके समीप का जो सरोवर है उसे शर्य्यणावान् कहते हैं।

दधीचि और महाभारत।

महाभारत वनपर्व १०० शततम् अध्याय से दधीचि की कथा का आरम्भ होता है। युधिष्ठिर से लोमश ऋषि कहते हैं कि हे राजन्! कृतयुग में परमदारुण, युद्धदुर्म्मद बहुत से दानव काल केय के नाम से पुकारे जाते थे। इन सब का शिरोमणि वृत्र था। सब मिल कर तीनों लोकों में उपद्रव करने लगे। देवगणों को नाना प्रकार से क्लेश पहुँचाने लगे। इनके सब अधिकार छीन लिये। पश्चात् सब देवगण इन्द्र को आगे कर ब्रह्मा के निकट पहुँचे और अपना क्लेश कह कर सुनाया। तब ब्रह्मा ने यह उपाय बतलाया कि—

दधीच इति विख्यातौ महानृषिरुदारधीः। तं गत्वा सहिता स्सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत॥ स वो दास्यति धर्म्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना। स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः॥ स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै। स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति॥ तस्थास्थिभिर्महाधोरं वज्रं संक्रियता दृढम्। ...तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः॥

दधीच नाम के महान् उदारमति ऋषि हैं। उनके निकट आप सब जाके वर माँगिये। वह धर्म्मात्मा ऋषि अन्तरात्मा से सुप्रसन्न हो अवश्य आपको वर देवेगें। ऋषि से आप निवेदन कीजिये कि अपनी अस्थियाँ दीजिये। जिससे तीनों लोकों का कल्याण हो। वह अवश्य अपना शरीर छोड़ आप को अस्थियाँ देंगे। उन अस्थियों से दृढ़ और महाघोर वज्र बना लीजिये। पश्चाात् उसी वज्र से इन्द्र उस वृत्र का वध करेंगे।

ब्रह्मा से यह सम्मति ले दधीच के आश्रम में आ ऋषि को प्रणाम कर सब देवों ने मिल के वर माँगा।

ततो दधीचः परमः प्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच।
करोभि यद्वो हितमद्य देवाः स्वं चापि देहं स्वयमुतसृजामि॥

दधीचि ने कहा कि हे देवगण! जो आप का हित हो उसको मैं करूँगा, निज शरीर को छोड़ आप का हित करूँगा। यह कह के दधीचि अपने शरीर को त्याग स्वर्ग को चले गये। तब देवगण ने इनके शरीर की अस्थियाँ निकाल त्वष्टा को वज्र बनाने के लिए समर्पित किया। त्वष्टा ने भी शीघ्र वज्र बना कर इन्द्र को दिया। इन्द्र उसी वज्र से वृत्र को मार तीनों लोकों को सुखी बना निष्कण्टक राज्य करने लगे। इति।

दध्यङ् और भागवत

श्रीमद्भागवत के षष्ठस्कन्ध के कई अध्यायों में वृत्र वध की कथा उक्त है। नवम अध्याय ८ वें श्लोक से इस प्रकार वर्णन आरम्भ होता है। परम-दारुण पापी वृत्र अपने दुष्कर्मों और भुजबलों से त्रिलोकी को वित्रस्त करने लगा। देवगण उसको परास्त करने के लिए अपनी-अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा, हार मान, विष्णु भगवान् की शरण आये। बहुत स्तुति प्रार्थना कर श्री विष्णु को प्रसन्न किया। वह विष्णु शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण कर आविर्भूत हो देवों से हँसते हुए बोले। हे देवगण! मेरे प्रसन्न होने पर कोई कार्य दुराप नहीं। परन्तु इस समय आप यह करें। ऋषिसत्तम दध्यङ् के निकट जा "विद्याव्रत तपः सारं गात्रं याचत मा चिरम् उनके विद्याव्रत तपःसार शरीर की याचना

कीजिये। उसी से आपका कल्याण होगा। इन्द्रसहित देवगण ने दध्यङ् के निकट आ उनके शरीर की याचना की। उस समय दध्यङ् ने वक्ष्यमाण श्लोक कह शरीर त्यागा। देवगण अस्थियों का वज्र बना वृत्र को मार परमानन्दित हुए। इत्यादि।

धर्म्म वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः। एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं संत्यजाम्यहम्॥ योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्म्मं न यशः पुमान्। ईहते भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥ एतावानव्योधर्म्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः। योभूतशोकहर्षाभ्या मात्मा शोचति हृष्यति। अहो दैन्य महोकष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः। यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः॥ इति॥

वेद का आशय।

"इन्द्रोदधीचो अस्थिभिः" और "इच्छन्नश्वस्ययच्छिरः" इन दो ऋचाओं पर विशेष मीमांसा कर्त्तव्य है। इन ही दो स्तम्भों पर सर्व इतिहास स्थापित किये गये हैं। अश्विसूक्त में भी दध्यङ् की आश्चर्य लीला दिखलाई है। यहाँ पर भी उससे न्यून नहीं। परन्तु विचारने पर दोनों का समान भाव प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ पर भी दध्यङ् विद्या का ही व्यवसाय करते और यहाँ पर भी इनकी अस्थियों को साधन बना इन्द्र निज शत्रुओं को घातित करते हैं। अब शंका होती है कि जब बड़े-बड़े इन्द्रादि देव वृत्र को नहीं मार सकते तो क्या मृतपुरुष की अस्थियों से वह मर सकता था? पुनः वेद कहते हैं कि ९९ वृत्र हैं। इतने ही वृत्र क्यों? दध्यङ् का अश्वशिर पर्वतों पर छिपाया था। अनुसन्धान से इन्द्र को शर्य्यणावान् में वह मिला। इत्यादि का कुछ आशय विस्पष्ट प्रतीत नहीं होता अतः इसकी समीक्षा करनी आवश्यक है। इस आख्यान से वेद-भगवान मुख्यतया दो चार बातों का उपदेश देते हैं १—विद्वानों की आविष्कृत विद्याएँ कभी नष्ट नहीं होतीं। २—विद्वानों को उचित है कि कुछ भी अपना शेष अवश्य छोड़ जाएँ। ३—प्रबन्धकर्त्ता राजा सदा ध्यान रखे कि ऐसे परमोपयोगी पदार्थ नष्ट न होने पावें। ४—विद्वानों के प्रदर्शित उपायों से राजा और प्रजाएँ मिलके सदा देशोपद्रवों को प्रशान्त किया करें। इत्यादि। इसके लिए प्रथम इन्द्र, ९९ वृत्र और अस्थि, पर्वत शर्य्यणावान्, अश्वशिर आदि शब्दार्थों पर ध्यान देना चाहिये।

इन्द्र शब्द परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सूर्य, विद्युत् आदि अर्थों में इसका प्रयोग होता है, यहाँ जीवात्मा और राजा दो अर्थ मुख्य हैं। ९९ वृत्र—सायण "नवतीर्नव" इसका सन्दिग्ध अर्थ करते हैं। ९० गुणा ९=८१० और ९९ दोनों अर्थ करते हैं। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त "नवगुण नीति" अर्थ करते हैं। ग्रिफिथ

Nine and Ninty अर्थ करते हैं। परन्तु ''नवतीर्नव'' इसका विस्पष्ट अर्थ नव नवति (निनान्नवे) है ९९ वृत्रों का अर्थ समझना कठिन नहीं है। वृत्रनाम दुष्टेन्द्रिय, अज्ञान, अन्धकार, आवरण, आच्छादन आदिकों के हैं। जैसे उत्तम सात्त्विक इन्द्रियों का नाम देव है। वैसे ही वेद में दुष्टेन्द्रियों के नाम वृत्र, नमुचि, शम्बर, चुमुरि, धुनि, कुयव आदिक हैं अर्थात् अज्ञान में पुरुषत्व का आरोप कर उसको वृत्र आदि नाम देते हैं। और पूरा रूपक बाँध पापिष्ठ पुरुष के समान इसका सब वर्णन करते हैं। इस प्रकार वेद दो दल बनाते हैं। एक इन्द्रदल और दूसरा वृत्रदल। इसी को ब्राह्मण और महाभारत आदिक ग्रन्थों में देव और असुर दल कहते हैं। देवासुर संग्राम अतिप्रसिद्ध है। वेदों में असुर शब्द उत्तमोत्तम अर्थ में भी आया है। अत: वेदानुसार देव और असुरदल कहना अच्छा नहीं। इन्द्र के सहायक त्रित, कुत्स आदि ऋषि हैं और वृत्र के सहायक, नमुचि, शम्बरआदि। इस प्रकार शिष्ट और दुष्ट इन्द्रियों का, प्रकाश और अन्धकार का, ज्ञान और अज्ञान का, सूर्य और मेघ का इत्यादि प्रकारक जो अनादि काल से युद्ध होता आता है इसी का नाम वृत्रसंग्राम है। यह इतना प्रबल और भयंकर है कि संग्राम का नाम ही इस वृत्र नाम पर वृत्रतूर्य रखा गया है (निघण्टु २।१७।) इन्द्र प्रकरण में विस्तार से वर्णन करूँगा। अब ९९ वृत्र कौन हैं? यह भी समझना कठिन नहीं। यदि केवल इस ९९ नवनवति का यथार्थ तात्पर्य समझ में आ जाये तो आगे कोई विवाद नहीं रहता। देवों की संख्या ३३ तैंतीस है। परन्तु साधुओं की अपेक्षा शैतान अधिक और बलिष्ठ होते हैं यह प्रत्यक्ष है। कोई साधु जितने समय में एक उपकार करेगा उतने में शैतान तीन हानियाँ कर बैठेगा। अत: ३३ तैंतीस को ३ तीन से गुणित कर ९९ नव नवति वृत्र बनाए गये हैं। देवविरुद्ध वृत्रशब्दार्थ है। यह एक कथन की परिपाटी है कि शैतान त्रिगुण होता है। इसी कारण वृत्र (शैतान) को त्रिशीर्षा= तीन शिर वाले कहते हैं १०।८८ वीं ऋचा में वृत्र को त्रिशीर्षा कहा है। पुनः ''स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन षडक्ष त्रिशीर्षाणम्'' १०।९९।६। इस ऋचा में वृत्र को त्रिशीर्षा और षडक्ष अर्थात् छह नेत्रों से युक्त कहा है। यहाँ विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। यहाँ देखते हैं कि यदि इन्द्रदेव को एक शिर है तो वृत्र को तीन शिर हैं। अर्थात् इन्द्र की अपेक्षा वृत्र त्रिगुणित है। समस्त देवों के मुकाबले में राक्षस त्रिगुणित है। जिस कारण देवों की संख्या ३३ हैं। अत: राक्षसों की संख्या त्रिगुणित होनी चाहिये अत: ३३ गुणा ३=९९ नवनवति वृत्र कहे गये हैं। वेद में वृत्र बहुवचन आया है। अत: सब राक्षस मिलके ९९ होते हैं यह सिद्ध हुआ। त्रिशीर्षा की शतपथ ब्राह्मण के कई एक स्थानों में चर्चा

आई है:—

१—त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान। शतपथ १। २। १।

२—त्वष्टुर्हवै पुत्रः। त्रिशीर्षा पडक्ष आस। तस्य त्रीण्येव मुखानि आसुः। इत्यादि। शतपथ। १। ६। २।

यहाँ विस्तार से कथा है। त्वष्टा का क्रोध और ''इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व'' इत्यादि पद लेके जो श्रीमद्भागवत आदि में बृहत्कथा लिखी गई है। इसका यहाँ बीज पाया जाता है।

३—त्वष्टुर्ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस। तस्य त्रीण्येव मुख्यान्यासुः। तद्यदेवंरूप आस तस्माद् विश्वरूपोनाम... तमिन्द्रोदिद्देष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद। शतपथ। ५। ५। ६।

इत्यादि वेद और ब्राह्मण दोनों के मतानुसार राक्षस त्रिगुण है। अतः देव ३३ और राक्षस ९९ हैं। अब इतने ९९ राक्षस कौन हैं इसका वर्णन इसी प्रकरण में आगे देखिये। यह ९९ शब्द ही अलङ्कारसूचक है। मुख्य कोटि तो यही है। गौण अर्थ भी इसके हैं। उसको भी विचारिये। अथवा ९९ इसमें नवम अंक हैं। यह नवम अंक निःशेष अर्थात् समस्तवाचक है। क्योंकि नवम अङ्क के पश्चात् संस्कृत भाषा में विशेष अङ्क चिह्न नहीं। एक पर शून्य देकर १० दश और एक पर ग्यारह इत्यादि सब अंक बन जाते हैं। अतः यह ९९ अङ्क समस्त सूचक है। अर्थात् जितने वृत्र के सहायक हैं सबको इन्द्र हत करता है। अथवा ९ को किसी अंक से गुणा कर परिणाम फल को लिखिये। अब इसके जितने अङ्क हैं, उन सब को जोड़ दीजिये। अब जो जोड़ने से परिणाम फल आवेगा वह नव से बिना शेष के विभक्त हो जायेगा। यथा ९ गुणा १६= १४४। अब १+४+४ को जोड़ने से ९ होता। यह नव से विभक्त हो जायेगा शेष कुछ नहीं रहेगा। पुनः ९ गुणा ५६७८९=५१११०१ अब ५+१+१+१+१=९। अब ३ भाग ३=०। इससे भी यह सिद्ध होता है कि नव संख्या निःशेष वाचिका है। ९९ यहाँ दो नव इसलिये हैं कि पुनरुक्ति बहुत अर्थ की द्योतिका होती है। अर्थात् इन्द्र सब ही वृत्र को हत कर देता है। एक भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस भाव को ९९ यह संख्या सूचित करती है। अब ९९ वृत्र अर्थात् असुर वा राक्षस कौन हैं? इसके जानने के लिए प्रथम आवश्यक है कि ३३ देव कौन हैं? इसको जानें। यद्यपि ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और इन्द्र और प्रजापति। अथवा ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य आकाश और पृथिवी। अथवा ११ प्रयाज, ११ अनुयाज, ११ उपयाज। अथवा ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और वसु और प्रजापति इत्यादि मिलके ३३ देव कहाते

हैं। तथापि यहाँ ३३ देवों से केवल इन्द्रियों का ग्रहण है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और एक मन से मिल कर एकादश इन्द्रिय होते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से वे प्रत्येक तीन-तीन प्रकार होते हैं। अतः इस प्रकार ये ही इन्द्रिय ३३ देव हैं। वेद इन्हीं तैतीस देवों की चर्चा पुनः-पुनः करते हैं। वेद नियत संख्या का सदा वर्णन करते हैं। अनियत का नहीं। ये ११ शरीर में नियत हैं और उत्तम, मध्यम, अधम भेद भी प्रत्यक्ष हैं। वेदों के **''उदुत्तमं वरुण पाश-मस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय''** इत्यादि अनेक स्थूलों में तीनों भेदों का प्रत्यक्ष वर्णन है। अतः इन्द्रिय ही ३३ देव हैं। अन्यथा वेदानुसार यावत् पदार्थों को देव नाम से पुकारते हैं। मण्डूक, वाण, स्त्री, पुरुष, दान, अलक्ष्मी आदि सभी देव ही हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्डस्थ अनन्त देवों को ३३ ही कह कर वेद कैसे वर्णन कर सकते अतः नियत संख्या का ही ग्रहण करना उचित है। अब ९९ वृत्र कौन हैं। यह समझना कठिन नहीं रहा। मैं कह चुका हूँ कि शिष्टेन्द्रिय देव और दुष्टेन्द्रिय वृत्र, राक्षस, असुर आदि नाम से पुकारे जाते हैं। जिस कारण देवों की अपेक्षा वृत्रों की शक्ति त्रिगुण होती है जैसा कि अभी त्रिशीर्षा षडक्ष शब्द से सिद्ध किया है। अतः ९९ वृत्र कहे गये हैं। दुष्ट इन्द्रिय ही वृत्र हैं। शिष्ट इन्द्रिय ही देव है। वेद भगवान् इसी घोर संग्राम का वर्णन करते हैं।

दध्यङ् और दध्यङ् की अस्थियां-दध्यङ् नाम विद्वान् का है इसमें अब सन्देह नहीं रहा। अब विद्वान् की अस्थि से क्या तात्पर्य है। यह भी दुर्बोध नहीं। इस मानव शरीर का अस्तित्व विशेष कर अस्थियों के ऊपर है। मानो, अस्थिरूप स्तम्भों पर इस शरीर की रचना है। इसी प्रकार विविध विद्या रूप स्तम्भों पर विद्वान् की स्थिति है। और जैसे मरण के पश्चात् भी चिरकाल तक अस्थियाँ अवशिष्ट रहती हैं तद्वत् विद्वान् की विद्याएं, स्थिर रहती हैं। अतः यहाँ अस्थि शब्द से विद्वान् की आविष्कृत विद्याएँ लिखित ग्रन्थ, प्रदर्शित उपाय, उपदेश, शिक्षा आदिक पदार्थ हैं। ये पार्थिव अस्थियाँ नहीं। पृथिवी पर से विद्वान् के उठ जाने पर भी इनके पीछे इनकी विद्या रूप अस्थियाँ रह जाती हैं, जिनकी सहायता से जीवात्मा इन्द्र नाना विघ्नरूप वृत्रों का संहार करता रहता है। विद्वान् की ऐसी प्रशंसा है अर्थात् विद्वान् के माहात्म्य का यह वर्णन है। लोक में भी कहते हैं कि उस महापुरुष की हड्डी ही काम कर रही हैं। वह क्या अभी मरा है। पाणिनि को मृत कौन कह सकता है ? वेद रूपक बना कर प्रायः वर्णन किया करते हैं। इस भाव को न समझ कर सायणादिकों ने वेदों का विपरीत अर्थ कर दिया है। वेद किसी अलौकिक जादू टोने की बातों का

वर्णन नहीं करते। यदि लोग भाव न समझें तो इनका क्या दोष। एवमस्तु।

पर्वत और शर्यणावान्। परन्तु वे विद्याएँ कहाँ रहती हैं ? इनके शिष्यों के हृदय में। शिष्य ही यहाँ पर्वत हैं और इनका अन्तःकरण ही शर्यणावान् है। जैसे हिमालय आदि पर्वत उच्च और विविध रत्नों की खान हैं और जिनमें से नदियों की धाराएँ सदा निकलती रहती हैं। तद्वत् ये शिष्य हैं। मनुष्य में वे अपने गुणों से उच्च माने जाते हैं। विविध विद्यारत्नों से सुभूषित हैं और विद्यारूप धाराएँ इनसे सदा निकलती रहती हैं अतः ये शिष्य ही पर्वत हैं। इनका शरीर ही कुरुक्षेत्र के समीप अर्थात् कर्मक्षेत्र है। कुरुनाम कर्म का है। इसी कुरुक्षेत्र के समीप अर्थात् इसी शरीर में हृदय ही शर्यणावान् सरोवर है। जहाँ दध्यङ् का अश्वशिर छिपाया हुआ है। इन्द्र अर्थात् जीवात्मा खोज कर विद्वानों के हृदय में उसको उपलब्ध करता है। अश्वशिर-अश्वशिर का अर्थ अब बहुत विशद हो गया। शिष्य की अवस्था में आकर विद्वानों की जो अध्यापन-प्रणाली है उसी को वैदिकभाषा में अश्वशिर कहते हैं। अब विद्वान् के मरने पर भी यह अश्वशिर रह जाता है अर्थात् यह अध्यापनं-प्रणाली रह जाती है। कहाँ रहती है ? शिष्यों के हृदय में। यही शिष्य पर्वत हैं और इनका अन्तःकरण ही शर्यणावान् सरोवर है। इनके शरीर को ही कुरुक्षेत्र कहा है। कुरुक्षेत्र अर्थात् कर्मक्षेत्र। इसी क्षेत्र में सब कुछ है। यहाँ ही युद्ध होता है और यहाँ ही विजय भी। यहाँ ही गिरते यहाँ ही उठते हैं अब—

''इन्द्रो दधीचो अस्याभिर्वृत्राण्य प्रतिष्कुतः। जघान नवतीनव।''

इसका भाव समझना क्लेशकर नहीं होगा। प्रत्येक पुरुष का अपना-अपना अनुभव है कि कभी इन्द्रियाँ शुभकर्मों में और कभी अशुभकर्मों में प्रवृत्त हो जाती हैं। पुनः इनमें चिरकाल तक युद्ध होता रहता है। कभी तो यही मन अमुक कार्य करने को कहता है और कभी मना कर देता है। कभी करके पछताने लगता है। कभी महापुरुषों के संग कृतकुकर्म पर पश्चात्ताप करता है। कभी महाघोर पाप करने लगता है। कभी निवृत्त हो के सदाचारी बन जाता है। पाप अथवा पुण्य में ये इन्द्रिय ही प्रवृत्त होते हैं। जीवात्मा चेतन होने के कारण समझता है कि मुझे दण्ड अवश्य मिलेगा। ऐसा सात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होने पर अपने दुष्ट स्वभाव को मारने के लिए उपाय करने लगता है। किन उपायों से ये दुष्ट मर सकते हैं ? निश्चय, विद्वानों के संग से, शिक्षा की प्राप्ति से, विद्वानों के लिखित ग्रन्थों के अनुसार चलने से इत्यादि अनेक उपायों से जीवात्मा अपने दुष्टभाव को मार सकता है। अतः वेद में कहा जाता है-इन्द्रः=शुद्ध जीवात्मा। दध्यङ्=विद्वान्। अस्थभिः=प्रदर्शित उपाय से। वृत्र= दुराचारी इन्द्रिय।

अर्थात् शुद्ध जीवात्मा दध्यङ् के प्रदर्शित उपायों से दुराचारी इन्द्रियों का हनन कर देता है। जिनके द्वारा अनुचित काम, भोग, अर्थसंग्रह करते, चोरी, डकैती, बालहत्या, स्त्रीहत्या, आदि महापातक सेवते हैं। वे ही दुष्टाचारी इन्द्रिय कहाते हैं। इन दुराचारों को छोड़ देना ही दुष्टेन्द्रियों का महाविजय है। इसी का नाम इन्द्रवृत्रासुर संग्राम है। दूसरा नहीं। अब इसी प्रकार के जितने संग्राम के ऊपर भी दो दल है। शिष्ट और दुष्ट। इन दुष्टों का भी संहार राजा वा प्रतिनिधि विद्वान् प्रदर्शित उपायों से ही करेगा। इत्यादि योजना यहाँ अनेक प्रकार से कर सकते हैं। अलमतिविस्तरेण॥

कक्षीवान् को मधु अश्वादि की प्राप्ति। २१।

१—याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे
दीर्घश्रवसे मधु कोशोअक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभि रावतम्।
ताभिरू षुऊतिभिरश्विनाऽऽगतम्। १। ११२। ११।

१—(सुदानू) हे सुन्दर दानशील अश्विद्वय! (याभिः+ऊतिभिः) जिन समस्त उपायों से (औशिजाये+वणिजे+दीर्घश्रवसे) इच्छापुत्र, वणिक और दीर्घकीति परम-यशस्वी कक्षीवान् के लिए (मधुकोशः+अक्षरत्) माधुर्ययुक्त धनधान्यादिक कोश सिक्त करते हैं। पुनः (स्तोतारम्+कक्षीवन्तम्+याभिः+आवतम्) स्तुतिपाठक कक्षीवान् को जिन उपायों से रक्षित करते हैं (अश्विना+ताभिः+ऊ+सु+ऊतिभिः+आ+गतम्) हे अश्विद्वय! अवश्य ही उन उपायों के साथ मेरे निकट आवें। औशिज=उशिक्पुत्र। उशिक्=इच्छा ''वशकन्तौ'' इच्छार्थक वश धातु से उशिक् बनते हैं। जो इच्छा का पुत्र हो वह औशिज। वणिक्=वैश्य, बनिया, दीर्घश्रवम्=दीर्घश्रवा। श्रवस्=यश कीर्ति। ''दीर्घ श्रवो यस्य स दीर्घश्रवाः'' जिसका बड़ा यश हो। मधुकोश=इस को कोई-कोई दो पद करते हैं। सो ठीक नहीं। ''मधूनां कोशः'' यहाँ अम्विभक्ति को ''सुपांसुलुक्'' इत्यादि सूत्र से सु हो गया है। कक्षीवान् ''कक्ष्या रज्जुरश्वस्य तया युक्तः कक्षीवान्'' (सायण) ''कक्षे भवा कक्ष्या'' जिस रज्जु (रस्सी) से घोड़े का पेट बाँधते है उसे कक्ष्या कहते हैं। वह कक्ष्या जिस के हो वह पुरुष कक्षीवान् कहाता है। अर्थात् घोड़े को बाँधने के लिए जो पुरुष सदा अपने हाथ में रस्सी रखे हुए रहता है। हाथी बान्धने की रस्सी को भी कक्ष्या कहते हैं ''**दूष्या कक्ष्या वस्त्रा च अमरकोश।**'' ''**कक्ष्या वृहतिकायाँ स्यात् काञ्चथां मध्येभबन्धने। हर्म्यादीनां प्रकोष्ठेचकार्य हेतौ प्रयोजने**'' मेदिनी।

इत्यादि प्रमाणों से गजमध्य बन्धन का कक्ष्या नाम है। "**आसन्दी वदष्टीव च्चक्रीवत् कक्षीवद् द्रुमणवच्चर्म्मण्वती**" ८। २। १६। इस सूक्त से कक्षीवान् मतुप् अर्थ में बनता है। यहाँ सायण आदि कतिपय भाष्यकार "दीर्घश्रवा" यह पृथक् नाम रखते हैं। और कहते हैं कि कक्षीवान् और दीर्घश्रवा दोनों उशिकपुत्र हैं। और उशिक् दीर्घतमा की पत्नी है। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि "औशिज" यह विशेषण कक्षीवान् के साथ ही आता है। इतिहास और यास्क की आख्या देखिये। एवं "सोमानं स्वरण कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः" इस वैदिक प्रमाण से भी कक्षीवान् ही औशिज है। सायण इस पर यह इतिहास लिखते हैं "उशिकपुत्र दीर्घश्रवा नामक कोई ऋषि अनावृष्टि होने पर जीवनार्थ वाणिज्य करने लगा। और वर्षणार्थ अश्विदेव की स्तुति की। इष्टदेव ने प्रसन्न हो प्रभूत वर्षण किया। इसी का वर्णन इसमें हैं।" परन्तु यह असत् है। इसका यथार्थ विवरण इस प्रकरण के अन्त में देखो।

२—युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम् कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुंभाँ असिञ्चतं सुरायाः। १। ११६। ७।

२—(नरा) हे व्यापारोन्नेता समयदेव! (स्तुवते) स्तुतिपाठक (पज्रियाय) परमोद्योगी (कक्षीवते) कक्षीवान् को (युवम्) आप (पुरन्धिम्) प्रभूतबुद्धि (अरदतम्) देते हैं। और उसको (वृष्णः) वर्षा करनेहारे (अश्वस्य) घोड़े के (कारोतरात्+शफात्) अत्यन्त कार्यपरिणत खुर से अथवा कूप सदृश खुर से (सुरायाः+शतम्+कुम्भान्) मधुर रस के सौ घड़े (असिञ्चतम्) सींचते हैं अर्थात् देते हैं। अरदत=रदविलेखने। पुरन्धि=बहुधी। यास्क। कारोतरात्=कारोतर नाम कूप भी है। निघण्टु। ३। २३। पूर्व ऋचा में आपने देखा कि "मधुकोश देते है" ऐसा कहा है। उसी मधुकोश को यहाँ सुराशतकुम्भ कहा है। अतः यहाँ सुरा का अर्थ मद्य नहीं है। भावार्थ आगे रहेगा।

३—तद्वां नरा शंस्यं पज्रियेण कक्षीवता नासत्या परिज्मन्। शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भां असिञ्चतं मधूनाम्। १। ११७। ६।

३—(नरा+नासत्या) हे व्यापारोन्नेता! हे उद्योग सफलीभूतकारक असत्यरहित अश्विद्वय! (परिज्मन्) अभीष्ट सिद्धि होने पर (वाम्+तत्) आपका वह-वह प्रशंसनीय और अद्भुत कर्म (पज्रियेण+कक्षीवता) परमोद्योगी जितेन्द्रिय पुरुष से (शंस्यम्) प्रशंसनीय होता है। कौन सा कर्म? (जनाय्) जो प्रार्थी और उद्योगी जन के लिए (वाजिनः+अश्वस्य+शफात्) वेगवान् घोड़े के खुर से (मधुनाम्+शतम्+कुम्भान्) मधुर पदार्थों के सैकड़ों घड़ों को

(असिञ्चतम्) सींचते रहते हैं यह कर्म प्रशंसनीय है। अर्थात् प्रार्थी पुरुष को जो आप शतशः मधुर पदार्थ देते रहते हैं। यह आपका कर्म प्रशंसोचित है। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिये कि एक ही स्थल में ''शतं कुम्भां असिञ्चतं सुरायाः'' और दूसरी जगह ''शतं कुम्भां असञ्चितं मधूनाम्'' इत्यादि पद आते है। अतः सिद्ध है कि सुरा शब्द यहाँ मधुवाक है।

व्याख्या

प्रथम इन्हीं तीन ऋचाओं पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कक्षीवान्, औशिज और आदि शब्दार्थ अच्छे प्रकार जाने जायें तो इसका आशय ग्राह्य हो जायेगा। कक्षीवान् का अर्थ पूर्व में लिख आया हूँ। औशिज=''उशिजः पुत्र औशिजः'' उशिक का पुत्र। ''वशःकित्''। उणादि २।७१। इच्छार्थक वश धातु से इस सूत्र द्वारा उशिक् शब्द सिद्ध होता है। निरुक्त ६।१० में यास्क भी वश धातु से ही उशिक् सिद्ध करते हैं। ''उशिक्वेष्टेः कान्तिकर्मणः'' या वष्टि इच्छति सा उशिक्। जो इच्छा करे उसको उशिक् कहते हैं यद्यपि इच्छति, कामयते आदि अनेक इच्छार्थक धातु वेद-लोक प्रसिद्ध है। वश धातु का लोक में प्रयोग नहीं होता। तथापि वेदों में वश धातु बहुधा प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण इसको वैदिक धातु कहते हैं। धातु पाठ अदादि प्रकरण में १—दीधीङ् २—वेविङ् ३—सस ४—सस्ति और ५—पञ्चम वश इनको छान्दस धातु कहते हैं। इस धातु से वष्टि, उशती, उशन्, उशिक्, उशना, उषा इत्यादि अनेक शब्द बनते हैं और वेदों में उनके प्रयोग हैं। इस प्रकार उशिक् शब्दार्थ इच्छा वा इच्छावती है। औशिज=इच्छापुत्र। अब प्रश्न होता है कक्षीवान् और उशिक् कौन हैं? इसका समाधान केवल शब्दार्थ और मन्त्रार्थ देखने से ही हो जाता है। जिसके हाथ में घोड़ा बाँधने की रज्जु हो वह कक्षीवान्। यहाँ अश्व कौन है? जिसको बाँधने के लिए इसके निकट सदा वरत्रा (मोटा रस्सा) रहती है। निःसन्देह यह चतुष्पद घोड़ा नहीं। इस घोड़े को बाँधने के लिए प्रतिक्षण हाथ में रस्सा रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये अश्व वैसे चंचल, अवश, अयन्त्रणीय, अवध्य नहीं होते। किन्तु मनुष्य के इन्द्रियरूप अश्व ही उच्छृङ्खल, अवशीभूत, निरङ्कुश दुःसाध्य, अतिप्रबल, महाभयङ्कर, कुपथगामी और सारथि को पुनः-पुनः गिराने हारे होते हैं। ये इन्द्रियरूप अश्वों को कौन वर्णन कर सकता है। कौन इनको निग्रह कर सकता है। ये विद्युत् के समान चञ्चल, झंझा वायु के तुल्य अग्राह्य, वायु को रोकना उतना कठिन नहीं परन्तु इन्द्रियों को अपने वश में रखना महाकठिन कार्य है। इस दुर्जेय, वेगवान्, दुःसाध्य अश्व को बाँधने के लिए जो सदा ज्ञान

विज्ञान रूप वरत्रा रखता है उसी को कक्षीवान् कहते हैं। अर्थात् परमजितेन्द्रिय परमोपयोगी परम पुरुषार्थी पुरुष का नाम कक्षीवान् है। किसी एक व्यक्ति का नहीं। आप यहाँ यह भी देखते हैं कि जिस हेतु यह कक्षीवान् है अतः इसको घोड़े के खुर से बहुत धन प्राप्त होता है। वह वैदिक वर्णन बहुत ही उचित है। क्योंकि जिसका मनोरूप अश्व संयत (बद्ध) है उसको उससे कौन-कौन पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकता। अतः वेद कहते हैं कि अश्विदेव इस कक्षीवान् को अश्व के खुर से शतशः पदार्थ देते हैं। जो उपयोगी, पुरुषार्थी, यशस्वी, धनसंचयी, ज्ञानविज्ञानोपार्जनशील इत्यादि शुभाकांक्षी होना चाहेगा वह अवश्य प्रथम अपने इन्द्रियों को वश में रखेगा। तब ही यह सर्वगुण सम्पन्न हो सकता है। क्या संभव है कि चञ्चलेन्द्रिय विद्वान् हो, अजितेन्द्रिय, कीर्तिमान हो, असंयमी ज्ञान विज्ञान संचयी हो, इन्द्रियाराम धनिक हो। अतः कक्षीवान् शब्द से उपयोगी, पुरुषार्थी आदि अर्थ लक्षित होते हैं। पुरुषार्थी को स्वयं समयदेव केवल शतकुम्भ मधु ही नहीं किन्तु पृथिवी पर सब ही उत्तम-उत्तम भाग देते हैं। ऋचा में शत शब्द अनेक वाचक और मधु शब्द उत्तमोत्तम पदार्थसूचक है। अब औशिज शब्द पर ध्यान दीजिये। जितेन्द्रिय पुरुष ही यथार्थ में इच्छा पुत्र है, क्योंकि वह जो-जो शुभ कामना करता है उस-उस को प्राप्त कर लेता है। यदि जितेन्द्रि इच्छा करता है कि मुझे धन हो तो मन को वश कर धनोपार्जन में लग जाता है और थोड़े दिन में वह लोक प्रसिद्ध धनाढ्य हो जाता है। यदि वह चाहता है कि मैं महोत्तम विद्वान् बनूँ तो कक्षीवान् शीघ्र विद्वान् हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जितेन्द्रिय पुरुष की इच्छा माता होती है। जो-जो यह शुभ इच्छा करता जाता है वह-वह उसके लिए पूर्ण होती जाती है। इस प्रकार कक्षीवान् इच्छा पुत्र कहाता है। इस भाव को न जान के जो इससे अनित्य मानव इतिहास निकालते हैं, वे बड़े अज्ञानी है।

शिक्षा—वेद बहुत उच्च भाव को दर्शाते हैं। अश्विप्रकरण में बारम्बार कहा गया है कि अश्विदेव बड़े दानी हैं। महामहा वैद्य हैं। यहाँ असत्यता का स्पर्श नहीं। ये किसी को समुद्र से, किसी को कूप से उद्धार करते हैं। किसी को यौवन, किसी को जाया देते हैं। परन्तु क्या ये यथार्थ में अन्धाधुन्ध किसी को जो चाहते हैं सो देते हैं ?। नहीं। इस कक्षीवान् के उदाहरण के उल्लेख से वेद भगवान् शिक्षा देते हैं कि जो कोई अपने इन्द्रियरूप अश्वों को सदा बाँधे हुए रखता है, जो शुभेच्छानुकूल व्यवसाय करता है, जो परमोद्योगी है उसी का उद्धार होता है, अर्थात् उद्योगी पुरुष ही पृथिवी पर के सर्वस्व का अधिकारी है। प्रथम उद्योगी को बहुत बुद्धि देते हैं। ''कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम्'' बुद्धि

के बिना जगत् की कोई कार्य सिद्धि नहीं होती। मनुष्यों के चरित्रों के देखने से, विविध देश देशान्तरों में जाकर वहाँ-वहाँ के आचरण, सदाचार, व्यवसाय, वाणिज्य, पुरुषार्थ आदि पदार्थों के बारम्बार अध्ययन करने से एवं व्याकरण, ज्योतिष, पदार्थविद्या प्रभृतियों के पठन से, विशेष कर एकान्त स्थल में जाके पुनः मनन करने से बुद्धि बढ़ती जाती है। प्रथम शास्त्रादिकों की सहायता से बुद्धि को कुछ परिष्कृत कर तब केवल एक-एक विषय पर निरन्तर मनन करना चाहिये और जो अभीष्ट विषय हो उसकी अनेक सामग्रियाँ इकठ्ठी कर निरन्तर चिन्ता में लग जाने उसके तत्त्व तक विद्वान् पहुँचने लगता है। इस प्रकार दिन-दिन बुद्धि बढ़ती जाती है। पुनः उद्योगी को कहीं अन्यत्र से ला के वित्त नहीं देते किन्तु उसी के शरीर के द्वारा धन देते रहते हैं क्योंकि वेद कहते हैं कि "**शफादश्वस्य वाजिनो जनाय-शतं कुम्भां असिञ्चतं मधूनाम्**" इसी शरीर रूप घोड़े के खुर से नाना पदार्थ देते हैं। बहुत से अवेदज्ञ पुरुष कहते हैं कि वेद में केवल माँगने-माँगने की बात आती है। वेद उद्योगार्थ उपदेश नहीं देता। यह कथन सर्वथा असत् है। यदि ऐसा होता तो पूर्व वर्णन कैसे संभव होता। क्या किसी के घोड़े के खुर में मधु का छाता (छत्ता) लगवा देते हैं कि जहाँ से सैकड़ों घड़े मधु निकलते रहते हैं और उपासक उनको पीता रहता है? इसका भाव विस्पष्ट है कि उद्योगी पुरुष को ही मधु प्राप्त होता है। व्यवसायी के इन्द्रिय इतने प्रबल और कार्य परायण होते हैं कि ये सारथि को प्रभूत मधुर खिलाते रहते हैं।

इससे जो कोई सिद्ध करते हैं कि "यहाँ के ऋषिगण मद्यपान में सदा गर्क रहते थे अथवा ऋषियों के लिए मद्यपान निषेध नहीं था क्योंकि "शतं कुम्भाँ असिञ्चत सुरायाः" ऐसा वेद कहता है उनको यह जानना चाहिये कि १।११२।११ वें में मधुकोश और १।११७।६ वें में मधु शब्द आए हैं और १।११६।७ वें में सुरा शब्द अतः मधु की आधिक्य से सुराशब्द भी मधुवाचक ही है। यह सिद्ध होता है। एवं वैदिकभाषा में सुराशब्द मादकद्रव्यवाची था यह भी नहीं कह सकते। वेद में सोम और सुरा एकार्थक और एक धातुनिष्पन्न है। अतः आक्षेप निर्मूल है। इति। संक्षेपतः।

प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायस्पोषेण सचते सुवीरः।१।१२५।१।

इस सम्पूर्ण सूक्त के ऋषि कक्षीवान् और देवता दान है। इस ऋचा से प्रातःकाल की प्रार्थना से क्या-क्या लाभ है इसको दिखलाते हैं। (प्रातः+इत्वा) मनन और निदिध्यासन के समय हृदय क्षेत्र में प्रातःकाल ही प्राप्त जो परम

धनाढ्य जीवात्मा वा परमात्मा है वह (प्रातः+रत्नम्+दधाति) प्रातःकाल विविध रत्न उपासक के समीप रखता है। (चिकित्वान्) चेतना व जाग्रत् निरालस सावधान पुरुष (तम्+प्रतिगृह्य+निधत्ते) उस रत्न को लेके हृदय में स्थापित कर लेता है। (तेन+प्रजाम्+आयुः+वर्धयमानः) उससे बुद्धिरूपा प्रजा और आयु को बढ़ाता हुआ (सुवीरः) शोभन वीरोपेत होके (रायस्पोषेण+सचते) धन वृद्धि से संयुक्त होता है।

यह प्रसिद्ध है कि जितनी स्वस्थता होगी उतनी ही बुद्धि की स्फुरणा बढ़ती जायेगी। रात्रि के शयन से बुद्धि सर्वथा स्थिर हो रहती। यह सर्वानुभव सिद्ध है कि प्रायः प्रातःकाल प्रसन्नता रहती है। व्याकुल-पुरुष को यदि निद्रा आ जाये तो व्याकुलता बहुत न्यून हो जाती है। कभी-कभी किसी भयंकर कारणवश निद्रा आती ही नहीं परन्तु यदि निद्रादेवी का कुछ भी अनुग्रह हुआ तो भयभीत का भार बहुत उतर जाता है। उन्मत्त के ऊपर वह कृपा नहीं करती। बाह्य जगत् में जैसे कार्य करते-करते थक जाते हैं, इसी प्रकार सर्वेन्द्रिय स्थगित हो विश्रामाभिलाषी होते हैं। रात्रि के विश्राम से ये पुनः नवीन हो जाते हैं। अतः प्रातःकाल ये सर्वथा नवीन, प्राप्तबल, स्थिर, चंचलतारहित, रहते हैं। ज्यों-ज्यों बाह्य जगत् से कोलाहल आ शिर में धक्का लगा उसको चपल और व्यग्र बनाते जाते, त्यों-त्यों इसकी शक्ति घटती जाती है। मनुष्यशिर इस प्रकार का बना हुआ है कि बाह्य जगत् में जो-जो शब्द होते हैं वे जितने ही निकटस्थ होंगे उतना ही इस शिर को स्पन्दित करते रहते हैं। बाह्य जगत् की छाया इस पर पड़ती रहती है। अतः यह शिर दिन के समान चञ्चलता में वृद्धि करती जाती है। अतः जितना कार्य एकान्त में होता उतना जनरव के साथ नहीं हो सकता। उषाकाल में इस सर्वोपद्रवरहित शिर से नाना विचार निकल उपस्थित होते हैं। बड़े-बड़े कठिन प्रश्न इस समय समाहित हो जाते हैं। इसी कारण भारतवर्ष में प्रातःकाल ही उपासना, पूजा, पाठ सर्वधम्मकार्य किये जाते हैं। (प्रातरित्त्वा) इस समय यह जीवात्मा, मानो पुनः शरीर में प्राप्त हो जाता है। यह स्वतः प्राज्ञ और शुद्ध, बुद्ध है। अपने उपासक को विविध रत्न देता है। जो बुद्धिमान उपासक हैं वे प्रातःकाल की सब बातें एकत्र करते जाते हैं। जो-जो नवीन अनुभव उत्पन्न होते वा जो काव्य, शास्त्र रचे वा किसी प्रकार की नवीनता सूझी उसको ज्ञानी एकत्रित करके किसी दिन महाधनाढ्य बन जाते हैं। प्रातःकाल का जो नवीन विचारोदय है यही महारत्न है। इसके देने हारा जीवात्मा है। इसका संग्रहीता दिन-दिन आयुष्मान्, प्रजावान् यशस्वी, तेजस्वी होता जाता है। इसी बात को वेद भगवान् यहाँ सूचित करते हैं:—

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदि मुत्सिनाति। २।

मनुष्य का यह भी एक स्वभाव है कि वह कभी-कभी अपने को आप समझाता है। कभी-कभी मन में ही कहता है कि हे आत्मा! आप मुझको कहाँ ले जा रहे हैं। क्यों तुच्छ पदार्थों की ओर दौड़ते हैं। क्यों नहीं ईश्वर में समाधिस्थ हो जाते इत्यादि। यहाँ कौन किसको समझाता है? यह विचारने की बात है। बाह्यशरीरावच्छिन्न आत्मा आन्तरिक आत्मा से कहता है। पुनः यह आश्चर्य देखें कि वे उत्तमोत्तम विचार कहाँ से उठते हैं। इसी जीवात्मा से। अतः इससे सिद्ध है कि आत्मा परम-धनाढ्य है। इसके निकट धन की शतशः राशियाँ पड़ी हुई है। लेने हारा लेता अज्ञानी इस धन से सदा वंचित ही रहता है। वेद अब आगे कैसी उत्तम शिक्षा देते हैं। मनुष्यो! यह परम-धनाढ्य जीवात्मा तुम्हारे अभ्यन्तर अन्तर्हित है। इससे अभीष्ट धन माँग कर धनिक बनो। ऐ मूढ़ मन्द नरो! इसके निकट क्यों न पहुँचते? इत्यादि भावविशिष्ट यह ऋचा है। उपासक अपने आत्मा में कहता है कि (प्रातः+इत्वः) हे प्रातरागामिन् अतिथे आत्मन्! आप बड़े धनाढ्य हैं। क्योंकि (सुगुः+असत) सुन्दर-सुन्दर गौवों से आप युक्त हैं। स्वयं आप (सुहिरण्यः+स्वश्वः) सुहिरण्य और शोभनाश्व हैं (अस्मै+इन्द्रा+वृहत्+वयः+दधाति) इस आपको परमात्मा प्रभूतवय अर्थात् अन्न देता है। (वसुना+आयन्तम्+त्वा+यः+उत्सिनाति) धन के साथ आये हुए आपको जो उपासक बाँध रखता है। वह भी परम धनाढ्य बन जाता है। यहाँ दृष्टान्त देते हैं (मुक्षीजया+पदिम्+इव) जैसे व्याघ्र अपने पाश से पक्षी के पद को बाँधता है तद्वत् आपको उत्तमोत्तम विचाररूप पाश से जो प्रातः काल बाँधता है। वह सुखी होता है इसकी व्याख्या निरुक्त ५।१९ में भी है। वय=अन्न को भी कहते हैं। निघण्टु २।७। मुक्षीजा=मृग पक्षी आदिकों को बाँधने की रज्जु। प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि प्रातःकाल अपने आत्मा को अतिथि समझे। कौन कह सकता है कि सो जाने पर पुनरपि मैं जगत् देखूँगा। १९०६ ई० में पञ्जाबान्तर्गत कांगड़ा जिला धर्मशाला में जो उषाकाल भूकम्प हुआ था वहाँ के शतशः नरनारियों को पुनः जागने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। ऐसे-ऐसे नाना उपद्रव हैं। मनुष्य का जीवन सदा अस्थिर हो रहा है। अतः आत्मा को अतिथि समझ शुद्ध-शुद्ध विचार, विवेक, मनन, स्तुतिं, प्रार्थना, उपासना इत्यादि प्रकार के विविध भोजन दे अन्तःकरण कमल पर बिठला प्रसन्न करे पुनः इस अतिथि से जो-जो उपासक माँगेगा वह देगा। कल्याणकारी उपदेश वहाँ से पावेगा जिससे दिनभर वह ठोकर न खाएगा। हे मनुष्यो! इस जीवात्मा को

ईश्वर ने पर्याप्त वित्त दे रखा है। प्रातःकाल इसको प्रसन्न कर माँगो। वह अवश्य देगा।

आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः इष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
अंशोःसुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्द्धय सूनृताभिः। ३।

उपासक कहता है कि हे आत्मन्! (अद्य+प्रातः+इच्छन्) आज प्रातःकाल आपके दर्शन की इच्छा करता हुआ (आयम्) आपके निकट आया हूँ (सुकृतम्+इष्टेः+पुत्रम्) आप शोभनकर्ता हैं। अभीष्ट के पालक व रक्षक हैं। (वसुमता+रथेन) धन सम्पन्न रथ के द्वारा आप प्राप्त हुए हैं। हे आत्मन्! (अंशोः) अंशुमान् (मत्सरस्य) बलवर्द्धक यज्ञ करा (सुतम्) रस (पायय) अपने सेवक को पिलाइये (सुनृताभिः) प्रिय-सत्यात्मिका वाणियों से (क्षयद्वीरम्+वर्धय) निवासयोग्य वरोपेत सकल जन को बढ़ाइये। इष्टेःपुत्रम्= आत्मा के स्वस्थ रहने पर ही ईश्वरीय यज्ञ होते हैं। अतः यह जीवात्मा ही यागरक्षक है। पुत्रः=पुरुत्राता। पुत्रः=पुरुत्रायत इति यास्कः। निरुक्त २। ११। प्रातःकाल जो पुरुष अपने आत्मा को बोधित करता है वह दिन भर सुखी रहता है। अच्छे-अच्छे पुरुष प्रातः प्रार्थना के समय शुभ प्रतिज्ञा कर लेते हैं। तदनुसार सम्पूर्ण दिन बिताते हैं। इसी कारण यहाँ आत्मा से कहा जाता है कि यज्ञ का रस पिलावें। सर्वोत्तम कार्य ही यज्ञ है। इसकी सफलता ही रस है। यदि सम्पूर्ण दिन निरुपद्रव व्यतीत हो जाये तो कहिये कैसा शान्तिरस पीने का स्वाद प्राप्त होता है। इत्यादि आशय समझना। ३।

उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिञ्च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वतः। ४।

यथार्थ में बड़ा दान देने हारा कौन है? क्या जो गौ, महिष, भूमि, तण्डुल, गेहूँ, जौ, हिरण्य आदि का दाता है? नहीं। विद्यादाता ही बड़ा दानी है। परन्तु विद्यादान कौन दे सकता है? जो प्रातःकाल के यज्ञ को पूर्ण करता है। अर्थात् प्रातःकाल बैठ के प्रतिदिन शुभमंगल भावना कर विचार के द्वारा रत्न पा उसको जो प्रजाओं में बांटता रहता है। वही यथार्थ में यजमान है इसी की प्रशंसा अगले मन्त्रों में की गई है। (ईजानम्+च) यजमान=जो यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है और (यक्ष्यमाणम् +च) यक्ष्यमाण=जो यज्ञ करने हारा है इसके निकट (सिन्धवः) प्रस्नुवत्पयोधारा (मयोभुवः) सुखप्रदा (धेनवः+ उपक्षरन्ति) धेनु आके दुग्धप्रदान करती है। (पृणन्तम्+च+पपुरिम्+च) और तर्पणकारी और हितकारी पुरुष के निकट (श्रवस्यवः) अन्नसमृद्धिहेतुक (घृतस्य+धाराः) घृत की धाराएँ (विश्वतः+उपयन्ति) चारों दिशाओं से उपस्थित होती हैं।

सिन्धु=सिन्धुः स्यन्दनादिति यास्कः। बहने हारे पदार्थ का नाम सिन्धु है। मयोभू=मयस्+भू। मयस्=सुख। सुख जिससे उत्पन्न हो वह मयोभू। ईजान=जो यज्ञ कर रहा है। यक्ष्यमाण=जो यज्ञ करने का विचार कर रहा हो। पृणन्=तृप्त करता हुआ। पपुरि=प्रेणनशील, इष्टदाता। श्रवस्यु, श्रवस्=यश, धन श्रवस्यु=यशोहेतुक। भाव॥ पूर्व में लिख आया हूँ कि धेनु, गौ, अश्व आदि पशुवाचक शब्द प्राणवाची भी होते हैं। क्योंकि जितेन्द्रिय, उद्योगी, परोपकारी, मननशील विद्वान् को यह नयनादिसहित मन जितनी सुख सामग्री देता उतनी ये प्रसिद्ध पशु नहीं दे सकते। ४।

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो—यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा। ५।

(यः+पृणाति+नाकस्य+पृष्ठे+श्रितः+तिष्ठति) जो विविध उपदेशों से, वैदिक ज्ञानों से एवं सत् शिक्षाओं से सबको तृप्त करता है वह सुखस्वरूप स्थान के पृष्ठदेश में आश्रित हो अधिक काल अधिष्ठाता बना हुआ रहता है। एवं (सह+देवेषु+गच्छति) विद्वानों की गोष्ठी में जाता है (तस्मै+सिन्धवः+आपः+घृतम्+अर्षन्ति) उसको स्पन्दनशील जल तेजोविशिष्ट सारवस्तु देता है (तस्मै+इयम्+दक्षिणा+सदा+पिन्वते) उसको यह दक्षिणा सदा सन्तोषधन देती रहती है। नाक=न+अक। अक=दुःख, जहाँ दुःख न हो वह नाक। दक्षिणा=दान। जो अध्यापक वा उपदेष्टा ज्ञानविज्ञानरूपदान प्रजाओं को देता है। निःसन्देह, वह कभी दुःखभागी नहीं होता और यह दान ही इसको सदा आनन्द दिया करता है। ५।

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्त प्र तिरन्त आयुः। ६।

(दक्षिणावताम्+इद्+इमानि+चित्रा) जो दक्षिणा देते हैं उनके ही ये सब चित्र विचित्र पदार्थ हैं। (दक्षिणावताम्+दिवि+सूर्यासः) दक्षिणादाताओं के लिए द्युलोक में अनेक सूर्य प्रदीप्त हो रहे हैं। (दक्षिणावन्तः+अमृतम्+भजन्ते) दक्षिणावान् अमृत को प्राप्त होते हैं। (दक्षिणावन्तः+आयुः+प्र+तिरन्ते) दक्षिणावान् दीर्घ आयु पाते हैं। ६।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधि रस्तु कश्चिद् अपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः। ७।

(पृणन्तम्+दुरितम्+एनः+मा+आ+अरन्) तृप्तिकारी पुरुष को दुष्ट पाप प्राप्त न हो। (सूरयः+सुव्रतासः+मा+जारिषुः) विद्वान् और सत्यादिप्रतिपालक

वृद्ध न हों। (तेषाम्+अन्यः कश्चित्+परिधिः+अस्तु) सुखप्रद, विद्वान् और व्रतपालक पुरुषों के अतिरिक्त लोक को पाप आश्रित करे। (अपृणन्तम्+शोकाः+अभिसंयन्तु) अदाता पुरुष को सब दिशाओं से शोक प्राप्त हों। ७।

साधारण पुरुषों की अपेक्षा उद्यमी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय और ज्ञानी पुरुषों की आयु, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि दशगुणित, शतगुणित अधिक है। भाव यह कि परमेश्वर ने सब को तुल्य ही शरीर दिया है। तथापि इस शरीर से एक ज्ञानी जितना कार्य कर लेता है, दश अज्ञानी मिल कर भी उतना कार्य नहीं कर सकते। शत आलसी मिल कर जितना कार्य जितने समय में करते हैं केवल एक ही पुरुषार्थी उतना काम उतने ही समय में कर लेता है। देखते हैं कि कभी-कभी कोई व्यवसायी अकेला ही जीवन में जितना धन संचित कर लेता है ग्राम के सब मिलकर भी उतना धन उपार्जन नहीं करते। कोई दश-दश भाषाओं का, कोई पाँच-पाँच भाषाओं का, कोई एक ही भाषा का, कोई एक का भी पण्डित नहीं होता। कोई विद्यार्थी उतने ही समय में दो चार शास्त्र अध्ययन कर लेता है। कोई एक शास्त्र के अर्थ मार्ग तक भी नहीं पहुँचता। इत्यादि अनेक उदाहरणों से सिद्ध है कि उद्यमी-पुरुष का एक शरीर दश शरीर के बराबर है। पुरुषार्थी की आयु दश आयुओं के तुल्य है। किसी महात्मा की आयु सहस्र, लक्ष आयुओं के बराबर है। क्योंकि वे उतनी ही आयु में जितना कार्य कर जाते हैं उतना ही कार्य सहस्र, लक्ष, पुरुष भी नहीं करते। एक स्वामी दयानन्द जितना कार्य कर गया। आज कई सहस्र आर्य मिलके भी उतना कार्य नहीं कर सकते। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है कि परमेश्वर ने इनको दश ही इन्द्रिय नहीं दिए किन्तु शतशः। एक बुद्धि नहीं किन्तु दश, एक हाथ नहीं किन्तु पचासों, एक शिर नहीं किन्तु सैकड़ों। इसी आलङ्कारिक भाव को लेकर वेदों में सम्पूर्ण दान का प्रकरण वर्णित है। इस गूढ़ाशय को न समझ के वैदिकार्थ को लोग कलुषित कर रहे हैं। इसके साथ ही ये भी जानना चाहिये कि ईश्वरभक्त परायण पुरुष इस आयु को दुर्लभ और इस शरीर को हिरण्यरथ अथवा सुवर्णमयी नौका मानते हैं क्योंकि यह ऐसा कलेवर है कि जिस पर बैठ परमात्मा के दरबार तक पहुँच सकते हैं। परमेश्वर की दी हुई जो-जो इन्द्रिय, बुद्धि मन आदिक वस्तुएँ हैं उन सबके उद्यमी पुरुष अनर्घरत्न, आदरणीय पदार्थ, आश्चर्य साधन, सामग्री जानते हैं और उनसे वे वैसा ही पवित्रतम अनुष्ठान करते हैं। ये ईश्वर के समीप स्वकृतज्ञता प्रकाशित करते रहते हैं। स्वयं प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर! आपने मुझे शत रत्न दिए हैं। (शत आयु ही शत रत्न हैं) भगवन्! आपने एक सहस्र धेनु दी हैं (अर्थात १०० आयु ही

शत धेनु हैं। जिस कारण इनकी आयु दशगुणित कार्य देती हैं अत: ये १०० गुणा १०=१००० हैं) इत्यादि अनेक भावों को लेके वेद भगवान् दानाध्याय का वर्णन करते हैं। परन्तु जैसे अश्विप्रकरण में काल के द्वारा तद्वत् यहाँ जीवात्मा के द्वारा प्राप्ति का वर्णन होता है। क्योंकि यहाँ जीवात्मा की ही मुख्यता है अब आगे दान के ऊपर विचार कीजिये। इति।

अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवान्अतूर्तो राजा श्रव इच्छामानः।

१। १२६ ।१।

ऋषि=कक्षीवान्। देवता=दान। पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ महात्मा पुरुषगण इन ऋचाओं से प्रार्थना करें। (सिन्धौ+अधिक्षियतः) हृदय रूप समुद्र के ऊपर निवास करने हारे (भाव्यस्य) भावनीय, पूजनीय जीवात्मा के लिए (मनीषा+अमन्दान्+स्तोमान्+प्र+भरे) प्रिय वृद्धि से अमन्दस्तोत्र मैं अच्छे प्रकार सम्पादन करता हूँ (यः+मे+सहस्रम्+ सवान्+अमिमीत) जो मेरे लिये सहस्र उत्सव निर्म्माण करता है। जो (अतूर्तः) अहिंसनीय अर्थात् अजर अमर है (राजा) हृदयाकाश में देदीप्यमान है (श्रव+इच्छामानः) यशोऽभिलाषी है।

भाव=जो पुरुष अपने आत्मा को सुरक्षित, निष्कलङ्क शुद्ध रखता है उसको यह जीवात्मा नाना सुख पहुँचाता रहता है। जब आत्मा किसी कारण, वश कलुषित हो जाता है तब यह क्लेश ही देता है। जैसे चोर किसी मंगल आनन्द को भोग नहीं सकता क्योंकि इसका हृदय सदा धड़कता रहता है। प्रतिक्षण पकड़े जाने की शङ्का बनी रहती है। इसी प्रकार जो अपने आत्मा को पण्डित, शास्त्री, वेदज्ञ बनाता है। उसको देखो! आत्मा कितना आनन्द देता है। शास्त्र-जनित-आनन्द, वेदजनित-आनन्द, मनन-कृत-आनन्द इत्यादि बहुविध उत्सव प्रतिक्षण उत्सव ही उत्सव उस उपासक को मिलता रहता है। अत: ऋचा में कहा गया है कि सहस्रसव अर्थात् उत्सव उस जीवात्मा से सेवक को मिलता है। यह जीवात्मा भी चाहता है कि मेरा यश पृथिवी पर आकीर्ण हो। अन्यथा लोक कहेंगे कि यह कैसा मलिन, दरिद्र आत्मा है। इत्यादि। अत: "श्रवइच्छमानः" पद आया है। इत्यादि भाव लगाना।

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् शतमश्वान् प्रयतान् त्सद्य आदम्।
शतं कक्षीवां असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजर मा ततान। २।

पुरुषार्थी का जीवात्मा कहता है कि ऐ उपासक! मैं राजा हूँ मुझसे जो माँगो सो ही दूँगा। मैं स्वयं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि तू मुझसे माँग, मेरे द्वारा

तू पुरुषार्थ कर, मैं सब कुछ दूँगा। इस ऋचा के द्वारा पुरुषार्थी कृतज्ञता प्रकाशित करे (नाधमानस्य+राज्ञः) प्रार्थयमान राजा जो जीवात्मा उसके निकट से मैंने (शतम्+निष्काम्) १०० निष्क और (शतम्+प्रयतान्+अश्वान्+ सद्य+आदम्) १०० संयमी अश्व अभी लिए हैं पुनः (गोनाम्+शतम्) १०० गौ। मुझे इतना दान क्यों मिला है ? जिसकारण (कक्षीवान्) मैं कक्षीवान् हूँ। अर्थात् इन्द्रिय रूप अश्वों को बाँधने के लिए मेरे निकट सदा रस्सी रहती है। जब मेरे इन्द्रिय इतश्चेतश्च पलायमान होने लगते हैं मैं झट ज्ञानरूप रस्सी से इनको दृढ़तया बाँध रखता हूँ। अतः ये सब दान मुझे मिले हैं। मेरा जीवात्मा कैसा है (असुरस्य) निखिल दुराचारों को दूर फेंकने हारा है 'अस्यति क्षिपतीति असुरः' इस प्रकार मुझे दान देके (दिवि+अजरम्+श्रवः+आततान) द्युलोक तक अजर यश को विस्तीर्ण कर रहा है। भाव=निष्क=आभरण, अलङ्करण। यह आयु के जो शतवर्ष हैं, ये ही १०० निष्क, १०० अश्व और १०० गौ हैं। इसी आयु के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर अपने को भूषित करते हैं। इसी पर बैठ मार्ग काटते हैं। यही गोवत् दुग्ध देता है। अथवा ये जो १० इन्द्रिय हैं ये ही १०० निष्क, १०० अश्व, १०० गौ हैं। पूर्व में लिख आया हूँ कि पुरुषार्थी पुरुषों के इंद्रिय के तुल्य होते हैं।

उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।
षष्टिः सहस्रमनु गव्यमागात् सनत्कक्षीवां अभिपित्वे अह्नाम्। ३।

(स्वनयेन+दत्ताः) स्वनय अर्थात् जीवात्मा से दिये हुए। (दश+रथासः) १० प्रकार के रथ (मा+उप+अस्यु) मेरे निकट उपस्थित हैं। (श्यावाः) वे दशों रथ, श्याम=शुद्ध वर्ण के (वधूमन्तः) और बुद्धिरूपा वधू से युक्त हैं। पुनः (षष्ठि+सहस्रम्+गवाम्+अनु+आगात्) ६० साठ और १००० एक सहस्र गो समूह मेरे निकट आए हुए हैं। (कक्षीवान्) इन धनों को पाके पुरुषार्थी (आह्वाम्) दिनों के (अभिषित्वे) आरम्भ में (सनत्) अपने धन को विभक्त किया करता है। भाव—यह शरीर ही रथ है। सर्वसाधारण को शरीर रूप रथ ६ ऋतु और १०० वर्ष दिए गये है परन्तु पुरुषार्थी को सब ही दशगुणित मिले हुए हैं। क्योंकि ये दशगुणित कार्य करते हैं। अतः पुरुषार्थी कक्षीवान् कहता है कि मुझको १० रथ अर्थात् १० शरीर मिले हैं। ६ ऋतु के स्थान में ६ गुणा १०=६० ऋतु और १०० वर्ष की आयु के स्थान में १० गुणा १००=१००० आयु मिली है। ये ही ऋतु और वर्ष गौ हैं। अब पुरुषार्थी इस आयु से केवल अपना ही कार्य नहीं करता है किन्तु प्रत्येक दिन के आरम्भ में प्रथम कुछ दूसरे का उपकार करके तब अपना कार्य आरम्भ करता है अतः वेद कहते हैं

कि (आह्लाम्+अभिषित्वे) दिनों के आरम्भ में वह धनविभाग करता है। विभाग अनेक प्रकार से हो सकता है। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अच्छे-अच्छे विद्यालय आदि संस्थाओं को दान देना। अथवा, विद्यार्थियों को विद्या दान देना, रोगियों को औषध बाँटना, गरीबों को किसी व्यवसाय में लगा जीविका का प्रबन्ध करना, ग्राम वा नगर के नर-नारियों के लिए भलाई का चिन्तन करना, सम्पूर्ण पृथिवी के हित के लिए अच्छे प्रस्ताव निकालना। इत्यादि प्रकार के दान प्रायः पुरुषार्थी देते ही रहते हैं। ३।

चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः सहस्त्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उद्मृक्षन्त पज्राः ।४।

(दशरथस्य+सहस्त्रस्य+अग्रे) दश-रथोपेत एक सहस्त्र के आगे-आगे- (शोणाः+चत्वारिशद्+श्रेणिम्+नयन्ति) रक्त वर्ण के ४० चालीस अश्व श्रेणीबद्ध होके चलते हैं। उनका (पज्राः+कक्षीवन्तः) उत्साही और जितेन्द्रिय पुरुष (उद्मृक्षन्त) उत्कृष्ट रूप से मार्जन करते हैं। वे अश्व कैसे हैं (मदच्युतः) मदस्त्रावी (कृशनावतः) सुवर्णभूषणयुक्त (अत्यान्) सन्तत गमनशील। व्याख्या- शोण=रक्त कमल की जिसकी हो। शोणः कोकनदच्छविः अथवा रक्ताश्व शोणः कृशानौ स्योनाके लोहिताश्वे नदे पुमान्। कृशन=सुवर्ण। अत्य=सन्ततगामी। कक्षीवान्। निरुक्त ३। २० यास्क कहते हैं "कक्ष्या रज्जुरश्वस्य" घोड़े की रज्जु का नाम कक्ष्या है। जिसकी वह रज्जु हो वह "कक्षीवान्"। भाव-पूर्व में लिख आया हूँ कि महापुरुषों का एक शरीर १० शरीर के पूर्व ऋचा का आशय लिखा है। यहाँ पर भी समान नियम है। चत्वारिंशत् शब्द यहाँ विशेष है। इस पर इतना जानना चाहिये कि जहाँ ७ सप्त पद आता है वहाँ प्रायः दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और एक वाणी का ग्रहण होता है। स्थान भेद से ये सात होते हैं, परन्तु इनसे कार्य चार ही हैं क्योंकि दोनों नयनों से एक दर्शन कार्य, दोनों कर्णों से एक श्रवण कार्य इत्यादि। अतः इन्द्रिय प्रकरण में चतुः शब्द से इनका ही ग्रहण है। अब जिस कारण जितेन्द्रिय पुरुष में चतुः शब्द से इनका ही ग्रहण है। अब जिस कारण जितेन्द्रिय पुरुष का एक शरीर १० दश शरीर के तुल्य है अतः उनको १० दश रथ कहते हैं। इसी कारण इनकी १०० वर्षों की आयु १०० गुणा १०=१००० एक सहस्त्र के तुल्य है। एवं चक्षु, कर्ण, घ्राण और वाणी ये चार इन्द्रिय ४+१०=४० चालीस के बराबर है। इसी कारण ऋचा में कहा गया है कि "दश-रथोपेत सहस्त्र के आगे ४० घोड़े चलते हैं। अर्थात् शरीर युक्त इस आयु के आगे-आगे ये इन्द्रियगण चल रहे हैं। इन इन्द्रियों को अपने वश में रखने हारे कक्षीवान् होते हैं अर्थात् अश्व बाँधने की

रस्सियाँ जिनके हाथ में सदा प्रस्तुत हैं वे ही इनको वश में रख सकते हैं। इति संक्षेपतः।४।

पूर्वामनु प्रयतिमा ददे वस्त्रीन् युक्ताँ अष्टावरिधायसो गाः।

सुबन्धवो ये विश्याइव व्रा अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः।५।

अब प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं। कक्षीवान्=पुरुषार्थी कहता है (सुबन्धवः) हे भ्राताओ! (वः+पूर्वाम्+अनुप्रयतिम्+आ+ददे) आप लोगों के लिए ही पूर्ण और अनुकूल प्रयत्न को धारण करता हूँ। आप लोगों के लिए ही (युक्तान्+त्रीन्+अष्टौ) योग्य तीन और आठ अर्थात् एकादश इन्द्रिय धारण करता हूँ (अरिधायसः+गाः) बहुमूल्य गौवों को तुम्हारे लिये ही रखता हूँ। हे सुबन्धु! (ये+विश्याः+इव) जो प्रजारक्षक (व्राः) व्रात=समूह हैं (श्रनस्वन्तः) प्रशस्त=शकटयुक्त हैं और (पज्राः) परमोत्साही हैं वे सब (श्रवः+ऐषन्त) विविध-विद्या-प्रचार के द्वारा यश फैलाने की इच्छा करें। भावार्थ विस्पष्ट है। पुरुषार्थी का ही सब पदार्थ है।५।

अब आगे दो ऋचाओं में बुद्धि की प्रशंसा करते हैं:—

आगधिता परिगधिता या कशिकेव जङ्गहे।

ददाति मह्यं यादुरी याशुनां भोज्या शता।६।

(शता+भोज्या+मह्यं+ददाति) यह मेरी परिष्कृत बुद्धि सैकड़ों भोज्य पदार्थ देती है। यह (याशूनाम+यादुरी) मेरे निखिल दुराचारों को विनष्ट करती है। यह बुद्धि कब ऐसे-ऐसे लाभ पहुँचाती? (आगधिता) जब यह दृढ़तया गृहीता होती है (परिगधिता) और सब तरफ से परिगृहीता होती है। अर्थात् जब बद्ध को दृढ़तया पकड़ता हूँ अर्थात् विचार के साथ इससे कार्य लेना आरम्भ करता हूँ तब यह बुद्धि नाना पदार्थ देती है। (या+कशिका+इव+जङ्गहे) जो बुद्धि आगृहीता और परिगृहीता होने पर प्रियास्त्री के समान आलिङ्गन करती है। विद्या, वाणी, बुद्धि आदि को प्रायः स्त्री से उपमा दी गई है। आगधिता=आगृहीता। परिगधिता=परिगृहीता। कशिका=काश्रृ, दीप्तौ यद्वा कश, गतिशासनयोः। या सौन्दर्येण काशते यद्वा या प्रीत्या पति गच्छति यद्वा प्रेम्णा शास्ति। यादुरी=विनाशयित्री। याशु=दुराचार।

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।

सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका।७।

इस ऋचा में स्वयं बुद्धि कहती है। हे उपासक मनुष्य! हे कक्षीवान्! (मे+उप+परा+मृश) मेरे निकट-निकट अतिशय स्पर्श करो। (मे+दभ्राणि+गा+

मन्यथा:) मेरे निकट स्वल्पवस्तुएँ हैं ऐसा मत समझो (अहम्+सर्वा+रोमशा+ अस्मि) मैं सम्पूर्णतया विविध धन रूप लोगों से संयुक्त हूँ। इसमें दृष्टान्त देते हैं (गन्धारीणाम्+अविका+इव) जैसे गन्धारी अर्थात् सस्यघासादि सम्पन्न भूमियों की मेषी=भेड़ें, रोमों से पूर्ण होती है तद्वत् हे उपासक कक्षीवान्! मुझे समझो! इन दो ऋचाओं का अर्थ सायणादिकों ने अति घृणित किया है। शोक की बात है कि वेदार्थ किस प्रकार कलुषित हुए हैं। एवमस्तु। रोमशा के प्रकरण में इसकी पुन: समीक्षा करूँगा। इति।

१।१२५। और १।१२६ इन दो सूक्तों से भी किसी अनित्य मानव इतिहास की सिद्धि नहीं होती। इसमें भी कतिपय ऐसे संकेत हैं कि जिन पर ध्यान से आशु अर्थ भासित होने लगते हैं। १० रथ। ६० गौ। १००० एक सहस्त्र गौ। और ४० अश्व। इन सब का अभिप्राय मन्त्रार्थ के साथ लिखित हैं। इससे यह शिक्षा देते हैं कि जो पुरुषार्थी जगत् में कृत कार्य हो वह ईश्वर के समीप कृतज्ञता प्रकाशित करे। अद्यावधि मूर्ख से ज्ञानी तक इस सदाचार का पालन करते आए हैं। विजय पर सेना नायक, नृप, विद्या-समाप्ति पर विद्यार्थी, रोगोन्मुक्ति पर रोगी, सस्यसपन्नता के पश्चात् कृषीबल, सन्तान-जन्म आदि उत्सवों पर गृहस्थी, एवं काल में प्राय: मनुष्य ईश्वर को धन्यवाद देता है, उनसे आशीर्वाद माँगता है। दूसरी शिक्षा इससे देते हैं कि उद्यमी पुरुष अपने बन्धु बान्धवों को बुलाकर कृतकार्यता और अपनी सिद्धि की प्रणाली का इतिहास वर्णन करदे यद्वा लिखके सर्वत्र प्रकाशित कर दे जिससे कि उस प्रणाली से सब कोई परिचित हों अन्यान्य भी लाभ उठा सकें। अब इससे जो तृतीय शिक्षा दी गई उसका प्रतिपालन प्राय: नहीं होता है। १।१२६।५ वीं ऋचा में कहते हैं कि ''हे बन्धु बान्धवो! आपके लिए ही मेरा यह पूर्ण प्रयत्न है। आपके लिए मेरे ये सब इन्द्रिय है'' आज कल इसके विपरीत अनुष्ठान करते हैं। अपने बन्धु बान्धवों से बैर रखते हैं। प्रतिवासी की उन्नति देख ईर्ष्या से दग्ध होने लगते हैं इत्यादि विपरीत भावना देखते हैं। परन्तु वेद इससे उपदेश देते हैं कि हे मनुष्य! तेरे धन, वित्त, सम्पत्ति, तेरे तन, मन, इन्द्रिय सब तेरे पड़ोसी के लिए हैं तेरे ग्राम और देश के लिए हैं। इस प्रकार परस्पर समझो। पुन: सदा सुखी रहोगे। परन्तु यह सब भी तब ही हो सकता जब तू सुबुद्धि को दृढ़तया पीड़ित करो, बुद्धि को चूस-चूस कर रस निकालो। इस बुद्धि को जितनी ही दृढ़ता और निर्दयता से पकड़ोगे उतनी ही यह ज्ञान सम्पत्तियाँ दे निखिल दुराचार, ईर्ष्या, घृणा, शत्रुता आदि दुर्गुणों को नष्ट कर एकता का बीज वो तुझे सुखी करेगी। ऐ प्रिय सन्तान! तू अपनी बुद्धि को

कभी थोड़ी मत समझो, यह मनन करने से बढ़ती जाती है। यदि इससे कोई काम न लेगा तो यह लुप्त हो जायेगी और तू पशु बन जायेगा। यदि इससे बराबर कार्य लेता रहा तो यह लाखों हाथ की हो जायेगी, तुझे परम सुन्दर बना देगी। तेरे यश और कीर्ति को ढो-ढो के बहुत दूर पहुँचाया करेगी अन्त में तुझे अमृत बनाकर छोड़ेगी। इत्यादि। अतः वेद कहते हैं—

१—आगधिता परिगधिता या कशिकेव जंगहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशुनां भोज्या शता॥
२—उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ १.१२६.७

अब इन सूक्तों से जो ऐतिहासिक सिद्धान्त और इतिहास निकालते हैं, उसे भी सुनिये—

इतिहासोत्पत्ति।

प्रथम मण्डल के ११६ वें सूक्त से लेकर १२६ सूक्त तक के, और नवम मण्डल के ७४ वें सूक्त के कक्षीवान् ऋषि हैं। ये प्रधानतया अश्विदैवत सूक्तों के प्रचारक थे। इनके विषय में कात्यायन कहते हैं कि "कक्षीवान् दैर्घतमस उशिक्-प्रसूतः" सर्वानुक्रमणी। अर्थात् कक्षीवान् दीर्घतमा के पुत्र हैं और इनकी माता का नाम उशिक् हैं। दीर्घतमा का आख्यान महाभारत आदि पर्व में वर्णित है परन्तु वहाँ पर कक्षीवान् दासीपुत्र कहे गये हैं। वेदार्थदीपिका और सायण आदि महाभारत की छाया लेकर इस प्रकार कथा कहते हैं। पूर्व समय में अङ्गदेशाधिपति युवतियों के साथ गङ्गा में जल क्रीड़ा कर रहा था। इस समय इसने एक जन शून्या नौका को गङ्गा प्रवाह में बह कर आती हुई देख निकट जा देखा तो उस पर एक अन्ध मनुष्य रस्सी से सुबद्ध, मरणापन्न पड़ा हुआ है। बन्धनादि मोचन करने पर विदित हुआ कि यह तो दीर्घत्तमा महर्षि हैं। इनकी पतिद्वेषिणी (प्रद्वेषी) नाम की स्त्री ने इनको वृद्ध, अन्ध, दुर्बल, दुर्गन्ध, अशक्त जान पुत्रों और दासों से दृढ़तया बँधवा नौका में रख गङ्गा प्रवाह में प्रवाहित कर दिया। राजा इनको अपने घर ले आए और अपनी महिषी से कहा कि तुम इनसे एक सुपुत्र उत्पन्न करो। इस राजमहिषी ने भी इनको अन्ध, दुर्बल, दुर्गन्ध जान परन्तु राजा से डर निज दासी को भेज दिया। सर्वज्ञ दीर्घत्तमा ऋषि ने उसको दासी जान मन्त्रों से अभिषिक्त कर निज पत्नी बना लिया। इस दासी का नाम उशिक् था। इसी से कक्षीवान् उत्पन्न हुए। यह समस्त कथा काल्पनिक और सर्वथा मिथ्या है। दीर्घत्तमा की जो कथा है इस

का आशय दीर्घत्तमा के प्रकरण में देखिये। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है इन आचार्यों ने मानव इतिहास को सर्वथा सन्दिग्ध कर दिया है। अलङ्कारिक बात को भी अनेक सम्बन्धों के साथ ऐसा वर्णन किया है कि मानो, यह कोई सत्य मानव इतिहास है। अथवा इन लोगों ने वेदों के तात्पर्यो को समझा नहीं। इति।

स्वनय राजा का कक्षीवान् को कन्यादान। २२।

कक्षीवान् और स्वनय राजा के दानसम्बन्धी इतिहास का वर्णन बृहद्देवता तृतीयाध्याय में शौनकाचार्य और १-१२५ वें सूक्त के भाष्य के आरम्भ में सायण आदि इस प्रकार कहते हैं—

उचथ्य (उतथ्य) के पुत्र दीर्घतमा नाम के ऋषि हुए हैं। इनके पुत्र ये कक्षीवान् ऋषि हैं। और भावयव्व राजा के पुत्र का नाम स्वनय है। कभी कक्षीवान् गुरुकुल से आ रहे थे और इसी समय यह महाराज स्वनय ससेना कहीं क्रीड़ार्थ वन को जा रहे थे। अकस्मात् किसी एक शोभन, सुख-प्रद प्रात:काल इन दोनों का संगम हुआ। कक्षीवान् ब्रह्मचारी का परम मनोहर सौन्दर्य देख इन्हें अपने निकट बुला गोत्रादि सम्बन्ध पूछा और उनसे कहा कि मैं बहुत दिनों से निज कन्या के लिए एक सुन्दर वर अन्वेषण कर रहा था। अभी तक अनुगुण वर न मिलता था। आज प्रात:काल ही आपके ब्रह्मचर्य का तेज और मुखशोभा देख मैं मोहित हो रहा हूँ। कृपा कर मेरी राजधानी चलिये और मेरी कन्या का पाणिग्रहण कर जगत् का कल्याण कीजिये। कक्षीवान् ब्रह्मचर्य समाप्त कर ही चुके थे। गृहाश्रम करना ही था। अत: राजा के साथ राजधानी को आए। राजा ने १०० निष्क, (आभरणविशेष) १०० अश्व, १०० वृषभ और १०६० गाएँ प्रथम दे एवं नाना वस्त्रादिकों से वर कन्या को अलंकृत कर अपने मनोरथ और उत्साह के साथ कन्यादान किया और विदा के समय घोड़ियों से युक्त १० दश रथ एवं कन्योचित विविध यौतक दे जामाता को अपने भवन भेज दिया।

कन्यादान के सम्बन्ध में अनेक मतभेद व्यर्थ ही कर रखा है। कोई कहते हैं कि कक्षीवान् का विवाह दश कन्याओं के साथ हुआ। कोई कहते हैं कि विवाह तो एक ही कन्या के साथ हुआ। इसके साथ दासियाँ बहुत सी मिलीं। कोई कहते, नहीं यह सब मिथ्या है। वेद में "वधूमनत: दश: रथा:" पद है। वधू युक्त दश रथ दिए। अर्थात् घोड़ियों से युक्त १० रथ दिए। इससे १० कन्याएँ ऐसा अर्थ कैसे हो सकता है। पुन: सायण १-५०-१३ वीं ऋचा के भाष्य में कहते हैं कि इन्द्रप्रेरित एक अन्य सुन्दरी वृचया नाम्नी इसको प्राप्त हुई।

कक्षीवान् के स्वनय की कन्या के साथ विवाह का वर्णन १।१२५ वें और १।१२६ वें सूक्तों की सहायता से करते हैं। इन दोनों का अर्थ और आशय लिख दिया किसी विवाह का निरूपण इसमें नही। १०० निष्क। १०० अश्व। १०० गौ। वधूमान १० दश रथ। ६० गौ। १००० गौ। और ४० अश्व इत्यादि संख्याओं का भाव पूर्ण लिख आया हूँ। ये सब संख्याएँ स्वयं सिद्ध कर रही हैं कि यह आलंकारिक वर्णन है। इस कक्षीवान् के दृष्टान्त से विशेष कर दो बातें निकलती हैं १-ऋषिगण वैदिक समय में मद्यपान किया करते थे और अनेक-अनेक भार्याओं के साथ विवाह करते थे। प्रथम का समाधान पूर्व में लिखित है। द्वितीय का समाधान कर ही चुका हूँ तथापि सम्बन्ध में और भी किंचित् वक्तव्य है।

उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ताः।

वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।१।१२६।३।

इसी ऋचा को लेके अनेक व्यर्थ विवाद करते हैं। शोक के साथ मुझे लिखना पड़ता है इस ''वधूमन्तः+दशरथासः'' पद से १० कन्याएँ अर्थ कैसे करते हैं। ''वधूमन्तः'' शब्दार्थ प्रत्यक्ष वधूमान् है। अर्थात् वधू युक्त। वधू युक्त १० प्रकार के रथ। ऐसा सीधा अर्थ न कर सायण कहते हैं (१।१२५।१।) सरथा दशकन्याः..........प्रावात्। और बृहद्देवता में शौनकाचार्य लिखते हैं ''अथास्मै स ददौ कन्यां दिव्याभरणभूषिताम्।'' यहाँ तो एकवचन ही कन्या है परन्तु आगे ''वधूनां वाहनार्थाय धनकूप्प मजाविकम्'' इसमें वधू बहुवचन लिखा है। यह तो देशी आचार्यों की बुद्धि की परीक्षा है। परन्तु यूरोप में भी बड़े-बड़े लालबुझक्कड़ हैं। मेकडोनल साहब ने "The Vedic Religion" वैदिक रिलिजन नामक पुस्तक में कक्षीवान् का पूरा इतिहास और समीक्षा लिखी है। ये कहते हैं on his starting up the Raja accosted him with great cordiality......and married him to his ten daughters इत्यादि बहुत कुछ ऊटपटांग लिखते हैं। इनको ग्रिफिथ के अनुवाद से ही सन्तोष हो जायेगा क्योंकि दोनों एकद्वीप निवासी हैं। इस ऋचा का श्रीयुत ग्रिफिथ साहब इस प्रकार अनुवाद करते हैं Horses of dusky colour stood beside me, ten chariots Swanaya's gift, with mares to draw them. ग्रिफिथ वधू का अर्थ घोड़ी करते हैं। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त जी इस प्रकार अर्थ करते हैं—''स्वनयकर्तृक प्रदत्त श्याववर्ण अश्वसूक्त वधू-समन्वित दशखानि रथ आमार निकट उपस्थित हइलो'' यद्यपि इन महाशयों ने भी वेद के आशय को किंचिन्मात्र भी नहीं समझा है तथापि ''वधूमन्तः दशरथासः'' इसका अर्थ

दश कन्याएँ नहीं किया है। इस कारण सायण, शौनक, ग्रिफिथ, रमेश आदिकों का अर्थ सर्वथा त्याज्य है। ये सब क्या-क्या भावना रखके वेदार्थ करने में प्रवृत्त हुए, नहीं कह सकता। ये सब ही वेदों पर बालकवत् भाष्य वा अर्थ वा टिप्पणी टीका कर गये हैं। वेद के गूढाशय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। वेद ईश्वरीय उपदेश है। इसमें मनुष्य जाति के कल्याण की बातें भरी हुई है। वेद का एक-एक पद मनुष्य हित साधक है। अज्ञानी जन इसको भी साधारण, पुस्तक समझ झटिति समालोचना करने को तैयार हो जाते हैं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित व्यवहार है। प्रथम कई वर्षो तक इसका अध्ययन और छानबीन करें तब कहीं इसके भाव से परिचित होयेंगे। अब अवशिष्ट दो एक ऋचा का अर्थ करके इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः।१।१८।१।

मनुष्य कल्याण के लिए इस ऋचा द्वारा प्रार्थना करते हैं। (ब्रह्मणस्पते) वेदाधिदेव वेदोत्पादक ब्रह्मन्! (कक्षीवन्तम्) हमारे उद्योगी जितेन्द्रिय पुरुष को (सोमानम्) सोमा अर्थात् विविध पदार्थों और यज्ञों का सम्पादक (कृणुहि) कीजिये। पुनः (स्वरणम्) सुन्दर गमनशील कीजिये। (यः औशिजः) जो कक्षीवान् जितेन्द्रिय उशिकपुत्र अर्थात् इच्छापुत्र है। व्याख्या-सोमानम्=सुनोतीति षुञ् अभिषवे। अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति मनिन्। स्वरणम्=सुसुष्ठु अरणं गमनं यस्य। अथवा-स्वरण=प्रकाशनवान्। निरुक्त। १-१० में इव शब्द का अध्याहार कर जो अर्थ करते हैं वह गौरवात् उपेक्ष्य है। कामना के बिना कोई कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता। अतः जितेन्द्रिय पुरुष को उशिकपुत्र कहा है। निःसन्देह, जितेन्द्रिय पुरुष ही अपनी इच्छा को पूर्ण कर सकता है।

अददा अभा महते वचस्यवे।
कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।१।५१।१३।

हे इन्द्र! (सुन्वते+कक्षीवते) विविध यज्ञ सम्पादक उद्योगी पुरुष को आप (वृचयाम्) पूज्या आदरणीय (अर्भाम्) बुद्धिरूपा कन्या (अददाः) देते हैं। जो उद्योगी (महते) महान् है (वचस्यवे) विविध भाषण चाहने हारा है। व्याख्या=अर्भा, अल्पा-कन्या=बुद्धि। वचस्यु=वचनकांक्षी। वृचया=अर्चनीया। अश्विसूक्त १-११६-७ में कहा गया है कि अश्विदेवता इसको पुरन्धि देते हैं। वही पुरन्धि इस ऋचा में वृचया=अर्भा कहलाती है उद्योगी पुरुष को विविध भाषाएँ और नवीन-नवीन बुद्धि की आवश्यकता है। अतः यहाँ पुनः इस को

अर्भा अर्थात् नवीन बुद्धि मिलने का वर्णन हैं। सायण ने जो इस ऋचा पर इतिहास लिख कर कहा है कि वृचया नाम्नी कोई युवती स्त्री इस को इन्द्र ने दी सो सर्वथा असंगत है। क्योंकि सायण ने पूर्वापर विचार नहीं किया। वहाँ ''पुरन्धि'' शब्द का स्वयं सायण बहु बुद्धि अर्थ करते हैं फिर यहाँ वहाँ बुद्धि क्यों न ली जाये। पुनः १०। १४३। १। में कहा गया है कि इसे पुनः-पुनः नवीन करते हैं। बुद्धि से ही पुरुष नवीन होता है। अतः सायण आदिकों का अर्थ सर्वथा उपेक्षणीय है।

कक्षीवते शतहिमाय गोनाम्।९।७४।८।

भगवान् उद्योगी को शतवर्ष के लिए अनेक गौ दान देते हैं। आप सर्वत्र देखते हैं कि कक्षीवान् को उत्तम वस्तु मिलती है। निःसदेह, जितेन्द्रिय उद्योगी को सब ही पदार्थ मिलते हैं।

कक्षीवन्तं यदीं पुनः रथन्न कृणुते नवम्।१०।१४३।१।

हे अश्विनौ! (यदि) और (रथम्+न) जैसे जीर्ण और भग्न रथ को तक्षा पुनः-पुनः नवीन बनाता है तद्वत् (पुनः) पुनरपि, आप बुद्धि देकर (कक्षीवन्तम्+नवम्+कृणुते) कक्षीवान् को नवीन बनाते हैं। पूर्व में कहा गया है कि कक्षीवान् (उद्योगी) को बहुत बुद्धि देते हैं। यह पुरन्धि प्रदान करना ही नवीन करना है।

यद्वां कक्षीवां उत यद्व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव।८।९।१०

हे अश्विदेव! आपको कक्षीवान्, व्यश ऋषि और दीर्घतमा सदा स्तुति द्वारा बुलाते हैं। श्यावाश्व और दीर्घतमा के प्रकरण में इन दोनों शब्दों का अर्थ देखिये। अब बहुत प्रयोग उद्धृत हुए। मुनिजन मनन करें। इति।

मनुष्यजाति को खेती की शिक्षा प्रदान। २३।

मनुष्यजाति जिज्ञासामयी है। अतएव इसमें नाना विद्याओं की उत्पत्ति हुई है। निरुद्यम हो जब मुनिजन इतश्चेतश्च नयन प्रेरित करते हैं तब इनके अंतःकरण में अनेक संशय उठने लगते हैं। यह मेघ कैसे बनता है? कहाँ से आता है? सूर्य उदय अस्त क्यों और कैसे होते हैं? पृथिवी किस आधार पर कैसे ठहरी हुई है? इन सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र अनन्त तारागण किस आधार से चलते वा घूमते वा स्थिर रहते हैं? इनकी कितनी बड़ी आकृति है? इनकी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कितनी है? इस पृथिवी पर वनस्पति, घास, लताएँ, वृक्ष, ओषधियाँ कैसे उत्पन्न हुई? सृष्टि की आदि में इनके बीज पृथिवी पर कौन ले आए? किन्होंने बोए यद्वा पृथिवी में ही समस्त बीज अन्तर्हित थे।

क्या यह भूमि ही स्वयं बीजमयी एवं प्राणमयी है ? यह जगत् कैसे बन गया, सूर्य में अग्नि, समुद्र में जल, पृथिवी में बीज, आकाश में वायु, मेघ में विद्युत, चन्द्र में प्रकाशाप्रकाश किसने स्थापित किये ? यह दृश्यमान चराचर जगत्, सान्त यद्वा अनन्त है ? इसका कोई स्रष्टा है यद्वा नहीं ? यदि कर्त्ता, धर्त्ता है तो वह कैसा हो सकता है ? वह कहाँ, कैसे रहता ? क्या खाता पीता ? इत्यादि सहस्रश: प्रश्न किञ्चन्मननशील पुरुष के मन में भी उत्पन्न होते रहते हैं। ये प्रश्न ही मनुष्यजाति को जिज्ञासा की ओर बलात्कार खींच कर ले गये। जितनी ही अपने खोज में यह कृतकर्त्ता होती गई उतना ही इसका आनन्द बढ़ता गया। उन प्रश्नों के समाधानार्थ अथवा उत्सुकतानिवृत्त्यर्थ यद्वा मनुष्यजाति की बुद्धि का वैभवप्रख्यपानार्थ नाना शास्त्र बनते गये, बन रहे हैं एवं बनते चले जायेंगे। तथापि विभूति की इयत्ता न होगी। आह ! मनुष्य कैसी उत्कंठावती जाति पृथिवी पर विराजमान है।

पूर्वकाल में भी और अब भी बहुत से ऐसे प्रश्न उठते हैं कि यदि उनका कोई प्रामाणिक इतिहास होता तो वादविवाद की समाप्ति हो जाती है। जैसे वेद पृथिवी पर कैसे आया अथवा मनुष्य जाति में वाणी कैसे आई ? कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध इस जाति को कोई अचिन्त्य शक्ति सिखला गई यद्वा शनैः-शनैः ईश्वरीय प्रबंध ने ही सिखला दिया ? प्रथम खेती किसने की ? प्रारम्भ से ही यह जाति कपड़ा पहनने लगी यद्वा कुछ कल्प के पश्चात् अंग ढाँकने लगी ? कभी यह नग्न रही यद्वा नहीं ? प्रारम्भ में कौन सा कपड़ा पहनती थी ? इसी प्रकार आरम्भ में कौन सा पदार्थ भक्ष्य हुआ ? रोटी, भात बनाने की रीति इसमें कैसे आई ? इसी प्रकार प्रथम कृषिविद्या, वस्त्रविद्या, पाकविद्या, गृहनिर्माण विद्या का आविष्कर्त्ता कौन था ? यदि इनका पूरा विश्वासी इतिहास अपने-अपने देशवासी के निकट होता तो ईदृग् विवाद आधुनिक संतानों को नहीं करना पड़ता। अथवा यह विषय भी कुछ संम्भव सा था। क्योंकि इसके लिए लेखविद्या की आवश्यकता थी। ऐतिहासिक प्रणाली की आवश्यकता थी। यह सभ्यता की अपेक्षा करता है। इत्यादि कई कारण कहे जा सकते हैं जिससे उनका उल्लेख होना भी असंभव सा था।

यदि ईश्वर को कर्त्ता, धर्त्ता मानें, यदि जीवात्मा का अस्तित्व अनादि अनन्त स्वीकार करें, यदि मनुष्यजाति का पिता माता ईश्वर कहें, यदि धर्माधर्म कोई वस्तु स्थिर हो। तो निःसन्देह, मानना पड़ेगा कि सृष्टि के आदि में कर्मानुसार मनुष्यजाति को भगवान् ने उत्पन्न किया और इसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बोध के लिए अवश्य कुछ शिक्षा दी होगी। वह शिक्षा वेद नाम से पुकारी जाती है।

सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता अवश्य ईश्वर है। अपनी इच्छा से इसने समस्त भुवन रचा। सर्वोत्तम मनुष्यजाति को प्रकाश दिया। धर्माधर्म की स्थापना भी उसी ने की। ऋषियों के हृदय द्वारा वेद का प्रकाश किया। इत्यादि अर्थ में अणुमात्र भी मनुष्य को सन्देह नहीं करना चाहिये। मुझे कभी-कभी विद्वानों को नास्तिक होते हुए देख बहुत पश्चात्ताप होता है। जांगलिक और इन सभ्य पुरुषों के मध्य तब भेद ही क्या रहता है। जांगलिक ईश्वर को नहीं जानते। इनमें धार्मिक व्यवस्था भी प्राय: कोई नहीं, नग्न रहते। सब जीवों को खाते पीते। पशुवत् पुत्रादि उत्पन्न करते। विवाह की व्यवस्था नहीं थी। अत: कोई पाठित पुरुष अभिमान करे कि मैं तत्त्ववित् हूँ अन्यान्य अज्ञानी इस कारण हैं कि वे ईश्वर मानते हैं, धर्म्माधर्म की व्यवस्था चलाते हैं इत्यादि तो मैं उन तत्ववित् से निवेदन करूँगा कि आपसे अण्डमान अथवा भारतवर्ष के ही जंगली कोलभील अच्छे क्योंकि आप बहुतों को धोखा देते हैं। और अपने सिद्धान्त पर चलते नहीं। अत: आप उन्हीं जातियों में जाके मिल जाएँ। एवमस्तु। सृष्टि के आदि में भगवान् ने वेद दिए। यह निश्चित सिद्धान्त है। परन्तु मनुष्यों की बुद्धि भी व्यर्थ न हो जाए, अत: बीज रूप से वेदों को देके कहा कि इसी के अनुसार चलो, वैदिक सिद्धान्तों को बढ़ाओ। इसी के अनुसार तू ऐ मनुष्य! अपनी सृष्टि रच, खेत कर, नग्न मत रह, वस्त्र बना, अग्नि से कार्य ले इत्यादि। इस प्रकार ईश्वर से बोधित हो मनुष्य अपनी सारी सृष्टि धीरे-धीरे रचता गया। जो कुछ आज चारों तरफ अभ्युदय देखते हैं। इस के लिए बहुत काल लगा है, लग रहा है और लगेगा। इस प्रकार यदि विचारें तो यह प्रतीत होगा कि इस अभ्युदय का भी काल ही कारण है। समय ने यद्वा ईश्वरीय प्रबन्ध ने आवश्यकतानुसार इस जाति को सब कुछ सिखलाया और सिखला रहा है। अत: वेद इस ऋचा को कहते हैं यथा—

१—यवं वृकेणाश्विना वपन्ताइषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभिदस्युं बकुरेण धमन्ता उरुज्योतिश्चक्रथु रार्याय।

१।११७।२१।

(दस्रा+अश्विना) हे दर्शनीय अहोरात्रद्वय! (मनुष्याय) मनुष्य जाति के लिए (वृकेण) वृक अर्थात् भूमि के विदारने हारे लाङ्गल से भूमि को चीर फाड़ करवा (यवम्) जौ अर्थात् सब प्रकार के धान्य को (वपन्ता) बोआते हुए (इषम्) पृथिवी से नाना प्रकार के अभीष्ट अन्न को (दुहन्ता) दुहते हुए (बकुरेण) अग्निवत् भासमान अस्त्र शस्त्र से (दस्युम्) चोर, डाकू, दुष्ट, व्यभिचारी, कितव आदि और प्रजाओं में अशान्ति फैलाने हारे पुरुष को

(अभि+धमन्ता) वध करवाते हुए आपने (आर्याय+उरु+ज्योतिः+चक्रथुः) सभ्य पुरुष के लिए बहुत ज्योति प्रकाशित किया है। (१) निरुक्त ६। २५ में इसका व्याख्यान है। वृक=वृको लाङ्गलं भवति। वृकनाम लाङ्गल का है। बकुर="बकुरो भास्करो भयङ्करो भासमानोद्रवतीति वा। जलते हुए दौड़ने हारे अस्त्र का नाम बकुर है। यव और इष आदि उपलक्षक है। भाव यह है कि समय ने ही खेती विद्या सिखलाई। ज्ञान विज्ञानमय प्रकाश फैलाया। सर्वाभ्युदय का कारण यही काल है। इससे सिद्ध है मनुष्य जाति धीरे-धीरे सारी सृष्टि रचती गई। इति।

वर्त्तिका की वृक से रक्षा। २४।

१—याभिर्वर्त्तिकां ग्रसिताममुञ्चतम्। १। ११२। ८।

२—आस्नो वृकस्य वर्त्तिकामभीकेयुवं नरा नासत्याऽमुमुक्तम्।
१। ११६। १४।

३—अजोहवी दश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीमूमुञ्चतं वृकस्य
१। ११७। १६।

४—अमुञ्चतं वर्त्तिकामंहसो निः। १। ११८। ८।

५—वृकस्य चिद्वर्त्तिकामन्तरास्याद् युवं शचीभिर्ग्रसिताम-मुञ्चतम्। १०। ३९। १३।

१—(ग्रसिताम्+वर्त्तिकाम्+याभिः+अमुञ्चतम्) हे अश्विद्वय! आप वृक से ग्रसित वर्त्तिका को जिन उपायों से छुड़ा लेते हैं। उन उपायों से हमारी भी रक्षा कीजिये।

२—(नरा+नासत्या+युवम्) हे नेता! हे असत्यरहित अश्विद्वय! आप (अभीके+वृकस्य+आस्नः+वर्त्तिकाम्+अमुमुक्तम्) संग्राम में वृक के मुख से वर्त्तिका को छुड़ा देते हैं अभीक=संग्राम, निघण्टु २। १६। आस्नः=आस्यात्=मुख से। वृक=भेड़िया।

३—(यत्+सीम्) निश्चय कर जब (अश्विना+वाम्+वर्त्तिका+अजोहवीत्) हे अश्विद्वय! आप को वर्त्तिका पुकारती है तब आप (वृकस्य+आस्नः+अमुञ्चतम्) वृक के मुख से उसको छुड़ा लेते हैं।

४—(अंहसः+वर्त्तिकाम्+निःअमुञ्चतम्) पाप से वर्त्तिका को आप सर्वथा मुक्त करते हैं।

५—(युयम्+वृकस्य+चित्+अन्तः+ग्रसिताम्) हे अश्विद्वय! आप वृक के अन्तःप्रविष्ट और ग्रसित (वर्त्तिका+आस्यात्+शचीभिः+अमुञ्चतम्) वर्त्तिका

को मुख से आश्चर्य कर्म द्वारा बचा लेते हैं।

सायण कहते हैं कि वर्त्तिका नाम बटेरनी का अर्थात् बटेर की स्त्री का है। किसी एक समय किसी अरण्यचर कुत्ते ने उसको पकड़ लिया। पश्चात् इसने अश्विदेवता का स्मरण किया। और उनके प्रताप से वह वर्त्तिका उस भेड़िये के मुख से छूट गई। यास्काचार्य कहते हैं कि "पुनः पुनर्वतते प्रतिदिवस मावर्तत इति वर्त्तिका उषाः। तां वृकेण आवरकेण सर्वजगत्प्रकाशेन आच्छादयित्रा सूर्य्येण ग्रस्ताम्" वर्त्तिका नाम उषा का है। क्योंकि वह पुनः-पुनः आती है और वृक नाम सूर्य का है क्योंकि यह आलोक द्वारा जगत को प्रकाशित करता है। उस उषा को अर्थात् प्रातःकाल को सूर्य अपने आच्छादक प्रकाश से ग्रसित करता है। अश्विदेव उस वर्त्तिका को सूर्य के मुख से छुड़ा लेते हैं। यह वेद का भाव हैं। मैक्समूलर साहब ने यास्क के अर्थ का ग्रहण किया है। कुह्न और बेनफे साहब की भी यही सम्मति है। मैक्समूलर साहब ने इसी के सदृश आख्यान का पता ग्रीक धर्म्माख्यान में लगाया है। वह यह है—

"The island in which they (Appollo and Artemis, i, e, dawn and night) are fabled to have been born in Ortigia....Ortigia, though localised afterwards in different places, is dawn or the dawn land, Ortigia is derived from arty, a quail. The quail in Sanskrit is called Vartika, i, e, the returning bird, one of the first birds whith return with the return of the spring. The same name is given in the Veda to one of the many delivered or revived by the Asvins, i, e, by day and night; and I belived Vartika, the re-turning, is again one of the many names of dawns" scince of Language (1882) Vol II.P. 553.

मैं कह चुका हूँ कि वेद के यथार्थ तात्पर्य को न समझ कर विविध आख्यान केवल भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु पृथिवी पर के समस्त सभ्य देश में फैल गये। एवं यास्काचार्य अग्नि, वायु और सूर्य इन ही तीन देवों को मुख्य मान वेद के सम्पूर्ण आशय को प्रायः इन ही तीन पर घटाने का प्रयत्न करते हैं। ये यास्क याज्ञिक समय से भी पश्चात् के हैं, अतः अपनी सम्मति न दे याज्ञिक पुरुषों की ही सम्मति लेकर वेदार्थ विचार करते हैं। अतः इनसे बड़ी-बड़ी भूलें हो जाती हैं। पूर्व में कई एक उदाहरण दिखलाए गये हैं।

आशय—वृकशब्द-वेद के अर्थ गूढ़ नहीं हैं। किन्तु गूढ़ बना दिए गये हैं। वेदों में वृक यह नाम बारम्बार पाप का आया है। पूर्व में कह आए हैं। पुनः "पातं नो वृकादघायोः"। १। १२०। ७। हे अश्विद्वय! पापात्मक वृक से

हमारी रक्षा कीजिये "मा नो वृकाय वृक्ये समस्मा अघायते रीरधता यजत्राः" ६।५१।६। हे यजनशील ऋत्विको! हमको पापात्मा वृक और वृकी के अधीन मत कीजिये। समस्त पापेच्छु जन के लिए हमको सिद्ध न कीजिये। यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति अप स्म तं पथो जहि।१।४२।२। हे पूषन! जो यह दुष्ट, पापी, वृक हमको कुपथ में ले जाने के लिए आदेश अर्थात् शिक्षा दे रहा है, उसको हमारे पथ से दूर ले जाके अपहत् कीजिये। "वृको मा वृकीरा दधर्षीन्मा"।१।१८३।४ हे अश्विद्वय! आपके वृक और वृकी मुझे भयभीत न करें "यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह। स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरण पाह्यस्मान २।२८।०" हे वरुण! देदीप्यमान भगवान्! मुझ भीरु पुरुष को जो सहयोगी अथवा सखा स्वप्नसम्बन्धी भय कहा करते हैं और जो स्तेन वा वृक हमको हिंसित करना चाहता है उससे हमारी रक्षा कीजिये। इत्यादि अनेक स्थलों में पाप को वृक कहा है। क्योंकि जैसे अरण्य में छोटे-छोटे पशुओं को वृक मार कर खाया करता है वैसे ही पाप भी मनुष्य को खा जाता है। अतः पाप ही महावृक है। अतः इस प्रकरण में वृक नाम पाप का है।

अंहसः—इसीलिये।१।११८।८। में वृक के स्थान में अंहस् शब्द का ही पाठ आया है। इससे भी प्रतीत होता है कि पाप में ही वृकत्व का आरोप है।

वर्त्तिका—ऋग्वेद में वर्त्तिका शब्द का पाठ इसी प्रकरण में आया है, अन्यत्र नहीं। अश्वि प्रकरण जीवोद्धार के लिए सुप्रसिद्ध है। अतः यह भी किसी विशेष आत्मा के ही उद्धार का वर्णन होना चाहिये। एवं भगवान् का प्रबन्ध ही है कि पशु-पशु को खाएँ। देखते हैं कि छोटी-छोटी चिड़ियाएँ पतंगों को खाती रहती हैं। जलचर जलचरों को। एवं वन्यपशु वन्यपशुओं को खाते रहते हैं। अतः इनमें रक्षा का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। ईश्वर अपना प्रबन्ध अपने आप ही जानता है। यदि इस अवस्था में अश्विदेव ने एक चटकपक्षिणी की रक्षा भी की तो इससे कुछ विशेष माहात्म्य नहीं। अतः इसका भाव है।

वर्त्तिका नाम धर्मव्रतपरायण पतिव्रता स्त्री जाति का है। वर्तते धर्मस्यानुकूल्यत्वेन या पुनः-पुनः वर्तते सा वर्तिका" जो सदा धर्म के अनुकूल बरते, बारम्बार धर्म के अनुकूल वर्तने की सदा चेष्टा करे। ऐसी धर्मव्रत की अनुवर्त्तिनी स्त्री वर्त्तिका कहलाती है। उस वर्त्तिका की रक्षा भगवान् सदा किया करता है। यही बड़ा काम है। इसी को वेद दिखलाते हैं। निःसन्देह, स्त्री की रक्षा का कार्य अति कठिन है। क्योंकि चारों तरफ बड़े-बड़े बलिष्ठ असुर इस जाति के

पवित्र सतीत्व को विध्वस्त करने के लिए अस्त्र-शस्त्र धारण कर घूम रहे हैं। प्रायः पुरुष जाति के अन्तःकरण में स्त्री विषयक महत्त्व उस दर्जे तक नहीं है। पवित्रता और शुद्धता को ये वहाँ तक नहीं समझते। प्रेम की शृङ्खला की परवाह ये नहीं करते लगते। स्त्री जाति की पवित्र प्रतिज्ञा, कोमल भाव, अटूट प्रेम, बात-बात में प्राणपरित्याग भाव, जगन्मातृत्व, गांभीर्य इत्यादि-इत्यादि शतशः सद्गुण रत्नों के पहचान करने में मनुष्य सदा भूल किया करता है। अतः स्त्रीजाति के ऊपर सदा कष्ट आ पड़ता है। इस निर्दोष जाति के ऊपर मनुष्य का जो-जो अत्याचार है, वह अकथ्य और सुन-सुन कर आँसू धारा बहाने हारा है। इसकी कौन पुरुष रक्षा कर सकता है। परमात्मा ही इसकी रक्षा करने में समर्थ है। दुर्जन अज्ञानी जन इस परम सुगन्धित कुसुममाला को पहनना नहीं जानते। इसको क्षणमात्र में मलिन और मर्दन कर फैंक देते हैं। इस चन्द्रज्योत्सना के प्रकाश को कृष्णमेघ के समान आवृत कर लेते हैं। इस कोमल कमलिनी के प्रेम को टूक-टूक कर मूर्छित कर देते हैं। पृथिवी पर के इतिहास को देखते हैं तो इसकी रक्षा के कितने उपाय किये गये हैं। परन्तु क्या यह जाति ऐसी दुष्टा होती है कि जिसके लिए इतने प्रबन्ध की आवश्यकता हो। नहीं। यह कदापि नहीं। जो कोई इस जाति के ऊपर कलंक लगाते हैं वे बड़े अज्ञानी पुरुष हैं। वास्तव में पुरुष जाति दुष्ट है। यही इस पवित्र जाति को भ्रष्ट किया करती है। इसने अपनी विषयवासना की पूर्ति के लिए इस पर कौन-कौन अत्याचार नहीं किया। बंगाल में कभी-कभी एक-एक पुरुष, दो-दो सौ, तीन-तीन सौ स्त्रियों के साथ विवाह कर लेता था। एक-एक राजा आजकल भी नित्य नई-नई शतशः युवतियों की पवित्रता को कलुषित करता रहता है। आठ-आठ, दस-दस वर्ष की कन्या के साथ वृद्ध पुरुष विवाह कर लेता है। आः !!! कन्याओं को बेच देते हैं। अभी तक यह हृदयविदारक घोर अत्याचार भारत में विद्यमान है। इस क्रूर, महाक्रूर, चाण्डाल, राक्षस व्यवहार को कोई महापुरुष अपने अमोघ, सामर्थ्य से बन्द नहीं करता करवाता। ये दुर्मदान्ध राजा पशुवत् स्त्री जाति को लूटता है। कई एक राजा अन्य देश पर इस कारण आक्रमण करता है कि वहाँ परमसुन्दरियाँ मिलेंगी। कोई मदोन्मत आँख सेकने के लिए ही देशान्तर में यात्रा करता है। शततः जातियों को धन से खरीद नग्न होकर नचाता है। ओः !!! कहाँ तक पाप की चर्चा करूँ। ऐ मनुष्य ! तू बड़ा अत्याचारी है। तू महाघोर पापी से पापी है। परन्तु देख ! तुममें से ही कैसे-कैसे महात्मा पुरुष भी उत्पन्न हो जाते हैं जो स्त्रीजाति की सतीत्व रक्षार्थ अपना प्राण तक समर्पित कर देते हैं। इतिहास में यह भी देखा गया है

कि जब कोई राजा मरता था तो उसके साथ बहुत-सी युवतियाँ स्त्री जला दी जाती थीं अथवा मार के गाड़ दी जाती थी इस आशा से कि परलोक में ये पुनः मिलेंगी। यहाँ यह बात सुप्रसिद्ध है कि पति के मरने पर बलात्कार स्त्री अग्नि में भस्म कर दी जाती थी। इस राज्य में बलात्कार से यह पिशाचविधि बन्द कर देने की कारवाई की गयी है।

स्त्री जाति का इतिहास आश्चर्य जनक है। मुझे यहाँ रोने के लिए भी जगह नहीं है। शुष्क तार्किक पुरुष कहते हैं कि स्त्री जाति इसलिये सदा धर्म से डरती आई है कि इसको धर्म की शिक्षा बहुत दी जाती है। इसको पारलौकिक महाभय दिखलाया जाता है। अनेक पारलौकिक लोभ दिए जाते हैं। बड़ी-बड़ी आशाएँ दिखलाई जाती हैं। परन्तु मैं इसके समाधान में पूछता हूँ कि वे सारी बातें पुरुष को क्यों नहीं बतलाई जातीं? यहाँ तक तो कहा जाता है जो परस्त्री पर कुदृष्टि भी करेगा उसकी यह दशा होगी कि खूब जलती हुई महाज्वाला की एक स्त्री नरक में बनाई जायेगी। इस पुरुष को भोग-शरीर दिया जायेगा। तब यह पापी पुरुष उस ज्वालामयी स्त्री के साथ सटाया जायेगा। इसके शरीरावयव झट जलने लगेंगे। इसकी चिल्लाहट तीनों लोकों में पहुँचेगी। पुनः इसके शरीर पर पानी छींटा जाएगा। पुनः हाय-हाय कर बड़े जोर से रोवेगा। पुनः इसको दूसरा शरीर दिया जायेगा पुनः इसी प्रकार दग्ध किया जायेगा। इस प्रकार यावत्चन्द्रदिवाकर इसको यमयातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। आप इस विषय में श्रीव्यासजी के वचन पढ़िये। इस प्रकार आप देखेंगे तो पुरुष को भी धार्मिक शिक्षा न्यून नहीं है। तथापि ये स्त्री जाति की अपेक्षा अधिक कुचेष्ट और दुर्जन होते हैं। मैं यहाँ इस विवाद को लम्बा नहीं करता। स्त्री जाति की शुद्धता के ऊपर मेरा एक पृथक् लेख होगा। इन दो एक वक्ष्यमाण विषयों पर ध्यान दीजिये। स्त्री को अपना सतीत्व रक्षा करना कितना कठिन हो जाता है। क-जब कभी अत्याचारी पुरुष किसी देश पर विजय प्राप्त करता है तो स्त्री जाति को लूट का माल समझता है वहाँ की रमणियों को पकड़-पकड़ क्या-क्या दुर्दशा नहीं करता। ख-प्रायः अधिकांश पुरुष इसको केवल एक भोग्य वस्तु समझते हैं। अतः जब ही इन्हें किञ्चित भी मौका मिला तब ही ये इसको भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हैं। ग-जो अनेक स्त्रियों का पति बना हुआ है। ऐसे पुरुष के मरने पर उसकी स्त्रियाँ क्षुधा से व्याकुल होने लगती हैं। देश में इनके प्रतिपालन का कोई व्यवसाय नहीं। इस अवस्था में कभी-कभी ये प्राणघात तक कर लेती हैं। घ-अभाग्य वश पिता माता ने यदि कन्या को बेच लिया है और किसी वृद्ध से वा रोगी, दरिद्र, कुरूप, अङ्गहीन आदि

पुरुष के साथ ब्याह दिया है तो उसके ऊपर कैसा वज्र-प्रहार होता है। हृदय रखने हारे ही इसको जान सकते हैं। अमुक के साथ मुझे मत ब्याहो ऐसा भारतवर्ष की कन्या नहीं कहती और न कोई सामाजिक प्रबन्ध ही है जो ऐसे-ऐसे अन्याय को रोके। अत: अज्ञानी और दरिद्री माता पिता जिसको कन्या दे दे। बेचारी कन्या उसी के साथ जन्म व्यतीत करती है। ङ —छोटे-छोटे बालबच्चे वाली स्त्री यदि विधवा हो जाती है तो उनके बच्चों का भरणपोषण करना अतिशय कठिन हो जाता है। च-इनके योग्य नौकरी वा व्यवसाय का कोई उत्तम प्रबन्ध नहीं है। कठिन-कठिन कार्य भी नहीं कर सकती। छ-यदि यह हलकी नौकरी कहीं कर भी लें तो इसको खा जाने के लिए चारों तरफ हुराड़ भेड़िये लगे रहते हैं। मैं कहाँ तक गिनाऊँ आप स्वयं गिन लेवें। देखें कि स्त्री की रक्षा कितना कठिन काम है। क्या कोई पवित्र देश है जिसमें स्त्रीजाति की पूर्ण रक्षा होती हो। ईश्वर ही इसका रक्षक है, और कौन है ? इसकी रक्षा की इतनी कठिनाई है कि मुहम्दीय अनुगामी स्त्री को कपड़ों में लपेट कर रत्न के समान लुकाए रहते हैं। कभी-कभी सन्दूक और गृह में थाती के समान बन्द कर रखते हैं। मुहम्मदीय बादशाहों के यहाँ आने पर सब स्त्री जाति की रक्षा कठिनाई उपस्थित हुई। परदा लगाया गया। बहुत छोटी उम्र में विवाह की रीति चलाई गई। तो भी इसकी रक्षा नहीं हो सकी। आप जगत् का इतिहास पढ़ें। तब मालूम होगा कि स्त्री की रक्षा का भार कितना कठिन है।

अत: वेद भगवान् कहते हैं कि जो स्त्री मेरी आज्ञा के अनुकूल बरतती है, सदा मेरा स्मरण करती, बारम्बार संभलने के लिए चेष्टा करती रहती है तो मेरा प्रबन्ध सदा ऐसी धर्मपरायण स्त्री की रक्षा करता रहता है। अणुमात्र उसको क्लेश पहुँचने नहीं देता। इस गंभीराशय को वेद भगवान् दिखलाते हैं। न कि उषा अथवा चटका (बटेरनी) की रक्षा का यहाँ वर्णन है। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि जहाँ साक्षात् "अमुञ्चतं वर्त्तिकामहंस:"। १। ११८। ८। इस ऋचा में पापवाचक अंहस् शब्द पड़ा हुआ है, तब यहाँ यास्क के अनुसार वृक शब्दार्थ सूर्य कैसे कर सकते हैं। क्या कहीं भी सूर्य देव को पाप वा पापिष्ठ कहा है ? यदि ऐसा नहीं तब यहाँ वृक और अंहस् शब्द का अर्थ सूर्य कैसे कर सकते हैं। अत: पक्षरहित हो विवेकी पुरुष वेदों में खूब डूब कर इन ईश्वरीय बातों पर मीमांसा करें यह सर्व विद्वानों से मेरा निवेदन है। इति।

वध्रिमती को हिरण्यहस्त की प्राप्ति। २५।

१—अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यामन्पुरुभुजापुरन्धि:। श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। १। ११६। १३।

२—हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्या अदत्तम्।
१।११७।२४।

३—युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुर्ति चक्रथुः पुरन्धये।
१०।३९।७।

४—श्यावं पुत्रं नध्रिमत्या अजिन्वतम्। १०।६५।१२।

इन ऋचाओं पर सायणचार्य लिखते हैं "किसी राजर्षि की कन्या वध्रिमती थी। इसका स्वामी नपुंसक हो गया था। वह पुत्रलाभार्थ अश्विदेवता की उपासना करने लगी। प्रसन्न हो अश्विदेव ने इसको हिरण्यहस्त नाम का एक पुत्र दिया'। पूर्वगत अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि ये सब अध्यात्म और नित्य इतिहासों का वर्णन है। सायण आदि इस तत्त्व को न जान पदे-पदे भूल कर गये हैं। एवमस्तु। प्रथम ऋचाओं के अर्थ पर ध्यान दीजिये। पश्चात् इसकी भी समीक्षा करेंगे। (नासत्या+पुरुभुजा) हे नासत्य! हे पुरुभुज= बहुपालक! बहुहस्त! अश्विद्वय! (महि+यामन्+करा) हे पूजनीय स्तोत्र पर अभिमत फलकर्ता। (पुरन्धिः+वाम्+अजोहवीत्) परम बुद्धिमती वध्रिमती आपका स्तुति द्वारा आवाहन करती है। (वध्रिमत्याः+तत्+श्रुतम्) वध्रिमती के उस आह्वान को आप सुनते हैं। (शासुः+इव) जैसे आचार्य का वचन शिष्य सावधान हो के सुनता है। (अश्विनौ+हिरण्यहस्तम्+अदत्तम्) हे अश्विद्वय! आप उसको हिरण्यहस्त नाम का पुत्र देते हैं। १३। करा=कर्तारौ। मह=पूज्य। यामन्=स्तोत्र। श्रुतम्=यह लङ् का रूप है। शासुः=शास्तुः=आचार्य का। (अश्विना+रराणा+नरा) हे रममाण! हे नेता अश्विद्वय! (वध्रिमत्याः+ हिरण्यहस्तम्+पुत्रम्+अदत्तम्) आप वध्रिमती को हिरण्यहस्त पुत्र देते हैं। २४। (युवम्+वध्रिमत्या+हवम्+अगच्छतम्) हे अश्विद्वय! आप वध्रिमती के आह्वान सुन उसके निकट आते हैं। (युवम्+ पुरन्धये+सुसुतिम्+चक्रथुः) आप दोनों उस बुद्धिमतौ वध्रिमती को शोभन ऐश्वर्य देते हैं। सु+सुति= सुप्रसव=शोभन ऐश्चर्य। ७। (वध्रिमत्यः+श्यावं+पुत्रम्+अजिन्वतम्) हे अश्विद्वय! आप वध्रिमती के श्यावपुत्र को प्रसन्न रखते हैं।

१०। ३९। ७। यहाँ सायण लिखते हैं "वध्रिमत्याः संग्रामे शत्रुभिः छिन्नहस्ताया हवमाह्वान मगच्छतम्। आगत्य तस्ये हिरणमयं हस्तं प्रयच्छतम्।" अर्थात् वध्रिमती का हाथ किसी संग्राम में कट गया था उसको अश्विदेव ने सुवर्ण का हाथ दिया। पुनः "विधवा मुरुष्यथः। १०। ४०। ८। इस में आए हुए विधवा शब्द से सायण वध्रिमती का ही ग्रहण करते हैं। कहीं सायण वध्रिमती के पति को नपुंसक कहते हैं और अश्विदेवता के अनुग्रह-द्वारा

हिरण्यहस्त नामक पुत्र की प्राप्ति मानते हैं। कहीं कहते हैं कि इस का हाथ संग्राम में टूट गया था अश्विदेव ने उसको हिरण्य का हाथ बना कर दिया। कहीं कहते हैं कि यह विधवा अर्थात् अपतिका थी। इस प्रकार इन भाष्यकारों की जितनी समीक्षा कीजिये उतने ही निःसार प्रतीत होते हैं। अतः ये सब वेद के वास्तविक तत्त्ववित् नहीं थे यही कहना पड़ता है।

आशय—वध्रिमती—वध्रिशब्दार्थ बन्धन, इन्द्रिय, रस्सा आदिक हैं। सप्तवध्रि के प्रकरण में दिखलाया है। "प्रशस्ता वध्रिर्बन्धनम् अस्या अस्तीति वध्रिमती यद्वा प्रशस्ता वध्रय इन्द्रियाणि अस्याः सन्तीति।" जिसका बन्धन प्रशंसनीय हो। अथवा जिसके इन्द्रियगण प्रशंसनीय हों। अर्थात् जो स्त्री धार्मिक नियम रूप पाशों से बद्ध है धर्मनियमों को कभी तोड़ती नहीं। मानो जो धर्मरूप रस्सी से बंधी हुई है। जितेन्द्रिया, धर्मपरायणा, धर्मतत्त्ववेत्री है उसको वध्रिमती कहते हैं।

हिरण्यहस्त शब्द—हिरण्यहस्त, हिरण्यपाणि, हिरण्रेता, हिरण्यरथ, हिरण्यशृङ्ग, हिरण्यकेश आदि शब्द सूर्य के विशेषण में अधिक आते हैं। यथा—

१—हिरण्यहसतो असुरः सुनीथः। १। ३५। १०।

२—हिरण्यपाणि सविता विचर्षणिः। १। ३५। ९।

३—हिरण्याक्षः सविता देवः। १। ३५। ८

४—हिरण्ययेन सविता रथेना। १। ३५। २।

५—विश्वरूपं हिरण्यशम्यं। १। ३५। ४।

६—हिरण्य प्रउगं वहन्तः। १। ३५। ५।

इस ३५ वें सूक्त में केवल ११ ऋचाएँ हैं। छह ऋचाओं में हिरण्य शब्द का पाठ आया है। इसी से समझ सकते हैं कि वेदों में हिरण्य शब्द सम्बन्ध सूर्य शब्द के साथ अधिक आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हिरण्यहस्त नाम सूर्य का है।

अब केवल वध्रिमती और हिरण्यहस्त शब्दों पर विचार करने से इसका आशय विस्पष्ट हो जाता है। यद्यपि नर नारी दोनों को धर्म बन्धन से सदा बद्ध रहना चाहिये तथापि स्त्री जाति को विशेष रूप से इस कार्य में ईश्वर ने नियुक्त किया है। स्वभावतः स्त्री जाति धर्म परायण होती है। इसकी लज्जा और अनुद्धतता पूज्य है। मन को मारने हारी जितनी स्त्री जाति है पुरुष नहीं हो सकता। ये लम्पट अनाचारी पुरुष ही इस शुद्ध पवित्र जाति को अधर्म की

ओर बहकाते हैं तब ही इस पर कालिमा लगती है। सो जो कोई महिला इस असुरावृत पाखण्डाच्छन्न समाज में भी सच्चरित्ररक्षिणी, जितेन्द्रिया धर्मपाश-सुबद्धा होती है, उस वध्रिमती (जितेन्द्रिया) स्त्री को स्वयं परमेश्वर का प्रबन्ध हरिण्यहस्त अर्थात् सूर्यवत् तेजस्वी, निष्कलङ्क, पापान्धकार निवारक पुत्र देता है। यही सम्पूर्ण सूक्त का भाव है। यहाँ हिरण्यस्त शब्दार्थ सूर्यवत् है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। जिसकी माता सच्चरित्रा होगी, उसका पुत्र भी तदनुरूप होगा। विधवा होने पर भी यदि स्त्री जाति वध्रिमती धर्मरज्जुमती हो तो निःसन्देह, इसकी रक्षा ईश्वर की ओर से हो जाती है।

छिन्नचरणा विश्पला को आयसी जंघा की प्राप्ति। २६।

१—याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्त्रमीढ आजावाजिन्वतम्।
१।११२।१०।

२—चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्। सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। १।११६।१५।

३—सं विश्पलां नासत्याऽरिणीतम्। १।११७।११।

४—प्रति जंघां विश्पलाया अधत्तम्। १।११८।८।

५—सद्यो विश्पलामेतवे कृथः। १०।३९।८।

१—हे अश्विद्वय! आप (सहस्त्रमीढे+आजौ) सहस्त्रधनोपेत संग्राम में (धनसाम्) धन विभाग करने हारी (अथर्व्यम्) परन्तु चलने में श्रसमर्था (विश्पलाम्) विश्पला को (याभिः+अजिन्वषतम्) जिन-जिन रक्षाओं से तृप्त करते हैं अर्थात् उसको गमनसमर्था बनाते हैं। उनसे मेरी भी रक्षा कीजिए। धन+सा=षणुदाने। धनं सनोति ददातीति। जो धन दान करे उसे धनसा कहते हैं। अथर्व्यम्=थर्वतिर्गतिकर्मा। न थर्वति न गच्छतीति अथर्वी। जो न चल सके। सहस्त्रमीढ=मीढ=धन। जिसमें सहस्त्रों प्रकार के धन हो। आजि=संग्राम।

२—(वेः+पर्णम्) पक्षी के पक्ष के समान (खेलस्य+आजा+ चरित्रम्+ हि+अच्छेदि) खेल के संग्राम में विश्पला का चरण, निश्चय टूट जाता है। हे अश्विद्वय! आप (परितक्म्यायाम्) रात्रि में आके (सर्तवे) गमनार्थ और (हिते+धने) हितधन के लाभार्थ (सद्य+आयसीम्+जंघाम्+प्रत्यघत्तम्) तत्काल ही लोहमयी जंघा उसकी जगह में बना कर देते हैं। चरित्र=चरण। आजा= आजौ=संग्राम में। परितक्म्या=रात्रि।

३—(नासत्या+विश्पलाम्+सम्+अरिणीतम्) हे असत्यरहित अश्विद्वय! (आप पुनः विश्पला को पैर संयोजित करते हैं।

४—(विश्पलायै+जंघाम्+प्रति+अधत्तम्) विश्पला की जंघा को पुनः संयोजित कर देते हैं।

५—(विश्पलाम्+सद्यः+एतवे+कृथः) हे अश्विद्वय! आप तत्काल ही विश्पला को गमनसमर्था बना देते हैं। एतवे=गमनाय=गमनार्थ।

१। ११६। १५। पुनः १०। ३९। ८ इत्यादि ऋचा के व्याख्यान में सायणचार्य लिखते हैं कि "सुप्रसिद्ध खेल नाम का एक राजा था। इसके पुरोहित अगस्त्य थे। और इस राजा की सेना में विश्पला नाम की एक स्त्री योध्री (युद्ध करने हारी) थी। किसी संग्राम में इस योध्री स्त्री की जंघा कट गई। अगस्त्य ने अश्विदेवता की स्तुति की। पश्चात् अश्विदेव किसी रात्रि में एक लोह की जंघा बना विश्पला की टूटी हुई जंघा की जगह में जोड़ के चले गये। यह स्त्री पूर्ववत् ही पुनः संग्राम करने लगी।" इसी विषय को वेद भगवान गाते हैं। अगस्त्य का सम्बन्ध "अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना" १।११७। ११ इस ऋचा में पाया जाता है। इसका भाव यह है कि अगस्त्य के मन्त्र से यह अश्विद्वय प्रवर्धित होते हैं अर्थात् सुप्रसन्न होते हैं। इत्यादि आशय लिखके सायण अश्विदेव का महत्त्व गाते हैं। परन्तु इसका यह भाव नहीं क्योंकि अहोरात्रात्मक अचेतन अश्विद्वय प्रथम लोहमयी जंघा बना नहीं सकते। पुनः यदि सृष्टि के आदि से आज तक अश्विद्वय ने केवल एक ही आयसी जंघा एक ही स्त्री को दी है तो इनकी इसमें प्रशंसा नहीं। एवं देवता के लिए यह पक्षपात भी होगा। खेलने वा विश्पला ने कौन सा उपकार किया था जिसके निष्क्रयार्थ अश्विद्वय को यह परिश्रम करना पड़ा। अतः इसका अन्य ही आशय है। वह यह है। खेल="खे हृदयाऽऽकाशे लीयते यः स खेलो जीवात्मा परमात्मा वा"। हृदयाऽऽकाश में जो छिपा हुआ हो उसे खेल कहते हैं। जीवात्मा परमात्मा दोनों हृदयाऽऽकाश में विद्यमान हैं। अतः खेल शब्द जीवात्मा परमात्मा दोनों वाचक है। यद्वा "खेलति क्रीडतीति खेलः" यद्वा "खेहृदयाऽऽकाशेस्थितःसन् लाति विषयान् आददाति गृह्णातीति खेलः। ला आदने" यद्वा, जो क्रीडाशील हो। यद्वा, जो हृदयाकाश में स्थित होके बाह्य विषयों को ग्रहण करे। इत्यादि खेल शब्द के अर्थ होवेंगे। कोई-कोई ऐसे शब्द हैं कि चारों वेदों में कहीं एक ही बार आते हैं। कोई ऐसे हैं जो एक ही प्रकरण में एक दो बार आते हैं, अन्यत्र नहीं। खेल शब्द चारों वेदों में एक बार यहाँ ही प्रयुक्त हुआ है। विश्पला—"विशः प्रजा इन्द्रियरूपाः पालयतीति विश्पला बुद्धिः" इन्द्रियरूपा प्रजाओं को जो बुद्धि पालन करे उस बुद्धि का नाम विश्पला है। यद्वा "विशः प्रजाः पालयतीति विश्पला वैश्यवृत्तिः" वैश्यवृत्ति

का भी नाम विश्पला है। भाव अब तिरोहित न होगा। १। ११६। १५ यहाँ वेद कहता है कि खेल के संग्राम में विश्पला की जंघा टूट जाती है। पुनः अश्विदेव आयसी जंघा लगा देते हैं। इत्यादि। ठीक है। खेल जो जीवात्मा है। उसका इस संसार में प्रवेश करना ही महासंग्राम है। प्रत्येक पुरुष को यह स्वानुभव सिद्ध है कि मनुष्य जाति को इस संसार के साथ कैसा रोमहर्षण संग्राम रचना पड़ता है। विश्पला नाम बुद्धि का है। जीवात्मा की युद्ध सेना में आगे-आगे चलने और युद्ध करने हारी बुद्धि देवी है। यह बुद्धि भयंकर आयोजन करते-करते थक जाती है। कभी-कभी धोखे में पड़के विनष्ट होने लगती है। कभी इसको ऐसी-ऐसी चोटें लगती हैं कि इसके हाथ पैर टूट जाते हैं यह अचेत हो जाती है, परन्तु जिस कारण यह बुद्धि सात्त्विकी है, प्रजाओं के हित के लिए ही संग्राम में प्रवृत्ता होती है और इसमें जो कुछ प्राप्ति होती उसे बाँट देती है क्योंकि यह ''धनसो'' अर्थात् धन बांटने हारी है। अतः ऐसी बुद्धि की रक्षा स्वयं कालदेव किया करता है। अर्थात् ऐसी सात्त्विकी बुद्धि बारम्बार जगत् में ठोकर खा खाकर बढ़ती जाती व अन्त में लोहे के तुल्य ऐसी दृढ़ हो जाती कि संग्राम में कभी परास्त नहीं होती। अथवा जो वैश्यवृत्ति प्रजा हितकारिणी है, उसे कभी-कभी क्लेश पहुँचने पर भी ईश्वर पुनः बचा लेते हैं। इसकी जङ्घा ऐसी मजबूत कर देते हैं कि पुनः कभी गिरती नहीं इत्यादि इसका आशय है। पुनः वेद कहता है ''कि रात्रि में आके अश्विदेव आयसी जङ्घा लगा देते हैं'' यह अचिन्त्यता का सूचक है। मनुष्य को यह ज्ञात नहीं है कि कब क्या होगा। जब कभी कोई उद्यमी पुरुष किसी कार्य में कृतकृत्य नहीं होता हताश हो के सब कार्यों से निवृत्त होने लगता हैं कोई उपाय उसे अब नहीं सूझता। मृत्यु इसके निकट आ रही है। ऐसी दुर्दशा में भी कभी-कभी देखा गया है कि मंगलाभिलाषी जन की अचिन्त्यशक्ति रक्षा कर देती है। पुनः वह जगत् में नाना शुभ कर्म कर यशोभागी होता है। अतः वेद में ''रात्रि'' शब्द का प्रयोग है।

शिक्षा—अश्विदेव ''आयसी जङ्घा'' किसको देते हैं ? विश्पला को। किस लिये ? हितधन को सञ्चय करने के लिए (धने+हिते) हितधन क्या बिना परिश्रम से मिलता है ? नहीं। युद्ध करने से। इस वर्णन से वेद शिक्षा दे रहे हैं कि हे मनुष्यो ! प्रत्येक व्यक्ति प्रजारक्षिणी बने। तुम्हारे सर्व कर्म प्रजाओं के लिए होवें इस प्रकार परस्पर हितकारी और सहायक बनो। यदि ऐसे शुभच्छेद होके तुम जगत् के विविध संग्रामों में प्रविष्ट होंगे तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा, तुम्हें गिरने न दूँगा। हे मनुष्यो ! तुम छल कपट त्यागो। इस संग्राम में तुम्हें जो

कुछ लाभ हो उसे केवल निज, धन ही मत समझो किन्तु सब में बराबर बांट दो। यदि ऐसा आचरण करते रहोगे तो तुम दिन-दिन दृढ़ होते जाओगे परन्तु हे मनुष्यो! तुम को मनुष्य योनिरूप महायुद्ध क्षेत्र में भेजता हूँ। यदि तुम असावधान होके सो जाओगे तो तुम्हारी बहुत क्षति होगी। कौन अज्ञानी है जो युद्ध भूमि में निश्चिन्त सोता हो। तुम मेरी आज्ञा मान कर्म करते चलो मैं तुम्हें बचाता रहूँगा। इति।

घोषा ब्रह्मचारिणी। २७।

पूर्व काल में पुरुषवत् स्त्रियाँ भी वेदों की शिक्षाओं का प्रचार सर्वत्र किया करती थीं। परन्तु आज कल अज्ञानी जन कहते हैं कि स्त्रियों को वेदों का उच्चारण करना भी सर्वथा प्रत्यवाय जनक है। क्योंकि इनका उपनयन संस्कार नहीं होता। और उपनीत का ही वेदों में अधिकार विहित है। देखो! यहाँ की कितनी वनिताएँ वेद की ऋषिकाएँ हैं। प्राय: सब प्रकार के अर्थों की द्रष्ट्री ये हुई हैं। श्रद्धा, विवाह-विधि प्रभृति अनेक उत्तमोत्तम अर्थों की प्रचारिकाएँ होती थीं। यहाँ मैं काक्षीवती घोषा जिन दो अश्विसूक्तों की ऋषिका हैं उनका संक्षिप्त अर्थ लिखूँगा। कैसे गंभीर आशय से ये दोनों सूक्त पूर्ण हैं। आगे कुछ दूर तक वनिता सम्बन्धी मन्त्रों पर ही विचार रहेगा। सावधान हो यदि इनका अध्ययन करेंगे तो वेदों के परम पवित्र आशय से कुछ लाभ उठा सकते हैं। यहाँ पता सहित कतिपय ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं के नामधेय प्रथम लिखे देता हूँ।

ऋग्वेद।

सं० ना	मण्डल-सू०-ऋ०
१—रोमशा	१। १२६। ७
२—लोपामुद्रा	१। १७९। १ से ६ तक
३—विश्ववारा	५। २८। १-६
४—शश्वती	८। १। ३४
५—अपाला	८। ९१। १-७
६—यमी	१०। १०। १, ३, ५, ६, ७, ११, १३
७—घोषा	१०। ३९। ४०। १-१४
८—सूर्य्या	१०। ८५। १-४७
९—इन्द्राणी	१०। ८६। १-२३
१०—उर्वशी	१०। ९५। २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८
११—दक्षिणा	१०। १०७। १-११

१२—सरमा १०।१०८।२, ४, ६, ८, १०, ११
१३—जुहू १०।१०९।१-७
१४—वाग् १०।१२५।१-८
१५—रात्रि १०।१२७।१-७८
१६—गोधा १०।१३४।७
१७—इन्द्राणी १०।१४५।१-६
१८—श्रद्धा १०।१५१।१-५
१९—इन्द्रमातरः १०।१५३।१-५
२०—यमी १०।१५४।१-५
२१—शची १०।१५९।१-६
२२—सार्पराज्ञी १०।१८९।१-३

जिस कारण अश्विसूक्तों में घोषा की चर्चा आई है और इस नाम की एक ऋषिका भी हुई है अतः इसका प्रथम उल्लेख करना पड़ता है। दशम मण्डल के ३९ वें और ४० वें सूक्तों की द्रष्ट्री घोषा है। घोषा यह नाम ब्रह्मचारिणी कन्या का है। जो वेदों का अध्ययन कर ईश्वरीय ज्ञान की घोषणा सर्वत्र विस्तीर्ण करे उसे घोषा कहते हैं। ''या घोषयति विद्यामभ्यस्यति, ईश्वरीय ज्ञानं वा या सर्वत्र घोषयति प्रचारयति प्रकाशयति सा घोषा'' जिन दो सूक्तों की यह द्रष्ट्री है उनमें ब्रह्मचारिणी कन्याओं के वेदाध्ययन के समय एवं गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व क्या-क्या कर्त्तव्य हैं उनका बहुत उत्तम रीति से वर्णन है। इस विषय को स्वयं विदुषी ब्रह्मचारिणी ही अच्छे प्रकार अपनी सहपाठिनियों सहवासनियों में दे सकती है। अतः इन दोनों सूक्तों की प्रचारिका कन्या है और इसकी पदवी घोषा है। अब आप देखेंगे कि इस में किसी अनित्य इतिहास का उल्लेख नहीं। अन्यान्य प्रार्थना के समान ब्रह्मचारिणी योग्य यह भी एक प्रार्थना मात्र है और अश्विसूक्त में जिस प्रकार की आलङ्कारिक बात रहती है वही इस में भी है। अब प्रथम सूक्तार्थ संक्षेप से देके पुनः इसका संक्षिप्त सार लिखूँगा।

ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिए प्रार्थना।

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितु र्नताम सुवहं हवामहे।

१०।३९।१।

ऋषि=ब्रह्मवादिनी घोषा। देवता—अश्विद्वय (अश्विना) हे अश्विद्वय!

(वाम्+यः+रथः+परिज्मा+सुवृत्) आप का जो रथ विचरणशील और सुगठित है (हविष्मता+दोषाम्+उषासः+हव्यः) जो हविष्मान् अर्थात् कर्मपरिणत ज्ञान विज्ञान सम्पन्न उद्यमी द्वारा रात्रिन्दिवा आदरणीय है (वाम्+तम्+उ+सुहवम्) आपके उस आदरणीय रथ को (शश्वत्तमासः+वयम्+हवामहे) चिरन्तन हम उपासिकागण गृह पर निवास के लिए आदर बुद्धि से पुकारती हैं (न+पितुः+इदम्+नाम) जैसे पिता के इस नाम को आदर बुद्धि से लेती हैं। तद्वत् आप के रथ को भी पुकारती हैं। परिज्मा=परितोगन्ता, सर्वत्र विहारी। सुवृत्=शोभन, सुरचित, सुगठित। जो नर नारी पितृ नाम के समान समय देव का आदर करती हैं, वे सर्वथा सुखी होती हैं। १।

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धियः उत्पुरन्धीरीरयतं तदुश्मसि।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमन्न चारुं मधवत्सु नस्कृतम्। २।

(अश्विना) हे अश्विद्वय! आप हम को (सूनृताः+चोदयतम्) मधुर वाक्य उच्चारणार्थ प्रेरित करें (धियः+पिन्वतम्) हमारे कर्मों को पूर्ण कीजिये (पुरन्धीः+उदईरयतम्) हमारे लिये बहुत विविध बुद्धियों को उदित कीजिये। (तत्+उश्मसि) हम उपासिकाएँ इन तीनों, सुनृतावाक्य, कर्म की पूर्णता और विविध बुद्धियों की कामना करती हैं। आप पूर्ण कीजिये। (नः+यशसम्+भागम्+कृणुतम्) हम को अति प्रशंसित धन का भाग दीजिये (चारुम्+सोमम्+नः+नः+मघवत्सु+कृतम्) प्रिय सोम के समान हम को ज्ञान विज्ञान धन सम्पन्न पुरुषों में प्रिय बनाइये। २।

अमाजुरश्चिद् भवथो यूवं भगोऽ नाशोश्चिदवितारा़ऽपमस्य चित्।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद् युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्। ३।

(युवम्+अमाजुरः+चित्+भगः+भवथः) आप सब कपट रहित असहाय और जीर्ण पुरुष के ऐश्वर्य हैं। (अनाशोः+चित्+अपमस्य+चित्+अन्धस्य+चित्+कृशस्य+चित्+अवितारा) अनाशु=अनशन=भूखे के, अपम=नीच के, अन्ध के और कृश पुरुष के रक्षक हैं। (नासत्या+युवाम्+इद्) हे असत्यरहित देव! आपको ही (रुतस्य+चित्+भिषजा+ आहुः) नाना क्लेशों से रोते हुए के वैद्य कहते हैं। अमाजुरः=मायारहित और जीर्ण। अनाशु=अनशन=भूखा। अपम=निकृष्ट। कृश=दुर्बल। रुत=रोनेहारा॥ ३॥

युवं च्यवानं सनयं यथा रथम् पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।
निष्टौग्य्र मूहथुरद्भ्यपरि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या। ४।

अर्ध ऋचा का अर्थ पृष्ठ २५४ में देखो। (तोग्यम्+अद्भ्यः+परि+नि+ऊहथुः) आप तुग्रपुत्र भुज्यु को सामुद्रिक जल से बचा लाते हैं। इसका भाव भुज्यु के प्रकरण में देखो। (वाम्+ता+विश्वा+इत्+सर्वनेषु+प्रवाच्या) हे देव! आप के वे सब ही कर्म यज्ञों में व्याख्यातव्य हैं। ४।

पुराणा वां वीर्या प्रब्रवा जनेऽथोहासथुर्भिषजा मयोभुवा।

ता वां नु नव्या ववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत्।५।

(जने+वाम्+पुराणा+वीर्या+प्रब्रवा) हे अश्विद्वय! हम जन समूह में आप की पुरानी वीरताओं को सुनाती हैं। (अथो+भिषजा+मयोभुवा+ह+आसथुः) और आप सब लोगों के चिकित्सक हैं और सर्वत्र सुख पहुँचाने हारे हैं इस की भी व्याख्या हम करती हैं। (अवसे+ता+वाम्+नव्या+नु+करामहे) रक्षार्थ आप दोनों की स्तुति करती हैं। (नासत्या+अयम्+अरिः+यथा+श्रद्+दधत्) हे असत्यरहित! यह हमारा शत्रु भी हम पर श्रद्धा जैसे करे वैसा उपाय हम को सुझा दीजिये। ५।

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।

अनापिरज्ञा असजात्याऽमतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम्।६।

(अश्विना+इयम्+वाम्+अह्वे) हे अश्विद्वय! यह मैं आपको पुकार रही हूँ। (मे+श्रृणुतम्) मेरी सुनिये। (पुत्राय पितरा+इव+मह्यम्+शिक्षतम्) जैसे माता पिता अपने सन्तान को शिक्षा देते हैं वैसे ही मुझे आप शिक्षा दीजिये। (अनापिः) मैं आप्तबन्धुविहीना हूँ (अज्ञा) अज्ञानी हूँ (असजात्या) जाति कुटुम्बादि से भी वर्जिता हूँ (अमतिः) बुद्धि भी नहीं है। (तस्या+ अभिशस्तेः+पुरा+अवस्पृतम्) मुझ में किसी दुर्गति को उपस्थिति होने के प्रथम ही उस दुर्गति को दूर कीजिये। ६।

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।

युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतम् युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये।७।

युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः।

युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः।८।

(युवम्+जरणाम+उपेयुषः) आप जरावस्था प्राप्त (विप्रस्य+कलेः+युवद्+पुनः+अकृणुतम्) विप्र कलि की वयोवस्था को पुनः युवा बनाते हैं। कलि=समय के संकलनकारी। समय को व्यर्थ न बिताने हारा। समय के तत्त्ववित् पुरुष नीच अवस्था से उच्चावस्था को प्राप्त होते हैं। च्यवनवत् इसका भी आशय समझो। ८।

युवं ह रे भं वृषणा गुहा हितम् उदैरयतं ममृवांसमश्विना।
युवमृवीसमुत तप्तमत्रये ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये।९।
युवं श्वेतं पेदवे ऽश्विनाऽश्वम्..................।१०।
न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम्।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्त्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह।११।

(राजाना) हे देदीप्यमान! (अदिते) अदिते! हे अदीन! (सुहवा) हे स्वाह्वान! (रुद्रवर्त्तनी) हे स्तोत्रयुक्तमार्ग (अश्विना) अश्विद्वय! आप (यम+पत्न्या+सहपुरोरथम्+कृणुथम्) जिस पुरुष को पत्नी सहित अग्रगामी रथवाला बनाते हैं अर्थात् आपकी कृपा से जो रथ पर पत्नीसहित बैठ आगे-आगे चलता है (तम्+कुतः+चन+अंहः+न+अश्नोति) उसको कहीं से भी पाप प्राप्त नहीं होता (दुरितम्+न) दुर्गति प्राप्त नहीं होती (भयम्+न किः) भय प्राप्त नहीं होता।११।

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।
यस्य योगे दुहिता जायेते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः।१२।

(अश्विना+वाम्+यम्+रथम्+ऋभवः+चक्रुः) हे अश्विद्वय! आपके जिस रथ को ऋभुगण बनाते हैं (यस्य+योगे+दिवः+दुहिता+जायेते) और जिसके योग में द्युलोक की दुहिता अर्थात् उषा उत्पन्न होती है (विवस्वतः+सुदिने+उमे+अहनी) और सूर्य के सुन्दर दोनों अहोरात्र उत्पन्न होते हैं (मनसः+जवीयसा+तेन+आ+यातम्) मन से वेगवत्तर उस रथ से मेरे निकट आइये।१२।

ता वर्तियीतं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना।
वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामुमुञ्चतम्।१३।

(अश्विना+ता+जयुषा+पर्वतम्+वर्तिः+वि+यातम्) हे अश्विद्वय! वे आप जयशील रथ के साथ पर्वतीय मार्ग की ओर जाते हैं (शयवे+धेनुम्+अपिन्वतम्) शयु=बालक के लिए मातृरूप धेनु को दुग्ध से पूर्ण करते हैं।

एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः।१४।

(न+भृगवः+रथम्) जैसे कर्मकुशल निर्म्माणपरिपक्व रथकारगण रथ को बनाते हैं तद्वत् हम (अश्विनौ+वाम्+एतं+स्तोमम्+अकर्म+अतक्षाम) हे अश्विद्वय! आपके लिए यह स्तोम बनाती हैं। और इसको सुन्दर संस्कृत करती हैं। (न+योषणाम्+मर्य्ये) जैसे विवाह काल में कन्या को अलंकृता कर

जामाता के निकट ले जाते हैं (नि+अमृक्षाम) तद्वत् इस स्तोम को भूषित कर आपके निकट पहुँचाती है पुनः (न+तनयम्+सूनुम्) जैसे शुभ कर्म्मविस्तारक पुत्र को अच्छे प्रकार धारण पोषण करते हैं तद्वत् (नित्यम्+दधानाः) नित्य इस स्तोत्र को धारण करती हैं। १४।

ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिए प्रार्थना।

रथं यान्तं कुह को ह वां नरा—

प्रति द्युमन्तं सुविताय भूषति। प्रातर्यावाणं विभ्वं विशेविशे

वस्तोर्वस्तोर्वहमानं धिया शमि। १०।४०।१।

(नरा) हे नेता अश्विद्वय! (वाम्+रथम्+कुह+कः+ह+शमि+धिया+सुविताय+प्रति+भूषित) आपके रथ को कहाँ और कौन यजमान यज्ञरूपकर्म में बुद्धि से अभ्युदय के लिए प्रतिभूषित करता है। रथ कैसा (यान्तम्+द्युमन्तम्+प्रातर्यावाणम् +विभ्वम्) सर्वत्र विहारी, दीप्तिमान, प्रातर्गन्ता और सर्वत्र व्यापक पुनः (विशे+विशे+वस्तोः+वस्तोः+वहमानम्) प्रजा-प्रजा में दिन-दिन धन सम्पति पहुँचाने हारा। कुह=कहाँ। सुवित=अभ्युदय। विश=विट्=प्रजा। वस्तो=दिन। शमि=कर्म्म

कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।

को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् मर्त्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। २।

(अश्विना) हे अश्विद्वय! (दोषा+कुहस्वित्) रात्रि में आप कहाँ होते हैं? एवं (वस्तो+कुह) दिन में कहाँ होते हैं? (अभिपित्वम्+कुह+करतः) अभिपित्व=अभिप्राति=विश्राम कहाँ करते हैं? (कुहः+ऊषतुः) कहाँ निवास करते हैं? (शयुत्राः) हे शिशुरक्षक अश्विद्वय! (वाम्+सधस्थे+कः+आकृणुते) आपको यज्ञभूमि में बिठला के कौन परिचर्या करता है? यहाँ दृष्टान्त देते हैं। (न+विधवा+देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर की सेवा सुश्रूषा करती है (न+योषा+मर्यम्) जैसे प्रिया पतिपरायणा स्त्री स्वामी की सेवा करती है। दोषा=रात्रि। वस्तोः=दिन। अभिपित्व=प्राति। शयुत्र=शयु=शिशु, त्र=रक्षक। सधस्य=सहस्थान=जहाँ सब कोई साथ बैठे। २।

प्रातर्जरेथे जरणेव कापया वस्तोर्वस्तोर्यजता गच्छथो गृहम्।

कस्य ध्वस्त्रा भवथः कस्य वा नरा राजपुत्रेव सवानाव गच्छथः। ३।

(जरणा+कापया+इव) जैसे वृद्ध माता पिता को कोई सुन्दर वाणी से प्रसन्न करे वैसे ही हे अश्विद्वय! आप (प्रातः+जरेथे) प्रातः काल ही सुन्दर स्तोत्र से सत्कृत होते हैं। (वस्तोः+वस्तोः+यजता+गृहम्+गच्छवः) आप दिन-

दिन यजमानों के गृह में जाते हैं। (कस्य+ध्वस्रा+भवथः) आप किस यजमान के दोषों के ध्वंसक होते हैं एव (नरा+कस्य+सवना+राजपुत्रा+इव+अवगच्छथः) हे नेतृद्वय! आप किस के यज्ञों में राजपुत्र के समान जाते हैं।

युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे।
युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथः शुभस्पती।४।

(मृगण्यवः+इव) जैसे व्याधगण (वारणा+मृगा) बृहत् वृहत् शार्दूलों को अन्वेषण कर आह्वान करे तद्वत् हम सब ब्रह्मचारिणी कन्याएँ (दोषा+वस्तोः) रात्रिन्दिवा (हविषा) भक्तिप्रेमरूपहविष्यद्वारा (युवाम्+निह्वयामहे) आपको ही आवाहन करती हैं (नरा) हे जगन्नायक! (युवम्) आपको ही सब कोई (ऋतुथा) समय-समय पर (होत्राम्+जुह्वते) आहुति देते हैं (शुभस्पती) आप ही शुभकर्म के पति हैं। अतः (जनाय) आप मनुष्यजाति के लिए (इषम्) अभीष्ट अन्न (वहथः) वहन करते हैं। वारण=बड़ा। मृगण्यु=मृगयु=व्याध। ४।

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते।५।

(नरा अश्विना) हे नायक अश्विद्वय! (राज्ञः+दुहिता) राजकन्या और (घोषा) वेद की घोषणा सर्वत्र पहुँचानी हारी स्तुतिपाठिका मैं (परि+यती) चतुर्दिक् इधर-उधर जाकर (युवाम्+ऊचे) आपकी ही कथा कहती हूँ (वाम्+पृच्छे) विद्वानों से आपके ही विषय में जिज्ञासा करती हूँ (अह्न+उत+अक्तवे) क्या दिन क्या रात्रि (मे+भूतम्+भूतम्) मेरे निकट उपस्थित रहें। (अश्वावते) मेरे इस इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त (रथिने) शरीररूप-रथ-सहित (अर्वते) मनोरूप अश्व का (शक्तम्) दमन आप कीजिये। घोषा=घोषयित्री=सर्वत्र घोषणा पहुँचाने हारी। थती=गच्छन्ती। अह्ने=दैनिककर्माथे। अक्तवे रात्रिकर्माथे।

युवं कवी ष्ठः पर्यश्विना रथम् विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः।
युवोर्हमक्षा पर्यश्विना मध्वाऽऽसा भरत निष्कृतं न योषणा।६।

(कवी+अश्विना+युवम्+रथम्+परि+स्थः) हे कवि अश्विद्वय! आप रथ के ऊपर आरोहण करते हैं (न+कुत्सः+विशः+जरितुः+नशायथः) जैसे विद्वान् प्रत्येक प्रजा के भवन में जाता आता है तद्वत् आप स्तुतिपाठक के गृह में प्राप्त होते हैं। (अश्विना+युवोः+ह+मधु+मक्षा+आसा+परि+भरत) हे अश्विद्वय! आप के मधु को मक्षिका मुख द्वारा ग्रहण करती हैं। (न+योषणा+

निष्कृतम्) जैसे स्त्री सुकृत को ग्रहण करती है। नशायथ:=नशतिर्व्याप्तिकर्मा। मक्षा=मधु मक्षिका। आसा=आस्येन=मुख से। निष्कृत=सुकृत।५।

युवं ह भुज्युं युवमश्विना वशम् युवं शिञ्जारमुशनामुपारथुः।
युवो ररावा षरि सख्यमासते युवोरहमवसा सुम्नमा चके।७।
युवं ह कृशं युव मश्विना शयुम् युवं विधन्तं विधवा मुरुष्यथः।
युवं सनिभ्यः स्तनयन्तमश्विनाप व्रजमूर्णुथः सप्तास्यम्।८।

हे अश्विद्वय! आप भुज्यु का उद्धार करते हैं। आप वश को, अत्रि को, और उशना को, दु:ख से पार करते हैं। जो दाता हैं वे ही आप का मित्रत्व प्राप्त करते हैं। मैं भी आप की रक्षा द्वारा सुख की कामना करती हूँ।७। आप कृक्ष, शयु, परिचारक और विधवा की रक्षा करते हैं आप यज्ञ कर्त्ताओं के निमित्त मेघ को उद्घाटित करते हैं। इतस्तत: गमन कर वृष्टि प्रदान करते हैं।८।

जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारुहन्वीरुधो दंसना अनु।
अस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवो ऽस्मा अह्वे भवति तत्पतित्वनम्।९।

हे अश्विद्वय! आप की कृपा से यह हो कि जब कोई ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी (योषा+जनिष्ट) नारी लक्षण-प्राप्ता और सौभाग्यवती विवाहार्थिनी हो। पुन: वर कैसा हो (दंसना:+अनु) पुरुषार्थ करने पर जिसके भवन में (वीरुथ:+वि+च+ अरुहन्) प्रेम, स्नेह, माधुर्य, सौन्दर्य, और वीरता आदि लताएँ एवं धान्य, गोधूम, यव आदि सस्य विविध प्रकार से उपजते हों (अस्मै) इसके लिए (निवना+सिन्धव:+इव+आ+रीयन्ते) दया, परोपकारिता आदि गुण निम्नगामिनी नदी समान बहते हों (अह्वे+अस्मै) रोगादिकों से अहत= अनुपद्रुत इसको (तत्+पतित्वनम्)स्त्री योग्य पतितत्व हो अर्थात् पूर्ण यौवन हो। ऐसा सर्वगुणसम्पन्न वर प्राप्त हो। पतयत्=पततु। कनीनक=युवन् शब्द से भी कनीन बनता है। अह्व=अहन्तव्य। पतित्वत=यौवन।

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घा मनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे।१०।

पुन: वर के गुण कहते हैं (नर:+जीवाम्+रुदन्ति) जो मनुष्य वनिताओं की प्राण रक्षा के लिए रोदनपर्यन्त यत्न करें (अध्वरे+विमयन्ते) वनिताओं को यज्ञ कार्य में नियुक्त करें (दीर्घाम्+प्रसितिम्+अनु+दीधियु:) सुदीर्घ निजबाहुरूप बन्धन द्वारा निज प्रिया को आलिङ्गन करें (इदम्+वामम्) सुन्दर सन्तान को उत्पन्न कर (पितृभ्य:+सम्ऐरिरे) पितृयंज्ञार्थ लगावें (पतिभ्य:) ऐसे पतियों के (परि-स्वजे+अनय:+मय:) आलिङ्गन में वनिताएँ सुख पाती

हैं। अतः हे समयदेव! ईदृग्गुणविशिष्ट वर ब्रह्मचारिणियों को प्राप्त हुआ करे। विमयन्ते=निवेशयति। प्रसिति=बन्धन। वाम=सुन्दर अपत्य। मय=सुख। जनि= जाया=वनिताएँ स्त्री। परिष्वज=परिष्वङ्ग=आलिङ्गन। १०।

न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्याः क्षेति योनिषु।
प्रियोऽस्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाऽश्विना तदुश्मसि। ११।

(अश्विना) हे अश्विद्वय! (तस्य+न+विद्म) उस सुख के विषय में हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ नहीं जानतीं (तद्+उ+सु+प्रवोचत) आप उस सुख के विषय में उत्तमरूप से वर्णन कीजिये (यत्-ह) जो (युवत्याः+योनिषु+ युवा+क्षेति)युवती के गृह में युवा निवास करता है अर्थात् युवा स्वामी और युवती स्त्री को परस्पर सहवास से जो सुख होता है उसको हमारे लिये अच्छे प्रकार समझा दीजिये उससे क्या सुख होता है हम ब्रह्मचारिणी नहीं जानती (प्रियोऽस्त्रियस्य+वृषभस्य+रेतिनः+गृहम् +गमेम) क्योंकि अब स्त्री के प्रति, अनुरक्त, बलिष्ठ रेतस्वी पति के गृह में हम ब्रह्मचारिणी जाएँ (तत्+उश्मसि) ऐसी कामना रखती हैं। क्षेति=निवास करता है। योनि=गृह, वेदों में योनिशब्द बहुधा गृहवाचक ही होता है। निघण्टु ३।४ प्रियोऽस्त्रिय=जिसकी स्त्री प्रिय हो। वृषभ=बलिष्ठ। रेती=बलवीर्यरूपरेतायुक्त। उश्मसि=कामना करती है। वशकान्तौ। ११।

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि। १२।

(वाजिनीवसू) हे अन्नसम्पन्न धनसम्पन्न अश्विद्वय! (वाम्+सुमतिः+ आ+अगन्) आपको सुमति प्राप्त हो अर्थात् हमारे प्रति आप सुबुद्धिमान् होइए (हृत्सु+कामाः+नि+अयंसत) हमारे हृदयस्थ मनोरथ पूर्ण हों (मिथुना+ गोपा+ अभूतम्) आप दोनों हमारे रक्षक होवें (शुभस्पती) दोनों आप स्नेहाधिपति हैं (प्रिया) हम ब्रह्मचारिणी प्रियाएँ होके (अर्यम्णः+दुर्यान्+अशीमही) पति के गृहों में जाएँ। अर्यमा=पति (सा०) दुर्य=गृह। निघण्टु। ३।४।

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण—
आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती—
स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्म्मतिं हतम्। १३।

(वचस्यवे) स्तुतिपाठिका और नियमव्रतपालिका ब्रह्मचारिणी के लिए (ता+मन्दसाना) उन दोनों पर आप प्रसन्न होइए (मनुषः+दुरोणे) पति के गृह

में (सहवीरम्+रयिम्) धनबल और लोकबल (आधत्तम) स्थापित कीजिये (शुभस्पती) हे कल्याण विधानकर्त्ता अश्विद्वय! (तीर्थम्+सु+प्रपाणम्+कृतम्) स्त्रियाँ जिस घाट में जलपान करें उसको सुविधायुक्त कीजिये (पथेष्ठाम्+स्थाणुम्+दुर्मतिम्+हतम्) पतिगृह को जाने के मार्ग पर यदि कोई स्थाणु समान दुष्टाशय हो तो उसे विनष्ट कीजिये। मनुष्=मनुष्य=पति। दुरोण=गृह। निघण्टु ३।४। वचस्यु=भाषण करने हारी, स्तुतिपाठिका, वेदवक्त्री। कृतम्= कीजिये। यथेष्ठा=पथिस्थित=मार्गस्य। हतम्=दूर कीजिये। १३।

क्व स्विदद्य कतमास्वश्विना विक्षु दस्रा मादयेते शुभस्पती।
क ईं नि येमे कतमस्य जग्मतुर्विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहम्।१४।

(अश्विना+दस्रा+शुभस्पती) हे दर्शनीय! हे शुभस्पते! हे अश्विद्वय! आप (अद्य+क्व-स्वित्+कतमासु+विक्षु+मादयेते) आज कहाँ और किन प्रजाओं में आमोद कर रहे हैं (कः+ईम्+नि-येमे) कौन पुरुष आपको नियत करता है (कतमस्य+विप्रस्य+वा+यजमानस्य+वागृहम्+जग्मतुः) किस विप्र वा यजमान के गृह में जाते हैं। १४।

आशय—यद्यपि, च्यवन, भुज्यु, रेभ, विमद, वर्त्तिका आदिकों के उद्धार की वार्त्ता अन्यान्य अश्विसूक्तवत् यहाँ पर भी है तथापि दृष्टिभेद से ये दोनों सूक्त ईश्वर के पक्ष में भी घटा सकते हैं। दृष्टिभेद का तात्पर्य यह है कि मुख्य-मुख्य शब्दों के अर्थ में ईश्वरदृष्टि करनी चाहिये। यहाँ मुख्य अश्वि शब्द है। अश्व जो सूर्य उसका जो पुत्र उसे अश्वी कहते हैं। यह अर्थ अहोरात्रद्योतक होगा। परन्तु अश्व जिसको हो वह अश्वी "अश्वोऽस्यास्तीति अश्वः" ऐसा भी पद से अर्थ निकलता है। जैसे धनी, ज्ञानी, आदि। पुनः अश्व नाम इस सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड का भी है। क्योंकि "अशु, व्याप्तौ संघाते च" यह सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड संहित अर्थात् सम्मिलित हो सर्वत्र व्यापक हो रहा है अतः यथार्थ में अश्वी परमात्मा ही है। एवं ईश्वर में मातृत्वपितृत्व दोनों गुणों का आरोप करके प्रार्थना की जाती है। अतः अश्विशब्द के द्विवचनान्त होने से भी कोई क्षति नहीं। एवं नासत्यौ, नरौ, भिषज्ञौ, दस्रो आदि सब पद अच्छे प्रकार से संघटित हो सकते हैं। क्योंकि ईश्वर से बढ़कर असत्य रहित कौन है? नेता, वैद्य, पाप नाशक कौन? इसी प्रकार सर्वत्र कर लेनी चाहिये। एवमस्तु। अब मन्त्राशय कुछ लिखता हूँ।

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धियः उत्पुरधीरीरयतं तदुश्मसि।
यशसं भागं कुणुतं नो अश्विना सोमन्न चारुं मधवत्सु नस्कृतम्॥

इस ऋचा द्वारा ब्रह्मचारिणी कन्याएँ तीन चार बातों की प्रार्थना करती हैं। १—सूनृत वाणी २—धी अर्थात् शुभ कर्म ३—पुरन्धी=बहुत बुद्धि ४—और सोमवत् प्रियत्व। १—ये सब स्त्री जाति के स्वाभाविक गुण हैं। ''सूनृतं प्रिये सत्ये'' जो वचन प्रिय और सत्य दोनों हों उसे ''सूनृतं'' कहते हैं। ''सुष्ठु नृत्यन्ति अनेन'' जिस वचन को सुन के सब कोई नाचने लगें अर्थात् प्रसन्न हों वह ''सूनृत वचन।'' मनुष्य का प्राय: स्वभाव हो गया कि वह अपनी न्यूनता नहीं सुन सकता। बहुत विरल पुरुष ऐसे हैं जो अपने मुख से अपनी प्रशंसा करते कराते, सुनते सुनाते, लिखते लिखाते न हों। परन्तु आश्चर्य यह है कि अपनी न्यूनता नहीं बतलाते। मरण-पर्यन्त अपने दोष न किसी से कह जाते न स्वयं लिख जाते। इस हेतु बहुधा दूसरों को प्रसन्न करने के हेतु मनुष्य जाति को मिथ्या प्रिय भाषण करना पड़ता है। मनुष्य समाज में देखो! कैसा यह अत्याचार कार्पण्यसूचक और ईश्वराज्ञाविरुद्ध व्यवहार हो रहा है अत: ब्रह्मचारिणी कन्याएँ प्रार्थना करती हैं कि हे भगवन्! ऐसा घृणित अवसर हमको कभी मत दो २—धीनाम ज्ञानानुष्ठेय शुभ कर्म का है। निघण्टु २।१। समस्त पृथिवी पर के इतिहास साक्षी दे रहे हैं कि स्त्री जाति में शुभ कर्म करने की शक्ति अधिक है। धर्म्मानुष्ठान, दया, आस्तिकता, अक्रूरता, निज धर्मपरायणता आदि गुणों से स्त्री पूर्ण होती है। नर ही इस जाति को अशुभ कर्म में प्रवृत्त करवाने को सदा चेष्टा करता रहता है। ३—पुरन्धी=बहुत बुद्धि। स्त्री जाति को बहुत बुद्धि की आवश्यकता है क्योंकि पुरुष को केवल एक पितृ परिवार से सम्बन्ध पड़ता। परन्तु स्त्री जाति को दो परिवारो से। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की अधीनताएँ स्त्री जाति के लिए विद्यमान हैं। प्रथम पति की अधीनता। पश्चात् सन्तानादिक की रक्षा का भार। गृह शासन, पति की अभाव दशा में जीवन निर्वाह, दुष्ट पुरुषों से अपनी रक्षा इत्यादि अनेक कार्य बहु बुद्धि के बिना सम्पन्न नहीं हो सकते। सब से बढ़ कर स्त्री जाति का सभ्य असभ्य दोनों समाजों में अपनी लज्जा की रक्षा के लिए अधिक बुद्धि की आवश्यकता है। क्योंकि दुष्ट भ्रमरों की दृष्टि सदा इसी सुरभि कुसुम पर रहती है। किञ्चित् भी अवसर पाने पर झटिति इस सुमन को बिगाड़ देते हैं। ४—सोमवत् प्रियत्व=इस ऋचा के अन्त में प्रार्थना है कि धनाढ्य पुरुषों में हम स्त्रियों को सोमवत् प्रिय बनावें। सभ्यासभ्य दोनों समाजों में देखा जाता है कि धनाढ्य पुरुष इस स्त्री जाति का कैसा निरादर करते हैं। वे निजस्वार्थ, निज मनोरथ, निज कामना और निज सुख देखते, परन्तु स्त्री जाति के ऊपर किंचिन्मात्र भी इनका ध्यान नहीं। ये धनमद के कारण पचासों दासियाँ वा स्त्रियाँ रख लेते

हैं, शतश: स्त्रियों को भ्रष्ट कर त्यागते जाते हैं, कहाँ तक मनुष्य की उन्मत्तता दिखलाई जाये ? इसको कौन नहीं जानता। अत: आवश्यक है कि स्त्री सोमवत् प्रिय हो जैसे यज्ञिय सोम का निरादर कोई नहीं कर सकता, सब कोई इसके लिए लालसित रहते हैं। बिना बृहदनुष्ठान और वैदिकज्ञान के सोम प्राप्त नहीं होता है एवं सोमपान के अनन्तर किसी अन्य वस्तु का पान विहित नहीं और इसकी प्राप्ति से परमानन्द स्थान की प्राप्ति की आशा की जाती, वैसे ही धनाढ्य पुरुष स्त्री जाति को भी समझें।

१०।३९।६। इस ऋचा से सर्वदा स्त्री को मातृपितृ भूत परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये। १०।३९।११। यह ऋचा बहुत उच्च भाव और भारतवर्ष की अधोगति को सूचित कर रही हैं। आजकल भारतवर्षीय पुरुष दुराचार में अधिक इस कारण फँसते हैं कि ये अपनी पत्नियों को साथ नहीं रखते। न इन्हें पढ़ाते, न किसी प्रकार की शिक्षा देते, न इनसे अच्छे प्रकार भाषण करते हैं। देखा जाता है कि तीन चार सन्तान होने पर भी पुरुष अपनी स्त्री को पहचान नहीं सकता। क्योंकि छिप कर पुरुष स्त्री से मिलता है। स्त्री भी लज्जा के मारे न बोलती न घूंघट उठाती। यहाँ तक कि पति को महाविपत्ति-ग्रस्त होने पर भी वह बिचारी स्त्री पति के विषय में कुछ जिज्ञासा भी नहीं कर सकती। क्योंकि इन बातों को लोग अनुचित मानते हैं। इसी कारण पति को पत्नी से कुछ प्रेम नहीं रहता। अत: इस अवस्था में स्वाभाविक बात है कि पुरुष नाना दुराचार में फँस जाये। ये सब पाप बाल्यविवाह तथा परदा के कारण से हो रहा है। पत्नी के साथ रथ पर बैठना तो दूर रहा, प्रकाश स्थान में स्वपत्नी के साथ वार्त्तालाप करना भी अनुचित और धृष्टता समझी जाती। परन्तु ऐसी-ऐसी ऋचा के अर्थ देख प्राचीन आर्यगण न तो परदा रखते थे और न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष भाषण करने में धृष्टता समझते थे। १०।३९।१४। इस अन्तिम ऋचा में सिद्ध है स्त्रियों को उतना वेद शास्त्र पढ़ना चाहिये कि ग्रन्थ, स्तोत्र, काव्य और नाना शास्त्र रच सकें। क्योंकि मन्त्र में प्रार्थना है कि हे भगवन्! हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ आपके लिए विविध स्तोत्र रचती हैं। अब ४० वें सूक्त की ९ वीं, १० वीं, ११ वीं, १२ वीं एवं १३ वीं, ऋचा का भाव स्वयं पाठक विचार करें। ग्रन्थ की विस्तृति के भय से मैं अधिक लिखना नहीं चाहता। इति।

अब घोषा सम्बन्धी दोनों सूक्तों के अर्थ और संक्षिप्त आशय दिखलाए गये। इससे कोई अनित्य इतिहास सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक और भी वक्तव्य है।

घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम १।११७।७

इस ऋचा से सायण आदि अनित्य इतिहास निकालते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्मवादिनी घोषा कक्षीवान् की दुहिता थी और यह कुष्ठिनी होने के कारण किसी वर के साथ विवाहिता न हो सकी। इस हेतु पितृ गृह में ही वृद्ध हो गई थी। पश्चात् अश्वि देव के अनुग्रह से कुष्ट रोग नष्ट हो गया और सुन्दर पति प्राप्त हुआ। इत्यादि। वेद में इन बातों की कहीं भी चर्चा नहीं। सायणादिकों ने कल्पित गाथाओं के आशय लेकर वेदार्थ की खूब हत्या की है। ऋचार्थ यह है (पितृषदे+दुरोणे) पितृ सम्बन्धी गृह निवास करती हुई (जूर्यन्तयै+घोषायै+चित्) स्तुति पूजा पाठ करती हुई घोषा के लिए (अश्विनौ+पतिम्+अदत्तम्) अश्विद्वय सदा पति दिया करते हैं। घोषा नाम ब्रह्मवादिनी का है। यह पूर्व में कह चुका हूँ। आशय यह है कि कन्या बाल्यावस्था से पढ़ने लिखने में एवं कन्या योग्य अन्यान्य विद्याओं में पटु होती जाती है। उसकी कीर्ति देश भर में फैल जाती है। ऐसी ब्रह्मवादिनी कन्या के लिए पिता माता को वर ढूंढने का क्लेश होता है क्योंकि अनेक विद्वान् ऋषि, मुनि ऐसी ब्रह्मचारिणी को पुत्र वधू बनाने के लिए स्वयं अन्वेषण करते रहते हैं। बड़े सत्कार पूर्वक ऐसी कन्या को विवाह कर पितृ गृह से ले जाते हैं। इसी भाव शब्दों को लेके ऐतिहासिकों ने कथा गढ़ी है। मैं पूर्व कह चुका हूँ कि जृ धातु वेद में बहुधा स्तुत्यवर्धक है। अतः यहाँ पर भी जूर्यन्ती का अर्थ प्रार्थयन्ती है न कि वृद्धावस्था को प्राप्त होती हुई अर्थ है। अब अश्विदेव सम्बन्धी इतिहास को यहाँ ही समाप्त करता हूँ। अवशिष्ट गाथाओं का भी आशय इसी प्रकार लगाना चाहिये। इति।

इति काव्यतीर्थ पण्डित शिवशङ्कर कृताश्विदेवातात्मक—
सूक्तोक्तेतिहासाभास-निर्णयस्समाप्तः।

ब्रह्मवादिनी प्रकरणमारभ्यते

रोमशा ब्रह्मवादिनी। २८।

मैं पूर्व लिख आया हूँ कि ऋषि वा ऋषिका वाचक जितने शब्द हैं प्राय: वेदों में आते हैं। क्योंकि वेदों से चुन कर प्रचारक और प्रचारिकाओं को तत्तत् पदवी दी गई। तदनुसार रोमशा भी एक पदसूचक शब्द है। बुद्धि का नाम रोमशा है। ''प्रशस्तानि रोमाणि अस्या: सन्तीति रोमशा, प्रशस्त रोमवतीत्यर्थ:'' जिसको प्रशस्त रोम हों वह रोमशा।''लोमादि पामादि पिच्छादिभ्य: शनेलच:''। ५।२।१०० इस सूत्र से मत्वर्थ में रोमशब्द से श प्रत्यय होके रोमशा शब्द की सिद्धि होती है। बारम्बार मैंने यह भी कहा है कि वेद में रूपक बाँधकर अधिक वर्णन है। तदनुसार मानो, कि बुद्धि एक परम सुन्दरी स्त्री है। अब इसके रोम कौन हैं ? वेदों और शास्त्रों की अनेक शाखाएँ और आत्मा के निज अनेक अनुभव ये ही सब इस बुद्धि के रोम हैं। प्राय: सर्वत्र स्त्रियों का सुन्दर शृंङ्गार केश माना जाता है। अत: बुद्धिरूपा स्त्री के लिए भी रोम शब्द का प्रयोग है अथवा जैसे मनुष्यादि शरीर रोमों से शून्य नहीं होते तद्वत् बुद्धिरूपा स्त्री भी विविध विवेक, विचार, चिन्ता, मनन, शास्त्र, शाखाप्रभृतिरूप रोमों से विवर्जिता नहीं। अति प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे रूपक बहुधा आते हैं। जैसे वेदार्थ प्रकाशक ग्रन्थों का नाम शाखा है। यथार्थ में वृक्ष के अवयव का नाम शाखा है। परन्तु वेदार्थ प्रकाशक जो तैत्तिरीय, शाकल्य, कोथुम, शौनक, याज्ञवल्क्य आदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थ हैं वे सब ही शाखा नाम से कहे जाते हैं। जैसे तैत्तिरीय शाखा, वाजसनेय शाखा, कौथुम शाखा इत्यादि। कारण इसका यह है कि वेदों को वृक्ष मान के इसके व्याख्यारूप ग्रन्थों को शाखा नाम दिया है। इसी प्रकार कठवल्ली उपनिषद। कठोपनिपद् में एक खण्ड का नाम वल्ली है। प्रथमा वल्ली, द्वितीया वल्ली इत्यादि पद खण्डान्त में लिखा रहता है। ''वल्ली तु व्रततिर्लता'' वल्ली नाम लता का है। कठोपनिषद् का एक-एक खण्ड मानो एक-एक सुन्दर मनोहर लतावत् है। अत: ग्रन्थकार ने इसको वल्ली नाम दिया है। इसी प्रकार महाभारत में पर्व और भागवत आदिक ग्रन्थों में स्कन्ध आदि शब्द वृक्षावयववाची हैं। परन्तु इन नामों से ग्रन्थ भी पुकारे जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि रोम शब्द केशवाची है तथापि इसी शब्द से विविध ग्रन्थों का ग्रहण है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

अब जो ब्रह्मवादिनी स्त्री बुद्धिवर्धक विविध शाखाओं को वेदानुसार फैलाती थी वह भी रोमशा नाम से पुकारी गई। यह भावयव्य स्वनय की धर्मपत्नी और बृहस्पति की दुहिता कही जाती है। यह देवी किस देश का भूषण थी इसका पता लगाना अति दुर्लभ हो गया है। यह देवी सदा बुद्धि वृद्धि के उपायों का प्रचार किया करती थी। परन्तु शोक की बात है जिन ऋचाओं के आधार पर यह प्रचार करती थी उनके अर्थ और भाव इस प्रकार से दूषित किये गये हैं कि सभ्य पुरुष उनको पढ़ भी नहीं सकते जबकि न इसके शब्द और न अर्थ अश्लील हैं। वे ऋचाएँ ये हैं।

१—आगधिना परिगधिता या कशिकेव जंगहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ १.१२६.६

२—उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ १.१२६.७

इन दोनों ऋचाओं के ऊपर सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में कात्यायन कहते हैं कि "अन्त्ये अनुष्टुभौ भावयव्यरोम-शयोर्दम्पत्योः सम्वादः" अर्थात् ये दोनों ऋचाएँ अनुष्टुपछन्द की हैं और भावयव्य और रोमशा पति और पत्नी का सम्वाद है। बृहद्देवता में भी इसी प्रकार की बात है। परन्तु शाकटायन और शाकपूणि ये दो आचार्य ऐसा नहीं मानते। सायण प्रथम ऋचा को भावयव्य की उक्ति और द्वितीय ऋचा को रोमशा की उक्ति मान के व्याख्या करते हैं। व्याख्या अति निन्द्य अश्राव्य होने के कारण नहीं लिखता। विचार यह उपस्थित होता है कि क्या ऐसी घृणित बातें इनमें विद्यमान हैं? उ० नहीं। ऐसी अश्लील बातें वेदों में कहीं भी नहीं हैं। यहाँ ही क्या। १।१२५ और १।१२६ वें सूक्तों में भावयव्य स्वनय की चर्चा है। पता लग जायेगा कि वेदार्थ किस प्रकार दूषित किया गया है। इन दोनों सूक्तों में सात-सात ऋचाएँ हैं। इनकी संगति कात्यायन इस प्रकार लगाते हैं।

"प्रजारत्नं सप्त स्वनयस्य दानस्तुतिः।अमन्दानिति कक्षीवान् दानतुष्टः पञ्चभिर्मावयव्यं तुष्टाव। अन्त्ये अनुष्टुभौ यावयव्यरोमशयोर्दम्पत्योः संवादः"

"प्रातारत्नम्" इत्यादि सात ऋचाओं स्वनयराज की दानस्तुति है और "अमन्दान्" इत्यादि सात ऋचाओं में पाँच ऋचाओं से कक्षीवान् नाम के ऋषि ने दानतुष्ट हो के भावयव्य की स्तुति की है। अवशिष्ट दो ऋचाएँ पति और पत्नी का संवाद है।

मुझे आश्चर्य होता है कि यहाँ संवाद का कोई प्रसंग नहीं है। तथापि बलात्कार संवादपरक कहना कितनी अज्ञानता की बात है। सम्पूर्ण वेद में अन्यत्र कहीं इन दोनों का संवाद नहीं। उन ही दो ऋचाओं से संवाद कहते हैं। क्या उन दोनों को संवाद करने के लिए कोई अच्छी बात न मिली थी जो ऐसा अश्लील संवाद करते हैं। और ऐसा अतिसंक्षिप्त और ऐसा अवाच्य संवाद जगत् के इतिहास में कहीं नहीं पाया जाता। अतः कात्यायन आदिक आचार्य सर्वथा त्याज्य हैं। मैं मनुष्यमात्र से कहता हूँ कि पूर्वापर अर्थ विचारें एवं जहाँ-जहाँ दान प्रकरण है उसका अच्छी तरह अवलोकन करें। आपको मालूम हो जायेगा कि यह सब जीवात्म-प्रकरण है। और प्रायः दान-प्रकरण के अन्त में बुद्धि का निरूपण आता है। अब ऋचाओं के आशय पर ध्यान दीजिये।

जो जितेन्द्रिय उद्योगी पुरुष बुद्धि से कार्य लिया करता है उस के लिए कृतज्ञता-प्रकाशार्थ यह प्रार्थना है। पुरुषार्थी कहता है कि बुद्धि (मह्यम्+शता+भोज्या+ददाति) मुझे सैकड़ों भोज्य अर्थात् खाद्य-पदार्थ देती है। कब देती हैं? जब (आगधिता+परिगधिता) चारों तरफ से अच्छे प्रकार पकड़ी जाती है अथवा जल के समान विलोडिता होती है। आगधिता शब्दार्थ आगृहीता अथवा आगाहिता है। जो कोई बुद्धि को दृढ़तया पकड़ता है उसको बुद्धि भी दृढ़तया पकड़ लेती है अतः कहा जाता है कि (कशिका+इव+जङ्गहे) वह बुद्धि भी विप्रा के समान ग्रहण करती है। (याशूनाम+यादुरी) और निखिल दुराचारों का नाश करती है। प्रायः सब ही इस विषय को जानते हैं कि बुद्धि की वृद्धि, विविध शास्त्रों के अध्ययन और मनन से होती जाती है। मन्दादि मन्दपुरुष भी अभ्यास कर विद्वान् बन जाता है। जितना ही एकान्त में बैठ विचार किया जाता है उतनी ही बुद्धि बढ़ती जाती है। तदन्तर बुद्धि से कितने भोज्य-पदार्थ मिलते हैं उनकी संख्या कौन कर सकता है? लौकिक व्यवहार में ही प्रथम देखो! बुद्धिमान पुरुष ही अच्छे-अच्छे कार्य पर नियुक्त हैं। सुख से बैठ कर अनन्त भोग-भोग रहे हैं। जो विशेष बुद्धिमान होते हैं उनके शतशः सहस्रशः शिष्य हो जाते हैं। इनकी बात पर देश चलने लगता है। सर्वत्र इनकी प्रतिष्ठा होती है। इस अवस्था में इनके आनन्द की सीमा बहुत बढ़ जाती है। अन्ततोगत्वा ज्ञानवान् ही तो ब्रह्मानन्द तक पहुँचते हैं। अतः बुद्धि ही शतभोज्य पदार्थ देती है, स्त्री-जाति नहीं। स्त्री जाति से बहुत पुरुष विरक्त भी हो जाते हैं। एवं कभी-कभी मूर्खा होने पर दुःखप्रदा भी होती है। परन्तु बुद्धि सर्वदैव सुखदायिनी है। एवं वेद सर्वदा उच्च वस्तु का निरूपण करते हैं। और यहाँ पूर्व में शरीर आयु आदि का वर्णन भी आता है। अतः ऋचा बुद्धिवर्णनपरक है॥

अब आगे स्वयं बुद्धि कहती है कि (उप+उप+मे+परामृश) ऐ मनुष्य! ऐ उद्यमी पुरुष! मेरे अतिसमीप आके मेरे विषय में परामर्श अर्थात् मीमांसा=विचार करो। (मे+दभ्राणि+मा+मन्यथाः) मेरे समीप विद्यारूप धन स्वल्प है ऐसा कभी मत समझो। क्योंकि (अहम्+सर्वा—रोमशा+अस्मि) मैं सब प्रकार से धनवती हूँ। मेरी सम्पत्तियाँ अनन्त हैं। (गन्धारीणाम्—अविका—इव) जो देश गन्ध से पूर्ण हों उन्हें लोक में गन्धधार कहते हैं "गन्धानां धारा यत्र ते गन्धधाराः" वेद में इसी को धकार को लोप कर गन्धार कहते हैं। गन्धों की धाराएँ जहाँ हों वे गन्धार। जहाँ अनेक नदियाँ बहती हों, समय-समय पर वर्षा होती हो, भूमि उर्वरा हो, विविध फूल फल लता प्रभृतियों से आच्छन्न हों वैसे देशों को गन्धार कहते हैं। ऐसे देशों की अविका (भेड़ियों) के देह पर लोम भरे पड़े रहते है। और ये लोमसंख्या में भी बहुत होती हैं। तद्वत् बुद्धिदेवीरूपा स्त्री के ऊपर भी मानो, विविध शास्त्र विचार रूप लोम लदे हुए हैं। जो चाहे उनको उपयोग में लाये। इस प्रकार इसकी समीक्षा करने से यही शिक्षा मिलती है कि यह बुद्धि का निरूपण है। इस बुद्धि को जो स्त्री प्रचार करती थी वह भी रोमशा नाम से जगत् में विख्यात हुई। इति संक्षेपतः।

लोपामुद्रा ब्रह्मवादिनी। २९।

महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थ में आश्चर्य रूप से अगस्त्य की कथा वर्णन करते हैं। वातापि राक्षस का भक्षण, कालेयक असुरगणों के विनासार्थ समुद्र का पान, सूर्यमार्गावरोधी विन्ध्याचल के क्रोध का अपनयन इत्यादि अगस्त्य ऋषि के कर्म हैं। यह मित्रावरुण के पुत्र कहाते हैं। लोपामुद्रा इनकी धर्म पत्नी कही जाती है महाभारत वनपर्व अ० ९६ में यह कथा है कि एक दिन अगस्त्य मुनि को एक विस्मयकारक दृश्य देख पड़ा कि एक गर्त्त (गढ़े) में कुछ आदमी अधोमुख हो लटके हुए हैं। अगस्त्य ने पूछा आपकी ऐसी दशा क्यों ? आप कौन हैं ? उन्होंने उत्तर दिया कि हम आपके पितर हैं। आपने अभी तक विवाह नहीं किया और न करने की इच्छा ही रखते हैं अतः हम सब की यह दशा हो रही है। यदि आप सन्तानोत्पादन न करेंगे तो इस नरक से हमारा उद्धार नहीं होगा। अगस्त्य ने कहा आपकी ऐसी दशा न हो मैं विवाह करूँगा। उस दिन से अगस्त्य सोचने लगे कि कन्या का पाणिग्रहण करूँ। मेरे योग्य कोई कन्या जगत् में नहीं दीखती जो मेरे सब कार्य में सहयोगिनी हो। उन्होंने एक उत्तम कन्या स्वयं उत्पन्न कर पोषण पालनार्थ विदर्भ राज को सौंप पुनः तपस्या करने लगे। विदर्भराज ने उसका लोपामुद्रा नाम रख यथोचित पालन किया। जब वह सब प्रकार से गृहाश्रम के योग्य हुई तो अगस्त्य विवाह

कर उसको आश्रम ले आए और जो-जो राजकुमारी योग्य भूषण आच्छादनादि राजा से मिले थे उन्हें उतरवा तपस्विनी योग्य वस्त्रादि पहना अपने साथ-साथ उससे भी तपस्या करवाने लगे। किसी एक दिन लोपामुद्रा ने कहा कि मैं अपने पितृ गृह में बड़े सुख से रहती थी। धन धान्य बहुत थे। आप भी योगी राज हैं। मेरी इच्छा है कि मैं पुनः कुछ दिन उसी ऐश्वर्य को भोगूँ। ऋषि ने कहा कि हाँ, यह बात ठीक है। आप के पिता राजा है उन्हें सब ऐश्वर्य प्राप्त है। मुझ तपस्वी को धन से क्या प्रयोजन। तपस्या ही परमधन है। इस पर लोपामुद्रा ने कुछ हठ कर कहा कि मेरी कामना है कि पूर्ववत् राजकुमारी के समान मैं ऐश्वर्यशालिनी अपने को देखूँ। यह प्रिया हठ देख अगस्त्य मुनि श्रुतपर्वा नामक राजा के निकट जा बोले कि हम आप के यहाँ धन माँगने की इच्छा से आए हैं। जिससे दूसरों को दुःख न हो उतना धन आप अपनी शक्ति के अनुसार दीजिये। अनन्तर राजा ने अपना आय और व्यय दोनों दिखला नम्रता से निवेदन किया आप यदि उचित समझें तो इन में से धन चाहें सो ले लीजिये। अगस्त्य ने आय और व्यय दोनों बराबर जान उस में से कुछ भी लेना अनुचित समझ उस राजा को भी साथ ले राजा व्रध्रस्व के निकट आए। पूर्ववत् इसकी भी दशा देख उसे भी साथ ले पुरुकुत्स के पुत्र त्रयदस्यु के समीप आए। इसके भी आय व्यय बराबर देख दूसरों को दुःख देना अनुचित समझ सब की सम्मति से सब कोई इल्वल नाम के एक राक्षस के निकट पहुँचे। यह बड़ा धनाढ्य था।

इल्वल और वातापि

इल्वल ने एक दिन किसी ब्राह्मण से याचना की थी कि आप के आशीर्वाद से मुझ को इन्द्र समान पुत्र हो। परन्तु उस ब्राह्मण ने उसको ऐसा आशीर्वाद देना अनुचित समझा। तब ही से यह ब्राह्मणों का द्वेषी बन गया था। वातापि उसका एक अनुज था। अपनी माया से उसको मेष (भेड़) बना रखा था। ब्राह्मणों को निमन्त्रण दे उसी वातापि मेष का माँस राँध खिला देता था जब ब्राह्मण खा लेते थे तब वह इल्वल वातापि को पुकारता था। वह पेट फाड़ के पुनः निकल आता था। इस प्रकार राक्षसी माया से इल्वल ने हजारों ब्राह्मणों के प्राण ले लिये थे। अगस्त्य को देख पुनः इसने वही माया रची। अगस्त्य सब समझ गये। चुपचाप सब लीला देखते रहे। पाक हो जाने पर पहले आप ही अकेले खाने को बैठ गये। सब माँस खा लिया तो इल्वल ने पूर्ववत् अपने भाई को पुकारा। परन्तु अब भाई उसको कहाँ। अगस्त्य ने कहा कि रे इल्वल! तेरा भाई अब नहीं निकलता। मेरे पेट ने इसको पचा लिया। इल्वल यह

अद्‌भुत शक्ति देख भयभीत हो गया। तब इसने कहा कि यदि आप कह सकें कि मैं आप को कितना धन देना चाहता हूँ तो मैं आप को धन दूँ। अगस्त्य मुनि बोले कि रे असुर! तेरे मन में प्रत्येक राजा को दश-दश हजार गौ उतने ही सुवर्ण देने की इच्छा है और मुझ को इनसे द्विगुणधन, एक सोने का रथ, दो घोड़े देने का विचार किया है यह सब सुन वह असुर बहुत घबड़ाया और इससे भी अधिक धन दे इन सबको अपने यहाँ से विदा किया। दोनों घोड़ों के नाम सुराव और विराव थे। यह सब धन ले लोपामुद्रा को समर्पित किया। वह बड़ी प्रसन्ना हो राजकुमारीवत् कुछ दिन भोग विलास करने लगी। इसके गर्भ से दृढस्यु नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। इनका दूसरा नाम इन्धवाह था।

अगस्त्य और विन्ध्याचल—वनपर्व अध्याय १०४ से यह आख्यायिका आरम्भ हुई कि यह सूर्य मेरु पर्वत की परिक्रमा करता है मेरी नहीं। यह देख विन्ध्याचल को बड़ी ईर्ष्या उत्पन्न हुई। सूर्य को बुला के कहा कि आप मेरी प्रदक्षिणा कीजिये। परन्तु दिवाकर ने यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अतः कोपित हो विन्ध्याचल इतना बढ़ा कि सूर्य चन्द्र का मार्ग रोक लिया और देवों के बहुत समझाने पर भी जब उसने न माना तब सब कोई मिल अगस्त्य के समीप आ सब वार्ता कह जगत् रक्षा के लिए प्रार्थी हुए। अगस्त्य जी ने प्रार्थना स्वीकार कर विन्ध्य के समीप आ बोले कि मुझको दक्षिण दिशा को जाना है, मार्ग दो और जब तक मैं वहाँ से न लौटूँ तब तक आप इसी प्रकार दण्डायमान हो। मेरे आने पर स्वेच्छा से पुनः बढ़ जाना। अगस्त्य दक्षिण को गये, अभी तक न लौटे अतः विन्ध्याचल भी अपनी प्रतिज्ञा में बद्ध हो वैसा ही पड़ा हुआ है। इस प्रकार देवकार्य सिद्ध हुआ।

अगस्त्य और समुद्र—वनपर्व ९९ वें अध्याय से आख्यायिका आरम्भ हुई है कि सत्य युग में कालेय नाम के असुरगण थे। वे वृत्र को नायक बना देवों को दुःख देने लगे। इन्द्र ने जब दधीचि की हड्डी से वज्र बना वृत्र को मार गिराया तब वे कालेय अथवा कालकेय असुरगण समुद्र में जा छिपे और वहाँ सुदृढ़ दुर्ग बना रहने लगे और उसमें से रात्रि में निकल वसिष्ठ, च्यवन आदि ऋषियों के आश्रमों में जा-जा कर ऋषियों को खाने लगे। इस महाभय के कारण ऋषिगण इधर-उधर जा छिपे। यज्ञक्रियाएँ सब लुप्त हो गईं। देवगण तब बड़े घबड़ाये। नारायणजी से सम्मति लेने को आए। नारायण ने अगस्त्य का नाम सुझाया कि आप लोग इस ऋषि से समुद्रपान के लिए निवेदन कीजिये। यह जब तक समुद्रपान न करेंगे तब तक इन असुरदलों का ध्वंस न होगा। अगस्त्य ने सब देवों की प्रार्थना स्वीकार कर समुद्र का सब जल पी लिया।

असुरगणों को अब छिपने की जगह न रही। देवगण ने मिल कर इनके दुर्गो को छिन्न-भिन्न कर इन असुरों का सर्व नाश किया इत्यादि अनेक आश्चर्यवार्त्ता अगस्त्य के विषय में कही जाती हैं। अगस्त्य ऋषि के प्रकरण में इन सबका भाव प्रकट किया जायेगा। अब वेद में लोपामुद्रा और अगस्त्य-सम्बन्धी कितनी वार्त्ता है, क्या उसका अभिप्राय है, इसकी समीक्षा करनी चाहिये। अतः प्रथम मैं उन ऋचाओं को अर्थ सहित लिखता हूँ जिनमें इन दोनों की चर्चा है।

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तो रुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः।

१। १७९। १।

लोपामुद्रा अर्थात् पति के साथ तपस्विनी वनिता कहती है—(अहम्) मैं (पूर्वीः+शरदः) बहुत वर्षो तक (दोषाः) रात्रि (वस्तोः) दिन तथा (जरयन्तीः+ उषसः) दुःख और वार्धाक्यदायक प्रातःकाल (शश्रमाणा) सदा तपस्या करती हुई अतिश्रान्ता हो गई हूँ अब (जरिमा) जरावस्था (ननूनाम्+श्रियम्+मिनाति) अङ्गप्रत्यङ्गों की शोभा को विनष्ट कर रही है। (अपि+उ+नू) लोपामुद्रा कहती है कि मैं तर्क वितर्क करती हूँ ऐसी अवस्था आने पर (वृषणः) वीर्यप्रद पुरुष (पत्नीः) स्त्रियों के समीप (जगम्युः) जाएँ। अर्थात् जब पति और पत्नी दोनों तपस्या करते हों और तपस्या करते चिरकाल हो गया हो तब सन्तान उत्पन्न अवश्य करना चाहिये। इस अवस्था में पुरुष को उचित है कि पत्नी का सन्तोष करे। १।

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः। २।

पुनः उसी वार्ता को कहती है (ये+चित्+हि+पूर्वे) जो कोई पुरातन ऋषिगण (ऋतसापः+आसन्) ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि व्रत के संरक्षक हुए हैं। (देवेभिः+साकम्+ऋतानि+अवदन्) जो विद्वानों के साथ सदा सत्यव्रत को ही अनुष्ठान करते आए हैं (ते+चिद्+अवासुः) वे भी निज धर्म पत्नियों के साथ सहवास करते आए हैं और आज भी कर रहे हैं (नहि+अन्तम्+आपुः) ब्रह्मचर्य व्रत के अन्त तक वे भी प्राप्त नहीं हुए। (ऊ+नु) अतः मैं अनुमान करती हूँ कि यदि पुरुष स्वयं स्त्रियों से न मिलें तो (पत्नी) स्वयं पतिव्रता स्त्रियाँ (वृषभि+सम्+जगम्युः) पतियों के साथ संगम करें। २।

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
यजावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव। ३।

लोपामुद्रा कहती है। (न+मृषा+श्रान्तम्) हम दोनों ने व्यर्थ ही श्रम नहीं किया है (यद्) जिस कारण (देवाः+अवन्ति) सब इन्द्रिय रूप देवगण हमको पाल रहे हैं अर्थात् हम दोनों तत्पर हो तप न करते तो इन्द्रिय चंचल ही हम दोनों को गिरा देते। सो अभी तक ये इन्द्रिय हमारे ऊपर कृपा ही किये हुए हैं। अब (विश्वाः+इत्+स्पृधः) संसार की सब सेनाओं को (अभ्यश्नवाव) हम दोनों पराजय करें। (अत्र) इस संसार में (शथनीयम्+आजिम्) विविध संग्राम (जयाव+इत्) हम दोनों मिल कर जीतें। (यत्+सम्यञ्चा) और परस्पर आदर करते हुए हम दोनों (मिथुनौ) स्त्री पुरुष (अभि+अजाव) परस्पर सुख पहुँचावें। ३।

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्।४।

ब्रह्मचारिणी लोपामुद्रा मन में कहती है कि मैं तपस्विनी हूँ। अभीष्ट चिन्ता करती नहीं। पुनः यह कामोद्दीपन कहाँ से आ गया। क्या (रुधतः+नदस्य) काम को रोकने हारे नद अर्थात् वेदपाठी पति के निकट से (कामः) काम (आ+अगन्) आया है (इतः+आजातः) इसी पति से आया है अथवा (अमु तः+कुतः चित्) वसन्तादि काल के देखने से कहीं से आ गया है (लोपामुद्रा) यद्यपि मैं सब सुख त्याग तपस्विनी हो रही हूँ तथापि यह (वृषणम्+निः+ रिणाति) पति की ओर जाती है (अधीरा) अधीरा होके (श्वसन्तम्) बलिष्ठ और (धीरम्) धीर पति को (धयति) पीती है अर्थात् पतिसहवास की इच्छा करती है।४।

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृढतु पुलुकामो हि मर्त्यः।५।

पुनः ब्रह्मचारिणी तपस्विनी लोपामुद्रा इस प्रकार से विवश हो इधर-उधर की बात बकझक पुनः स्वस्था होने पर विचार करती है कि मैंने जो मन से भी पति की चिन्ता की है यह भी अनुचित हुआ। मेरे पति को तपश्चरण में विध्न होगा इस कारण कहती है (हृत्सु+पीतम्) हृदय में पति अर्थात् समाधिद्वारा हृदय धारित और स्थापित (अन्तितः) अति समीप वर्तमान (इमम्+ सोमम्+नु) इस परमात्मा से (उपब्रुवे) निवेदन करती हूँ कि हे भगवन्! (यत्+सीम्+आगः+चकृम) जो कुछ अपराध हमने किया (तत्+सु+मृलतु) उसको क्षमा कीजिये। (हि+मर्त्यः+पुलुकामः) क्योंकि मर्त्य बहुकामी है।५।

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम।६।

(खनित्रैः) ब्रह्मचर्य सत्यपालन आदि खनित्रों अर्थात् खोदने के खंती आदि सामान से (खनमानः+अगस्त्यः) तपस्या भूमि को खोदते हुए अगस्त्य अर्थात् तपस्वी पुरुष (प्रजाम्+अपत्यम्+इच्छमानः) प्रजा, अपत्य और बल की कामना करते हुए (उग्रः+ऋषि) (उभौ+वर्णौ) दोनों वरणीय काम और तप को (पुपोष) पालन करते हैं और वह (देवेषु) दिव्य गुण पुरुषों में (सत्याः+ आशिषः+जगाम) सत्य आशीर्वाद पाते हैं।६।

आशय—लोपमुद्रा शब्द-यह शब्द सम्पूर्ण ऋग्वेद में एक ही बार १। १७९।४ ऋचा में आया है। अगस्त्य शब्द अनेक बार वेदों में प्रयुक्त हुआ है। इस चतुर्थी ऋचा से भी अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा है यह प्रतीत नहीं होता। यहाँ विवाह सन्तानादिक की कोई चर्चा नहीं। ऐतिहासिक समय में वेदों के शब्द ले लेकर अनेक इतिहास कल्पित किये गये। यहाँ एक स्त्री का विलाप और अन्त्या ऋचा में पुल्लिङ्ग निर्देश से वर्णन देख लोपमुद्रा और अगस्त्य इन दोनों में पत्नी-पति भाव जोड़ा गया है। लोपामुद्रा शब्दार्थ ये हैं ''लोपा लुप्ता हर्षो यस्याः सा लोपामुद्रा, मोदनं मुद्रा हर्ष। मुद, हर्षे'' यद्वा ''मोदनं मुद्। मुदं राति ददातीति मुद्रा। लोपां लुप्तां मुदं राति पुनर्ददातीति लोपामुद्रा। यद्वा, मोदन्तेऽनया सा मुद्रा-सम्पत्तिः। लोपामुद्रा सम्पत्तिर्यस्याः सा'' मुद्रा=हर्ष। जिसका हर्ष लुप्त है वह लोपामुद्रा। यद्वा, मुद्+रा=मुद्रा। लुप्त हर्ष को पुनः देवे वह लोपामुद्रा। यद्वा, जिससे लोग हृष्ट हों वह मुद्रा=सम्पति। जिसकी सम्पति लुप्त हो गई है वह लोपामुद्रा। इत्यादि अर्थ इसके होंगे। जैसे विश्वामित्र, वैश्वानर आदि शब्दों में श्वोत्तरवर्त्ती अकार की वृद्धि है तद्वत् लोपा शब्द में भी जानना चाहिये। आजकल मुद्रा शब्द छापा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे मुद्राराक्षस। मुद्रिका=अंगूठी। मुद्रा=रुपैया पैसा। इत्यादि। अगस्त्य शब्दार्थ ये हैं ''न गच्छतीति+अगः, स्थिरः, अचलः। अगवत् स्त्यायति तपस्तनोतीति अगस्त्यः। यद्वा, अगवत् स्थिरो भूत्वा वेदान् स्त्यायति अभ्यस्यतीति अगस्त्यः। स्त्यैः शब्दसंघातयोः'' स्थिरवस्तु का नाम अग है। पर्वत आदि के समान जो स्थिर होके तप करे वह अगस्त्य अथवा स्थिर हो के जो वेदों का अभ्यास करे। वह अगस्त्य नाम सूर्य का भी है ''अगान् पर्वताकारान् मेघान् यः स्त्यायति संघातयति समूहीकरोति सोऽगसत्यः सूर्यः'' जो पर्वताकार मेघों को एकत्र करे वह अगस्त्य। अगस्त्य नाम वेदपाठी का भी है। स्थिर होकर जो वेदाध्ययन करे। इत्यादि अगस्त्य शब्दार्थ होंगे।

वेद प्रार्थनामय हैं। प्रार्थना द्वारा ही बहुत-सी शिक्षा देते हैं। कभी-कभी मनुष्य समाज में पति और पत्नी दोनों मिल कर जगत् के उपकार करने में तत्पर होते हैं। अथवा विवाहित होने पर भी वेदशास्त्राध्ययन में ही लगे रहते हैं। दाम्पत्य भाव से सदा निवृत्त रह विशेष-विशेष विद्याओं की गवेषणा में ऐसे लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें संसार की एक भी बात अच्छी नहीं लगती। इस प्रकार यदि तपश्चर्या करते-करते दोनों वृद्ध होने लगें तो उचित है कि इस अवस्था की प्राप्ति के पूर्व ही एक दो सन्तान उत्पन्न कर लें। स्त्री वा पुरुष इन दोनों में से किसी की पुत्रोत्पादन की इच्छा हो तो वैसा करने में कोई क्षति नहीं। और यह ईश्वरीय नियम है। पुरातन ऋषि ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस व्रत का पालन करते आए हैं। अतः इसमें कोई दोष भी नहीं। इस कारण ''पूर्वीरहम्'' और ''ये चिद्धि पूर्वे'' ये ऋचाएँ कही गई हैं। परन्तु जितना ही तप होगा उतनी ही संसार में भी विजय प्राप्त होगी अतः वेद कहते हैं।

''न सृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः'' इत्यादि।

तपश्चर्या के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता जो महान्-महान् शास्त्रों के कर्त्ता हो गये हैं उन्हें प्रथम कठिन व्रत करना पड़ता है। रात्रिन्दिवा अभीष्टवस्तु की चिन्ता में अपने को लगा दग्ध कर देना होता है। संसार के सर्वकार्य से निवृत्त हो तन्मय होते हैं। आप विचार सकते हैं कि जिसने अष्टाध्यायी बनाई है उसने मन कहाँ तक वशीभूत किया होगा। जिसने गणित के बड़े-बड़े नियमों को आविष्कृत किया होगा उसको कैसी कड़ी तपस्या करनी पड़ी होगी। इसी प्रकार शास्त्र, कला, कौशल आदिकों के आविष्कार कर्त्ताओं को भी समझिये। निश्चय, जो तप नहीं करता वह संसार में जीता नहीं रहेगा। परन्तु तपस्वी सदा अजर अमर होंगे। तपस्वी ही जगत् के सहस्रों संग्रामों को जीतते हैं।

''नदस्य मा रुधतः'' यह इस अभिप्राय से कहा जाता है कि यह कामचेष्टा अति प्रबल वस्तु है। अनेक प्रकार से इस शरीर में सम्प्राप्त होती है। कभी-कभी स्त्रियाँ अधीरा हो के व्याकुला हो जाती हैं। इस अवस्था में स्त्री को समुचित है कि ईश्वर से ही प्रार्थना करें। यदि स्वामी समीप हो तो उससे मिले जैसा कहा है कि ''पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः''। परन्तु ''पुलुकामो हि मर्त्यः'' मनुष्य स्वभावतः बहुत कामी है। अतः प्रतिक्षण इन्द्रियदमन करता रहे और यदि किसी प्रकार वृद्धि हो तो उस समय मन को ईश्वर के चिन्तन, सत्सङ्ग, शास्त्राभ्यसन, मनन प्रभृति में लगा दे। अतः ''इमेन्नुसोमम्ः'' यह ऋचा कही गई है। ''अगस्त्यःखनमानः खनित्रैः'' इससे यह उपदेश दिया गया है कि

मनुष्य दोनों धर्म्मों का पालन करे। ऐहलौकिक एवं पारलौकि। बहुत पुरुष समझते हैं कि विवाह सन्तानोत्पादन एवं ग्रन्थाभ्यसन प्रभृति कार्य व्यर्थ हैं। केवल एकान्त में आसीन हो तपश्चर्या करता रहे। परन्तु वेद कहते हैं "उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष" दोनों की पुष्टि करनी चाहिये। एवं प्रजा, अपत्य, बल, विद्या, बुद्धि, धनादि सब ही धर्मानुकूल संग्रह करने चाहिये।

इन ऋचाओं के तत्त्वों को जो ब्रह्मवादिनी प्रचार करती थी वह लोपामुद्रा नाम से इस लिये सुप्रसिद्धा हुई कि इन ऋचाओं में उस तपस्विनी स्त्री का विवरण है। जो सांसारिक सर्व सुखों को त्याग पति के साथ परोपकार रूप तपश्चर्या में अपने जीवन को लगा रही है। और इसमें स्त्री के योग्य हितोपदेश है। अतः इस सूक्त की स्त्री ऋषिका है। इति संक्षेपतः।

विश्ववारा ब्रह्मवादिनी। ३०।

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारानमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची।

५।२८।१।

ऋषिः=विश्ववारा। देवता=अग्नि। यह विश्ववारा कर्मकाण्ड का निरूपण करती है। (समिद्धः+अग्निः+दिवि+शोचिः+अश्रेत्) समिद्ध अग्नि द्युलोक तक ज्वाला विस्तीर्ण करता है। (उपसम्+प्रत्यङ्+उर्विया+वि-भाति) प्रातःकाल और रात्रि में अग्नि बहुत विस्तीर्ण होके शोभित होता है। (प्राची+घृताची+विश्ववारा) प्राचीना अर्थात् वृद्धा, घृताची अर्थात् यज्ञकर्त्री, विश्ववारा अर्थात् निखिल पापनिवारयित्री स्त्री (नमोभिः+देवान्+ईडाना) नमस्कार द्वारा अथवा विविध अन्नों से विद्वानों को सत्कार करती हुई (हविषा+एति) और हविष्य द्वारा होम करती हुई जा रही है। अतः स्त्रियों को भी कर्म करना उचित है। भाव यह है कि प्रत्येक स्त्री प्रातःकाल होम करे। क्योंकि प्राचीना वृद्धा विदुषी स्त्रियाँ भी इस शुभ कर्म को करती जाती हैं। जैसे अग्नि अपनी ज्वाला बहुत दूर तक फैलाता है तद्वत् कर्मकत्री स्त्री की कीर्तिज्वाला दूर तक विस्तीर्ण होती है। एवं जैसे अग्नि, प्रातःकाल और रात्रि में अधिक देदीप्यमान होता है और निखिल अन्धकार को विनष्ट करता तद्वत् यज्ञानुष्ठानपरायणा स्त्री नैशाग्नि के समान जाज्वल्यमाना हो समस्तदुरितान्धकार को विध्वस्त करती है। अतः कर्मानुष्ठान अवश्य कर्तव्य है। अब यह रीति प्राचीन है या नवीन? इस पर वेद भगवान् कहते हैं कि यह आदि काल से चली आती है। क्योंकि विदुषी प्राचीन स्त्रियाँ इस को करती आती हैं। व्याकारण—शोचि=ज्वाला। अश्रेत्= श्रयति। उर्विया=उरु=विस्तीर्ण। प्राची=प्राचीना वृद्धा। विश्ववारा=विश्ववारा

उस स्त्री का नाम है जो निखिल पापों से स्वयं दूर हो अन्यान्य स्त्रियों को उपदेशादि द्वारा बचाती रहती है। विश्वं सर्व पापरूपं शत्रु या वारयति सा विश्ववारा घृताची=घृतादि हवन सामग्री से जो, अग्नि, वायु, प्राणादि, देवों की पूजा करे वह घृताचि। घृतेन या अञ्चति पूजयति सा घृताची। १।

समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष्कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये।
विश्वं स धत्ते द्रविणं यमिन्वस्यातिथ्यमग्ने नि च धत्त इत्पुरः। २।

(समिध्यमानः+अमृतस्य+राजसि) हे अग्ने! आप समिध्यमान होने से जल के ईश होते हैं। (स्वस्तये+हविः+कृण्वन्तम्+सचसे) कल्याण के लिए पुरोडाशादि हविष्कर्त्ता यजमान को आप सेवते हैं (यम्+इन्वसि) जिस यजमान के निकट आप जाते हैं (सः+विश्वम्+द्रविणम्+धत्ते) वह समस्त पश्वादि धन को धारण करता है। (अग्ने+आतिथ्यम्+पुरः+इत्+धत्ते+च) हे अग्ने! आप के योग्य आतिथ्य सूचक हवि आपके समक्ष स्थापित करते हैं। निश्चय, जो अग्नि में होम करती है अर्थात् वैदिक कर्मों को विश्वास और श्रद्धापूर्वक पूर्ण करती और तदनुकूल अपने जीवन को बनाती है वह सर्वेश्वर्य की स्वामिनी होती है क्योंकि उसके अन्तःकरण पवित्र, मन, स्थिर, इन्द्रियगण अनुकूल और अधीन रहते हैं और सर्वदा ग्राम, नगर, देश, द्वीप और द्वीपान्तरों के हितचिन्तन में और यथा शक्ति आपत्तियों के निवारण में लगी रहती है। इससे बढ़ कर और कौन उतम निधि है।

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यंसुयम मा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि। ३।

(अग्ने+महते+सौभगाय+शर्ध) हे अग्ने! आप महान् सौभाग्य के लिए बलयुक्त होइए (तव+द्युम्नानि+सन्तु) आपके दिये धन उत्तम अर्थात् परोपकारी हों (जास्पत्यम्+सुयगम्+आ+कृणुष्व) हम स्त्रियों के दाम्पत्य भाव को सुगठित कीजिये। (शत्रूयताम्+महांसि+अभि+तिष्ठ) जो हम स्त्रियों से शत्रुता करने के इच्छुक कुकाम, कुलोभ, कुचेष्टा आदिक व्यापार हैं उनके तेजों को आक्रमण कीजिये। शर्ध=बल करना। द्युम्न=धन। जास्पत्य=जाया च पतिश्च जायापाती तयोः कर्म जास्पत्यम् जाया और पति के परस्पर प्रेम रूप कर्म का नाम जास्पत्य है। अग्नि शब्द कर्म्मोपलक्षक है। सुकर्म यहाँ सम्बोधित हुआ है। निश्चय, सुकर्म से सौभाग्य, सम्पत्ति प्राप्त होती है। जो स्त्री निज पति के साथ सदा अग्निहोत्रादिक वैदिक शुभ कर्मों का अनुष्ठान करती रहती है उसका पति के साथ कभी वैमनस्य नहीं होता और न अनुचित अपवित्र निन्द्य कुचेष्टाएँ ही इसके निकट आती हैं। ३।

समिद्धस्य प्रमहसोग्ने वन्दे तव श्रियम्।

वृषभो द्युम्नवां असि समध्वरेष्विध्यसे।४।

हे कर्मदैवत अग्ने! (समिद्धस्य+प्रमहस:+श्रियम्+वन्दे) प्रज्वलित प्रकृष्टतेजा आपकी शोभा की मैं वन्दना करती हूँ। (वृषभ:+द्युम्नवान्+असि) आप अभीष्ट वर्षिता और धनवान् हैं। (अध्वरेषु+सम्+इध्यसे) यज्ञों में आप सम्यग् प्रकार से दीप्त होते हैं। यहाँ साक्षात् अग्नि की वन्दना नहीं है किन्तु अग्निजन्य कर्म की वन्दना है नि:सन्देह, कर्म वन्दनीय है। जो श्रद्धापूर्वक कर्म करती है वह अग्निवत् सर्व शुभकर्मों में देदीप्यमान होके बैठती है।४।

समिद्धो अग्न आहुत देवान्यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि।५।

आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्।६।

(आहुत+स्वध्वर+अग्ने+समिद्ध:+देवान्+यक्षि) हे आहुत! सुयज्ञोपते अग्ने! आप समिद्ध होने पर देवों का यजन कीजिये। (त्वम्+हि+हव्यवाट्+असि) आप ही हव्यवाहन है।५। (प्रयति+अध्वरे+आजुहोतअग्निम्+दुवस्यत) हे मनुष्यो! प्रयत्नवान् यज्ञ में हवन कीजिये और सदा अग्नि अर्थात् सुकर्म की सेवा कीजिये। (हव्यवाहनम्+वृणोध्वम्) कर्म को ही सदा स्वीकार कीजिये।६।

विश्वारा="विश्वं सर्वं पापं वारयति निवारयति या सा विश्ववारा" जो स्त्री स्वयं पाप से निवृत्ता हो सर्वत्र स्त्रियों में वैदिक कर्म प्रचार कर पापों को दूर करती रहती है उसे विश्ववारा कहते हैं। जिस कारण यह ब्रह्मवादिनी वैदिक अग्निहोत्रादिक शुभ कर्मों का प्रचार करती जिनसे सर्व दुराचारों की निवृत्ति हो सकती है। अत: ऐसी प्रचारिका का विश्ववारा यह नाम रक्खा गया। यह अत्रिगोत्र में उत्पन्ना हुई थी। इस सूक्त से सिद्ध है कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ केवल वेदाध्ययन ही नहीं करती थीं प्रत्युत उत्तमोत्तम शुभ कर्मों के विस्तारक प्रयत्न भी करती थीं। नि:सन्देह, जिस ग्राम वा देश वा द्वीप में विदुषी, सत्यपरायणा, जितेन्द्रिया, सदाचार सम्पन्ना स्त्रियाँ धर्म्मोपदेश करती हैं, उसका महासौभाग्य है वहाँ कदापि विपत्तियाँ गृह नहीं बना सकतीं। मनुष्य निरुद्यमी, आलसी, मूर्ख, कुचेष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि स्त्रियों को सुप्रसन्न करने के लिए तदनुकूल पुरुषों को चलना पड़ता है। वीराङ्गना कभी कायर पति को न चुनेगी। एवं विदुषी मूर्ख को न वरेगी। सदाचारिणी सदा दुराचारी से घृणा करेगी। इस स्त्री के अनुकरण प्राय: पुरुष करते हैं। यदि संसार को सभ्य, पवित्र, शुद्ध बनाना हो तो प्रथम स्त्री जाति को वैसी बनाओ। इति।

शश्वती ब्रह्मवादिनी। ३१।

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि। ८।१।३४।

ब्रह्मवादिनी रोमशा के समान यह शश्वती भी इसी एक ऋचा की ऋषिका है, एवं तत्सदृश ही वह ऋचा भी सूक्त के अन्त में आई है और वैसा ही यहाँ पर भी प्रथम दान का ही प्रकरण हैं। वहाँ रोमशा स्वनय राजा की पत्नी और बृहस्पति की पुत्री मानी गई है। यहाँ शश्वती आसंग राजा की पत्नी और अङ्गिरा की कन्या कही जाती है। अतः सिद्ध है कि रोमशावत् शश्वती नाम भी बुद्धि का ही है। बुद्धि की प्रचारिका स्त्री भी शश्वती इस नाम से प्रसिद्ध हुई। अब मन्त्रार्थ देखिये। (शश्वती+ नारी+अभिचक्ष्य+आह) शश्वती बुद्धिरूपा नारी जीवात्मरूप पति को स्वस्थ देख कहती है कि (अर्य+सुभद्रम्+भोजनम्+ विभर्षि) हे स्वामिन्! आप सुशोभन भोजन अपने निकट रखते हैं। (अस्य+ पुरस्तात्+स्थूरम्+अनु+ददृशे) वह भोजन आपके समीप बहुत ढेर दीखता है। हे स्वामिन्! पुनः (अनस्थः) वह भोजन स्थिर है। कभी क्षय होने हारा नहीं (ऊरुः) बहुत विस्तीर्ण है (अवरम्बमाणः) ईश्वर की ओर अवलम्बमान अर्थात् झुका हुआ है। अतः आपके निकट बहुत भोजन दृष्ट हो रहा है।

आशय—पूर्व में भी लिख आया हूँ कि आत्मा के निकट बहुत भोजन है इसको कोटियों में कोई तत्त्ववित् जानता है। यदि आत्मा के निकट अक्षय भोजन न होता तो पुरुष आत्मरति, आत्मक्रीड कैसे होता एवं इस आत्मा से विविध शास्त्र कैसे निकलते? इसी आत्मा के निकट से विविध धन लेके बुद्धिरूपा नारी ज्ञान विज्ञान फैलाती है। ऋषिका शश्वती इसी दृष्टान्त को लेकर प्रचार करती थी। जैसे बुद्धि की शोभा आत्मा से है। बुद्धि के बिगड़ने से आत्मा मलिन हो जाता। बुद्धि जितनी ही शुद्धा पवित्रतमा रहेगी आत्मा भी उतना शुद्ध पवित्रतम रहेगा। जैसे सर्व साधारण को आत्मा और बुद्धि में भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे आत्मा बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि बिना जीवात्मा नहीं एवं जैसे बुद्धि बिना आत्मसत्ता का अभाव प्रतीत होता है अर्थात् जहाँ पृथिवी, जल अग्नि प्रभृति पदार्थों में बुद्धि पूर्वक कोई चेष्टा नहीं देखते वहाँ आत्मा का अभाव भी कहा जाता। पश्वादिक में बुद्धि पूर्वक चेष्टा देखने से आत्मसद्भाव भी कहा जाता है। जीवात्मबुद्धिवत् पति पत्नी का अथवा नर नारी का सम्बन्ध होना चाहिये। स्त्री की शोभा पति से एवं पति की शोभा स्त्री से। जो अज्ञानी नर अपनी पत्नी की शोभा नहीं बढ़ाता वह नाना दुराचारों में फँस नष्ट हो जाता है जो पुरुष पत्नी का पूर्ण सत्कार करता उस देवी से डरता रहता और उसकी

आज्ञा के विरुद्ध आचरण नहीं करता यथार्थ रूप से प्राण प्रिया समझता है उस पुरुष की विविध प्रकार से बुद्धिमती स्त्री रक्षा करती है। पर स्त्री वा वेश्या के साथ पुरुष क्यों दुराचार में फँसता है। कारण यह है कि वह अपनी स्त्री का पूर्ण सत्कार नहीं करता। उसकी आज्ञा नहीं मानता। कौन नारी है जो अपने पति को दुराचारी देख शोकान्विता नहीं होती एवं उसे नहीं समझानी। वह पूर्णतया समझती है कि इस प्रकार व्यभिचार में फँसने से मेरा पति कभी दीर्घायु न होगा। अपने जीवन को यशोन्वित और अभ्युदयशाली नहीं बना सकेगा। इत्यादि अनेक शुभवासनाएँ वनिताओं के हृदय में सदा बनी रहती हैं अत: जो पुरुष स्त्री की आज्ञा अनुसार चलता है वह कदापि अनिष्ट मार्ग पर नहीं जा सकता। एवं जहाँ नर शुद्ध है वहाँ नारी भी शुद्ध रहती है। पुरुषों को व्यभिचारी देख प्राय: स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं। अनुभव और संसार की लीला इस बात को प्रत्यक्षतया दर्शा रही है। जिस कुल के वा जिस नगर के पुरुष भ्रष्ट हैं उसकी स्त्रियाँ भ्रष्टा होंगी। इस तत्त्व को अज्ञानी जन नहीं समझते। मदोन्मत्त धनाढ्य व्यभिचारियों के गृहों में यह देदीप्यमान उदाहरण विद्यमान है। ऐसों के गृह नरक समान हैं। अत: यदि कुल और आचार की रक्षा करना अभीष्ट है तो सब से प्रथम निज आचरण शुद्ध पवित्र बनावें। क्या गृह के आभ्यन्तर स्त्रियों को बाँध कर रखने से सुचरित्र की रक्षा हो सकती है? एवं यथार्थ में बुद्धिवत् जहाँ स्त्रियों की सुचेष्टा न देखी जाये वहाँ पुरुषों का अभाव ही समझो। स्त्री की परीक्षा से कुल, ग्राम, देश की परीक्षा हो जाती है। और बुद्ध-यात्मवत् भेद रहित होके स्त्री पुरुष को सर्व व्यवहार में प्रवृत्त होना चाहिये। अतएव स्त्री को अर्धाङ्गी कहते हैं एवं जैसे बुद्धि को विविध सहायता एवं आनन्द आत्मा से प्राप्त होता है एवं आत्मा बिना बुद्धि स्वयं अस्तित्व नहीं रख सकती। तद्वत् स्त्री नाना सम्पत्ति नाना भोग विलास पति से प्राप्त करे। निज पति को ही बड़ा धनाढ्य सब प्रकार से समझे और अपना अस्तित्व भी पुरुष की अधीनता से ही माने। इत्यादि गंभीराशय को यह ऋचा दिखला रही है और ऐसे ही आशय को शश्वती भी स्त्रियों में फैलाती थी। इति। संक्षेपत:।

अपाला ब्रह्मचारिणी

अपाला के सम्बन्ध में सायण ने शाठ्यायन—ब्राह्मण के अनुसार ८। ८० वें सूक्त के आरम्भ में[१] यह इतिहास लिखा है। "अत्रि की एक कन्या

१. यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये इस मण्डल में बालखिल्य सूक्त ४९ से आरम्भ होकर ५९ तक समाप्त होता है अर्थात् ११ सूक्त बालखिल्य सूक्त कहाते हैं। जर्म्मन

अपाला थी। यह चर्म्मरोग से रोगिणी रहा करती थी। पति ने भी दुर्भगा कह-कह कर इसको त्याग दिया था। अत: भर्तृ-परित्यक्ता हो निज पितृ गृह में ही निवास करती हुई त्वचा के दोष-परिहारार्थ इन्द्र की आराधना करने लगी। इन्द्र को सोम प्रिय है अत: सोम से इसको प्रसन्न करना उचित है यह विचार किसी नदी के तीर पर सोम के अन्वेषण में गई। वहाँ स्नान कर आती हुई उसको कहीं पथ में सोम भी मिल गया। उसे उठा कुछ सोच विचार कर मार्ग में ही चबाने लगी इसके भक्षणकाल में अपाला के दांतों के संघर्षण से जो ध्वनि हुई उसको इन्द्र ने समझा कि यहाँ कोई प्रस्तरों से सोम का अभिषव कर रहा है इसी की यह ध्वनि है। यह विचार इन्द्र यहाँ दौड़ आया और उसी कन्या से पूछा कि क्या कोई यहाँ सोमाभिषव हो रहा है ? कन्या बोली कि यहाँ कोई प्रस्तरों की सोमाभिषव-ध्वनि तो नहीं है किन्तु अत्रि की कन्या यहाँ स्नानार्थ आई थी। सोम को देख इसको खा रही है। यह सुन इन्द्र ने वहाँ से लौटना चाहा। तब इन्द्र से अपाला कहने लगी कि आप तो सोम पीने को गृह-गृह जाते हैं, अब यहाँ ही मेरे दाँतों से पीसे हुए सोम को पीजिये। क्यों लौटते हैं ? ये धाना आदिक पदार्थ भी हैं। इस इन्द्र के साथ मखौल कर फिर बोली कि आप इन्द्र हैं यह मैं नहीं जानती। यदि मेरे आश्रम में आवें तो मैं बड़ा मान करूँगी। इन्द्र इसके आश्रम में जा पहुँचा। उसे विश्वास हुआ कि यही इन्द्र है। मुखस्थ सोम से बोली कि इन्द्र यही है, आप स्रवित होओ जो पीके इन्द्र, प्रसन्न हो। इन्द्र भी इसके मुख में ही प्रविष्ट हो सोमरस पी प्रसन्न हो बोला कि जो तू चाहती है सो वर माँग। इसने तीन वर माँगे मेरे पिता का शिर खलति अर्थात् रोमवर्जित है। इनका क्षेत्र ऊषर है। मेरा अंग भी अरोमश है। ये तीनों रोम और फल से युक्त हों। इन्द्र ने भी अत्रि के शिर को रोमश और खेत को फलयुक्त कर अपाला के चर्म्मदोष के निवारणार्थ रथ, शकट और युग (जूआ) के छिद्र में इसको रख कर यकायकी तीन बार रगड़ कर शुद्ध किया। रथ के छिद्र में रगड़ने से इसकी त्वचा नीचे गिरी। वह शल्यक अर्थात् साही हुई। शकट में रगड़ने से जो त्वचा निकली वह गोधा। और युग में रगड़ने से गिरी हुई त्वचा कृकलास हो गई। इस प्रकार इन्द्र के अनुग्रह से अपाला की त्वचा सूर्य के किरण समान चमकने लगी। इति। शाट्यायनक ब्राह्मण में यह इतिहास देख मुझ को बड़ी हंसी आती है भाष्यकार सायण की बुद्धि पर शोक होता है। मन गढ़न्त कैसी-कैसी लड़कपन की बातें इन लोगों ने बना वेदों के आशय

मुद्रित सायण भाष्य में ये ११ सूक्त नहीं दिए हुए हैं। परन्तु अन्यान्य भाष्य में हैं। अत: अन्यान्य भाष्य के अनुसार इसका पता ८। ९१ समझना।

को दूषित किया है जिन ऋचाओं के आधार पर यह अयोग्य कथा रची है, वे ऋचाएँ सर्वथा निर्दोष हैं।

अपाला शब्दार्थ और आशय—आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने हारी कन्या का नाम वेद में अपाला है। क्योंकि निज शरीर रूप महाधन के दान से किसी पुरुष का जो कन्या पालन न करे वह अपाला कहाती है। ''स्वशरीरदानेन न कमपि पुरुषं पालयति या साऽपाला'' सूक्त में दो बार यती पद आया है जिसका अर्थ ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी है। पुनः ४ र्थ में पतिद्विट् शब्द आया है जिसका अर्थ पतिद्वेषिणी अर्थात् पति की कामना न करने हारी है। इससे निश्चय है कि ब्रह्मचारिणी का नाम यहाँ अपाला है। शरीर की परमशोभा का नाम सोम है। इसीलिये प्रिय बालक को सौम्य कहते हैं। इन्द्र नाम ईश्वर का है यह प्रसिद्ध है। अब वेद शिक्षा देता है कि जो कन्या बाल-ब्रह्मचारिणी ही रहना चाहे वह मन के पूर्ण संकल्प से अपनी परमशोभा रूप धन ईश्वर को ही समर्पित कर जगत् के हित चिन्तन में, कल्याण साधन में, अनाथ अनाथिका की सेवा में और विविध विद्याओं के आविष्कार में तत्पर होवे। इस प्रकार जो तन, मन, धन तीनों ईश्वर को समर्पित करती है उसकी ईश्वर भी तीनों अवस्थाओं में रक्षा कर सूर्य समान निर्दोष नयनानन्दकर बनाये रखता है। जैसे रथ अति वेगवान् होता है वैसे ही यौवनावस्था में मनो-रथ अति वेगवान् हो सारथि को नीचे गिरा चूर्ण-चूर्ण कर देता है। अतः यौवानावस्था रथ के समान है। पुनः यौवन के बाद शरीर कुछ शिथिल होने लगता है। यह मानो, धीरे-धीरे चलना हारा शकट के समान है। इस अवस्था में यद्यपि मनोवेग कम हो जाता है तथापि विषयतृष्णा की ओर दौड़ता ही रहता है। तीसरी वृद्धावस्था है। इसमें सब इन्द्रिय सो जाते हैं। यह युग (जूआ) के तुल्य है। जैसे जूआ बैल की गर्दन पर पड़ा रहता है वैसे ही शरीररूप वृषभ के कन्धे पर सब इन्द्रियगण सोता ही रहता है। इन तीनों अवस्थाओं में जो छिद्र अर्थात् दोष उत्पन्न होते हैं उनसे उस उपासिका को ईश्वर सदा बचाता रहता है।

और जब इस प्रकार किसी की कन्या निर्दोष हो जगत् में सूर्यप्रभावत् चमकती रहती है तब ऐसी गुणवती पुत्री का पिता भी निश्चिन्त हो सुख से दिन बिताता है। मानो चिन्ता से शिर रोम अब नहीं गिरते। यही पिता के शिर में रोमों का होना है। और इसके कुटुम्ब परिवार भी कन्या के सद्‌गुण देख हरे भरे हो जाते हैं। यही मानो पिता के खेत में फलों का लगना है। और मानो त्वचा के ऊपर कोई कलंक का दाग न लगना ही मानो त्वचा का रोगरहित होना है। इसमें सदेह नहीं कि ये ही तीन महोत्तम वर हैं। जिसके शरीर की

त्वचा विविध कलंकों से दूषित है, मानो उसकी त्वचा में सारे रोग निवास करते हैं। ऐसी कन्या को देख-देख कर पिता के शिर के रोम, मानो, चिन्ता से गिरने लगते हैं। शिर की पगड़ी उतर जाती है। इसके कुटुम्ब परिवारों में भी कलंक का टीका लग जाता है। अत: वेद भगवान् कहते हैं कि धन्य वह गृह है जहाँ कन्या निर्दोष है। जहाँ सूर्यप्रभावत् कन्या प्रकाश देनेहारी और अन्धकार नाश करने हारी है वह कुल, परिवार धन्य है। अब आगे ऋचाओं के अर्थ पर ध्यान देके विचारना चाहिये।

कन्या वारवायती सोममपि स्रुताऽविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय।
सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा।८.९१.१

(वारवा:) मनुष्यसमूह को निषेध करने हारी अर्थात् विवाहकामना से रहिता अतएव (यती) ब्रह्मचारिणी (कन्या) कन्या जब (स्रुता) जीवनमार्ग में (सोमम्+अपि+अविदत्) शरीर की परमशोभा को भी प्राप्त करे तब उस शारीरिक शोभा को पाकर (अस्तम्+भरन्ती) ब्रह्मचर्याश्रम की ओर ही लाती हुई कहे कि हे सोम! हे मेरे शरीर के रस से उद्भुत सौन्दर्य! (त्वा) तुझको (इन्द्राय) इन्द्र अर्थात् परम देवता ईश्वर के उद्देश्य से (सुनवै) ब्रह्मचर्यव्रत धारणरूप यज्ञ द्वारा निचोड़ती हूँ अर्थात् समर्पित करती हूँ। (शक्राय+त्वा+सुनवै) सर्वशक्तिमान के लिए ही तुझको पीडित करती हूँ। जैसे यज्ञ में सोमलता को कूट-कूट कर उससे रस निचोड़ते हैं तद्वत् मैं अपने सौन्दर्य को ईश्वरीय परोपकार में ही समर्पित करती हूँ। जो कन्या विवाह न करे वह अन्त:करण से अपने जीवन को ईश्वरीय कार्य में समर्पित करे। यह सम्पूर्ण आयु ही एक महती जीवन-यात्रा है। इसमें एक दिन का बीतना ही जीवन-यात्रा का एक-एक पड़ाव का लाँघना है। इसमें अनेक पदार्थ मिलते हैं। कभी यौवनोद्भूत मदकारक रस भी प्राप्त होता है। उसे परोपकार में ही लगावे। वारवा:=''वारं मनुष्यसूहं वारयति निवारयतीति। जैसे वारवधू, वारविलासिनी, वाराङ्गना आदि में वार शब्द मनुष्यसमूहवाचक है।'' यद्वा ''वारणंवार:। पतिवरण या वारयति सा। यद्वा ''वारं वरणं वाति हिनस्ति द्वेष्टीति यासा'' वा, गतिगन्धनयो:। गन्धनं हिंसनम्। इत्याद्यर्था अवधारणीया:। यती (कृदिकारादक्तिन:=) ४-१-४५। इस वार्तिक के अनुसार रात्रि, रात्री, शकटि, शकटी इत्यादिवत् स्त्रीलिङ्ग में यति और यती दोनों रूप होते हैं। १।

असौ य एषि वीरको गृहं-गृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं।

करम्भिणमपूपवन्त मुक्थिनम्।२।

(यः+असौ+वीरकः) हे भगवन्! सबका प्रेरक जो यह व्यापक आप (गृहम्+गृहम्+विचारकशत्) स्त्री, स्त्री को अथवा गृह, गृह को शोभित करते हुए (एषि) सर्वत्र पहुँचते हैं वह आप (इमम्+जम्भसुतम्+पिब) इस परम शुद्ध सोम को पीजिये। (धानावन्तम्+करम्भिणम्+उक्थिनम्) और इसी की यज्ञिय भृष्टयवान्वित, सक्तुसंयुत, पुरोडासादिसहित तथा स्तोत्रादिसमेत सोम जानिये। वीरकः=विशेषण ईरयति प्रेरयतीति, वि=ईरक। गृह=यह नाम दारा का भी है। यथा=दारेषु च गृहाः। धाना, करम्भ, अपूप और उक्थ आदि पदार्थ यज्ञ में दिये जाते हैं। तद्वत् वह ब्रह्मचारिणी कन्या कहती हैं कि मेरा जो यह शरीर के रस से निकला हुआ शोभारूप अथवा यौवनरूप सोम है वह आपको ही समर्पित हो, आप इसे स्वीकार करें। आपकी शरण में आके कभी भ्रष्टा न होऊँ।२।

आ चन त्वा चिकित्सामेऽधि चन त्वा नेमसि।
शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दो परि स्त्रव।३।

हे सर्वान्तर्यामी देव! हम कन्याएँ (त्वा+आचिकित्सामः+चन) आप को निश्चय साक्षात् जानना चाहती हैं परन्तु (त्वा+न+अधि+ईमसि+चन) आप को नहीं पहचानतीं। क्योंकि आप अज्ञेय हैं। तथापि हम निज यौवनोद्भूत-सौन्दर्य आपको ही अर्पित करती हैं (इन्द्रो) हे सोम! मत्शरीरोद्भूत सौन्दर्य! (शनैः+इव+शनकैः+इव) धीरे-धीरे तू (इन्द्राय+परिस्त्रव) परम देवता के उद्देश्य से ही स्त्रवित होओ अर्थात् क्षीण होओ। चिकित्सामः=ज्ञातुमिच्छामः। न+अधीमसि=नाधिगच्छामः।३।

आशय—जैसे साक्षात् पति को जान पहचान कर कन्या निज शरीर समर्पित करती है वैसा साक्षात्कार ईश्वर का नहीं होता। अतः कन्या कहती है कि हे भगवन्! मैं तुझे जानना चाहती हूँ परन्तु विशेषरूप से जान नहीं सकती। एवं जैसे यज्ञ में सोमरस धीरे-धीरे गिराया जाता है तद्वत् कन्या कहती है कि मेरे यौवन रूप सोम! आज से तू ईश्वरीय कार्य में लगकर ही दिन-दिन चूता रहे अर्थात् मरण पर्यन्त घटता चला जा।३।

कुविच्छकत् कुवित्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत्।
कुवित्पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै।४।

वह ईश्वर (कुवित्+शकत्) बारम्बार हम को समर्थ करे। (कुवित्+करत्) बारम्बार इस व्रत में सक्षम करे (नः+कुवित्+वस्यसः+करत्) हम को अतिशय

सुचरित्र धन से युक्त करे। (पतिद्विष+यतीः)[दुर्बलता आदि के कारण] पति के साथ संयुक्त होने की भावना से ही दूर रहने वाली अतएव यती अर्थात् ब्रह्मचारिणी हम कन्याएँ (इन्द्रेण+कुवित्+संगमामहै) आज परम देवता के साथ बारम्बार संगत होवें। हे ईश्वर! आशीर्वाद कर।४।

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥५॥
असौ च या न उर्वराऽऽदिमां तन्वं मम।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि।६।

(इन्द्र+इमानि+त्रीणि+विष्टषा) हे इन्द्र! ये जो तीन स्थान हैं (तानि+विरोहय) उन्हें फलान्वित करो (ततस्य+शिरः) पिता का शिर जो रोमवर्जित है उसको रोमयुक्त करो (उर्वरा) इनके खेत जो ऊषर है उसको सस्यसम्पन्न करो (आद्+इदम्+उप+उदरे) और तदनन्तर जो मेरे शरीर पर दोष हैं इनको शुद्ध करो।५। पुनः इसी को कहती है (असौ+च+या+नः+उर्वरा) यह जो हमारे पिता की भूमि उर्वरा है (आद्+इमाम्+मम+तन्वम्) और जो यह मेरा शरीर है (अयो+ततस्य+यत्+शिरः) और जो यह पिता का शिर रोमवर्जित है (ता+सर्वा+रोमशा+कृधि) इन सब को रोमश अर्थात् रोम और फलादि युक्त करो।६।

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।७।

(शतक्रता+इन्द्र) हे विश्वकर्मन् परमदेवता! (रथस्य+खे) रथ के छिद्र में (अनसः+खे) शकट के छिद्र में तथा (युगस्य+खे) युग के छिद्र में (अपालाम्+त्रिःपूत्वी) अपाला अर्थात् ब्रह्मचारिणी को तीन बार पवित्र कर के उसको (सूर्यत्वचम्+अकृणोः) सूर्य समान त्वचावाली करता है। तू धन्य है।७।

आशय—जैसे अश्वयुक्त रथ बड़े वेग से दौड़ता है और सुसारथि ही इसको चला सकता है तद्वत् यौवनावस्थारूप रथ को जानो। इसमें अत्यन्त मनोरथ भरे रहते हैं। सुविद्वान् ही इसे सुपथ में रख सकता है। जब यौवनावस्था ढलने लगती है वह मिश्रित यौवन और वार्धक्य अवस्था साधारण बैल गाड़ी के समान है इस में कामवेग न्यून होता जाता है। और परम वृद्धावस्था युग (जूआ) के समान है। जैसे युग बैल के कन्धों पर पड़ा रहता है तद्वत् वृद्धावस्था में परम शिथिलता हो जाती है। इन तीनों अवस्था में अनेक छिद्र उपस्थित

होते हैं। इन तीन प्रकार के छिद्रों में ईश्वर उसकी रक्षा करता है जो सर्वभाव से अपने को ईश्वर में समर्पित कर देता है।

"कुवित् पतिद्विषोयतीरिन्द्रेण संगमामहै" इस ऋचा का "पतिद्विष:" यह शब्द ही सिद्ध कर रहा है कि यह वर्णन उस स्त्री का है जो विवाह करना नहीं चाहती है। क्योंकि "पतिद्विष:" इस शब्द का अर्थ पतिद्वेषिणी अर्थात् पति से द्वेष करने हारी अर्थात् विवाह न करने हारी है। अतएव "यती" यती शब्दार्थ भी इसी अर्थ को सूचित करता है और इसी कारण "इन्द्रेण सङ्गमामहै" ऐसी प्रार्थना है क्योंकि अविवाहिता कन्याएँ ईश्वर से ही मिलने की प्रार्थना करेंगी। अन्यथा "पति से मिलें" ऐसी प्रार्थना होती। द्विष शब्द=मुझे आश्चर्य होता है कि सायण ने द्विष का अर्थ द्विष्ट कैसे किया। सायण प्रभृतियों की बुद्धि में सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचारिणी रहने का विषय आया ही नहीं। क्योंकि ये स्त्रियों को सब प्रकार से अतितुच्छा समझते थे। इनके समीप स्त्रियों के लिए मरणपर्यन्त अविवाहिता होके रहना माहश्चर्य है अत: सर्वत्र विपरीत अर्थ किया है। द्विष शब्द वेदों में अनेक बार आया है परन्तु कहीं भी द्विष्ट अर्थ नहीं। किन्तु द्वेषकारी, शत्रु ही अर्थ होता है। "विदुर्गा विद्विष: पुरोध्नन्ति राजानएषाम्।१।४१।३। वाधमाना अपद्विष:।१।९०।३।" इत्यादि स्थलों में सायण स्वयं द्विष् शब्दार्थ शत्रु करते हैं। ग्रिफिथ ने भी वहाँ Hostile अर्थात् शत्रु ही अर्थ किया है। परन्तु सायणादि पूर्वापर किञ्चिन्मात्र भी नहीं विचारते।

पुन: "इमानि त्रीणि विष्ठपा तानीन्द्र विरोहय" और "खे रथस्य खेऽनस: खे युगस्य शतक्रतो" इत्यादि ऋचाएँ निर्विवाद अन्यार्थद्योतक हैं जैसा कि पूर्व में वर्णित है। भाव यह है कि इस संसार में मानव जीवन विविध प्रकार से भासित हो रहा है। कोई अहर्निश विषयवासनाओं में ऐसे फँसे हैं कि उन्हें निज स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ सूझता नहीं। परन्तु तद्विपरीत भी नर नारी देखी जाती है। जो सदा परार्थ चिन्ता में ही मग्न रहती है। कोई स्त्री पुरुष विवाह करके संसार में जीवन निर्वाह करना चाहते हैं। कोई इसके विपरीत हैं। यद्यपि आधुनिक समय में अधिकांश विवाहेच्छु दृष्ट होते हैं और अविवाहितों की संख्या बहुत ही स्वल्प है। तथापि इनमें ईदृग् भी नर नारियाँ विद्यमान हैं जिनकी विवाह करने की इच्छा ही नहीं होती। पूर्व समय में और आज भी ऐसे दृष्टान्त विद्यमान हैं। आजकल भारतवर्ष में कन्याओं का आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत रखना अनुचित समझा जाता है। गार्गी, सुलभा आदि पूर्व समय में अनेक कन्याएँ मरणपर्यन्त अविवाहिता रही हैं। अत: आजकल भी यदि कोई कन्या विवाहार्थिनी न हो तो बलात्कार उसको व्याहना भी उचित नहीं। शोक

की बात यह है कि इस समय न तो पुत्र और न पुत्री की इस विषय में सम्मति ली जाती है। पिता-माता की इच्छा के अनुसार हठात् सन्तान घसीटी जाती है। इसमें सन्देह नहीं सम्प्रति बाल-ब्रह्मचारी और बाल-ब्रह्मचारिणियों की रक्षा का कोई सुन्दर उपाय भी नहीं है। देश में अविवाहित लाखों, वैष्णव, उदासी और संन्यासी हैं। परन्तु इनमें से बहुत स्वल्प संख्याक पुरुष ऊध्वरेता रहते हैं। क्योंकि इस जीवन को किस प्रकार व्यतीत करना चाहिये इस पर किसी का ध्यान ही नहीं। पृथिवी पर बहुत ऐसे कार्य हैं जिनको सच्चे हितैषी जितेन्द्रिय अविवाहित नर नारियाँ ही कर सकती हैं। हैजा, प्लेग आदि प्रसरणशील महामारी के समय जितनी सेवा ये अविवाहित कर सकते हैं उतनी सेवा विवाहितों से नहीं हो सकती। क्योंकि इन्हें निज कलत्र पुत्रादिकों की भी चिन्ता रहती है। इसी प्रकार जगत् की गूढ़-गूढ़ विद्या निकालने में ये अधिक कृतकार्य हो सकते हैं। एवं पृथिवी पर भ्रमण कर मनुष्यता की शिक्षा के लिए ये ही समर्थ हो सकते हैं। जगत् में वही नर-नारी अधिक कार्य कर सकती है जो निर्द्वन्द्व है। इतिहास भी इसका साक्ष्य देता है। श्री बुद्ध महाराज को दारपरित्याग करना ही पड़ा तब ही जगत् के अधिक उपकारी बन सके। श्री स्वामी जी महाराज इस शताब्दी में सर्वपरित्याग से ही विविध कार्य कर सके। प्रायः मनुष्य विवाहादि विलास में ही परमसुख मानता है। परन्तु नहीं, सुखमय जगत् है। बहुत से ऐसे भी कर्त्तव्य हैं जिनके सम्पादन में मनुष्य संसारदृष्टि से भी बहुत सुख भोगता है। कवियों की कविता में, उपदेशकों की उपदेश की सफलता में, वीरों की संग्राम क्षेत्र में, शास्त्री पुरुषों की नूतन-नूतन आविष्कार करने में इत्यादि अनेक पुरुषों का अनेक विषय में सुख है। जब समस्त ग्राम, नगर, देश के नर-नारियाँ मिल के किसी महापुरुष को महोत्तम सिंहासन पर बिठला आदर देते हैं तब उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है और इसके तुल्य अन्य आनन्द नहीं। पुनः योगी और भक्तों को जो आनन्द प्राप्त होता है वह सर्वथा अकथनीय है। परन्तु यहाँ कोई-कोई प्रश्न करेंगे कि क्या विवाह इन सबका बाधक है। उत्तर नहीं। विवाह के विरोधी वेद नहीं हैं। परन्तु कई अवस्थाएँ हैं जिनमें अविवाहित रहने से विशेष लाभ हो सकता है। ब्रह्मवादिनी अपाला इसी विषय की प्रचारिका थी। यह शिक्षा दिया करती थी कि अविवाहिता कन्याएँ किस-किस अनर्घ कार्य में लग के निज-निज जीवन व्यतीत करें। स्त्रियाँ किस प्रकार अपने अमूल्य जीवन को अनर्थ में लगा दुःखभागिनी बनती हैं। पुरुष किस प्रकार इनके मधुर जीवन को कटु बना देते हैं। इनसे बाल ब्रह्मचारिणी कैसे किस अनुष्ठान में लग के रक्षा पा सकती हैं

इत्यादि विविध शिक्षाओं को देश में फैलाया करती थी। जिस कारण अपाला अर्थात् जो अपने शरीर दान से किसी पुरुष का पालन न करे ऐसी ब्रह्मचारिणियाँ हितोपदेश करने में अपने जीवन को बिताती थी अतः इस प्रचारिका का नाम जगत् में अपाला प्रसिद्ध हुआ। यह अत्रि गोत्र में से थी। इति संक्षेपतः।

यमी ब्रह्मवादिनी। ३३।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति। मनु०। २। २१५।

मनु जी कहते हैं कि माता, भगिनी, दुहिता आदि के साथ भी एकान्त-सेवन न करें। क्योंकि ये इन्द्रियगण परमबलिष्ठ हैं विद्वान् को भी कुकर्म की ओर खींच ले जाते हैं। यद्यपि यह अतिशयोक्ति है। क्योंकि कौन चाण्डाल ऐसे-ऐसे घोर दुराचार में प्रवृत्त होगा। अथवा इतिहास इसमें भी शून्य नहीं। उपमाता आदि के साथ पामर भ्रष्ट हो चुके हैं। मनुष्य जाति भी एक प्रकार से पशुवत् ही है। इसमें ऐसे पशु भी विद्यामान हैं जिन्हें धर्म्माधर्म का किञ्चिनमात्र भी विचार नहीं है। अतः बहुदर्शी मन्त्रादि ऋषि ईदृग् उपदेश करते आए हैं। स्त्री जाति का किसी पुरुष के साथ एकान्त सेवन करना उचित नहीं। इसी विषय को यमी ब्रह्मवादिनी प्रचार किया करती थी। जिस कारण यम और यमी के सम्वाद में यही अर्थ विशदरूप से लक्षित है और इसी सूक्त की प्रचारिका यह थी अतः इस ऋषिका की पदवी ही यमी हो गई। इन्द्रियों को यमन अर्थात् संयम करनेहारी को भी यमी कह सकते हैं। यह ऋषिका इन्द्रियदमन की शिक्षा करती होगी इस कारण से भी यमी कहाती हो यह भी संभव है। यम और यमी-वेदों में दिन को यम और रात्रि में यमी कहते है। श्राद्ध निर्णय में यम का प्रकरण देखिये क्योंकि ये दोनों सूर्य के पुत्र पुत्री हैं। इससे सिद्ध है कि दिन और रात्रि के ही नाम क्रमशः यम और यमी है। क्योंकि अहोरात्र की उत्पत्ति सूर्य से ही होती है। वेद रूपक कर बहुधा वर्णन करते हैं। यहाँ यम और यमी में चेतनत्व का आरोप कर इन दोनों के सम्वाद से दर्शाते हैं कि भ्राता और भगिनी में विवाह होना उचित नहीं। जैसे दिन और रात्रि कभी भी संमिलित नहीं हो सकती। जब दिन होगा तब रात्रि नहीं रहेगी और जब रात्रि होगी तब दिन नहीं रहेगा। "सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः" जैसे दिन रात्रि का सम्मेलन असंभव है वैसे ही भ्राता का विवाह समझना चाहिये।

इस सूक्त में विशेष रूप से यह दिखलाया है कि अन्यान्य स्त्री के साथ

एकान्तवास से प्रायः पुरुष वा स्त्री दोनों में से एक गिर जाता है। यहाँ यमी गिर गई है। परन्तु यम अपने व्रत में दृढ़ है। ठीक है। इसी कारण रात्रि का एक नाम दोषा भी है। इसमें विविध दोष, चोरी, लम्पटता आदि उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जाति प्रायः रात्रि में ही ग्राम्यधर्म्माभिलाषी होती है। अब सम्वाद् देखिये और इससे इन्द्रियसंयम करने की शिक्षा ग्रहण कीजिये।

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्याम् तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।

पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षति प्रतरं दीध्यानः ।१०।१०।१।

यम से यमी कहती है। हे यम! (पुरू+चित्+अर्णवम्) विस्तीर्ण सुन्दर समुद्रमध्यवर्ती (तिरः+जगन्वान्) इस निर्जन स्थान में आई हुई मैं यमी (ओ+चित्+सख्या) तुझ को उत्तम मैत्री के लिए (ववृत्याम्) वरण करती हूँ। क्योंकि (सखायम्) तू मेरा गर्भ से ही सहचर है अर्थात् यदि तेरी इच्छा हो तो मैं इस निर्जन स्थान में तुझको अपना सखा अर्थात् सहचर बनाऊँ। (वेधाः+पितुः+नपातम्+आदधीत) तेरे द्वारा मेरे उदर में प्रजापति मेरे पिता का नप्ता अर्थात् दौहित्र स्थापित करे (अधि+क्षमि+प्रतरम्+दीध्यानः) इस पृथिवी पर प्रकृष्ट तेज को लक्ष्य रख कर यह प्रजापति इस शुभ कार्य के लिए आज्ञा देवे। ओ+चित्=उत्तम। सखा=सहचर। सख्या=सख्याय=मैत्री के लिये। तिर=अन्तर्हित=अप्रकाशमान निर्जन। पुरु=विस्तीर्ण। अर्णव=समुद्र समुद्र-मध्यवर्ती देश। जगन्वान्=गतवती। वेद में ऐसा भी प्रयोग होता है। नपात=नप्ता दौहित्र, दुहिता का सन्तान, नाती। दीध्यानः=ध्यान करता हुआ। यहाँ एकान्त स्थल सूचनार्थ तिरस् और अर्णव का प्रयोग किया गया है। १।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्। २।

यमी से यम कहता है। (ते+सखा+एतत्+सख्यम्+न+वष्टि) हे यमि! तेरा यह गर्भसहचर तेरे साथ इस प्रकार की मैत्री करना नहीं चाहता। (यद्+सलक्ष्मा+विरूपा+भवाति) क्योंकि सहोदरा भगिनी विषमरूपा अर्थात् अगम्या होती है और जो तू कहती है कि यह निर्जन स्थान है सो तेरा कथन ठीक नहीं। देख! (महः+असुरस्य) महान् और परमबलधारी परमात्मा के (पुत्राः+उर्विया+परिख्यन्) पुत्र ये सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथिवी, वायु आदि चारों तरफ विस्तीर्ण हो इस दुष्कर्म को मना कर रहे हैं। (वीराः+दिवः+धर्तारः) ये ईश्वरीय पुत्र बड़े-बड़े वीर हैं। दुष्टों को सदा निवारण करते रहते हैं। ये हम दोनों को दुराचार में प्रवृत्त देख अवश्य दण्ड देवेंगे। क्योंकि ये वीर हैं। (दिवः+धर्त्तारः) और न्याय ज्ञान रूप प्रकाश के धारण करने हारे हैं। इनके रहते हुए कौन ज्ञानी

दुराचार में प्रवृत्त हो सकता है ? तू इनको नहीं देखती। परन्तु मैं देख रहा हूँ। अत: तेरे साथ में मैत्री न करूँगा। सलक्ष्मा=समान चिह्नवाली अर्थात बहन। विरूपा=भिन्नरूपा। असुर=वेदों में असुर नाम परमात्मा का भी है। "अस्यति क्षिपति दोषान्, असुषु रमते वा" जो सब दोषों को दूर करता था जो प्राणरत है वह असुर। २।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्यजसं मर्त्यस्य।

नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः। ३।

यम से यमी कहती हैं। (एकस्य+मर्त्यस्य+चित्+त्यजसम्) हे यम्! यदि इस एक मनुष्य जाति का यह कर्म त्याज्य हो तो क्या हुआ। भले ही मनुष्य जाति में भ्राता भगिनी का विवाह निषिद्ध हो परन्तु (ते+घ+अमृतास:+ एतत्+उशन्ति) परन्तु वे देवगण निश्चय, इसकी कामना करते हैं। अर्थात् देवगण के मध्य भाई भगिनी का प्रेम निषिद्ध नहीं। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि अमृत कहाते हैं परन्तु ये जड़ हैं। पशु आदिक भी वेद में देव कहाते हैं। इनमें भी नियम नहीं। मनुष्य में ही यह नियम है। यमी कहती है कि हम दोनों देव है। अत: हमारे लिये निषेध नहीं। इस कारण हे यम! (अस्मे+मनसि+ते+ मन:+नि+धायि) मेरे चित्त में तू अपना मन धारण कर। (जन्युः+पतिः+ तन्वम्+आ+विविश्याः) और पुत्रजन्मदाता पति के समान तू मेरी तनू में प्रवेश कर उशन्ति=वश, कान्तौ। त्यजसम्=त्याज्य, छोड़ने योग्य, निषिद्ध। अस्मे=हमारा मेरा। जन्यु=पुत्र उत्पन्न करने हारा। ३।

न यत्पुरा चक्रिमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।

गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभि परमं जामि तन्नौ। ४।

यमी यम को कहती हैं। (पुरा+यत्+न+चक्रिम) हे यमि! जिस कर्म को हम सब ने पूर्व में कभी नहीं किया आज उसे कैसे करें। (नूनम+ऋता+ वदन्त:) निश्चय हम सब सत्यभाषण और सत्य व्यवहार करने हारे होके (कत्+ह+अनृतम्+रपेम) कब अनृत, मिथ्या, असत्यभाषण और व्यवहार करेंगे। अत: हे यमि! यह तेरा व्यवहार सर्वथा अनुचित है और भी देख! तेरे पिता माता कितने उच्च हैं। (अप्सु+गन्धर्व:) आकाश में किरणों के धारण करने हारे सूर्य और (अप्या+च+योषा) अन्तरिक्षस्था परममान्या (सा) परम- प्रसिद्धा वह सरण्यू (न:+नाभि:) हम दोनों के नाभि अर्थात् पिता माता हैं (तत्+नौ+परमम्+जामि) इस कारण हम दोनों का परम उत्कृष्ट सम्बन्ध है। इस हेतु हम दोनों के लिए यह कर्म अनुचित हैं। हे यमि! तू अपना कुल

परिवार देख इस हठ से निवृता हो जा। ऋत=सत्य। अनृत=मिथ्या। रपेम=वदेम। गन्धर्व=सूर्य का भी नाम है। अप=यह आकाश का भी नाम है, निघण्टु देखो। यम यमी की माता सरण्यू है। यम के प्रकरण में देखो। जामि=सम्बन्ध, बान्धव। ४।

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः।५।

यम से यमी कहती है। (नौ+नु+जनिता+गर्भे दम्पती+कः) हे यम! हम दोनों को निश्चय, पिता सूर्य ने गर्भ में ही पति और पत्नी बनाया है जो हमारा पिता (देवः+त्वष्टा+सविता+विश्वरूपः) देदीप्यमान, सर्वरूप-कर्त्ता, शुभाशुभ-प्रेरक और विश्वरूपप्रद है। जब ऐसे पिता ने ही हम दोनों को पति और पत्नी बनाया है तो हम दोनों के संगम में दोष क्या? हे यम! (अस्य+व्रतानि+नकिः+प्रमिनन्ति) इस पिता के नियमों को कौन तोड़ सकते हैं। (नौ+अस्य+पृथिवी+उत+द्यौः+वेद) हम दोनों के इस सम्बन्ध को पृथिवी और आकाश दोनों जानते हैं।५।

को अस्य वेद प्रथमास्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वृच्या नॄन्।६।

यम से यमी कहती है। (प्रथमस्य+अह्नः+अस्य+कः+वेद) हे यम! प्रथम दिन इसको कौन जानता है। (क+ईम्+ददर्श) यहाँ कौन देखता है। (कः+इह+प्रवोचत्) यहाँ इसको कौन प्रख्यात करेगा। हे यम! (मित्रस्य+वरुणस्य+धाम+बृहत्) आप जो कहते हैं कि ये सूर्य चन्द्रादिक देव हमारे बुरे कर्म को देखेंगे सो यह शङ्का आपको न हो। क्योंकि सूर्य और चन्द्र अथवा दिन और रात्रि यद्वा, द्युलोक और पृथिवी लोक यद्वा, मातृपितृभूत परमात्मा इन सबका धाम बहुत विस्तृत है। ये यहाँ ही नहीं होंगे अतः संगम में कोई बाधा नहीं। (आहन+नृन्+वृच्या+कद्+उ+ब्रवः) हे सर्वप्राणिहननकर्त्ता यम! मनुष्यों को देख यह आप क्या कह रहे हैं। अर्थात् मानुष नियम को आप क्यों पालन करना चाहते हैं?।६।

यमस्य मा याम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेयाय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम् वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा।७।

पुनः यमी यम से कहती है। (यमस्य+कामः+याम्यम्+मा+आगन्) हे यम्! तुझ यम की ओर से मुझ यमी को यह अभिलाषा प्राप्त हुई है। (समाने+योनौ+सहशेयाय) एक स्थान में सहवासार्थ यह कामचेष्टा प्राप्त हुई है (जाया+

पत्ये+इव+तन्वम्+रिच्यिाम्) इस कारण पत्नी पति के समान मैं अपनी तनु आपके निकट समर्पित करूँ (रथ्या+चक्रा+इव+वि+वृहेव+चिद्) रथचक्र के समान हम दोनों सम्मिलित होवें। वृहेव। वृह, उद्यमे। ७।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयम् तेन विवृह रथ्येव चक्रा। ८।

यम कहता है। ऐ यमि! देख (देवानाम्+ये+स्पशः+इह+चरन्ति) देवों के जो ये सूर्य, चन्द्र, अहोरात्र आदिक दूत यहाँ विचरते हैं (एते+न+तिष्ठति+न+निमिषन्ति) ये न कहीं एक स्थान में खड़े होते और न पलक लेते अर्थात् न किसी समय नयन बन्द करते हैं। अर्थात् ये दूत प्रतिक्षण प्राणियों के शुभाशुभकर्मों को देखते रहते हैं। अतः (आहनः) ऐ मेरे शुभकर्मनाश करने हारी यमि! तू (मद्+अन्येन्+तूयम्+याहि) मुझसे किसी अन्यपुरुष से शीघ्र जा संगम कर अर्थात् मुझको त्याग किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह कर। (रथ्या+चक्रा+इव+वि+वृह) रथ चक्र के समान दोनों मिलकर उद्यम करो। ८।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि। ९।

यमी कहती है। (रात्रीभिः+अहभिः) रात्रियों और दिनों के साथ सूर्यस्य+चक्षुः) सूर्य की आँख (अस्मे+दशस्येत्) इस यम को कुशल दान देवे और (मुहुः+उन्मिमीयात्) बारम्बार यम के निकट उदित होवे (दिवापृथिव्या+मिथुना+सबन्धू) द्युलोक और पृथिवी ये युगल जोड़ी समान बन्धु बने रहें (यमीः+यमस्य+अजामि+विभ्रियात्) यम के अभ्रातृयोग्य अर्थात् पति योग्य कार्य को यमी धारण करे। भाव इसका यह है कि यम जो-जो दोष दिखलाता है। उस पर यमी कहती है ऐ यम! यदि तू दोष देख रहा है तो सब अपराध मुझ में आवें तू निर्दोष रह। मैं आशीर्वाद करती हूँ कि तुझ से तेरा पिता सूर्य लज्जित न हो! पृथिवी और द्युलोक लज्जित न हों एवं तू मत घबड़ा। मैं तेरा अजामित्व का ग्रहण करती हूँ जामि=भ्राता भगिनी। अजामि= अभ्राता। अर्थात् इस समय से तुझ को भ्राता न समझ मैं अपना पति समझूंगी तू मत डर। जो दोष होगा वह मेरा। ९।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि।
उप ब्रर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। १०।

यम कहता है। (ता+उत्तरा+युगानि+आ+गच्छान्+व) वे उत्तर युग आवेंगे।

(यत्र+जामयः+अजामि+कृण्वन्) जब बहिनें भ्राता को अजामि अर्थात् पति बनावेंगी (सुभगे+मत्+अन्यम्+पतिम्+इच्छस्व) इस कारण हे यमि! तू मुझ को त्याग अन्य पति की इच्छाकर तब (वृषभाय+बाहुम्+उपबर्बृहि) उस स्वामी के लिए निज बाहु का उपबर्हण अर्थात् तकिया बना। १०।

किं भ्राताऽसद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि। ११।

यमी कहती है रे यम! (भ्राता+किम्+असत्) वह क्या भाई है? अर्थात् वह भाई नहीं। (यत्) जिसके रहते हुए (अनाथम्+भवाति) भगिनी आदि अनाथवत् हो जाती है। और (किम्+उ+स्वसा) वह बहिन क्या है? (यद्+निर्ऋतिः+निगच्छतात्) जिस बहिन के रहते हुए भाई को दुःख प्राप्त हो इस हेतु इन दोनों में किसी उपाय से अवश्य प्रीति होनी चाहिये। (काममूता+बहु+एतद्+रपामि) रे यम! इस कारण मैं कामाभिभूता, काममूर्च्छिता होके यह सब बकती हूँ (मे+तन्वा+तन्वम्+संपिपृग्धि) इस हेतु मेरे शरीर के साथ तू अपना शरीर संमिलित कर। ११।

न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्याम् पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्। १२।

यम कहता है। हे यमि! (ते+तन्वा+तन्वम्+न+वै+संपपृच्याम्) तेरे तनू के साथ मैं अपने तनू का कभी भी संसर्ग न करूँगा क्योंकि (यः+स्वसारम्+नि-गच्छात्) जो अधम पुरुष भगिनी से संगम करता है उसको (पापम्+आहुः) सब कोई पापिष्ठ कहते हैं। यह जान (भद्+अन्येन+मुदः+कल्पयस्व) मुझे छोड़ किसी अन्य पुरुष के साथ मोद प्रमोद कर (सुभगे+ते+भ्राता+एतत्+न+वष्टि) ऐ यमि! तेरा भ्राता यह अकर्म करना नहीं चाहता। प्रमुदः=प्रहर्ष, आनन्द। १२।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तम्।
परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। १३।

(वत+वतः+असि) रे यम! बहुत खेद की बात है। तू बहुत दुर्बल पुरुष है। (यम+ते+मनः+हृदयम्+न+एव+अविदाम) यम! मेरा मन और हृदय मैं नहीं जानती (किल+अन्या+त्वाम्+परि-स्वजाते) निश्चय, अन्य कोई स्त्री तुझ को आलिङ्गन करेगी। यहाँ दृष्टान्त देते हैं। (कक्ष्या+युक्तम्+इव) जैसे रस्सी बद्ध घोड़े में दृढ़तया लिपट जाती है (लिबुजा+वृक्षम+इव) जैसे लता

निकटस्थ वृक्ष में लिपट जाती है तद्वत् कोई अन्य स्त्री तुझ में लिपटेगी। मेरा भाग्य नहीं। १३।

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वाम्—
परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाऽ—
धाकृणुष्व संविदं सुभद्राम्। १४।

पुनः यम कहता है। (यमि+अन्यम्+ऊ+सु+त्वं) हे यमि! अन्य ही पुरुष में लिपट (त्वाम्+उ+परि+स्वजाते) और अन्य ही पुरुष तुझ में लिपटे (लिबुजा+वृक्षाम्+इव) जैसे लता वृक्ष में चिपकती है तद्वत् तू किसी अन्य पुरुष के साथ संसर्ग कर। (तस्य+मनः+त्वम्+वा+इच्छ) उसके मन की तू इच्छा कर अर्थात् तू उसकी वशवर्त्तिनी हो (स+वा+तव) और वह तेरी कामना करे अर्थात् तेरा वशवती हो। (अप+सुभद्राम्+संविदम्+कृणुष्व) इस प्रकार तदनन्तर सुन्दर संभोग कर। १४।

सूर्य-ब्रह्मवादिनी। ३४।

यह देवी वैवाहिक मन्त्रों की प्रचारिका थी। यह ऋग्वेद दशम मण्डल के सम्पूर्ण ८५ वें सूक्त की ऋषिका है। यह वैवाहिक सूक्त है।[१] इस सूक्त में ४७ ऋचाएँ हैं। प्रथम कई एक ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यपुत्री सूर्या के विवाह का वर्णन है। अतएव इस सूक्त की प्रचारिका का नाम सावित्री सूर्या है। इस आकाशस्थ दृश्यमान चन्द्रमा में स्वतः प्रकाश नहीं है। सूर्य से ही यह प्रकाशित है। पृथिवी की छाया के कारण पृथिवीस्थ हम मनुष्यों को चन्द्रमा घटता बढ़ता प्रतीत होता है। यथार्थ में तो चन्द्रमा बढ़ता और न घटता। चन्द्र में जो सूर्य की प्रभा पड़ती है। यही सूर्या के साथ चन्द्र का विवाह कहाता है। यह आलङ्कारिक वर्णन है। यहाँ इसलिये दिखलाया गया है कि यह संसार परस्पर सहायक है। और जैसे सूर्य की प्रभारूपा कन्या को पाकर चन्द्र सुशोभित है यदि सूर्य की प्रभा चन्द्र पर न पड़े तो यह सदा महामलिन दीख पड़े। तद्वत् स्त्री के बिना पुरुष की शोभा नहीं। एवं पत्नीरहित पुरुष दो चार महापुरुषों को छोड़ प्रायः मलिन हो जाता है। दुराचार के सेवन से केवल शरीर ही नहीं किन्तु अन्तःकण भी अति मलिन हो जाता है। और जो निज धर्म पत्नी के साथ सदा विद्यमान रहता है। वह चन्द्र के समान स्वयं उज्ज्वल हो लोगों के मन को भी प्रसन्न रखता है। इत्यादि अनेक भावों के प्रदर्शनार्थ प्रथम सूर्या के

---

१. अथर्ववेद का सम्पूर्ण चतुर्दश काण्ड विवाह सम्बन्धी विधि का वर्णन करता है।

विवाह का निरूपण आया है। जैसे दिन का अधिपति सूर्य और रात्रि का चन्द्र है। अत: ये दोनों तुल्य हैं इससे यह दिखलाया है कि सम्बन्ध तुल्य में हो। विशेष कर जहाँ तक हो कन्या उच्च और उज्जवल कुल में दी जाये। मैं यहाँ सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ नहीं करूँगा। इनमें से कतिपय ऋचाएँ चुनकर अर्थ सहित लिखता हूँ।

१—सोमो वधूयुरभवदश्विनाऽऽस्तामुभा वरा।
सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्। १०.८५.९।

(सोमः+वधूयुः+अभवत्) चन्द्र वधू की कामना वाला हुआ। (उभा+अश्विनी+वरा+आस्ताम्) दोनों अश्विदेव भी वर हुए। (यद+पत्ये+शसन्तीम्) और जब पति की कामनावाली सूर्या हुई तब उसको (सविता+मनसा+अददात्) सूर्य ने मन से चन्द्रमा को समर्पित किया। यह सब आलङ्कारिक वर्णन है। इस द्यावापृथिवी का भी नाम अश्वी है। मानो सूर्या के विवाह में चन्द्रमा और द्यावापृथिवीस्थ सब देव सम्मिलित हुए। परन्तु चन्द्र के साथ ही इसका विवाह हुआ। इससे इन बातों की शिक्षाएँ मिलती हैं—जब पुरुष सोमवत् प्रिय और वधूकाम हो अर्थात् वधू की इच्छा करता हो तो विवाह होना चाहिये। इससे बाल्यविवाह का सर्वथा खण्डन होता है क्योंकि बालक इस भेद को जानता ही नहीं। एवं कन्या भी पति की इच्छा करती हो। यह भी बाल्यावस्था के विवाह का निषेध करता है। एवं स्वयम्बर में अनेक वर एकत्रित हों उनमें से कन्या किसी एक को चुने। १।

२—मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्। १०।

(यद्+सूर्या+गृहम्+अयात्) जब सूर्या पतिगृह को चली तब (अस्याः+मनः+आसीत्) इसके चढ़ने के लिये मनोवेगवत् शकट था। (उत+द्यौः+छदिः+आसीत्) उस शकट का द्युलोक आच्छादन था। (शुक्रौ+अनड्वाहौ+आस्ताम्) दो शुद्ध श्वेत वृषभ थे। इससे यह दिखलाया है कि यथा योग्य सवारी पर बिठला कन्या को सत्कार पूर्वक पति के साथ विदा करे। २।

३—सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता य मवासृजत्। १३।

कन्या के लिए जो गौ, हिरण्य, वस्त्रादिक दान दिए जाते हैं उसे वहतु कहते हैं। (सूर्यायाः+वहतुः+प्र+अगात्) सूर्या के वहतु=दान पदार्थ भी इसके साथ चले (यम+सविता+अवासृजत्) जिस पदार्थ को सूर्य ने दिया था। इससे यह दर्शाया है कि कन्या को विविध पदार्थ देके विदा करे। ३।

४—सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं—
हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्—
स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व। २०।

(सूर्ये+आरोह) हे सूर्ये! रथ पर चढ़ो। जो (शुकिंशुकम्) जो सुन्दर किंशुक वृक्ष से निर्म्मित (शल्मलिम्) शल्मलि वृक्ष से निर्म्मित है अथवा सुन्दर वस्त्राच्छादित और मल रहित है (हिरण्यवर्णम्+सुवृतम्+सुचक्रम्) हिरण्यालङ्कार युक्त, सुगठित और सुचक्रोपेत है। हे सूर्ये (अमृतस्य+लोकम्+स्योनम्+पत्ये+बहुतम्+कृणुष्व) चन्द्रलोक को सुखकर बनाओ और पति के निर्मित दातव्य वस्तु को ले जाओ इससे भी कन्या को सत्कार पूर्वक विदा करे। यही दर्शाया है। ४। इत्यादि अलौकिक विवाह का वर्णन कर अब आगे दो चार बातें लौकिक लिखता हूँ।

५—इह प्रियं प्रजया ते समृध्यता—
मस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्व-
धा जिव्री विदथमावदाथः। २७।

हे वधू! (इह+प्रजया+ते+प्रियं+समृद्ध्यताम्) इस पति के गृह में प्रजासहित तेरी प्रियवस्तु की वृद्धि हो (अस्मिन्+गृहे+गार्हपत्याय जागृहि) इस गृह में गृह-पतित्व के लिए जागृत हो। (एना+पत्या+तन्वम्+संसृजस्व) इस पति के साथ निजतनू का संसर्ग करो। (अव+जिव्री+विदथम्+आ+वदाथः) तदनन्तर दोनों वृद्धावस्था पर्यन्त वेदनीय, ज्ञातव्य परमात्मा को लक्ष्य कर सदा वार्तालाप किया करो। ५। कोई वृद्धा धर्म्मिष्ठा स्त्री इस प्रकार वधू को शिक्षा देवे।

६—परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्व्या जाया विशते पतिम्। २९।
७—अश्रीरा तनूभवति रुशती पापयाऽमुया।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते। ३०।

शरीर के मल को शमुल कहते हैं। शरीर के मल से बिगड़े हुए वस्त्र को शामुल्य कहते हैं। हे वधू! (शामुल्यम्+परा+देहि) मैले वस्त्र को फेंक दो। अर्थात् कभी मलिन वस्त्र धारण न करो (ब्रह्मभ्यः+वसु+विभज) वेदपाठी पुरुषों को धन दो। (एषा+कृत्या+पद्वती+जाया+भूत्वा+पतिम्+विशते) फैलने

हारी बीमारी का नाम कृत्या है। मलिन रहने, मलिन वस्त्र धारण करने, प्रतिदिन स्नान न करने और आलस्ययुक्त होने आदि से विविध बीमारियाँ फैलती हैं। इस लिये वेद कहते हैं कि (एषा+कृत्या) यह मलिनता आदि व्याधि (पद्वती+जाया+भूत्वी) चलने हारी स्त्री होके (पद्वती+विशते) पति में प्रविष्ट हो जाती है अर्थात् स्त्री की मलिनता से केवल स्त्री ही नहीं किन्तु पति और गृह के अन्यान्य भी रोग ग्रस्त हो जाते हैं। अत: पति के कल्याणार्थ पत्नी को सदा स्वच्छ रहना चाहिये। ६। (तनू+अश्रीरा+भवति) इससे तनू अश्रीरा=अशोभिता होती है। (अमुया+पापया+रुशती) इस पापिनी व्याधि से शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है। रुशती=कान्ति। कोई-कोई स्वभाव दरिद्र पुरुष स्त्री के उतारे हुए वस्त्रों को धारण कर लेता। अत: आगे कहते हैं कि (यद्+पति+वध्व:+वाससा) यदि पति वधू के वस्त्र से (स्वम्+अङ्गम्+अभि+धित्सति) निज अङ्ग को ढांकना चाहता है तो उसका भी शरीर अश्रीर और रोग ग्रस्त होता है। ७।

८—गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्।
मया पत्या जरदष्टिर्यथास:। ३६।

(सौभगत्वाय+ते+हस्तम्+गृम्णामि) अयि वधू! सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ। (मया+पत्या+यथा+जरदष्टि:+अस:) मुझ पति के साथ ही आप वृद्धा होंगी। अर्थात् आज से मेरे साथ निवास कर वृद्धावस्थापर्यन्त आमोद प्रमोद के साथ जीवन व्यतीत करें। ८। इससे प्रतीत होता है कि विवाहकाल में परस्पर पाणिग्रहण करें।

९—इमां त्वमिन्द्रमीढ्व: सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि। ४५।
१०—सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु। ४६।

(इन्द्र+मीढ्व:) हे परमैश्वर्यसम्पन्न परमैश्वर्यदाता! परमात्मन्! हे अनन्त सम्पत्तियों को प्रजाओं में सींचने हारे परमपिता जगदीश! (त्वम्+इमाम्+सुपुत्राम्+सुभगाम्+कृणु) तू इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बना (अस्याम्+दश+पुत्रान्+आधेहि) इसके गर्भ में दश पुत्र स्थापित कर (पतिम्+एकादशम्+कृधि) पति को ग्यारहवें कर। अर्थात् इस स्त्री के १० उत्कृष्ट सन्तान और ग्यारहवाँ पति जैसे हो वैसा उपाय कर। ९। हे वधू! (श्वश्वुरे+सम्राज्ञी+भव) तू! अपने सद्व्यवहार से श्वशुर के ऊपर प्रभुत्व स्थापित कर।

(श्वश्रवाम्+सम्राज्ञी+भव) श्वसुर को शुश्रूषा से वश कर (ननान्दरि+सम्राज्ञी+भव) ननद के ऊपर राज्य कर (अदेवृषु+अधि+सम्राज्ञी) देवरों के ऊपर महाराज्ञी के समान शासन कर। १०।

इत्यादि विवाह सम्बन्धी मन्त्रों की उपदेशिका सावित्री सूर्या देवी थी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि पूर्ण सभ्यता की प्रचारिका स्त्री जाति हुई है। इति।

इन्द्राणी ब्रह्मवादिनी। ३५।

१०।८६ वें सूक्त की ऋषिका इन्द्राणी अवैदिक, अफल, और विस्तृत कर्मकाण्ड से घृणा और ज्ञान काण्ड से प्रीति रखती थी। यह वैदिक आशय को लेकर शिक्षा दिया करती कि ऐ मनुष्यो! बुद्धि ही सर्व श्रेष्ठ रत्न है। इसी के आश्रय में आओ। केवल अवैध कर्मकाण्ड में क्यों तुम बद्ध हुए हो। तुम वैदिक यज्ञों को त्याग निज कपोल कल्पित कर्मों को श्रेष्ठ मान सेवन कर रहे हो यह उचित नहीं। तुम सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि जड़ वस्तुओं को पुरोडाश देते हो। इससे क्या लाभ ? ये जड़ हैं। न तुम्हारी स्तुतियाँ सुन सकते और न तुम्हारे दिए हव्य कव्य ग्रहण कर सकते। जैसे पृथिवी, जल आदि प्रत्यक्ष जड़ दीखते और इनसे मनुष्य अपना-अपना कार्य लेता है तद्वत् इन सूर्य, चन्द्र नक्षत्र, वायु, मेघ, विद्युत्, आदिकों को समझो। इनसे तुम अपना कार्य लो। पुनः तुम सर्प, व्याघ्र, वृश्चिक, कपोत, नील कण्ठ, गृद्ध, खंजन, वृषभ, गौ, कुक्कुर, शृंगाल, वट, पीपल, तुलसी, गङ्गा, यमुना, समुद्र, हिमवान्, विन्ध्य आदि की पूजा करते हो यह भी तुम्हारा कर्म वेद-विरुद्ध है। एवं चन्द्र ग्रहण, अमावस्या, पूर्णिमा आदिक तिथियों को उत्तम और अन्यान्य तिथियों को निकृष्ट मानना भी अवैदिक है। और मृतकों के नाम पर पिण्डदान करना सर्वथा वेदविरुद्ध है। एवं तुममें से धनाढ्य पुरुष केवल नाम के लिए इस अग्नि में होम करता करवाता, यह स्वयं अज्ञानी, मूर्ख, निरक्षर है। केवल धन से सब को बद्ध करना चाहता है यह भी अनुचित है। ऐ धनाढ्य पुरुषो! तुम अपने धनपाशों से अनेक विद्वानों को भी फँसा व्यर्थ अवैदिक कर्मों को विस्तृत कर रहे हो। तुम्हारी शुभ इच्छा नहीं। मेरा यश मेरी कीर्त्ति गाई जाए। मैं बड़ा कर्मकाण्डी समझा जाऊँ। मुझे लोग सिद्ध मानें। मेरे निकट सहस्रों नर नारियाँ बद्धाञ्जलि हो खड़ी होवें। ऐसी-ऐसी नीच निकृष्ट इच्छा रखते हो। हे ऋत्विजो! वेद विहित ही कर्म करो। उन्हें क्यों व्यर्थ बढ़ा रहे हो। प्रातः काल से सायङ्काल तक तुम निरर्थक कर्मों को करते करवाते रहते हो। कहीं कुशों की इधर-उधर स्थापना में समय व्यतीत करते हो। कहीं कलशों में जल भरते-भरते तुम्हारा

अमूल्य समय जा रहा है। कहीं यज्ञियपात्र कपालों में पुरोडाश रखते-रखते इस अनर्घकाल को फैंक रहे हो। कहीं, स्रुवा, चमस, महावीर आदि की व्यर्थ विवेचना में उलझ जीवन खो रहे हो। ऐ मनुष्यो! बुद्धि की ओर आओ। देखो! लाभालाभ पर विचार करो। तुम नाना फल की आकाङ्क्षाओं से सुबद्ध हो अवैदिक कर्म में प्रवृत्त हो रहे हो। परमात्मा, परमपिता जगदीश को नहीं पहचानते। तुम हृदय में, सूर्य, चन्द्र, तारा में, इस नभोमण्डल में और इस आकाश पाताल में व्यापक पिता का दर्शन नहीं करते हो। हे यजत्रो! हे ऋत्विको! किसका यजन करते हो। अपने पिता की शरण में आओ। पिता ने अद्‌भुत ज्ञान दिया है। इस ज्ञान रूप प्रकाश से पिता की विभूतियाँ देखो। ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है। शतांश सहस्रांश भी अन्यत्र आनन्द नहीं। इत्यादि विविध प्रकार से बुद्धि बढ़ाने की शिक्षा इन्द्राणी ब्रह्मवादिनी दिया करती थी। इन्द्राणी नाम बुद्धि का है। जिस १०-८६ वें सूक्त में बुद्धि की प्रधानता है उसी सूक्त को लेके यह उपदेश दिया करती थी अतः इसका नाम इन्द्राणी है।

न तं विदाथ य इमा जजा नान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्‌थशासश्चरन्ति॥

१०।८२।७।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।

१।१६४।३९

वेद मनुष्यों की प्रवृत्ति देख अविहित और अफल कर्मों का इन ऋचाओं के द्वारा निषेध करते हैं। कहते हैं कि ''मनुष्य अपने परम पिता को नहीं जानता।'' कारण कि इन में अन्तर पड़ा हुआ है। अज्ञान से ये ढके हुए हैं। व्यर्थ बकने हारे इनमें अधिक हैं। किन्हीं अविहित उपायों से अपने-अपने प्राणों को तृप्त करते हैं और प्रजाओं में अपने को वैदिक प्रख्यात कर उनको लूटते हैं। परन्तु ये यथार्थ में वैदिक नहीं। वैदिकमन्यमान हो सर्वत्र विचरण कर रहे हैं। जिस परमात्मा में सब सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, द्युलोक आदि देव ओतप्रोत भाव स्थित हैं वही बुद्धि द्वारा, ज्ञेय, ध्येय, मन्तव्य, श्रोतव्य, विजिज्ञासितव्य एवं प्राप्य है। जो इसको नहीं पहचानता वह ऋग्वेद के ही अध्ययन से क्या लाभ उठा सकता। जो इस को जानता है, उसी में से सब फल प्राप्त होते हैं इसमें सन्देह नहीं कि वेद का यह कथन बहुत ही सत्य है। मनुष्य जाति जितनी अकर्म विधि में फँसती है, उतनी ज्ञान विज्ञान की ओर

नहीं आती। कर्म सुगम परन्तु ज्ञान कठिन और श्रमसाध्य है। धीरे-धीरे कर्मकाण्ड को यहाँ तक बढ़ाया कि यज्ञ के नाम पर यावत् पशु मारने लगे। गौ, अजा, घोड़ी आदि की भी हिंसा करने लगे। अपनी मनुष्य जाति को भी यज्ञ में मार वरुणादि देवों को प्रसन्न करने लगे। अभी तक भैरव, सूर्य, इन्द्र, काली, दुर्गा, चण्डी, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी, योगिनी, गङ्गा, समुद्र प्रभृति देव देवियों पर मार-मार कर कौन-कौन नहीं चढ़ाते हैं। अवैध कर्म में इतनी प्रवृत्ति क्यों? उत्तर कारण विस्पष्ट है। संसार में अज्ञानियों की संख्या अधिक है। कर्म प्रत्यक्ष रूप से भासित होते हैं और तत्काल फलप्रद प्रतीत होते हैं और ज्ञान अप्रत्यक्ष जैसे हैं। तुलसी, बिल्व और कमल के पत्र और फूलों से, एवं नाना प्रकार के बेला, चमेली, गेन्दा, प्रभृति कुसुमों से, अक्षत, धूप, दीप, नेवैद्य आदि सामग्रियों से, एवंविध अन्यान्य वस्तुओं से जो पूजा की जाती है, उसको लोग प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। एवं कण्ठी, तिलक, माला, छापा आदिक पदार्थों का धारण करना भी प्रत्यक्ष है। और जोर-जोर से राम-राम कृष्ण-कृष्ण, शिव-शिव, दुर्गे-दुर्गे पुकारना आदि कर्म भी प्रत्यक्ष है। परन्तु मन में ही ईश्वर का मनन करना, विविध शास्त्रीय सिद्धान्तों का रात्रिन्दिवा चिन्तन करना, ईश्वरीय विभूतियों को देख-देख के परमानन्द प्राप्त करना, सत्यपालन, सत्यभाषण, न्यायपरायणता, पापविमुखता, लोकोपकार, लोकहित-चिन्तन, लोकसुधार, शास्त्रप्रणयन आदि ज्ञान से बद्ध कर्म प्रायः अप्रत्यक्ष जैसे हैं। एक मनुष्य परमज्ञानी ईश्वर तत्त्ववित् है। परन्तु कर्म उतने ही करता जितने सन्ध्योपासनादि वेदविहित हैं। दूसरा ज्ञानशून्य है परन्तु प्रातःकाल से सायंकाल तक कभी, दो तीन घण्टे सूर्य के सम्मुख खड़ा होता, कभी, दो एक घण्टा सूर्य और पितरों को जल से तर्पण करता, कभी-कभी अशुद्ध सामग्रियाँ ले दो एक घण्टा अग्नि में आहुति डालता। कभी-कभी जोर-जोर से एक आध घण्टा पाठ वा रामादिक नाम उच्चारण करता इस प्रकार अहोरात्र व्यतीत करता है। और मिथ्या से, व्यभिचार से, अन्याय से, परधन हरण इत्यादि दुराचारों से भी नहीं डरता। अब विचारने की बात है कि सर्वसाधारण पुरुष इन दोनों में से किसको समझेंगे? उत्तर-निःसन्देह, इस कर्म्मी पुरुष को ही अति श्रेष्ठ मान इसकी पूजा तक करेंगे। अब आप देखें कि कर्म्मी को ऐसे कर्म करने में न कोई परिश्रम और न पुरुषार्थ है। परन्तु ज्ञानी को प्रत्येक ज्ञान सम्पादन में परिश्रम और पुरुषार्थ करना पड़ता है। जिस हेतु दीर्घदर्शी, विवेकी, जिज्ञासु, लाभालाभ विचारने हारे पुरुष बहुत न्यून हैं अतः मनुष्य में यह दशा प्राप्त है। यदि मनुष्य विचारे कि किस में चिरस्थायी और अधिक लाभ है और अमुक कर्म क्यों

कर्त्तव्य है ? तो आशु निर्णय हो जाये। धार्मिक कर्मों में मनुष्य विशेष रूप से सुस्त है। अमुक कर्म क्यों करें उनसे भी श्रेयस्कर उत्तम कर्म कोई है या नहीं ? इसको मनुष्य नहीं विचारता। देखो ! संसार का प्रत्येक कार्य ज्ञान से शासित होने पर लाभदायक हो रहा है। हल चलाना भी प्रथम ज्ञान ने ही सिखलाया। समय-समय पर बीज बोना ज्ञानियों ने बतलाया। मानसिक शास्त्रों को मननदेव ने विस्तृत किया। यावत् उच्च और महत्तम व्यवसायों को विवेकदेव ने ही आविर्भूत किया है। ज्ञान के सहस्रों कार्य सहस्रों वर्षो से अब तक विद्यमान हैं और लाखों मनुष्य उनसे लाभ उठा रहे हैं अत: ज्ञान सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि प्रत्येक दिन कुछ मनन करने में लगावे। जो अनुचित प्रतीत हो उसे छोड़ता जाये। अध्यात्म शक्ति को बढ़ावे। मौन होके तत्त्व की ही चिन्ता करे। व्यर्थ चिल्लाते रहना, व्यर्थ नाम रटना, व्यर्थ बारम्बार एक ही वस्तु का पाठ करना, एक ही मन्त्र को सदा जपना, ईदृग् कार्य शुभाभिलाषी विवेकी पुरुषों से सर्वथा त्याज्य हैं। मननादि व्यापार द्वारा यदि अपने समय को दो चार वर्ष भी ज्ञान में लगावे तो यह पुरुष अवश्य सत्य के मार्ग पर आ सकता है। ईदृग् ज्ञान काण्ड का इन्द्राणी उपदेश दिया करती। जिस कारण इन्द्राणी शब्दार्थ ही बुद्धि है अत: बुद्धि के अभ्युदयार्थ शिक्षा करनी इन्द्राणी के लिए परमोचित ही था। अब यह जिस सूक्त का प्रचार करती थी। उसको लोगों ने क्या-क्या समझा है इस पर कुछ लिख सूक्तार्थ लिखूँगा। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त कहते हैं कि—

''वृषाकपिर प्रकरण एक टी दुरूह अंश। यदि एरूप ज्ञान करा जाये, जे वृषाकपि एक जातीय वानर, एकदा ऐ वानर कौन यजमानेर यज्ञसामग्री उच्छिष्ट करिया नष्ट करिया छिल। यजमान ऐ रूप कल्पना करिल, जे ऐ वानर इन्द्रेरपुत्र, सेइ निमित इन्द्र उहार धृष्टता निवारण करिलेन ना। कवि सेई कल्पनार ऊपर इन्द्रेर उक्ति ओ इन्द्राणीर कथा इत्यादि रचना करिलेन। इह प्रकार ज्ञान करिले वृषाकपिर सूक्तेर प्रायः सर्वांशे व्याख्यात हय। ऐ सूक्ति री बोध हय अपेक्षाकृत आधुनिकः।''

श्रीयुत् ग्रिफिथ महाशय इस सूक्त की टिप्पणिका में मिस्टर वरगेन, विलसन, प्रोफेसर गेल्डनर आदिकों की सम्मतियाँ दिखलाते गये हैं। अन्त में यह सम्मति प्रकाशित करते हैं—

Much of this hymn appears to be inexplicable M.Bergaigne thinks that Vrishakapi, Indra's friend, represents Soma, and Indrani, the wife of Indra represents prayar. "This bizarre myth

would symbolize the frequently expressed idea that Indra loves neither the sacred beverge without prayer, nor prayer without the sacred beverage. He wishes, therefore, his union with prayer to be accompained by the union of prayer with Soma and neglects sacrifice as long as this union of the two essential elements of worship remains unaccomplished'—See-La Religion Vedique II, 270-217

प्रोफेसर गेलडनर ने (Professor Geldner) अपने वैदिक स्टूडियेन (Vedische studien) नाम के ग्रन्थ के द्वितीय भाग पृष्ठ २२-४२ में विस्तारपूर्वक इस सूक्त पर वादानुवाद किया है और सबसे विलक्षण व्याख्यान और अर्थ दिखलाया है। ओलडेनवर्ग ने (Oldenberg) अपने "रिलिजन डेस वेद" (Religion des Veda) पृष्ठ १७२-१७४ में इस पर विवाद किया है। महाशय बरगेन (Bergiagne) की सम्मति से सोम का नाम वृषाकपि। प्रार्थना का नाम इन्द्राणी। इन्द्र केवल सोम वा केवल प्रार्थना पसन्द नहीं करता किन्तु सोम और प्रार्थना दोनों की इच्छा करता है। यह सूक्ताशय है। इसमें सन्देह नहीं कि महाशय बरगेन वेद के समीप पहुँचते हैं। सायण कहते हैं कि वृषाकपि इन्द्र का पुत्र है। इन्द्राणी इन्द्र की स्त्री है। इन्द्र को अहोरात्र वृषाकपि के लालन-पालन में ही आसक्त देख और अपने में प्रेम की न्यूनता जान इन्द्राणी रुष्टा होके इन्द्र से कहती है कि आपका व्यापार मुझको पसन्द नहीं मैं वृषाकपि को खा जाऊँगी। इत्यादि। इस प्रकार अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से इस सूक्त की व्याख्या करते हैं।

परन्तु इस सूक्त का आशय दुर्बोध अैर दुरूह नहीं। व्यर्थ ही आचार्यों ने इसको दुर्बोध बना रखा है इसमें इन्द्र, इन्द्राणी, वृषाकपि इन तीन शब्दों के अर्थ ज्ञातव्य हैं। उतने से ही अर्थ भासित हो जाता है।

इन्द्रशब्दार्थ—मैं पूर्व में लिख आया हूँ कि ऐसे-ऐसे स्थल में इन्द्र नाम जीवात्मा और परमात्मा का है। यद्यपि मैं इसको विस्तार से इन्द्र प्रकरण में दिखलाऊँगा तथापि यहाँ दो चार हेतु देता हूँ जिससे विदित होगा कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है। क—इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति से ही प्रतीत होता है कि इन्द्र शब्द जीवात्मा वाचक है। क्योंकि इन्द्रिय शब्दार्थ इन्द्रलिंग अर्थात् इन्द्र चिह्न है। इन्द्र शब्द से ही घ प्रत्यय हो के इन्द्रिय बनता है। यथा—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।
५।२।९३।

इस सूत्र के अनुसार इन्द्रिय शब्द के अर्थ १—इन्द्रलिङ्ग, २—इन्द्रदृष्ट,

३—इन्द्रसृष्ट, ४—इन्द्रजुष्ट और ५—इन्द्रदत्त ये पाँच हैं। ''इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गम् इन्द्रियं। करणेन रनुमानात इन्द्रेण दृष्टम् इन्द्रेण सृष्टम् इन्द्रेणाजुष्टम् इन्द्रेण दत्तम्।'' १—एक इन्द्रलिङ्ग=यह भाव है कि इन्द्र जो जीवात्मा उसका जो लिङ्ग अर्थात् चिह्न उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों से जीवात्मा का बोध होता है। अर्थात् इन्द्रियों का इन्द्रिय नाम ही इस हेतु है कि जिनसे इन्द्र जो जीवात्मा है उसका अनुमान हो अत: इससे सिद्ध है कि जीवात्मा का नाम इन्द्र है। २—इन्द्र दृष्ट=यदि जीवात्मा इसको न देखे तो जड़ इन्द्रिय क्या कर सकते हैं। ३—इन्द्रसृष्ट जीवात्मा ही इसको उत्पन्न करता है। क्योंकि जीवात्मा के संक्षेप से ही शरीर में इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ४=इन्द्रजुष्ट इन्द्र सेवित और ५=इन्द्रदत्त का अर्थ समझिये। ख—शतक्रतु मधवा आदि नामों से भी प्रतीत होता है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है। वेद में क्रतु नाम शुभयज्ञादि कर्म का है। शत् वर्ष आयु ही, मानो, १०० एक सौ यज्ञ हैं। जिस जीवात्मा के आयु के एक सौ वर्ष शुद्धता पूर्वक बीतते हैं वही यथार्थ में इन्द्र है। शतक्रतु का शत शब्द ही दर्शा रहा है कि मनुष्य शरीर सम्बन्धी जीवात्मा का नाम इन्द्र है। ग—इन्द्र के साथी ४९ वायु हैं। वायु वा मरुत् नाम प्राण का है। नयनद्वय, कर्णद्वय, घ्राणद्वय और जिह्वा ये ही सात प्राण हैं। इसी को ७ गुणा ॐ परस्पर गुणित कर ४९ मरुत् कहे गये हैं। क्योंकि जीवात्मा के संयोग से इन्द्रिय अति प्रबल हो जाते हैं अत: इस संख्याको परस्पर गुणित किया है। मरुतों की यह संख्या सिद्ध करती है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का है। अत: मरुत्वान् आदि नाम इन्द्र के होते हैं। घ—वृत्र, नमुचि, शम्बर आदि का संग्राम भी इसी अर्थ का सूचक है। क्योंकि लिखा है कि वृत्रादि शत्रुओं को मार इन्द्र सप्त नदियों को बहाता है। नयनद्वय आदि ही सप्त नदियाँ हैं। ङ—इन्द्र की स्त्री का नाम शची है। शची नाम कर्म का है निघण्टु देखो। क्रिया का सम्पादक जीवात्मा है अत: यह क्रिया का स्वामी कहलाता है। च—वेदों में पुन:-पुन: उक्त है कि इन्द्र यज्ञ में सोम पान कर बलिष्ठ होता है। और तदनन्तर शत्रुओं को संग्राम में खूब काटा करता है। ठीक है। जीवात्मा ही शुभ कर्मों के सेवन से बलिष्ठ हो दुराचाररूप असुरों को आहत किया करता है। इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवात्मा का ही नाम इन्द्र है। परमात्मा का तो यह नाम प्रसिद्ध है ही।

इन्द्राणी—बुद्धि ही जीवात्मा की स्त्री है बुद्धि ही इसको सुख देती है। अत: बुद्धि का स्वामी इन्द्र कहाता है। अत: यहाँ बुद्धि का नाम इन्द्राणी है।

वृषाकपि—इसका अर्थ अवैदिक कर्म वा यज्ञ है क्योंकि ''हरो विष्णुर्वृषाकपि: विष्णु का नाम वृषाकपि है। परन्तु वेद में विष्णु शब्द बहुधा

यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है। शतपथादि ब्राह्मणों में "यज्ञो वै विष्णुः" "विष्णु र्वै यज्ञः" ऐसा पाठ बहुत आता है। यह वृषाकपि शब्द इस १०।८६ वें सूक्त को छोड़ वेदों में अन्यत्र कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। अथर्व वेद के २०।१२६ में ज्यों का त्यों ऋग्वेदीय १०।८६ वाँ सूक्त है। ऋग् १०।८६।१३ में वृषाकपायी शब्द आया है। यह शब्द वृषाकप्यग्नि कुसित कुसिदानामुदात्तः ४।१।३७ इस सूत्र से सिद्ध होता है। वृषाकपि शब्द के अनेक काल्पनिक अर्थ करते हैं। वे ये हैं "**वृषंधर्मं न कम्पयतीति वा। वृषाद्धर्म्मादाकम्पयति दुष्टान इति वा। वर्षति कामानिति वृषः। आकम्पयति पापानीति आकपिः वृषश्चासावाकपिश्चेति वा। वृषो धर्म्मो वृषा इन्द्रो वा कपिरिव वशो यस्येति वा**" इत्यादि अनेक अर्थ वृषाकपि शब्द के ऊपर अमरकोश के भाष्य में भानुजी दीक्षित ने दिए हैं। वेदों के तत्त्वों के न जानने के कारण ऐसे-ऐसे अर्थ किये गये हैं। इसका वास्तविक अर्थ अवैदिक यज्ञ है। मैं अभी दिखला चुका हूँ कि यह शब्द इसी सूक्त में प्रयुक्त हुआ है अन्यत्र नहीं। अतः इसके अर्थ का निर्णय इसी सूक्त के अर्थ पर निर्भर है। वृष नाम बैल का है और कपि का नाम वानर का है। अभी कह चुका हूँ कि इस सूक्त में कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है। इसलिये यह निन्दापरक नाम है। अवैदिक कर्मकाण्डी बैल के समान चिल्ला-चिल्ला कर मन्त्र पढ़ते और वानर के समान इधर से उधर उठते बैठते रहते हैं। इस कारण कर्म का निन्दापरक नाम वृषाकपि है। अथवा जैसे वृष और वानर दोनों अज्ञानी पशु हैं वैसे ही कर्मकाण्डी यजमान और ऋत्विक् होते हैं। क्योंकि आज भी देखते हैं कि कर्म करने हारे अपने अभीष्ट ग्रन्थों का अर्थ नहीं जानते। मोटा ताजा यजमान वृष के समान है और ऋत्विक् गण, मानो वानर के समान है। क्योंकि यजमान धन की वर्षा करता है और ऋत्विक् उन्हें लेते हैं। जैसे पशु अविचारपूर्वक कर्म करते हैं तद्वत् ज्ञान शत्रु कर्मकाण्डी अज्ञानपूर्वक कर्म करते हैं। क्या यह लीला भारत में पूर्वसमय नहीं थी ? और क्या अब नहीं है वेद मनुष्य स्वभाव के प्रदर्शक हैं। अभी तक भारत में ऐसे भी शतशः अज्ञानी हैं कि जो दिनभर तर्पण ही करते रहते हैं अथवा दुर्गापाठ के किसी एक ही श्लोक को व्यर्थ जपते रहते हैं। सप्तशती का एक मास में ३०० तीन सौ बार पाठ कर जाते हैं। किसी-किसी का यह दृढ़ नियम है कि जब तक दुर्गा पाठ न कर लूँगा तब तक अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा। भला इनमें तो श्लोक के कण्ठस्थ होने का किञ्चित लाभ भी है परन्तु जो मिट्टी के सहस्त्रों पार्थिवलिङ्ग बना-बना के दिनभर पूजते रहते हैं उन्हें क्या लाभ एवं जो गोमुखी में हाथ डाल जपते रहते हैं, न तो इनका मन

स्थिर है और न बुद्धि। अतः लोक में देखा जाता है कि यथार्थ में ऐसे कर्मकाण्डी पशु से किञ्चित न्यून नहीं है। अतः वेद ऐसे अवैदिक अफल व्यर्थ का नाम वृषाकपि रखते हैं। इसके विशेषण में केवल कपि पद भी १०।८९।५ वें आया है। अतः सिद्ध है कि निन्दासूचक पशुवाचक शब्द का ही यहाँ प्रयोग किया गया है।

जिस कारण ऐसा कर्म भी यह जीवात्मा करता है। अतः मानो, इन्द्र (जीवात्मा) का यह पुत्र है। जब जीव का पुत्र यह हुआ तब जीवात्मा की पत्नी जो बुद्धि है मानो उसका भी यह पुत्र कहावेगा। परन्तु बुद्धि ऐसे पुत्र को पसन्द नहीं करती। और बुद्धि कहती है कि मैं इसको खा जाऊँगी। इसके लिए मैं सुखकारिणी न रहूँगी। इसको कुत्ता खा जाये। इसको व्याघ्रादि कान पकड़ कर निगल जायें। इत्यादि। अब सूक्तार्थ देखिये।

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्र देवममंसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। १०.८६.१

बुद्धिदेवी इन्द्राणी कहती है कि हे मनुष्यो! (सोतोः) वैदिक अभिषव अर्थात् वैदिक यज्ञ करने के लिए (वि+असृक्षत) मनुष्य विशेष प्रयत्न से सृष्ट हुए हैं (हि) इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह न करो। परन्तु शोक की बात है कि (इन्द्रम्+न+अमंसत) उस यज्ञ में याज्ञिक पुरुष परमात्मा और जीवात्मा को नहीं मानते अर्थात् ये अपने क्रियमाण कर्म से दिखला रहे हैं कार्मिक आर्त्त्विर्जान पुरुष ईश्वर और जीव को न मानते और न इनके विषय में मनन ही करते है। क्योंकि (यत्र) जहाँ (वृषाकपिः+अमदत्) अवैदिक कर्मदेव आनन्दित हो रहा है (पुष्टेषु+अर्यः) जो पुष्टों में पूजित होता है अर्थात् आँख के अन्धे और गांठ के पूरे अज्ञानीजन जिसका सत्कार कर रहे हैं (मत्सखा) यह भी मेरा ही सखा है। अर्थात् यह भी मुझ बुद्धि का ही दोष है कि ऐसे अवैदिक कर्मदेव की भी पूजा होती है। ऐ मनुष्यो! देखो! (इन्द्रः+विश्वस्मात्+उत्तरः) यह परमात्मा और जीवात्मा सबसे श्रेष्ठ हैं। परमात्मा की उपासना पूजा और दोनों आत्माओं की विभूतियाँ चारों तरफ देखो। व्यर्थ कर्म को छोड़ जिस लिये तुम सृष्ट हुए हो। उसी को करो। सोतोः=षुञ्, अभिषदे बना है। १।

वेद प्रायः रूपकालङ्कार में वर्णन करते हैं। तदनुसार समझो कि अवैदिक कर्मदेव वृषाकपि नाम का एक चेतनदेव है। बुद्धि एक इन्द्राणी नाम की स्त्री है। और परमात्मा और जीवात्मा इन्द्र नाम का पुरुष है। इन तीनों में परस्पर सम्वाद हो रहा है।

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये ।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । २ ।

परमात्मा सर्व कर्मों में प्राप्त होता है और जिस किसी भाव से जहाँ कहीं कर्म किये जायें उनका फल भी देता है। एवं ये जीवात्मा भी इन अवैदिक कर्मों के अनुरक्त दीख पड़ते हैं। यह सब मनमें विचार इन्द्राणी बुद्धिदेवी इन्द्र अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा से निवेदन करती है। (इन्द्र+अतिव्यथिः) हे इन्द्र! आप तो अति व्याकुल होके (वृषाकपेः+हि+परा+धावसि) वृषा कपि की ही ओर दौड़े जा रहे हैं। (अन्यत्र+सोमपीतये+नो+अह+प्रविन्दसि) अन्यत्र वैदिक ज्ञान यज्ञ उपासकों के भाव ग्रहणार्थ आप नहीं जाते। (इन्द्र+विश्वस्मात्+उत्तरः) इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। देखते हैं कि भूत प्रेत, जड़ादिकों की उपासना में ये जीव अधिक फँसे हुए हैं। वैदिक शुभकर्मों में तो विरले ही जीव प्रवृत्त हैं। अतएव इन्द्राणी कहती है कि हे इन्द्र! इत्यादि। २।

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्व र्यो वा पुष्टिवद्वसु।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । ३ ।

(अयम्+हरितः+मृगः+वृषाकपिः) हे इन्द्र! इस हरा मृग वृषाकपि ने (त्वाम्+किम्+चकार) आपको क्या किया है अर्थात् उसने आपको कौन सा सुख पहुँचाया है (यस्मै+अर्यः+वा+पुष्टिमत्+वसु) जिसको आप परम उदार धनाढ्य पुरुष के समान हो पुष्टिमान् धन (इरस्यसि+इत्+उ+नु) देते ही चले जाते हैं। (विश्वस्मात्+इन्द्र+उत्तरः) इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है। ३।

हरितमृग—जैसे हरिण नाना वर्णो से चित्र विचित्र रंग और पुष्ट जंगल में चर के पुष्ट हरा भरा दीखता है वैसे ही अवैदिक कर्म दीख पड़ता है। कहीं बड़े-बड़े कलश, कहीं कपालों के ढेर, कहीं अन्न वस्त्रों की राशियाँ कहीं कुछ कहीं कुछ। अतः इसको हरितमृग कहा है। ऐसे कर्म अज्ञानी धनाढ्य ही करता है अतः कहा गया है कि इन्द्र इसको बहुत धन देता है। ३।

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि।
श्वान्वस्य जंभिषदपि कर्णे वराहयुः विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । ४ ।

(इन्द्र+त्वम्+यम्+इमम्+वृषाकपिम्+प्रियम्+अभिरक्षसि) हे इन्द्र! आप जिस कपि को निज प्रिय जान रक्षा करते है (अस्य+नु+श्वा+जंभिषद्) इसको शीघ्र कुत्ता खा जाये। (अपि+वराहयुः+कर्णे) और शूकर को भी मारने हारा

व्याघ्रादि पशु इसके कान पकड़ के खा जाये। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) व्यर्थ कर्म को करते हुए पुरुषों को देख ज्ञानी को अवश्य क्रोध होता है। अतः बुद्धि क्रुद्धा होके ऐसी बातें कहती है। ४।

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवम्
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।५।

(कपिः+मे+तष्टानि+व्यक्ता+प्रिया+वि+अदूदुषत्) हे इन्द्र! यह वानर मेरी सुरचित व्यक्त और परम प्रिय वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से दूषित कर देता है। यह ऐसा शैतान है। (नु+अस्य+शिरः+राविषम्) शीघ्र मैं इसका शिर ले लूंगी। (दुष्कृते+सुगम्+न+भुवम्) इस दुष्कर्म्मी पापिष्ठ के लिए मैं कभी सुखदात्री न होऊँगी (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) देखा जाता है कि अज्ञानी कर्मकाण्डी ज्ञान से द्वेष रखते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति अधिकतर कर्म में है। अतः ज्ञानी पुरुषों की बातें शीघ्र प्रचलित होने नहीं पाती। लोककल्याणार्थ जो कुछ ज्ञानी विचारता है उसको अज्ञानी नष्ट कर देते हैं। जैसे बुद्धदेव के लाभदायक उपदेशों से यहाँ के लोग वंचित रहे अभी तक दयानन्द शिक्षाओं को ग्रहण नहीं करते। ५।

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।६।

अब बुद्धि शोक करती है कि क्या कारण है कि ये जीवात्मा मुझ से प्रीति नहीं करते मैं सब प्रकार से प्रिय स्वामी आत्मा को सुख पहुँचाती हूँ। फिर मेरा स्वामी यह जीव मुझ में अनुरक्त क्यों नहीं? (मत्+सुभसत्तरा+स्त्री+न) मुझ से बढ़ के जगत् में सौभाग्यवती स्त्री कोई नहीं (सुयाशुतरा+न+भुवत्) और न अतिशय सुखदात्री ही कोई स्त्री मुझ से बढ़ के (मत्+प्रति+च्यवीयसी+न) मुझ से बढ़ के कोई दुःखविनाशयित्री नहीं। (सक्थि+उद्यमीयसी+न) और मुझ से बढ़ के पुरुष को ऊपर उठाने हारी कोई स्त्री नहीं। पुनः मुझ में यह जीव, अनुरक्त क्यों नहीं? इस प्रकार संसार में दुष्कर्म्मो को देख बुद्धि विलाप करती है। (विश्वस्मात्०)। ६।

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।७।

यह सुन वृषाकपि कहता है। (उवे+अम्बा+सुलाभिके) ऐ माता! ऐ

सुलाभदात्रि माता! यह कर्म भी आप की ही कृपा से होता है। यदि आप का थोड़ा भी अनुग्रह हो तो पशुवत् कोई कर्म न करेगा। अतः (अंग+यथा+इव+भविष्यति) हे माता! आप जैसा कहती हैं वैसा ही होगा। (अम्ब+मे+सक्थि+भसत्) मेरी जांघ खाली जाये जिससे मैं न चल सकूँ (मे+शिरः) मेरा शिर भी खा लिया जाये। (मे+वि+हृष्यति+इव) हे माता! मेरा हृदय इसमें प्रसन्न हो रहा है (विश्वस्माद्०) मेरा पिता इन्द्र सब में श्रेष्ठ है। भाव यह है कि यदि बुद्धि चाहे कि अवैदिक कर्म जगत् में न रहने पावे तो नहीं रह सकता।७।

कि सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिम्
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।८।

इन्द्राणी को क्रुद्धा देख इन्द्र कहता है। (सुबाहो+स्वङ्गुरे+पृथुष्टो+पृथुजाघने) हे शोभन बाहुलतिके! हे सुन्दराङ्गुलिके हे भूषिते केशपाशे! हे पृथुजघने! (शूरपत्नि) हे वीरपत्नि! (किम्+किम्+त्वम्+नः+वृषाकपिम्+अमीषि) क्यों-क्यों आप हमारे प्रिय वृषाकपि के ऊपर क्रोध कर रही हैं। (विश्वस्मात्+इन्द्रः+उत्तरः) जिसका पिता इन्द्र सर्वश्रेष्ठ विद्यमान है उस पर आप क्यों क्रोध कर रही हैं। यह सब आलङ्कारिक वर्णन है। बुद्धि को सुन्दर प्रिया मान ऐसा निरूपण किया गया है।८।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।९।

पुनः इन्द्राणी कहती है। (अयम्+शरारुः) यह धातुक कपि (माम्+अवीराम्+इव+अभि+मन्यते) मुझ को अवीरा के समान समझता है। (उत+अहम्+वीरिणी+इन्द्रपत्नी+मरुत्सखा+अस्मि) परन्तु मैं सुवीरा, इन्द्रपत्नी और मरुद्गणों से संयुक्ता हूँ (विश्वस्मादिन्द्र उत्तर)।९।

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।१०।

पुनः इन्द्राणी कहती है कि (नारी) यह इन्द्राणी नारी (पुरा+संहोत्रम्+समनम्+वा+अवगच्छति+स्म) पूर्वकाल ज्ञानरूप होम में और सुन्दर मननाख्य संग्राम में सदा जाया करती थी। परन्तु अब अज्ञानी जन ऐसे अकर्मों में बद्ध हो गये है कि मेरा यजन कोई करता नहीं। (ऋतस्य+वेधाः) यह इन्द्राणी

सत्य की निर्म्माणकर्त्री है (वीरिणी+इन्द्रपत्नी) वीर पुत्रवती और इन्द्रपत्नी है (महीयते) ज्ञानी पुरुषों से पूजिता होती है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः)। १०।

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पति-
र्विश्वास्मादिन्द्र उत्तरः। ११।

इन्द्र कहता है कि हे इन्द्राणि! (अहम्+आसु+नारिषु) मैने इन स्त्रियों में (इन्द्राणीम्+सुभगाम्+अश्रवम्) इन्द्राणी को सौभाग्यवती सुना है। इसमें सन्देह नहीं और (अपरम्+चन) अन्यान्य प्राणिजात के समान (अस्याः+पतिः+जरसा+नहि+मरते) इसका पति जरावस्था से अभिभूत हो नहीं मरता (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) क्योंकि उसका पति मैं इन्द्र सब से श्रेष्ठ हूँ। ११।

परन्तु हे इन्द्राणि! यह सब मैं जानता हूँ तथापि—

नाहमिन्द्राणिंरारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति
विश्वास्मादिन्द्र उत्तरः। १२।

(इन्द्राणि+सख्युः+वृषाकपेः+ऋते) हे इन्द्राणि! प्रिय वृषाकपि के बिना (न+अहम्+रराण) मैं संतुष्ट नहीं होता। (थस्य+इदम्+अप्यम्+प्रियम्+हविः) जिसका यह आकाशवत् व्यापक हवि (देवेषु+गच्छति) देवों के मध्य प्राप्त होता है। भाव यह है कि यह जीवात्मा जितना कर्म में बद्ध है उतना ज्ञान में नहीं। इस कर्म से जीवात्मा को पृथक् होना अति कठिन है। १२।

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः
र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। १३।

यहाँ इन्द्र इन्द्राणी को सान्त्वना देता हुआ कहता है कि (वृषाकपायि) अयि वृषाकपि की माता! आप उसकी माता हैं यदि पुत्र में कोई दोष है तो इसका कारण आप भी तो होंगी। इस अभिप्राय के सूचनार्थ वृषाकपायी शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है। (रेवति+सुपुत्रे+सुस्नुषे) हे धनवति! हे सुपुत्रे! हे सुस्नुषे! इन्द्राणि! (आद्+उ) आप यह निश्चय समझें कि भाव के कल्याणार्थ अभी (ते+इन्द्रः+उक्षणः+घसत्) आपका आज्ञावशवर्ती यह इन्द्र उन मोटे ताजे मूर्ख यजमान स्वरूप बैलों को खा जाएगा। हे इन्द्राणि! (हविः+काचित्करम्+प्रियम्) उन मूर्ख यजमानों से दिया हुआ हवि मुझे किञ्चित् ही प्रिय होता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः)। १३।

भाव—उक्षा—बैल न यहाँ पशुवाचक उक्षा से, और न यथार्थ में भोजन से तात्पर्य है। मैं वृषाकपि शब्द का अर्थ करता हुआ कह चुका हूँ कि वृष नाम मूर्ख, धनाढ्य यजमानों का है। वृष और उक्षा दोनों एकार्थक हैं। अब इन मूर्ख धनाढ्य यजमानों से इन्द्राणी बहुत असंतुष्टा रहती है क्योंकि ये ज्ञान के विरोधी अज्ञान के फैलाने हारे हैं। अतः इन्द्राणी को सुप्रसन्ना करने के लिये, मानो इन्द्र कहता है कि ऐ प्रिये! आप सुप्रसन्ना होइए। मैं उन मूर्खों को चबा डालूँगा। न ये रहेंगे और न आप के शत्रु-अज्ञानताएँ फैलेंगी और आप जो यह कहती हैं कि इस कार्य में मैं प्रसन्न हूँ सो नहीं। उन अज्ञानी जनों का प्रदत्त हवि मुझे प्रिय नहीं है। यह आप निश्चय जानें। इत्यादि भाव यह ऋचा सूचित करती है। जैसे लोक में भी अपनी प्रिया की प्रसन्नतार्थ स्वामी कहता है कि अयि प्रिये! तेरे शत्रुओं को मैं चबा डालूँगा। जैसे भीमसेन ने द्रोपदी से कहा था। इसी प्रकार की यह उक्ति है। उसमें माँस की कोई चर्चा नहीं।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमदिम् पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।१४।

(हि+मे+पञ्चदश+विंशतिम्+उक्ष्णः+साकम्+पचन्ति) इन्द्राणी से इन्द्र कहता है। निश्चय मेरे लिये १५ और २० वृषभ, साथ ही पकाते हैं। (उत्+अहम्+अद्यि) और मैं उनको खाता हूँ। तब (पीवः+इत्) मैं बहुत स्थूल हो जाता हूँ (मे+उभा+कुक्षी+पुणन्ति) मेरी दोनों बगलों को तृप्त करते हैं। (विश्वस्माद्०)।१४।

भाव—१५।२० उक्षा मैं पूर्व में भी दिखला चुका हूँ और दान प्रकरण में विस्तार से दिखलाऊँगा कि जहाँ-जहाँ संख्याएँ आती हैं वे प्रायः इन्द्रियार्थसूचक होती हैं। सप्त संख्या कक्षीवान् आदि सम्बद्ध प्रकरण देखिये। और आगे दानप्रकरण को भी अच्छे प्रकार देखिये। तदनुसार यहाँ पर भी जानें कि जो पञ्च ज्ञानेन्द्रिय हैं वे ही उत्तम, मध्यम और अधम भेद १५ पन्द्रह प्रकार के हैं। और इन पन्द्रह के पन्द्रह विषय और पाँच कर्म्मेन्द्रिय ये मिल के बीस हैं। अथा पञ्चकर्म्मेन्द्रिय और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और इन दशों के दश विषय। ये सब मिलके २० हैं। ये ही मानो, १५ और २० बैल हैं। ये इन्द्रियगण जब तक अपरिपक रहते हैं तब तक ही मूर्खता रहती है। अतः प्रथम इनको ही खूब पकायें। और ये जब खूब पक जाते हैं अर्थात् ज्ञान विज्ञान रूप अग्नि से इन्द्रियगण अच्छे प्रकार जब पक जाते हैं तब उनका स्वाद ले लेकर यह

इन्द्र जीवात्मा अतिबलिष्ठ होता है। इनको पकाने हारे कौन है ? उ०-ज्ञान, विज्ञान, तपश्चरण, सत्कर्मसेवन आदिक। जब ये अच्छे प्रकार परिपक होंगे तब स्वत: अज्ञानता जाती रहेगी। जो इन्द्राणी अर्थात् बुद्धि का शत्रु है। अत: इन्द्र कहता है कि ऐ प्रिये! तू क्यों अप्रसन्ना होती है। देख! मैं तेरे लिये इन सब अज्ञानी इन्द्रियरूप बैलों को खा जाता हूँ। देख! अब इनको मेरे ज्ञान विज्ञानरूप पाचकगण पका रहे हैं। इस भाव को यह ऋचा दर्शाती है। यहाँ १५। २० ये संख्याएँ ही अन्यार्थसूचक हैं। अन्यथा १५। २० कहने की क्या आवश्यकता। अत: उक्षा शब्दार्थ यहाँ पशुवाचक नहीं किन्तु इन्द्रियार्थवाची है।

यहाँ एक बात ज्ञातव्य है कि आन्तरिक यज्ञ को देख के ऋषियों ने बाह्ययज्ञ की कल्पना की थी। मैं इसको विस्तार से अश्वमेधादि प्रकरण में दिखलाऊँगा। यहाँ पर उतना जानना चाहिये कि ''मनु: समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभि:'' शरीर के आभ्यन्तर यह मन्ता जीवात्मा, नयनद्वय, कर्णद्वय, घ्राणद्वय और एक रसना इन सातों होताओं के साथ होम करता रहता है। अब इस आन्तरिक होम को देख बाह्ययज्ञ में सात ऋत्विक्, एक यजमान, उसकी एक पत्नी आदि की कल्पना कर होम की रीति चलाई थी। इसी प्रकार इन इन्द्रियों को यह जीवात्मा जब तक खूब तपाता नहीं, मारता नहीं, रोकता नहीं, बाँधता नहीं तब तक विजयी नहीं होता। अत: शुद्ध जीवात्मा इन उद्धत, चञ्चल, कपटी, धूर्त्त, इन्द्रियरूप अश्वों को, इन्द्रियरूप सांडों को और इन्द्रियरूप असुरों को बाँधता है। पीटता है। मारता है। हतविहत करता है। तब कहीं यह आत्मा सुखी होता है। अब इस आन्तरिक यज्ञ को देख बाह्ययज्ञ कल्पित कर उसमें इन्द्रियों के प्रतिनिधि गेहूँ चावल आदिकों से घोड़े, अश्व आदिकों को बना उनको मारा करते थे। इस प्रकार दृश्यकाव्य का अभिनय हुआ करता था। पश्चात् अज्ञानीजन यथार्थ पशुओं को भी मारने लगे। ये सब अज्ञानताएँ वेदार्थ के लुप्त होने के पश्चात् चलने लगीं। अत: वेदों के अर्थ में पदे-पदे सन्देह होता है। शोक की बात है कि ऐसी-ऐसी ऋचा को लेकर देशीय और विदेशी दोनों हिंसात्मक यज्ञ निकाल वेदों को दूषित करते हैं। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त और श्रीयुत म्यूर साहिब आदि ऐसे-ऐसे वाक्यों को देख बड़े प्रसन्न होते है। फुट नोट देते हैं टीका टिप्पणी देके लिखते हैं कि मैंने बड़ा आविष्कार किया है, वेदों में हिंसात्मक यज्ञ निकाल प्रसिद्ध किया है। इत्यादि। ईश्वर इनको सुबुद्धि प्रदान करे

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयु-
र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।१५।

इन्द्राणी इन्द्र के आशाजनक वचन को सुन प्रसन्ना हो। इन्द्र की उत्तेजना और उत्साह बढ़ाती हुई कहती है कि स्वामिन् (यूथेषु+अन्तः+तिग्मशृङ्गः+वृषभः+न+रोरुवत्) गौवों के यूथों के मध्य तीक्ष्ण शृङ्ग सांड जैसे उच्चस्वर से बारम्बार गर्जन करता और उससे सब भयभीत होते रहते तद्वत् इन मूर्ख यजमानरूप बैलों को बलपूर्वक शिक्षा दीजिये। अनुचित अवेदविहित कर्म न करें और जैसे आप से डरें वैसा उपाय कीजिये। (इन्द्र+ते+हृदे+मन्थः+शम्) हे इन्द्र! जैसे मन्थनदण्ड दधि को तोड़-तोड़ के मंथन कर घृत निकालने का कारण होता है तद्वत् आपके हृदय के लिए यह मन्धसदृश उत्पन्न क्षोभ कल्याणकारी हो अर्थात् शत्रुविनाशार्थ जो आपके हृदय में यह क्षोभ उत्पन्न हुआ वह आपके हृदय में घृतवत् ज्ञान को उत्पन्न करे और इन दुष्टों को मथित कर उनसे उत्तम पदार्थ पैदा करे। (भावयुः+यम्+सुनोति) हे इन्द्र! आपके हृदयस्थ भाव को जानने हारी यह इन्द्राणी जिस मन्थ को उत्पन्न करती है वह कल्याणकारी हो। ये सब उत्साहवर्धक वाक्य हैं (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) तिग्मशृङ्ग=तीक्ष्ण सींग वाला। यूथ=समूह, झुण्ड। मन्थ=दही मथने का दण्ड। भावयु=भाव को जानने हारी। १५।

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषोविजृम्भते
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।१६।

पुनः इन्द्राणी उत्तेजना बढ़ाती हुई कहती है। हे इन्द्र! आपने जो आश्वास-जनक बातें कहीं हैं वे सब ठीक हैं किन्तु विषयी पुरुष संसार में कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता आप उन अज्ञानी पुरुषों के कुकर्मों में इस प्रकार लिप्त हैं कि अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी आपके लिए दुस्तर है। ऐ स्वामिन! देखिये! (सः+न+ईशे) वह पुरुष जगत् का शासन नहीं कर सकता (यस्य+ कपृत्+ सक्थ्या+अन्तरा+रम्बते) जिसका कपृत अर्थात् कपाल=शिर सर्वदा नीचे को झुकता है। किन्तु (सः+इत्+ईशे) पुरुष जगत् का शासन करता (निषेदुषः+ यस्य+रोमशम्+विजृभते) अपने गृह पर बैठे हुए भी जिस पुरुष का ज्ञान पृथिवी पर सूर्यवत् प्रकाशित होता रहता है। (विश्वस्मदिन्द्र उत्तरः) सक्थिः= जंघा, जांघ। ''सक्थि क्लीवे पुमानुरुः'' कपृत्=कपाल, शिर, माया, के मुखं

पृणातीति कपृत=जो सुख को पालन करे। कपाल शब्द का भी यही अर्थ है "कं सुखं पालयतीति कपालः" कहीं "क" यह नाम ही शिर का है जैसे केश। अतः कपाल और कपृत् एकार्थक है। १६।

भाव—अन्तरा सक्थ्या दोनों जंघाओं का बीच। अर्थात् नीचे की ओर इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि अक्षि, कर्ण, घ्राण, रसना आदि सब ही इन्द्रियगण प्रबल और कुपथ में ले जाने हारे हैं। तथापि लोक में कभी सुना नहीं गया है कि नयन के विषय कारण अमुक पुरुष की शोचनीय दशा प्राप्त हुई। कोई कहता है कि इसने केवल भोजन करने में अपना सम्पूर्ण धन वा राज्य को नष्ट कर दिया। खाने, पीने, देखने, सुनने, सूंघने आदि विषयों में बद्ध होके बहुत थोड़े पुरुष आपत्तिग्रस्त होते होंगे। परन्तु कौनसा वह विषय है जिसमें यदि दुर्भाग्यवश कोई फँस जाएँ जो वह अपना सर्वनाश कर अन्त में हाहाकार शब्दों से लोगों के अन्तःकरण को दुखाता हुआ "यह महापापिष्ठ है जैसा कर्म किया है वैसा फल पाया है" इत्यादि अनेक कुवाच्य को सुनता हुआ प्राण त्यागे। निःसन्देह, वह स्त्रैण भोग विषय है। कौन नहीं जानता कि यह कितना प्रबल है। इसी एक इन्द्रिय की प्रसन्नार्थ समस्त इन्द्रियों का खून कर देता है। इसी एक के लिये, विषयी, सूँघना, देखना, खाना, पीना आदि सब व्यापार किया करता है। विषयी, यथार्थ में उसी पुरुष का नाम है जो स्त्री लम्पट हो। इसमें बद्ध होके लक्षों कोटियों नष्ट हुए, हो रहे हैं और होंगे इसी एक इन्द्रिय के विलास से आत्मा को बचाने के लिए शास्त्रों में विविध प्रकार से सहस्रों उपदेश दिए गये हैं। विशेष उपाय दिखलाए गये है। ऋषियों ने ठीक कहा है।

न जातु कामः कामाना मुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। १२। महाभारत।

अतः इन्द्राणी अर्थात् बुद्धि इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से कहती है कि ऐ इन्द्र। जिसकी दृष्टि सर्वदा दोनों जांघों के मध्य में रहती है अर्थात् जो स्त्रैण विषय लम्पट पुरुष है। वह कदापि भी पृथिवी को शासन करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः आप विषय वासना को छोड़ अपना और जगत् का कल्याण कीजिये। इत्यादि

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।

सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। १७।

पुनः उक्त अर्थ को दूसरे प्रकार से कहती है। यह ऋचा ठीक १६ वीं

ऋचा से उलटी प्रतीत होती है। परन्तु भाव और शब्दार्थ में भेद है। यथा (सः+न+ईशे) वह पुरुष ऐश्वर्यवान् नहीं हो सकता। (निषेदुषः+यस्य+ रोमशम्+विजृम्भते) बैठे हुए जिस पुरुष का ज्ञानविज्ञान जंभाई ले रहा है। अर्थात् जैसे आलसी पुरुष बैठा हुआ जंभाई लिया करता है। उससे पुरुषार्थ का कोई कार्य बन नहीं पड़ता। तद्वत् जो विद्वान् पढ़ लिख के भी सदा आलस्य में बैठा हुआ जम्भाई लेता रहता है। मानो, उसकी विचारी विद्या भी उसके साथ जंभाई लेती रहती है। ऐसे पुरुष ऐश्वर्यशाली नहीं हो सकते। किन्तु (सः+ईशे) निश्चय वही ऐश्वर्यशाली होता है (यस्य+कपृत्+सक्थ्या+ अन्तरा+रम्बते) जिसका शिर अर्थात् जिसकी दृष्टि दोनों जांघों के बीच झुकी हुई है। अर्थात् केवल विद्या के अध्ययन से कुछ लाभ नहीं किन्तु जिसकी दोनों जंघाओं में पूरा बल है। जिसकी दोनों जंघाएँ कभी भ्रष्ट नहीं हुई है। जिसका इन्द्रिय दूषित नहीं हुआ है जो सदा इन्द्रियरक्षार्थ सावधान है। जो सदा देखता रहता है कि मेरा कोई इन्द्रिय कलङ्कित तो नहीं हुआ वही ऐश्वर्यशाली हो सकता है। इत्यादि पुरुषार्थसूचक दोनों ऋचाएँ हैं। १७।

परन्तु शोक की बात है कि सायण और श्री रमेशचन्द्रदत्त आदिक पुरुषों ने इन १६ वीं, और १७ वीं ऋचाओं का ऐसा वीभत्स और घृणित अर्थ किया है कि सभ्य पुरुष उसको सुनना भी पसन्द न करेंगे। ग्रिफिथ ने इसी कारण इन दोनों का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं किया, फूटनोट में लिखते हैं कि—

I pass over stanzas 16 and 17, which I can not translate into decent English.

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।

असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितम्।

विश्वस्मादिन्द्र उत्तर। १८।

पुनः इन्द्राणी परम क्रुद्धा होके कहती है कि (इन्द्र+अयम्+वृषाकपिः) हे इन्द्र! यह आप का सखा अवैदिक कर्मदेव (हतम्+परस्वन्तम्+विदत्) विनष्ट परधन को प्राप्त करे (असिम्+सुनाम्+नवम्+चरम्) खड्ग, सूना= वध्यस्थान, नवीन भाण्ड (आद्+एधस्य+आचितम्+अनः) और तत्पश्चात् इन्धन से पूर्ण एक शकट प्राप्त करे। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः)। १८।

भाव—ये अज्ञानी पुरुष अपने क्रियमाण कर्म को वेदानुकूल समझते हैं। परन्तु यह इनकी भूल है। ये अन्यान्य पुरुषों से वञ्चित हुए हैं। अन्यान्य ईषद्विद्य भी इसको वैदिक मानते हैं। इस कारण यह अवैदिक कर्मदेव सर्वथा नष्ट हो, इसको कोई वैदिक कर्म न कहे इसका नाम यज्ञ न रखा जाये। यज्ञ

और धर्म के नाम पर धूर्त्त जन अनभिज्ञ प्रजाओं को सर्वथा लूटते बहकाते और अपने जाल में फँसाते रहते हैं। अतः ऐसे कर्म का नाम यज्ञ न हो। तो इस अवस्था में वृषाकपि की कौनसी दशा होगी। इस पर कहते हैं कि यह इतने स्थानों में निवास करें। क—हतपरश्व अर्थात् जो कोई छल कपट, असत्यता, चोरी, डकैती, अन्याय, आदि व्यापार से धनोपार्जन करता है उसका धन हत कहाता है। ऐसे धन का यह वृषाकपि स्वामी हो। जिससे कि लोगों को प्रत्यक्षरूप से ज्ञात हो कि यह चोर, डाकू, धूर्त्त है। परन्तु अपनी बुराई को छिपाने के लिए लोक में यज्ञादि करके अपने को शुद्ध और धार्मिक प्रख्यात करना चाहता है। ख—असि=खड्ग। जहाँ अस्त्र शस्त्र के बल से अन्यान्य होता हो। ग—सूना-जहाँ चाण्डाल घातक पुरुष नाना हत्या करता हो। घ—इन्धनपूर्ण शकट=शमशान आदि अपवित्र स्थान हों वहाँ-वहाँ यह वृषाकपि जाये। हमारे विद्वान् पुरुषों में इसका निवास न हो। क्योंकि जब विद्वान् पुरुष अवैदिक कर्म में प्रवृत्त हो जाते तो बड़ी क्षति होती। साधारण पुरुष उनका अनुकरण करने लगते हैं। और उन्हीं विद्वानों को ये अपने साक्षी बनाते हैं पुनः ये हितकारी के वचन न सुनते और न मानते हैं। १८।

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशमं।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। १९।

इन्द्राणी के उत्तेजक वचन सुन इन्द्र कहता है कि ऐ इन्द्राणि! आप जो कहती हो सो मुझे शिरोधार्य है। मैं वैसा ही करूँगा देखिये। (आर्यम्) अरि सम्बन्धी (दासम्) यज्ञविध्वंसक पुरुष को अथवा (आर्यम्-दासम्) आर्य होके दास का काम करने हारे वृषाकपि को (विचिन्वन्) चुनता हुआ (विचाकशत्) और आप के उपदेश से देदीप्यमान होता हुआ (अयम्+एमि) यह मैं शत्रुनाश के लिए जाता हूँ। अब मैं कुकर्मी पुरुष के यज्ञ का भाग न लूँगा किन्तु (पाकसुत्त्वनः+पिबामि) पवित्र और परिपक्व मन से वैदिक याग करने हारे पुरुष का पदार्थ ग्रहण करूँगा। (धीरम्+अभि+अचाकशम्) धीर विद्वान् को सब तरह से जगत् में सुशोभित करूँगा। विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः आर्य=अरेरयम् आर्यः, शत्रुसम्बन्धी अथवा, आर्य हो के जो दास का कार्य करे।

धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। २०।

(धन्व+च) जो स्थान उदक से रहित है। (गत्+कृन्तत्रम्+च) जो जंगल सर्वथा कटा हुआ है। इस प्रकार के अन्यान्य जितने स्थान हैं (कर्ति+स्वित्+ता+वियोजना) वे कितने योजन हैं। अर्थात् वे मरु भूमि और वृक्षादि रहित स्थान बहुत दूर हैं। हे वृषाकपि! वहाँ तू मत जा किन्तु (वृषाकपे+नेदीयसः+अस्तम् गृहान्+उप+एहि) हे वृषाकपि! समीप गृहवाले के गृह में जा। और इन गृहों के समीप जा। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः)। २०।

भाव—यहाँ से आगे बहुत रोचक और करुणाजनक अर्थ का वर्णन है। इन्द्राणी ने कहा कि दुष्ट वृषाकपि को निकाल बाहर कीजिये! तब ही मैं सुखी हूँगी। इन्द्र ने भी प्रिया को खुश करने के लिए बहुत कुछ समझाया। अन्त में सब कुछ कहके १९ वीं ऋचा में इन्द्र ने कहा कि आर्यदास को मैं चुनने के लिए यात्रा करता हूँ। वृषाकपि ही आर्यदास है। उपक्षयकारी विनाशकारी का नाम दास। वृषाकपि आर्य हो करके विनाश का काम करता है अतः यह आर्यदास है। क्योंकि बुद्धि और आत्मा का ही तो यह भी पुत्र है। अज्ञान भी इनके ही उत्पन्न होता है। अब इन्द्र प्रिया की आज्ञानुसार वृषाकपि को या तो मार डाले या गृह से निकाल देवें। परन्तु मारता नहीं किन्तु निकाल देना चाहता है। जिस कारण इन्द्र का वृषाकपि सखा है। अतः उसके ऊपर दयावान् होके इन्द्र कहता है कि ऐ प्रियसखा! तू मरुदेश और उजाड़ जंगल में मत जा। वह बहुत दूर है किन्तु कहीं समीप ही जा छिप। जिसके कि इन्द्राणी प्रसन्न हो। फिर मैं कभी बुला लूँगा, इन्द्राणी को भी समझाऊँगा इस समय तू कहीं जा छिप। इसका भी आशय यह है कि अज्ञानरूप अपने सखा को कभी नहीं त्यागता बुद्धि की शिक्षा नहीं मानता। इससे यह दिखलाया कि अज्ञानी पुरुष प्रिया को प्रसन्न करने के लिए मिथ्या व्यवहार भी करता है।

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुन-
र्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। २१।

पुनः अपने सखा वृषाकपि के लिए इन्द्र विलाप करता है। (वृषाकपे+पुनः+एहि) हे मेरे सखा वृषाकपि! तू मत वन को जा पुनः लौट आ। (सुविता+कल्पयावहै) अब हम दोनों दम्पती मिल के तेरे कल्याणों के लिए यत्न करेंगे। (यः+एषः+स्वप्ननंशनः) जो तू मेरी निद्रा का नाश कर रहा है। अर्थात् तेरे वियोग से मुझ को रात्रि में निद्रा नहीं आती। इस (पुनः+पथा+ अस्तम्+एषि) पुनरपि इसी मार्ग से गृह को चला जा। सुवित=कल्याण। स्वप्ननंशन=स्वप्न नाश करने हारा। २१।

भाव—जीवात्मा को अविवेक, कुकर्म, व्यर्थ कर्म, आलस्य आदि सखा के त्यागने में बड़ी विपत्ति प्रतीत होती है। यह जीवात्मा ऐसे सखा के लिए बुद्धिरूपा प्रिया का हनन कर देना पसन्द करता है परन्तु इसको त्याग नहीं सकता। अतः इन्द्र कहता है कि हे वृषाकपि! अब मैं और इन्द्राणी दोनों तेरे कल्याण का यत्न करेंगे। ठीक। जीवात्मा को उद्दण्ड उच्छृङ्खल देख विचारी बुद्धि देवी भी हतोत्साह हो के चुपचाप बैठ जाती है। दूसरा भाव इससे यह भी सूचित किया गया है कि ''विषवृक्षोऽपिसंवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'' मनुष्य बुरे से बुरे पदार्थ में यदि आसक्त हो जाये और सखा और पुत्र कैसा ही उसका नीच निकृष्ट होतो भी इनको त्यागने में इसको बड़ा क्लेश होता है।

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राऽजगन्तन।
क्व स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। २२।

पुनः इन्द्र विलाप करता है (वृषाकपे+इन्द्र) हे वृषाकपि! हे इन्द्र! (उदञ्चः) यहाँ से चल कर (यद्+गृहम्+अजगन्तन) जिस गृह को तू पहुँचा वह कौन गृह था (स्य+पुल्वघः+मृगः+क्व) वह बहुत भोजन करने हारा मेरा मृग कहाँ है? (जनयोपनः+कम्+अगन्) वह मनुष्यों को अनेक प्रकार से हर्ष पहुँचाने हारा मेरा मृग किस देश को चला गया? पुल्वघ=पुलु+अघ=पुरुभक्षक= बहुत खानेहारा। जनयोपन=जनानां मोदयिता=जनों को प्रसन्न करने हारा। २२।

भाव—इन्द्र शब्द का प्रयोग अभेदद्योतक है। पुत्र से पिता बहुत भेद रखता है पर निज सखा से कुछ भी नहीं रहता। सुख दुःख में वह सदा संगी बना रहता है। अविवेक छोड़ने में इस जीवात्मा को अतिक्लेश पहुँचता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि संसार में अविवेक, अनन्त असंख्य हैं। परन्तु विवेक बहुत स्वल्प। परन्तु जब बुद्धि प्रबला हो जाती है तब अवश्य ही आत्मा विवश हो के अविवेक को छोड़ता हैं।

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदर मामयद्।
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। २३।

(मानवी+पर्शुः+ह+नाम) मनु जो मन्ता जीवात्मा उसकी पत्नी अर्थात् बुद्धि परमकठोरहृदया है उसको एक पुत्र की चिन्ता नहीं क्योंकि (सा+साकम् विशतिम्+ससूव) वह एक साथ ही बीस पुत्र उत्पन्न करती है (भल+त्यस्ये+ भद्रम्+अभूद) ऐ मेरा भरण पालन कर्त्ता वृषाकपे! इसका कल्याण हो

(यस्य:+उदरम्+आमयत्) जिसका उदर इस प्रकार पुत्रों से पुष्ट है। (विश्व-स्मादिन्द्र उत्तर:) पर्शु=कठोरहृदया। २३।

भाव—पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्म्मेन्द्रिय। और इनके दश विषय ये मिल के २० होते हैं अथवा पञ्चज्ञानेन्द्रिय उत्तम, मध्यम, अधम भेद से १५ होते और पञ्चकर्मेन्द्रिय से सब मिल कर २० होते हैं। २० बीस बुद्धि के पुत्र हैं। अब इन्द्र कहता है कि हे वृषाकपि! तेरे लिये इन्द्राणी को शोक नहीं क्योंकि इसके बहुत से पुत्र हैं। अत: तू इस समय अवश्य कहीं चला जा। इस इन्द्राणी का कल्याण हो।

इस सूक्त पर अब बहुत लिखना नहीं चाहता। श्रोत्रिय विचारशील पुरुष ध्यान से इसके अर्थ का मनन करें स्वत: इसका अर्थ भासित हो जायेगा। प्रथम ही ऋचा कहती है कि मनुष्य इन्द्र की पूजा के लिए सृष्ट हुआ। परन्तु इसके स्थान में वृषाकपि पूजित हो रहा है। पुन: इन्द्राणी का इतना क्रोध वृषाकपि के ऊपर क्यों? प्रियातष्टानि में कपि: यह क्यों कहती है कि मेरे भाग को इसने दूषित किया। इन्द्र को क्यों उत्तेजना देती है और अन्त में इन्द्र वृषाकपि को क्यों निकाल बाहर करता है। इसके लिए इसको क्यों शोक होता है। इत्यादि सब बातें सूचित कर रही हैं कि वृषाकपि का शब्दार्थ अकर्म, अवैदिक कर्म, अज्ञान, अविवेक आदिक हैं। यही अर्थ इस शब्द से भी निकलता है। वृष=बैल। कपि=वानर। जिस वृषाकपि का कुत्सित, निन्दित अर्थ था आज उसका शिव और विष्णु अर्थ होता है। कहाँ तक परिवर्त्तन हुआ। ऐ पण्डितो! विचारो।

शिक्षा—इससे यह शिक्षा दी गई है कि प्रत्येक पुरुष को उचित है कि अविवेक को दूर करे। बुद्धि को बढ़ावे। बारम्बार और परम उदार हृदय से एकान्त स्थल में मनन करे। वेदों और शास्त्रों को और बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों के उपदेशों को सुने सुनावें इस प्रकार जगत् में बुद्धि प्रचलित कर अविवेक का विध्वंस करे। परन्तु इसके साथ-साथ यह आवश्यक है कि इस प्रकार मंथन करने में जो-जो निश्चय होता जाये उसी-उसी के अनुसार चले। कुल और देश की मर्यादा यदि वेद, बुद्धि विरुद्ध हो छोड़े छुड़वावें, तब ही कल्याण होगा। इससे यह भी शिक्षा दी गई है कि सुबुद्धिमती स्त्री की शिक्षा अवश्य मानें। इसी के आदेश पर चलने का प्रयत्न करे। जाया को परम प्रिया समझें। जो अपनी जाया को प्रिया समझेगा वह कदापि कुपथ पर नहीं जायेगा। आश्चर्य की बात है कि जब एक को अपना मन दे दिया तब कैसे दूसरे को वह मन दे सकता है ऐ मनुष्यो! विचारो! स्त्रीजाति के हृदय को संतप्त मत करो। दूषित,

कलङ्कित कर तुम अन्धकारभागी मत बनो। आ: देखो! यह जो कुछ करती है वह तुम्हारे कल्याण के लिए है। जैसे यहाँ इन्द्र इन्द्राणी की बात मान अविवेक से दूर हो गया ऐसा ही तुम भी अपनी-अपनी प्रिया की बात मान दुराचार से निवृत्त हो जाओ। इति।

उर्वशी ब्रह्मवादिनी। ३६।

यह उर्वशी ब्रह्मवादिनी ऋग्वेद १०।९५ वें सूक्त की प्रचारिका थी। यह सूक्त पुरुष के लिए परम कल्याणप्रद है। जो मदोन्मत्त पुरुष स्त्री की आज्ञा से नहीं चलते जो प्रिया के हितोपदेश वचन को नहीं सुनते वे महाकष्ट को भोगते हैं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि आज भारतवर्ष का प्राय: प्रत्येक गृह नरक सा हो रहा है। कारण इसका स्त्री का आदर न करना एवं इस जाति के महत्त्व को न समझना ही है। नि:सन्देह, स्त्रीजाति अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में जितनी दृढ़तरा होती है पुरुष उतना नहीं होता। यहाँ दिखलाया गया है कि उर्वशी अपनी प्रतिज्ञा के पालन करने में पर्वतावत् दृढ़ा रही। परन्तु पुरूरवा विचलित हो गया। उर्वशी नाम प्रात: काल का और पुरूरवा नाम सूर्य का है। इसमें अनेक प्रमाण आगे लिखे जायेंगे। इनमें चेतनत्व और स्त्री पुरुषत्व का आरोप कर वेद वर्णन करते हैं। "एक प्रिया स्त्री के वियोग से और अपनी प्रतिज्ञा के भंग करने से पुरुष स्त्री दोनों को कितना कष्ट होता और विदुषी स्त्री अपनी प्रतिज्ञा पर कष्ट सहके भी कहाँ तक दृढ़ा रहता है" इतने अंश को लेके वेदभगवान इस प्रिय सम्वाद का आरम्भ करते हैं—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे—
वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते—
मयस्करन् परतरे चनाहन्। १०।९५।१।

पुरूरवा उर्वशी से कहता है। (हये) ऐ, (घोरे+जाये) कोपकारिणि! पत्नि! (मनसा) अनुरक्त मन से युक्ता होके (तिष्ठ) कुछ काल ठहरो। क्योंकि (नु) शीघ्र हम दोनों पति पत्नी, (वचांसि) परस्पर वार्तालाप (कृणवावहै) कर लेवें। क्योंकि यदि (नौ) हम दोनों के मध्य (मन्त्रा:) परस्पर इस समय विचार (अनुदितास:) न हुए तो (परतरे+चन्+आहन्) आगे के दिनों में (मय:+न+करन्) सुख को न करेंगे। पुरूरवा कहता है कि हे उर्वशि! तू बड़ी निष्ठुर है। भागी हुई क्यों जाती है। सुन तो लो। मन स्थिर करो। कुछ रहस्य की बातें हैं। यदि ये बातें न की जाएँ तो दोनों के पीछे सन्ताप होगा। इसलिए

क्षणमात्र ठहर जा। दोनों कुछ एकान्त कर लें। १। इसी अर्थ के द्योतक वाक्यों को भागवत से उद्धृत कर देता हूँ।

अहो जाये तिष्ठ-तिष्ठ घोरे न त्यक्तु मर्हसि।

मां त्वमद्याप्यनिर्बृत्य वचांसि कृणावावहै। भा० ९। १५। ३५।

किमेता वाचा कृणवा तवाहं—

प्राकृमिषमुषसामग्रियेव।

पुरूरवः पुनरस्तं परेहि—

दुरापना वातइवाहमस्मि। १०। ९५। २।

उर्वशी प्रत्युत्तर देती है। हे स्वामिन्! (एता+वाचा+किं+कृणव) केवल इन वनों से हम दोनों क्या करेंगे (तव+अहम्+प्राक्रमिषम्) आपके निकट से मैं चली आई। (उषसाम्+अग्रिया+इव) उषाओं में से जैसे आगे की उषा आगे-आगे भागती जाती है। वैसे मैं भागती जा रही हूँ। इसलिए (पुरूरवः) हे पुरूरव! (पुनः+अस्तम्+परेहि) आप पुनः घर लौट जाएँ। मैं (वातः+इव) वायु के समान (दुरापना+अस्मि) दुर्लभा हूँ। २।

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।

अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः। ३।

पुरूरवा विरह-जनित-वैक्लव्य जानता हुआ कहता है। हे प्रिये! तेरे विरह से क्या-क्या क्षति हो रही है सो सुना! अब (श्रिये) यशोलाभार्थ (इषुधेः) तर्कस से (इषु+न+असना) बाण फैंका नहीं जाता। पूर्ववत् (रंहि) वेगवान् हो मैं अब (गोषाः+शतसाः+न) गायें लेकर विभाग करने में समर्थ नहीं हूँ और न अब अपरिमित गौवें देने हारा हूँ। एवं (क्रतौ+अवीरे) राजकार्य वीरशून्य होने से (न+वि+दविद्युतत्) कोई कर्म शोभित नहीं होता। (धुनयः) नाद करने हारी सेनाएँ अब (उरा+न+मायुम्+चितयन्त) संग्राम में सिंहनाद नहीं करतीं। इषुधि=जिसमें वाण रखे जाएँ। असना=असनाय=प्रक्षेप्तुम्। फैंकने के लिये। गो+षा=गाः सनति सनोति ददाति वा वन, षण, संभक्तौ। षणु, दाने। गोदाता। शतसा=शतं सनति संभाजयति। उरा=उरौ=संग्राम में। मायु=शब्द। चितयन्त=चिती, संज्ञाने। धुनि=कँपाने हारे। ३।

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।

अस्तं ननक्षे यस्मिन्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन। ४।

उर्वशी अन्योक्ति द्वारा शोक प्रकाशित करती हुई कहती है। (उषः) हे उषा देवि! (सा) वह उर्वशी (श्वशुराय) श्वसुर को (वसु+वयः+दधती)

पौष्टिक अन्न देती हुई पतिगृह में निवास करती रही। वह (यदि+वष्टि) यदि पति की इच्छा करती थी तो (अन्तिगृहात्) निकटस्थ गृह से (अस्तम्) पतिगृह को (ननक्षे) चली आती थी। (यस्मिन्+चाकन्) जिस गृह में पति को चाहती थी। वह (दिवा+नक्तम्) दिन रात (वैतसेन+श्नथिता) संभोग सूख से क्रीड़िता होती थी। वसु=पौष्टिक। वय=अन्न। अन्ति=अन्तिक=समीप। अस्त=गृह। श्नथिता=ताडिता। वैतस=क्रीड़ा यहाँ मानो उर्वशी उषा को अर्थात् अपने ही आत्मा को साक्षी देकर कहती है यह सब आलङ्कारिक बातें हैं। मानो उर्वशी कोई सचमुच देवी है। वह अपने श्वशुर की सेवा किया करती थी। इससे यह दिखलाया कि प्रत्येक महिला अपने सास ससुर की शुश्रुषा करे। ४।

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्वस्तदासीः।५।

(पुरुरवः) हे पुरुरव! आप (अह्नः) दिन में (त्रिः) तीन बार मुझको (वैतसेन) खेल क्रीडा आदि (श्नथयः+स्म) आनन्दित किया करते थे (उत) और (अव्यत्यै+मे) सपत्नी रहित मुझको (पृणासि+स्म) सदा आप प्रसन्न रखते थे। इसी लिये (वीर) हे वीर! (ते+केतम्+अनु+आयम्) आप के गृह में मैं आई थी। और (मे+तन्वः) मेरे शरीर के आप (तद्+राजा+आसीः) तब राजा थे। ५।

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदे चक्षुर्न ग्रंथिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्तः। ६।

हे उर्वशी! आप की (या+सूजुर्णि)जो सुजूणि (श्रेणिः) श्रेणि (सुम्न+आपिः) सुम्नआपि (न) और (हृदे+चक्षुः) हृदेचक्षु (ग्रन्थिनी+चरण्युः) ग्रन्थिनी और चरण्यु आदि कई सखियाँ थी। (ताः) वे (अरुणायः) अरुणवर्णा (अंजयः) सुभूषिता ही अब (न+स्रुः) नहीं आतीं एवं (धेनव+गावः+न) नव प्रसूता गौ के समान (श्रिये+न+अनवन्तः) शोभार्थ शब्द नहीं करती थी। सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नआपि, हृदेचक्षु, ग्रन्थिनी, चरण्यु आदि उषाकाल के गुणवचाक नाम हैं। ६।

समस्मिन्जायेमान आसतग्ना—उतेम वर्धन् नद्यः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः।७।

(अस्मिन्+जायेमाने) इस पुरूरवा के जन्म के समय (ग्नाः+आसत) सब देव वनिताएँ इकट्ठी होती हैं। (उत+ईम्) और इसको (स्वगूर्ताः+नद्यः+अवर्धन्) स्वयं गामिनी नदियाँ संवर्धित करती हैं। (पुरूरवः) हे पुरूरव

(यत्+त्वा) आपको (देवा:) देवगण (दस्युहत्याय) दुष्टों की हत्या के लिए (महे+रणाय) महा संग्रामार्थ (अवर्धयन्) संवर्धित करते हैं। जैसे शिशु उत्पन्न होने पर वनिताएँ देखने आती हैं। मानो वैसा ही प्रात: सूर्य उत्पन्न होने पर जगत् की सारी शक्तिरूपा स्त्रियाँ इकट्ठी होके देखने आती हैं। सूर्योदय होने पर शक्तियों का प्रफुल्लित होना ही, मानो, देव वनिताओं का आना है। नदी नाम सूर्य किरणों का है। नदीवत् विस्तीर्ण होती है। अन्धकाररूप शत्रुओं का हन्ता सूर्य ही है। अथवा—सूर्योदय होने पर क्या चेतन क्या जड़ सब ही प्रफुल्लित हो जाते हैं। प्रफुल्लित होना ही मानो प्राकृतिक शक्तियों का उत्सव मनाना है। उषा काल में हिम का गिरना नदियों का बढ़ना है और अन्धकार का विनाश होना ही मानो, दस्युहत्या है। इसी हत्या के लिए सूर्याऽऽगमन की प्रत्याशा सब प्राणी करते हैं। जैसे दस्युहत्या के लिए देवगण इन्द्र को अग्रसर करते हैं। तद्वत् यहाँ भी पुरूरवा को देव अग्रसर करते हैं। इन्द्र नाम सूर्य का है। अतएव पुरूरवा भी सूर्य है यह विस्पष्ट प्रतीत होता है। ७।

सचा यदाऽऽसु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन् रथस्पृशो नाश्वा:।८।

(यदा) जब (आसु) अप्सराओं को (अत्कम्+जहतीषु) इस रूप के त्यागने और (अमानुषीषु) अमानुष रूप धारण करने पर (सचा) सदा साथ रहने हारा यह (मनुष:) मनुष्य पुरूरवा (निषेवे) सामने जाता है तब (मत्+ता:+अप+अत्रसन्) वे मुझ से दूर भाग जाती हैं। इसमें दृष्टान्त कहते हैं (न+तरसन्ती+भुज्यु:) भयभीता जैसे मृगी और (न+रथस्पृश:+अश्वा:) जैसे रथयोजित अश्व भागते हैं, वैसे ये भाग जाती है। सूर्य के उदय होने पर उषा की समस्त शोभा विनष्ट हो जाती है यह इसका भाव है। ८।

यदाऽऽसु मर्तो अमृतासु निस्पृकसं क्षोणिभि: क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्व: शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीडयो नन्दशाना:।९।

(यदा) जब (आसु+अमृतासु) इन अमृता उषाओं के पीछे (मर्त्त:) मर्त्य: पुरूरवा (क्षोणीभि:) वचनों से और (क्रतुभि:) कर्मों से (निस्पृक्+संपृङ्क्ते) स्पर्श करने हारा सम्पर्क करना चाहता है तब (ता:+आतय:) वे दु:खभूता उषाएँ (स्वा:+तन्व:+न+शुंभत) अपने शरीर को प्रकाशित नहीं करतीं अर्थात् भाग जाती हैं (न) जैसे (क्रीडय:) क्रीडाशील (दन्दशाना:) शीघ्रगामी (अश्वास:) घोड़ियाँ अपने शरीर नहीं देखतीं। निस्पृक्=नि:शेषेण स्पृशन्=जो अच्छे प्रकार स्पर्श करना चाहे। क्षोणी=वाणी। आसि=आधिभूता=

दुःखदायिनी।

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे मप्या काम्यानि।

जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः। प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः। १०।

(या) जो उर्वशी (विद्युत्+न) विद्युत् के समान (पतन्ती) भागती हुई (दविद्योत) चमकती हुई और (मे) मेरे लिये (अप्या+काम्यानि) आकाश व्यापक अभीष्ट जल (भरन्ती) देती हुई भागती है उससे (अपः) व्यापक (नर्यः) नरहित (सुजातः) शोभनजन्मा पुत्र (जनिष्टः) उत्पन्न होता है उसको (उर्वशी) उर्वशी=उषा (दीर्घम्+आयुः) दीर्घ आयु (प्रतिरत) देवे। उषा के पश्चात् दिनरूप पुत्र उत्पन्न होता है। इसी पुत्र का वर्णन है। १०।

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।

अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि। ११।

उर्वशी कहती है। (इत्था+गोपीथ्याय+हि+जज्ञिषे) हे पतिदेव! आप क्यों प्रलाप करते हैं। आप इस प्रकार पृथिवी की रक्षा के लिए ही होइए (पुरूरवः) हे पुरूरव! आप ने (मे) मेरे उदर में (तत्+ओजः) उस पुत्रोत्पादन सामर्थ्य को (दधाथ) स्थापित किया है अतः अब आप को शोक नहीं करना चाहिये। (विदुषी) भावीकार्य को जानने हारी मैं (सास्मिन्+अहन्) सब दिन (त्वाम्+अशासम्) आप को सिखलाती रही परन्तु आपने (न+मे+आ+अशृणोः) मेरी एक भी न सुनी (किम्+अमुक्+वदासि) प्रतिज्ञा न पालन करते हुए आप क्या कह रहे हैं। ११।

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाचक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।

को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्। १२।

हे उर्वशी! (कदा+जातः+सूनुः+पितरम्+इच्छात्) कब तुम्हारा पुत्र उत्पन्न होके पिता की इच्छा करेगा। और आने पर (विजानन्) जानता हुआ क्या वह (चक्रम्+अश्रु+न+वर्तयत्) रोदन नहीं करेगा। (कः) कौन पुत्र (समनसा+दम्पती) समानमनस्क दम्पती अर्थात् माता पिता को (वियूयोत्) वियुक्त करेगा (अध) अब (श्वशुरेषु) तेरे श्वशुर के गृह में (अग्निः) पुत्ररूप तेज (दीदयत) कब प्रदीप्त होगा। इच्छान्=इच्छेन्। चक्रन्=कन्दमान=रोदन करता हुआ। १२।

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै।

प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर माऽऽपः। १३।

(प्रति+ब्रवाणि) उर्वशी कहती है। मैं आप की कथा का उत्तर देती हूँ।

(अश्रु+वर्तयते+चक्रन्न्+क्रन्दत्) आपका शिशु आके अश्रुपात वा क्रन्दन नहीं करेगा (शिवायै+आध्ये) उसके मङ्गल के लिए मैं चिन्ता करूँगी (यत्+ते) जो आपका तेज (अस्मे) मुझ में निहित है। (तत्+ते+प्र-हिनव) उसको मैं भेज दूंगी। (मूर+अस्तम्+परा+इहि) हे निर्बोध! मूढ़! गृह लौट जाओ (मा+न+हि+आपः) क्योंकि अब मुझको आप प्राप्त नहीं कर सकते। १३।

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।

अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः। १४।

पुरूरवा कहता है। (अद्य+सुदैवः+प्रपतेत्) हे उर्वशी! आज वह तुम्हारे साथ सुक्रीडक तेरा पति यहाँ ही पतित होय (अनावृत्) गृह न लौट कर (परावतम्+परमाम्+गन्तवा+उ) कहीं दूर से दूर देश लौट जाये (अध+निर्ऋतेः+उपस्थे+शयीत) अथवा क्लेश के अङ्क में शयन करे (अध+एनम्+रसभासः+वृकाः+अद्युः) अथवा वेगवान् अरण्य कुत्ते इसे खा जायें। अर्थात् तेरा वियोग असह्य है। १४।

सुदेवोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया।

खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्। भा०।

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता। १५।

उर्वशी कहती है। (पुरूरवः+मा+मृथाः) हे पुरूरवा! इस प्रकार आप मृत्यु की कामना न करें न मरें। (मा+प्र+पप्तः) पतित न होवें (अशिवासः+वृकासः+मा+त्वा+उक्षन्) अमङ्गल हुँकार आपको न खाएँ (न+वै+स्त्रैणानि+सख्यानि+सन्ति) स्त्रियों का प्रणय स्थायी नहीं होता (सालावृकाणां+हृदयानि+एता) स्त्रियों के हृदय और वृकों के हृदय दोनों एक प्रकार के होते हैं। १५।

इस ऋचा पर कई एक श्लोक भागवत में कहे है। यथा—

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मास्म त्वाऽद्युर्वृका इमे।

क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां बृकाणां हृदयं यथा। ३६।

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।

घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत। ३७।

विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।

नवंनवमभीप्स्यंत्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः। ३८।

भागवत रचयिता को स्त्रीमात्र से द्वेष था। स्थान-स्थान में स्त्रियों की

बड़ी निन्दा की है। परन्तु महिलाएँ ऐसी नहीं होतीं। निज-निज पति के लिए स्त्रियों ने सहस्त्रों क्लेश उठाए हैं। पातिव्रत धर्म आश्चर्यरूप से निबाहा है। भागवत का अन्तिम वर्णन निश्चय पुंश्चलियों का है।

यद्विरूपाऽचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्त्रः।
घृतस्यस्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि। १६।

उर्वशी कहती है मैं विरूपा होके अर्थात् अपना वास्तविक रूप त्याग मनुष्यरूप धारण कर विचरण करती रही। (मर्त्येषु+शरदः+चतस्त्र+रात्रीः+अवसम्) मनुष्यों में शरद ऋतु की चार रात्रियाँ निवास किया (अह्नः+सकृत्) दिन में एक ही बार (घृतस्य+तोकम्+आश्नाम्) किञ्चिनमात्र घृत पान किया (तात्+एव+इदम्) उसी से (तातृपाणा+चरामि) अतिशय तृप्ता होके विचरण कर रही हूँ। १६।

अन्तरिक्षप्रां रजतो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे। १७।

पुरूरवा कहता है। (वसिष्ठः) मैं वसिष्ठ अर्थात् सूर्य (रजसः+विमानी) आकाश प्रिया (अन्तरिक्षप्राम्) अन्तरिक्षपूर्णकारिणी (उर्वशीम्) उर्वशी अर्थात् उषा को अपने वश में रखूँ। (सुकृतस्य+रातिः) सुकृतप्रद यह आपका पति (त्वा+उपतिष्ठात्) आपके समीपवर्ती होय (निवर्तस्य) आप लौटिये (मे+हृदयं+तप्यते) मेरा हृदय संतप्त हो रहा है। १७।

इति त्वा देवा इम आहहरैड यथेमेतद् भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे। १८।

पुनः उर्वशी कहती है। (ऐत) हे ऐल! इलानन्दन! (त्वा+इमे+देवाः+इति+आहुः) ये देवगण आपको इस प्रकार कहते हैं (यथा+ईम्+एतत्+मृत्युबन्धु+भवसि) कि आप निश्चय मृत्युबन्धन हैं (प्रजाः) आप सुसमृद्ध होके (ते+देवान्+हविषा+यजाति) निज देवों को हविद्वारा यजन करते हैं (स्वर्गे+उ+त्वम्+अपि+मादयासे) और आप स्वर्ग में आमोद प्रमोद करते हैं। इन पर विचार और उपदेश शिक्षा आदि अन्त में रहेगा। १८।

सम्पूर्ण वर्णन से भासित होता है कि उर्वशी कोई दिव्य देवी है। अपनी प्रतिज्ञा में अचला है। प्रतिज्ञा भंग से स्त्रीजाति को सिद्ध कर दूषित् वा कलङ्कित करना नहीं चाहती। इसके विरुद्ध पुरूरवा अपनी प्रतिज्ञा का कुछ भी आदर नहीं करता। सर्वथा अपनी दुर्बलता दिखलाता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि एक स्त्रीव्रत अव्यसनी युवा पुरुष को उच्च प्रणय और विरहावस्था में हार्दिक

विक्षोभ, संताप, भाविनी दशा को विचार जैसा असह्य क्लेश से मूर्छा आदि हो सकती है। ये सब गुण इस पुरूरवा में निहित हैं। अब आगे आप देखेंगे कि इतिहास वृद्धि किस प्रकार होती गई। परन्तु इन इतिहासों में भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनसे बुद्धिमान् आदमी को इसकी काल्पनिकता अच्छे प्रकार ज्ञात हो जाती है।

उर्वशी और पुरूरवा शब्द—उषा (प्रात:काल) की परम शोभा का नाम उर्वशी है। मानो यही एक परम सुन्दरी देवी है। इसका वर भी अनुगुण होना चाहिये। अत: तेजस्वियों में तेजस्वितम सूर्य ही इसका वर है। इसी का नाम पुरूरवा है। पुरूरवा कोई मनुष्य लोक का राजा नहीं। और न उर्वशी कोई इन्द्रलोक की अप्सरा है। किन्तु उषा और सूर्य को ही पत्नी और पति मान कर दाम्पत्यप्रेम, स्त्री की अटूट प्रतिज्ञा का प्रतिपालन आदि अनेक वस्तुएँ यहाँ दिखलाई गई हैं। दो तीन घड़ी रात्रि से लेकर सूर्योदय पर्यन्त जो काल है उसका नाम उषा है। यह शब्द स्त्रीलिंग है। अतएव किसी की जननी, किसी की भगिनी, किसी की पुत्री और किसी की वनिता कह कर आरोपिता हुई है। इस उषा के अनेक नामों में से एक नाम उर्वशी है। इस नाम से संस्कृत साहित्य में जितनी आख्यायिकाएँ, जितने आश्चर्य वृत्तान्त आए हैं। उतने स्वयं उषा नाम से ही नहीं आए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उषा-उषा ही रह गई किन्तु उषा का एक नाम, देवी, स्वर्ग की शोभा, राजगृह की दीपशिखा, कवियों की विनोदवाटिका बन गयी। उर्वशी को पीछे लोग चेतनावती स्त्री मानने लगे। आश्चर्य है कि अब तक मान रहे हैं। उर्वशी वेद, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, रामायण, महाभारत, पुराण और महाकवि कालिदास के नाटक तक गौरवान्विता हुई। यह चंद्रवंश्य पुरूरवा का जीवन, महर्षि वसिष्ठ के माता, इन्द्रपुरी की सुषमा और अरण्यनिवासी तपस्वियों की विघ्नकारिणी मानी जाती है। जो वेदों में केवल प्रात:काल की शोभा है वह पुराणादिकों में वास्तविक नारी बन जाती है। यह इतिहास की अथवा काल्पनिक शास्त्र की परम समृद्धि कही जा सकती है। उर्वशी और पुरूरवा ये दोनों नाम क्रम से उषा और सूर्य के हैं यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है।

१—व्युत्पत्र्थ से २—दैशिक और वैदेशिक विद्वानों की सम्मति से ३—आख्यायिकार्थ निरूपण से ४—नाम और सम्पत्ति के सादृश्य से प्रतीत होता है कि उर्वशी का आदि अर्थ उषा और पुरूरवा का सूर्य है।

१—व्युत्पत्यर्थ से—

"उरु=बहु, अश्नुते=व्याप्नोतीति उर्वशी"[१] (अशु, व्याप्तौ संघाते च) प्रात:काल की शोभा बहुत दूर तक फैल जाती है अत: इसको उर्वशी कहते हैं। अथवा "उरुभिसर्बहुभिरुष्यते काम्यते या सा उर्वशी"। जो बहुतों से अभिलषिता हो। अथवा "उरु बहु अश्नुते व्याप्नुते पलायते या सा" जो बहुत भागे। अथवा "उरुर्वा वशोस्या:" जिसको बहुत काम हो। इत्यादि। अथवा समय स्वयं निर्व्यापार है। जीव इसमें व्यापार करता है। जीव के व्यापार से काल भी व्यापारवान् सा होता है। वेद का एक नियम है कि व्यापार के अनुसार नाम रखे जाते हैं। भाव है कि प्रात:काल ऋषि, मुनि, साधारण गृहस्थ सब कोई वायुसेवन अथवा बाहर स्नान ध्यान के लिए नगर के चारों तरफ फैल जाते हैं इस कारण इसको भी उर्वशी कहते हैं। अर्थात् जिस काल में प्राणी बहुत फैलें इधर उधर भ्रमण करें। भाष्यकारगणों ने कर्तृप्रत्ययान्त ही बहुधा व्युत्पत्ति की है। परन्तु इसी को अधिकरणान्त व्युत्पत्ति करें तो अर्थ में और भी विस्पष्टता "उरवो बहव: प्राणिन: अश्वन्वते यत्र" अथवा "उरु बहु यथा व्याप्वते यत्र सा" यह अर्थ उरु और अश् धातु के योग से होता है। परन्तु यह उरु और "वश, कान्तौ" धातु से भी बनता है अत: यह भी अर्थ होगा। जिस काल की कामना बहुत लोग करते हैं। रात्रि भर लोग सोते रहते हैं। सोते-सोते थक जाते हैं। अब प्रात: हुआ यह कामना सबकी बनी रहती है। अथवा रात्रि के अन्धकार से और अन्धकार के कारण चौरादिक के उपद्रव से लोग अस्तव्यस्त हो प्रात:काल की कामना करते रहते हैं अत: इसको उर्वशी कहते हैं। ठीक यही अर्थ उषा शब्द का भी है। (वश, कान्तौ) कामनार्थक वश धातु से ही उषा शब्द भी बनता है अथवा जो बहुत भागे। अर्थात् यहाँ उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम चित्रित हुआ है। मानो उर्वशी भागती हुई चली जा रही है और पुरूरवा इसके पीछे मानो, रोता हुआ जा रहा है अत: गुणानुकूल दोनों के नाम भी वैसे ही रखे गये हैं। पुरूरवा शब्द का अर्थ "पुरु बहुधा रोरूयते" जो बहुत रोवे, सूर्य शक्ति सरण्यू के समान इस उर्वशी का भी पलायन है। "सरण्यू: सरणात्" जो सरण अर्थात् गमन करे। सरण्यू के साथ इसकी तुलना करो।

पुरूरवा—पुरुर्बहू रवो यस्मिन जिसके उदय होने पर पुरू=बहुत, रव=नाद, कोलाहल हो, "शब्दे निनाद निनद ध्वनि ध्वान रव स्वना:।" स्वान निर्घोष

१. यास्काचार्य "उर्वशी अप्सरा-उर्वभ्यश्नुते उरुभ्यामश्नुते उरुर्वावशोऽस्या:। नि० ५-१४ ये तीन व्युत्पत्तियाँ करते हैं। उनके समय में उर्वशी स्वर्ग वेश्या बन चुकी थी अत: उरुभ्या मश्नुते इत्यादि व्युत्पत्ति करते हैं।

निर्हाद नाद निश्वानः निश्वनाः इत्यादि अनेक नाम शब्द के हैं और ''प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यं अदभ्रं बहुलं बहु। पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरिच'' इत्यादि बहुवाचक शब्द हैं। ''रु, शब्दे'' रु धातु से रव बनता है। अथवा ''पुरु बहु रूयते शब्दते स्तूयते यः स पुरूरवाः'' जो बहुत स्तूयमान हो अथवा बहुधारो रूयते (नि० १०। ४६) जो बहुत रोवे। इस सम्वाद में पुरूरवा के बहुत विलाप का वर्णन है। अतः अन्वर्थ संज्ञा रखी गई है ''पुरु प्रचुरं यथा स्यात्तथा रीतीति पुरूरवा'' उणादि सूत्र ४। २३२ से सिद्ध होता है। महाभारत वनपर्व अ० ९ में ''पर्वतश्च पुरूर्नाम यत्र जज्ञे पुरूरवाः'' श्लोक २२। ऐसा लिखा है इसके अनुसार ''पुरो पर्वते रौति'' ऐसी व्युत्पत्ति होनी चाहिये।

२—दैशिक और वैदेशक विद्वानों की सम्मति सेः—

श्रीयुत महाशय रमेशचन्द्र दत्तजी अपने ऋग्वेद के अनुवाद की टिप्पणी के कई स्थानों में कहते हैं कि ''उर्वशीर आदि अर्थ उषा एवं पुरूरवार आदि अर्थ सूर्य'' अर्थात् उर्वशीका आदि अर्थ उषा और पुरूरवा का आदि अर्थ सूर्य है। ऋग्वेद ५। ४१। १९ टिप्पणी में देखिये। पुनः ऋग्वेद १०। ९५ सूक्त की टिप्पणी में इसी विषय को दिखलाते हुए कहते हैं। ''एह सूक्ते उर्वशी ओ पुरूरवार वैदिक उपाख्यान आख्यात हइयाच्छे। पुरूरवा अप्सरा उर्वशीसहित किछु कालसहवास करितेच्छेन, उर्वशी एक्षणे पुरूरवा के छाड़िया जाइतेच्छेन। आमरा पूर्वई वलियाछि, उर्वशीर आदि अर्थ उषा, पुरूरवार आदि अर्थ सूर्य। सूर्य उदय हइलें उषा आर था केना।''

यूरोप के प्रोफेसर गेल्डनर, रौथ, गोल्ड स्टकर, मैक्समूलर, म्यूर आदि अनेक विद्वानों ने इस आख्यायिका के ऊपर बहुवादानुवाद अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। अन्त में यही निश्चय किया कि उषा का नाम उर्वशी और सूर्य का नाम पुरूरवा है। चतुर्वेदानुवादक ग्रिफिथ साहब की भी यही सम्मति है। १०। ९५ सूक्त के नोट में लिखते हैं। Max Mullar considers the story to be one of the myths of the Vedas which expresses the corrolation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstucker. Urvasi is the morning mist which vanishes away as soon as Puruavas the sun displays himself .

मैक्समूलर विचार करते हैं कि वैदिक आख्यायिकाओं में से यह एक आख्यायिका है जो उषा और सूर्य के सम्बन्ध की द्योतिका है। डाक्टर गोल्डस्टकर की सम्मति से प्रातःकाल की कुहक (कुहेशा) उर्वशी है और पुरूरवा सूर्य है। सूर्य के उदय होते ही वह कुहक भाग जाती है पुनः मैक्समूलर अपने लेख

में कहते हैं कि—That Pururavas is an appropriate name of a soalr hero requires hardly any proof. Pururavas meant** endued with much light; for though rava is generally used of sound yet the root ru, which means originally to cry, is also applied to color in the sense of a loud or crying i,e, red**(Sanskrit Ravi, sun). Besides Puruavas calls himself Vasishtha (19 ऋक्), which, as we know, is a name of the sun, and if he is called Aida (11ऋक्) the son of Ida, the same name is elsewhere (Regveda III, 29, 3) given to Agni, the fire"-Max Muller's Selected Essays (1881), Vol, 1.p.p 407, 408.

"I Therefore accept the common Indian explanation by which this name (Urvasi) is derived from uru, wide and a root as to pervade and thus compare Uru-asi wither frequent epithet of the dawn, Uruki" Ibid, p,-405

पुन: मैक्समूलर विवेचना करते हैं कि यूरोप (Europe) शब्द उर्वशी का प्रतिरूप है एवं वृष द्वारा यूरोप हरण सम्बन्धीय ग्रीक गल्प उषा और सूर्य के प्रणय के गल्प का प्रतिरूपमात्र है।

"The name which approaches nearest to Urvasi in Greek might seem to be Europe.....Europe, earried away bt the (White bull Vrishan "man "bull" "stallion" in the Veda frequent appellation of the sun and "sweta" white applied to the same deity) all this would well agree with the goodess of the dawn,-Selected Essayss 1881. 1p 400 note.

३—आख्यायिकार्थ निरूपण से:—

इससे भी उर्वशी और पुरूरवा क्रमश: उषा और सूर्य का वाचक यह सिद्ध होता है। अत: प्रथम शतपथ और भागवत की आख्यायिका देके समीक्षा करूँगा।

शतपथ ब्राह्मण के काण्ड ११। अ० ५ म० में उर्वशी और पुरूरवा की आख्याययिका है। सम्पूर्ण का भाव है यह है—

अप्सरा उर्वशी ने इड़ापुत्र पुरूरवा की कामना की। वह उसको पा बोली कि कभी अकामा मुझको आप क्लेशित न करें और मैं आपको नग्न न देखूँ। निश्चय, स्त्रियों का यही उपचार है। वह इसके निकट रहने लगी और इससे गर्भिणी हुई। तब गन्धर्व विचारने लगे कि यह उर्वशी मनुष्यों में बहुत दिन निवास करती रह गई। देखें, कोई उपाय करें कि वह पुन: लौट आवे। उसके

शयन के निकट दो बच्चे सहित एक मेषी बँधी रहती थी। तब वे गन्धर्व उन बच्चों से एक बच्चा ले भागे। वह बोली—जैसे अवीर और अजन देश में चोर निर्भय हो धनादिक हरण करते हैं वैसे मेरे पुत्र को ये हरण कर रहे हैं। इसके दूसरे पुत्र को भी ले चले। पुनः वह वैसे ही चिल्ला उठी तब यह पुरूरवा कहने लगा—कैसे यह अबीर और निर्जन कहला सकता है जहाँ मैं हूँ। सो वह नग्न ही उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। यह इसको बहुत पीछे ज्ञात हुआ तब कि उसने वस्त्र पहन लिया। तब उन गन्धर्वों ने बिजली उत्पन्न की दिन के समान उर्वशी ने उस पुरूरवा को नग्न देख लिया। तब वह वहाँ से तिरोहिता हो गई। फिर मैं आऊँगी ऐसा पुरूरवा से कह के चली गई। वह तिरोहिता प्रिया को ही बकता झकता समय पालन करता हुआ मनोव्यथा से व्यथित हो कुरुक्षेत्र में विचरने लगा वह घूमता हुआ कमलमण्डित सरोवर के निकट आया। उसमें वे अप्सराएँ विहग रूपिणी बन तैर रही थी। इसको यह देख बोली—यह वही मनुष्य है जिसके पास मैं रहती थी। वे सब बोलीं कि हम इसको प्रत्यक्ष होवें। यह विचार सब आविर्भूता हुईं। इसको पहचान वह ''हये जाये'' इत्यादि। यहाँ ऋग्वेद की ऋचाओं के द्वारा ही सम्वाद का वर्णन है। पुरूरवा ने ''हये जाये'' इत्यादि ऋचा पढ़ कर कहा कि मेरे समीप आओ। दोनों कुछ सम्वाद करें। यह सुन उसने ''किमेतावाचा'' इत्यादि ऋचा पढ़कर उत्तर दिया आपने उसे नहीं किया जिसको मैंने कहा था। मुझको आप न पा सकेंगे। घर लौट जाइये। फिर वह पुरूरवा दुःखित होकर ''सुदेवो अध'' इत्यादि ऋचा पढ़ कर कहने लगा कि मैं यहाँ ही फाँसी लटकूँगा, कहीं गिर पड़ूँगा। मुझे यहाँ ही वृक और श्वान खा जाएँ। यह सुन (उर्वशी) ''पुरूरवो मा मृथां मा प्रपत्तः'' इत्यादि ऋचा पढ़ बोली कि ऐसा न हो। स्त्रियों के साथ संख्या नहीं होते। आप पुनः गृह लौट जाएँ इतना कह पुनः उर्वशी बोली मैं विरूपा होकर (मर्त्यलोक में) विचरण करती रही। मनुष्यों में मैनें चार वर्ष निवास किया। दिन में किंचित् घृत खाया करती थी। अब इतने ही से तृप्ता हो मैं विचरा करती हूँ। इत्यादि सो इस वचन प्रतिवचनरूप सम्वाद को बह्वृच लोग १५ ऋचाओं में कहते हैं तब उस (उर्वशी) को दया आई। वह बोली सम्वत्सरतमी रात्रि को आप आवें तब आप मेरे साथ एक रात्रि शयन कर सकेंगे। और आपको एक पुत्र भी होगा। वह सम्वत्सरतमी रात्रि को हिरण्यनिर्मित गृह में आया। इसको उन्होंने कहा कि यहाँ आइये। इनके लिए वे उसको ले आए। वह (उर्वशी) बोली। प्रातःकाल आप को गन्धर्व वर देंवेगे आपने उनसे वर माँगना कि आप में मैं भी एक होऊँ। प्रातःकाल गन्धर्वों ने उसको

वर दिया। उसने वर माँगा कि आप लोगों में मैं भी एक होऊँ। वे बोले—मनुष्यों में अग्नि की वह यज्ञिया तनू नहीं है जिससे यज्ञ कर के हम लोगों में यह एक होगा। इसलिये इस को थाली में रख के अग्नि दिया। और कहा कि इससे यज्ञ करके आप हम में से एक होंगे। वह कुमार को लेकर चला आया। अब अरण्य में ही अग्नि को रख कुमार के ही साथ ग्राम को आया। पुनः मैं आऊँगा ऐसा कह चला गया। वह अग्नि—अश्वत्थ हो गया और वह स्थाली शमी हो गई। वह पुनः गन्धर्वों के निकट आया। उन्होंने कहा कि एक सम्वत्सर चातुष्प्राश्य ओदन पकाओ। और इसी अश्वत्थ की तीन-तीन समिधाएँ लेकर उनमें घृत लगा समिद्वती और घृतवती ऋचाओं से समिधाधान करो। उससे जो अग्निजनित होगा यह वही होगा। पुनः वे बोले—यह परोक्षवत् है आप अश्वत्थ की लकड़ी को उत्तरारणी बनाओ और शमी की लकड़ी को अधरारणी। इन दोनों को मथो। उससे जो अग्नि ज्ञात होगा वहीं अग्नि होगा अथवा अश्वत्थ की ही लकड़ी को उत्तर अधर अरणि बनाओ इससे जो अग्नि होगा यह वही अग्नि होगा। इसने अश्वत्थ की ही उत्तराणि और अधरारणि बनाकर अग्नि मन्थन किया। उससे जो अग्नि जात हुआ यह वही हुआ। इससे यज्ञ कर के वह गन्धर्वों में प्राप्त हुआ इसलिये उत्तरारणि और अधरारणि दोनों अश्वत्थ की ही बनावे। इससे जो अग्नि हो उससे यज्ञ कर के वह गन्धर्वों में एक होता है।

भागवत और उर्वशी

मित्र और वरुण के शाप से स्वर्गनिवासिनी अप्सरा उर्वशी इस मर्त्यलोक में आई। इन्द्र के भवन में नारदजी ने पुरूरवा की एक समय बड़ी प्रशंसा की थी। यह सुन के अपने शाप के काटने के लिए उर्वशी ने मर्त्यलोक में पुरूरवा के गृह को ही शोभित किया। आके उर्वशी ने राजा से कहा कि हे मानद! आप मेरे ये दो उरणक (मेषशिशु) न्यास रखें। मेरा भोजन केवल घृत होगा। और मेरे निकट आप कभी निवस्त्र न होवें। यदि यह सब आप को स्वीकृत हो तो मैं आपके साथ कुछ काल निवास करूँगी। राजा ने सब कुछ अङ्गीकार कर लिया। उर्वशी सुख पूर्वक निवास करने लगी। बहुत दिनों के पश्चात् इन्द्र ने अपना भवन उर्वशी से शून्य देख गन्धर्वों को यह आज्ञा दे भेजा कि मर्त्यलोक से उर्वशी को ले आओ। वे गन्धर्व आके रात में उर्वशी के पुत्रीकृत दोनों उरणक ले भागे। पत्नी से प्रेरित पुरूरवा भी शयन पर से उठ गन्धर्वों के पीछे-पीछे दौड़ा। इतने ही में उन गन्धर्वों ने विद्युत् का प्रकाश कर दिया। जिससे उर्वशी अपने पति पुरूरवा को नग्न देख प्रतिज्ञा स्मरण कर वहाँ से लुप्त हो गई। पुरूरवा को इससे अति शोक हुआ। उर्वशी के अन्वेषण में मत्त होकर पृथिवी

पर घूमने लगा। अन्त में कुरुक्षेत्र की सरस्वती नदी में स्नान करती हुई सखियों के साथ उर्वशी को देखा। दोनों में वार्तालाप हुआ। उर्वशी ने कहा कि एक वर्ष के अन्त में एक रात्रि आप मेरे साथ वास करेंगे और अन्यान्य पुत्र भी आपको होंगे। इस समय लौट जाएँ। पुरूरवा भी उर्वशी को अन्तर्वत्नी देख लौट समय का पालन करता रहा। वर्षान्त में आई। दोनों दम्पती प्रेमपूर्वक एक रात्रि सहवास के सुख से परम सुखी हुए। उर्वशी ने कहा कि हे मानद! आप गन्धर्वों की स्तुति कीजिये वे मुझ को आप के लिए देवेंगे। राजा ने गन्धर्व की स्तुति की। वे प्रसन्न हो एक अग्निस्थाली दे चले गये। वह उसी को उर्वशी समझ वन में घूमने लगा। वन में ही उस को रख गृह पर वह चला आया। जब फिर लौट कर वन को गया तो अग्निस्थाली की जगह शमीगर्भस्थ अश्वत्थ वृक्ष को देखा। उस वृक्ष की एक अधर अरणी बनाई। और उत्तर अरणी स्वयं वन के दोनों का मन्थन किया उससे अग्नि उत्पन्न हुआ जो त्रेता में अनेक यज्ञ का कारण हुआ। इत्यादि श्रीमद्भागवत ९ स्कन्ध। अध्याय १३ में देखो।

३—आख्यायिकार्थ निरूपण से:—

सब आख्यायिकाओं में चार पाँच बातों की समानता है, इनकी समीक्षा से अभीष्टार्थ निष्पन्न होता है। उर्वशी सर्वत्र कहती है कि मैं आपको कभी निवस्त्र (नग्न) न देखूँ। मेरे दो बच्चे हैं जिन को मैं पुत्रवत् मानती हूँ आप इन को न्यास रखें। मेरा भोजन घृत होगा। अन्त में एक दिन पुरूरवा को निर्वस्त्र देख उर्वशी भाग जाती है। पुनः मिलने पर कहती है कि वर्षान्त में एक रात्रि आप से मिलूंगी। पुनः इसी पुरूरवा ने त्रेताग्नि का प्रचार किया।

यद्यपि मैं सम्पूर्ण गाथा की समीक्षा नहीं करूँगा क्योंकि इससे यहाँ लेख बहुत विस्तृत हो जायेगा। और उर्वशी सम्बन्धी वार्ता अनेक स्थल में आगे रहेगी। संक्षेप भाव यह है—

सूर्य का पूर्णोदय होना ही मानो, नग्न अथवा निवस्त्र होना है और स्वभावतः सूर्योदय होने पर उषा नहीं रह सकती। क्योंकि सूर्योदय काल पर्यन्त का ही नाम उषा है। अतः उषा सूर्य को कदापि नग्न देख ही नहीं सकती। जब सूर्य नग्न होगा तब उषा आगे भाग जायेगी। दिन और रात्रि ये ही दोनों, मानो उषा के दो पुत्र हैं। क्योंकि उषा के बाद ये दोनों आते हैं। ठीक ऐसा ही वर्णन सरण्यू का देखो। सरण्यू के दो पुत्र यम और यमी अर्थात् दिन और रात्रि हैं। पुनः वडवा के दो पुत्र अश्विदेव हैं। इन दोनों की भी समानता की तुलना करो। मानों, ये दोनों पुत्र उषा के निकट बँधे हुए रहते हैं। गन्धर्व नाम सूर्य

किरणों का है। मानो सूर्य किरण दिनरूप देव और रात्रिरूपा देवी को ले भागते हैं। अर्थात् उर्वशी के निकट, मानो, जो दिन और रात्रि बँधे हुए उनको लेके अब दिन बना दिया है। जब दिन हो गया तो उर्वशी अर्थात् उषा का व्याकुला होना सर्वथा सम्भव है।

उर्वशी का घृत भोजन है। घृत नाम जल का है। प्रात:काल हिम का अध-पतन अथवा हिम का बनना सिद्ध है। मानो, उर्वशी के भोजन के लिए ही ईश्वर हिम की वर्षा प्रतिदिन करता रहता है अप्सराओं में से घृताची एक है। इसका भी यही मूलार्थ है। वर्षान्त में पुन: एक रात्रि उर्वशी मिलती है। वर्ष नाम एक अहोरात्र का है। प्रत्येक अहोरात्र के अन्त में उषा आवेगी और सूर्य से मानो मिलेगी। यही इसका भाव है। ऐसे स्थानों में वर्षा नाम अहोरात्र का इसमें मीमांसा और सांख्य प्रकरण देखो। गन्धर्वगण इसको अग्निस्थाली देते हैं। भाव यह है कि आहवनीय, गार्हपत्य, और अन्वाहार्यपचन कुण्ड़ों में अग्नि स्थापित होते हैं इसी का नाम त्रेताग्नि है जो त्रियुतायते जो तीन कुण्ड़ों में विस्तीर्ण हो इत्यादि आख्यायिका के भाव से भी यही सिद्ध होता है कि उषा का नाम उर्वशी और सूर्य का नाम पुरूरवा है।

४—नाम और सम्पत्ति के सादृश्य से:—

उर्वशी और उरूकी, उषा आदि नाम सदृश हैं और जैसे सरण्यू भागती है। सरण्यू के दो पुत्र हैं पुन: वह कहीं अन्य रूप से मिलती है। यह सब बातें उर्वशी के इतिहास में भी हैं। उर्वशी का विषय आगे भी रहेगा। यहाँ केवल ब्रह्मवादिनी मानुषी उर्वशी ऋषिका के सम्बन्ध में इतना लिखना था कि यह देवी किस अर्थ का प्रचार करती थी। परन्तु प्रसङ्गत: उर्वशी अर्थात् उषा का भी वर्णन मुझे बहुत लिखना पड़ा। संस्कृत साहित्यान्वेषी पुरुषों से निवेदन है कि वेद के एक-एक शब्द को लेकर देखें कि अर्थ में कितना परिवर्तन हुआ है। जिस उर्वशी और पुरूरवा शब्द का केवल उषा और सूर्य अर्थ था वे दोनों समय के प्रताप से चन्द्रवंशी मनुष्यों के आदि पुरुष बन गये। और इनके अनेक पुत्र पौत्र दौहित्र भी हो के पृथिवी के शासक बने। कैसी मिथ्या कल्पना करके इतिहास को पौराणिकों ने दूषित किया है। अथवा मनुष्यजाति कहाँ तक अज्ञानान्धकूप में गिरती चली जाती है और किस प्रकार गतनुगतिक है इससे पता लगता है। कैसे उर्वशी इन्द्रलोक की प्रधान नायिका ? कैसे चन्द्रवंश की पूज्या ? कैसे बड़े-बड़े कवि कालिदास प्रभृतियों का विनोद-स्थान और कैसे निज भक्तों को विविध फल देने हारी बन गई। यह सब विचारने पर कहना पड़ता है कि काल का प्रताप और मनुष्यजाति की अज्ञानता ही विशेष

कारण है। इति संक्षेपतः।

दक्षिणा ब्रह्मवादिनी। ३७।

आविर्दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या दक्षिणां
तद्दातृ न् वाऽस्तौत् चतुर्थी जगतीति। सर्वा०। ६२।
आविः सूक्तस्य चैतस्य दिव्यो वाङ्गिरसः स्वयम्—
प्राजापत्या दक्षिणा वा त्वृषिरित्यवगम्यताम्॥ बृ०। आ०।

''आविरभून्महि'' इत्यादि १०। १०७ वें सूक्त का ऋषि दिव्य नाम के कोई पुरुष हैं। अथवा प्रजापति की कन्या दक्षिणा नाम्नी स्त्री इसकी ऋषिका है। दक्षिणा वा दक्षिणदाताओं की स्तुति की चतुर्थी ऋचा जगती छन्द है यह कात्यायन सर्वानुक्रमणी में कहते हैं। आविर १०। १०७ इस सूक्त का ऋषि आङ्गिरस दिव्य है। अथा प्राजापत्या दक्षिण ऋषिका जानो यह शौनक बृहद्देवता आर्षानुक्रमणी में कहते हैं।

१०। १०७ वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मवादिनी प्राजापत्या दक्षिण नाम्नी स्त्री है। इस बात को विकल्प से उक्त दोनों आचार्य कहते हैं। श्रीमती दक्षिणा देवी दान का प्रचार किया करती थी। दान का ही नाम वेदों में दक्षिणा है। जिस कारण दक्षिणा की प्रचारिका यह थी अतः इसी नाम से जगत् में सुप्रसिद्धा हुई। वेदों के आशय ले के यह इस वक्ष्यमाण प्रकार से उपदेश दिया करती थी। ऐ मनुष्यो! ऐ नारियों! देखो! ईश्वर की ओर से तुम्हें कितने दान मिल रहे हैं। प्रकाश और उष्णता का दान यह सूर्य दे रहा है। चन्द्र तुम्हारी दृष्टि को कितना आह्लादित रखता है। वायु प्रतिक्षण जीवदान दे के अपरिमित उपकार कर रहा है। ये पक्षी-गण अपनी मधुरध्वनि से तुम्हारें कर्णों को तृप्त रखने के लिए कितना प्रयत्न करते हैं। क्या तुम विविध कुसुमों के सौरभ दान को नहीं लेते हो। कमलिनी तुम से क्या ले के अपनी सुन्दरता से तुम्हें प्रसन्न करती है? क्या कुछ मूल्य ले के ये फलवान वृक्ष तुम्हें विविध स्वादिष्ट फल देते हैं? क्या ये शीतल जल प्रवाहिणी नदियाँ जल दे के तुम से कुछ प्रत्युपकार की आकांक्षा करती हैं? ऐ मेरे प्यारे धनवान् धनवती नरनारियों! परम पिता ने इसको परस्पर सहायक बनाया है। कब सम्भव है कि सूर्य के बिना भी यह भूमि नाना पदार्थों के दान में समर्था हो। कब सम्भव है कि सूत्रात्मा अचिन्त्य शक्ति के बिना ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, पृथिवी आदि निखिल पदार्थ अपने-अपने कार्य कर सकें। पुनरपि देखो! यह जीवन कितने दिनों का है। लक्ष्मी किसको सदा चाहती है। कौन वंश सदा से धनाढ्य चला आया है। पृथिवी पर कौन

पुरुष है जो पर सहायता का अभिलाषी कभी नहीं हुआ है ? तुम्हारे प्रतिवासी (पड़ोसी) क्षुधा से पीड़ित हो आक्रोश करते-करते प्राण त्यागें और तुम उनकी एक बात न सुन निश्चिंत हो सोते रहो। क्या यह तुम्हारे लिये सुशोभित होगा ? ऐ पुरुषार्थी पुरुषो ! तथा प्यारी पुत्रियों तुम पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्तियों को व्यर्थ कार्य में मत व्यय करो। मनुष्यों को आलसी बनाने का कारण मत बनो परन्तु यथार्थ में जो इसके पात्र हैं उन्हें अवश्य दान दो। मनुष्यों का ऐसा कुत्सित स्वभाव हो गया है अथवा ये इस प्रकार वञ्चित हुए हैं कि कुपथ में अधिक व्यय करते हैं। परलोक की प्राप्ति के उद्देश्य से कुपात्रों को दान देते हैं। तीर्थों के कौवों वानरों और कछुओं को भी दान मिले परन्तु क्षुधार्त्त को दान का कोई अधिकार नहीं ? हे मनुष्यो ! मूर्खों को दान देके तुम अपने लिये अन्धकारमय गृह तैयार कर रहे हो। तीर्थ में किस को दान देने की विधि है ? तुम ऐसे स्थान में दान देके केवल अपनी हानि नहीं किन्तु देशको आलसी, दुराचारी, मूर्ख, अज्ञानी बना रहे हो। ये मुफ्तखोर साँड़ यमराज के पुष्ट धन बनते हैं। इन स्थूलों को देख यमदूत खूब प्रसन्न होते हैं। मनुष्यातिरिक्त नाना योनियों को भरने के लिए इन्हें बहुत आत्मा मिल जाते हैं। ऐ परलोकलिप्सुजनो ! निःस्वार्थ तुम्हारा दान हो। पात्रापात्र विचार कर अवश्य दान दो। इत्यादि विविध दान सम्बन्धी शिक्षाओं को नर नारियों के मध्य दक्षिणा विस्तृत किया करती थी। जो वेदों के तत्त्वों के अन्त तक पहुँच मनुष्यों में शिक्षा दिया करता है, उसे ही ऋषि वा ऋषिका कहते हैं। अब उस सूक्त से दो एक ऋचा अर्थ सहित लिखता हूँ:—

आविरभून्महि माघोनमेषाम विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।

१०।१०७।

(एषाम्) इन जीवों के कल्याण के लिए (माघोनम्+महि+आविः+अभूत्) सूर्य का महातेज आविर्भूत हो रहा है (तमः+विश्वम्+जीवम्+निर्+अमोचि) अन्धकार से समस्त जीव निर्मुक्त हुआ। (पितृभिः+दत्तम्) जगत्पालक किरणों से प्रदत्त (महि+ज्योतिः+आ+अगात्) यह महाज्योति सर्वत्र आ गया है। (दक्षिणायाः+उरुः+पन्थाः+अदर्शि) इससे दक्षिणा का विस्तीर्ण मार्ग सूचित होता है। महि=महान्। माघीन=मघवा सम्बन्धी। मघवा नाम सूर्य का भी है।

भाव—जैसे इन प्राणियों के कल्यणार्थ सूर्य का महातेज पृथिवी पर विस्तीर्ण होता है वैसे ही उदार पुरुषों का धनरूप तेज सर्वत्र विस्तीर्ण हो। जैसे सूर्य के प्रकाश से समस्त जीव अन्धकार से सर्वथा मुक्त होते हैं तद्वत् सम्पतिशाली

महाभाग्यवान् जनों की सम्पत्ति से क्षुधारूप अन्धकार से सब कोई मुक्त हों। जैसे सूर्य की किरण महाज्योति को सर्वत्र विस्तीर्ण किया करती हैं वैसे ही धनिकों के धनों को उनके बन्धु बान्धव तथा अनुचरगण सत्पात्रों में वितीर्ण किया करें। ईश्वर की ओर से यह सूर्य तेज का दान सूचित करता है, यथा शक्ति प्रत्येक पुरुष को कुछ न कुछ दान करना उचित है। सूर्य तेज यहां उपलक्षक है। अर्थात् ईश्वरीय सब ही पदार्थ नाना दान दे रहे हैं।

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानाम् यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।५।

(दक्षिणावान्+हूतः+प्रथमः+एति) दाता सर्वत्र सबसे बुलाया जाता है। दाता मुख्य होके सर्वत्र पहुँचता है (दक्षिणावान्+ग्रामणीः+अग्रम्+एति) दक्षिणावान् ग्राम का नायक होके आगे-आगे चलता है (जनानाम्+तम्+एव+नृपतिम्+ मन्ये) मनुष्यों में उसी को नृपति मानता हूँ (प्रथमः+यः+दक्षिणाम्+अविवाय) प्रथम जो मनुष्य दान का पथ प्रचलित करता है।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगा मुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध।६।

(तम्+एव+ऋषिम्+तम्+उ+ब्रह्माणम्+आहुः) उसी को ऋषि और उसी को ब्रह्मा कहते हैं (यज्ञन्यम्+सामागाम्+उक्थशासम्) उसी को यज्ञनेता, सामगायक और विविध स्तोत्रों का शासक कहते हैं (स+शुक्रस्य+तिस्रः+तन्वः+वेद) वह अग्नि के तीनों आहवनीय, गार्हपत्य दक्षिण शरीरों को जानता है (यः+प्रथमः+दक्षिणयः+रराध) जी मुख्य पुरुष दान से अनाथों की आराधना करता है।६।

जुहू ब्रह्मवादिनी।३८।

तेऽवदन् सप्त जुहूर्ब्रह्मजाया ब्राह्मो वा ऊर्ध्वनामा।सर्वः।६२।
तेऽवदनिति सूक्तस्य ब्रह्मजाया जुहूमुनिः।
अथवोर्ध्वनाभा नाम ब्रह्मपुत्र ऋषिः स्मृतः।बृ०।आर्षा०।

"तेऽवदन्" इत्यादि १०।१०९ वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मजाया जुहू अथवा ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाम हैं। इससे सिद्ध है कि कात्यायनशौनक की सम्पति के अनुसार पक्षान्तर में १०।१०९ वें सूक्त की ऋषिका एक स्त्री है। यह देवी किसकी जाया और कहाँ रहती थी। इसका पता नहीं। किन्तु किसी ब्रह्मवित् पुरुष की पत्नी होने के कारण ब्रह्मजाया कहलाती थी। जुहू यह पद सूचक नाम है। जुहू यह नाम स्रुवा का है। "जुहोति यया सा जुहू", हूयेतऽनयेति वा

जिससे होम किया जाये उसे जुहू कहते हैं। जुहूः। २। ६०। इस उणादि सूत्र से इस शब्द की सिद्धि होती है। "ध्रुवोपभृज्जुहूर्नातु स्रुवो भेदाः स्रु चः स्त्रियः" अमरकोश। ध्रुव, उपभृत और जुहू ये स्रुवा के भेद हैं। जुहू शब्द वेदों के अनेक स्थानों में आया है।

क—त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव।

ऋ०। १०। २१। ३।

ख—घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना सद आसीद।

यजुः २। ६।

शतपथ आदि ब्राह्मणों में यह शब्द अति प्रसिद्ध है। शतपथ। १। ३। ४। १। में लिखा है कि "अथ दक्षिणेन जुहूं "प्रतिगृह्णति"। एवं "जुहूँ गृह्णाति" इत्यादि पर बहुधा आता है। इत्यादि अनेक प्रमाण से सिद्ध है जिस पात्रद्वारा होम किया जाता है। अर्थात् जुहू शब्द से सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का ग्रहण है जिस कारण यह ब्रह्मवादिनी वैदिक कर्मकाण्डों को नरनारियों में फैलाया करती थी अतः इनको जुहू यह पदवी दी गई।

विद्वानों के मध्य कभी-कभी आश्चर्यजनक लीला देखी जाती है। संसार में बड़े-बड़े विद्वानों ने ही नास्तिकता फैलाई, जीव, धर्म और कर्मकाण्डों के खण्डनार्थ मोटे-मोटे ग्रन्थ पण्डितों ने ही लिखे। आस्तिकों और नास्तिकों के मान्यगुरु प्रायः दोनों ही शास्त्रपारङ्गत हुए हैं और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों प्रकार के विद्वान विवेकशील और जगद्धितैषी थे इसमें सन्देह नहीं। कौन कह सकता है कि विरोचन, बृहस्पति, चार्वाक, बुद्ध, जिन, तथा विदेशी ऐपिक्युरस और चर्लसब्रैडला प्रभृति बड़े-बड़े विद्वान् और जगत् के शुभाभिलाषी नहीं थे? इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन महानपुरुषों ने मानव गति को अच्छे प्रकार न विचारा हो। क्या आज ईश्वर को न मानने हारे स्वदेशस्थ जैन सम्प्रदायी ईश्वर को नहीं मानते। अवश्य मानते हैं। हां, उस सर्वव्यापी पिता को छोड़ जिन देव को ही उसके स्थान में ईश्वर मानते हैं। इनकी स्तुति पूजा पाठ करते हैं। इनकी पूजा से, कृपा से, आशीर्वाद से और आराधना से मुक्ति की आकाङ्क्षा रखते हैं। यही ईश्वर को मानना है। इस प्रकार देखा जाता है कि ईश्वर के बिना मनुष्य जाति स्थिर नहीं रह सकती। एवमस्तु।

अभी मुझे यह दिखालाना है कि दोनों पक्षों में बड़े-बड़े विद्वान् हुए हैं। यह ईश्वर की विचित्र लीला है कि जिस वेद को पढ़ के कोई परम ज्ञानी कर्म

कुशल और परम आस्तिक बनते उसी को पढ़ के कोई उससे सर्वथा विपरीत नास्तिक हो जाते हैं। मैं समझता हूँ कि इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि कोई विवेकी इस सृष्टि की विचित्र रचना देख परम आस्तिक और कोई परम नास्तिक बनते रहते हैं। इस पृथिवी पर मानवजाति एक महाकौतुक-शालिनी और ईश्वर की अद्भुत महिमा की प्रकाशिनी है। इस कारण इस १०। १०९। सूक्त में विशेषरूप से यह दिखलाया गया है कि जो मनुष्य जाति कभी ईश्वर को मानती है वह कभी ईश्वर को छोड़ बैठती है। जो कभी वैदिक धर्म की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व खो देती है वही कभी उसको निकाल बाहर करने के लिए पूरा प्रयत्न करती है। जिस कर्म वा जिस धर्म की पुष्टि में सहस्रों ग्रन्थ यह जाति लिखती है उसी को सहस्रों ग्रन्थों के द्वारा खण्डन भी करने लगती है। ऐसी अवस्था सर्वदा सर्वयुग में आती रहती है। ऐसा समय उपस्थित होने पर देश के बड़े-बड़े विद्वान् राजा महाराजा, एवं निखिल प्रजाएँ मिल के इस बात पर विचार करें, दोनों पक्षों की बातें सुनें। जो पक्ष हेतुमान, जगद्धितकारी, सार्थक और वेदानुकूल हो उसको ग्रहण करें और दूसरे को त्याग देवें। कभी हठवश न स्वयं किसी धर्म का ग्रहण करें न किसी को करवावें। धर्म में बलात्कार करना मूर्खता है। शिक्षा और उपदेश द्वारा सच्चरित्र फैलावें परन्तु खड्ग के द्वारा कभी धर्म फैलाने की चेष्टा न करें। परन्तु निश्चय होने के पश्चात् सत्य के पक्षपाती बनें। इन सत्यग्रहीता पुरुषों को किसी प्रकार क्लेश पहुँचने न पावे। क्योंकि ये जिज्ञासु और सत्यान्वेषी हैं। बहुत से दुर्बल हृदयपुरुष प्रचलित सम्प्रदाय की निःसारता और घृणाजनकता आदि दोषों से पूर्ण जानते हुए भी भयवश उसको त्याग नहीं सकते। इससे मनुष्य-समाज के अभ्युदय में अनेक अन्तराय आ खड़े होते हैं। अतः सत्यान्वेषी पुरुष अज्ञानी जनों की ओर से पीड़ित न होने पावें ऐसा सुप्रबन्ध रखना चाहिये। मेरी सम्मति के अनुकूल ही सब नरनारियाँ चलें ऐसी भी निकृष्ट वाञ्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। सम्भव है कि तुम्हारी सम्मति से कहीं उत्तम दूसरे की सम्मति हो अतः मनुष्य की बुद्धि को स्वतन्त्रता दो। परन्तु अज्ञानी जन यदि अज्ञान से न हटें तो उनसे शिक्षाप्रचार द्वारा अज्ञान को पृथक् करो। ग्राम-ग्राम में शिक्षणालय स्थापित करो, विवेकशास्त्र का विस्तार करो। किन्तु स्मरण रखो। बलात्कार परिवर्त्तन से अज्ञानता नहीं जाती। देखो! भारतवर्ष के लक्षों मूर्ख जन हठात् मुहम्मदीय बनाए गये। लाभ क्या हुआ ? मूर्ति छोड़ मुर्दों को पूजने लगे। मूर्ति से भी घृणित कब्रों की पूजा में लिप्त हो गये। अतः बड़ी सावधानता के साथ विद्या के प्रचार द्वारा यह जनता सुधारी जाये।

बहुत पुरुष पूर्णतया विचार न कर कर्म से घृणा करने लगते हैं। वे ईश्वरोपासना को भी घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। इनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करना भी व्यर्थ ही है। पुरुषार्थ की कौन उपेक्षा करता है ? ऐसे-ऐसे शुभ कर्म की दृढ़ता के लिए ही तो परम साधन प्रार्थना है। अनुपासकों को भ्रष्ट होने की बहुधा सम्भावनाएँ हैं। परन्तु सत्योपासकों को प्रायः ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होता अतः नित्य सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र, नित्य ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सत्यभाषण, सत्यपालन, ब्रह्मचर्यग्रहण, परोपकार, मनुष्यहित चिन्तन, अहिंसा, ज्ञानविज्ञानोपासना आदि वैदिक कर्म का कदापि त्याग न करें। इत्यादि कर्मसम्बन्धी विषय को जुहू ब्रह्मवादिनी फैलाया करती थी। इसी भाव को इस सूक्त में आप देखेंगे। अब इस सूक्त पर अन्यान्य पुरुषों की सम्मति प्रकट कर अर्थ लिखूँगा।

१०।१०९।१ इत्यादि ऋचाओं पर सायण लिखते हैं—इस विषय में विद्वान् इतिहास कहते हैं कि जुहू यह वाक् का नाम है। यह बृहस्पति की जाया हुई। दुर्भाग्य के कारण बृहस्पति ने इस पाप की आशङ्का कर इसको त्याग दिया। पश्चात् आदित्य आदि देव परस्पर विचार इसको अपापा बना बृहस्पति को दे बोले कि यह जुहू निष्कलङ्का और अपापिनी है। आप उसको पुनः ग्रहण कीजिये। और सर्वशङ्का त्यागिये। इसके हम सब देव साक्षी हैं। इत्यादि।

रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं कि "ए सूक्तेर मर्म्मग्रहण करिते पारिलाम ना। सूक्त टी अपेक्षाकृत आधुनिक। ताहार सन्देह नाई एवं अनेक आधुनिक सूक्तेर न्याय गूढभावे विजड़ित। इहाते जे ब्रह्मचारित्वेर कथा आछे ऋग्वेदे प्रथम अंशसमूहे से कथाय कोन जो उल्लेख नाई। बृहस्पतिर स्त्रीर सतीत्व सम्बन्धे सन्देह भंजनई एह सूक्तेर विषय।

ग्रिफिथ कहते हैं—The wife of a Brahman appears to have been taken to his home by a kshatriya, and then restored. The hymn is an almost inentelligible fragment and of comparatively late origin!

इस सूक्त का अनुवाद और भाव अनेक विदेशी विल्सन आदिकों ने प्रकट किया है।

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन।

१०।१०९।१।

(ब्रह्म-किल्विषे) जब-जब ब्रह्मवेत्ता पुरुषों में किल्विष अर्थात् कर्म त्यागरूप पाप प्राप्त हो तब-तब (ते+प्रथमा+ आपः+देवीः) देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वे-वे मुख्य पुरुष और आप्त और ज्ञानविज्ञान द्वारा व्यापिका विदुषी स्त्रियां सम्मिलित हो (ऋतेन+अवदन्) सत्यता के साथ सत्यासत्य के निर्णयार्थ वादानुवाद करें। विचारकर्त्ता नर-नारियों कैसे हों? प्रथम—अर्थात् विद्या में निपुण, विचारशील, देशकालपात्रज्ञ, बहुदर्शी, बहुसुश्रुत, पक्षापक्षरहित, धर्म-परायण ईश्वर से डरने हारे। इत्यादि गुणविशिष्ट अग्रगामी पुरुष और स्त्रियाँ हों। (अकूपारः) जो कूपमण्डूक न हों जिसकी विद्या और दर्शन अपार हो। (सलिलः) जलवत् शीतल और पीड़ित के हृदय को शान्त करने हारा (मातरिश्वा) वायुवत् सर्वत्रगामी अर्थात् सब का वृत्तान्त जानने हारा (वीडुहराः) बहुत तेजस्वी (तपः+उग्रः) तपस्या से उग्र अर्थात् अन्याय का परमद्वेषी (मयोभूः) अपने विचार से सुखोत्पादक ऐसे गुणी पुरुष और (आपः) व्यापिका (देवीः) दिव्यगुणविशिष्ट विदुषी (प्रथमजाः) श्रेष्ठों में भी उत्तमा ऐसी-ऐसी गुणवती स्त्रियाँ सम्मिलित हो विचार करें। ब्रह्मकिल्विष=वैदिकी क्रिया का ही यहाँ ब्रह्माकिल्विष है। १।

निर्णय होने पर क्या किया जाये सो आगे कहते हैं।

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायाम् पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय। २।

(अहृणीयमानः+प्रथमः+राजा) अलज्जमान हो के श्रेष्ठ और सर्व प्रिय राजा (पुनः+ब्रह्मजायाम्+प्रायच्छत्) पुनरपि ब्रह्मजाया को ब्रह्मवित् पुरुष के हाथ में समर्पित करे। (वरुणः+मित्रः) वरणीय और सर्वहितकारी पुरुष (अन्वर्तिता+आसीद्) अनुमोदक होवें (होता+अग्नि+हस्तगृह्यआनिनाय) आह्वानकर्त्ता अग्निवत् मनुष्यदूत हाथ पकड़ उसको सभा में लावे और पश्चात् राजा को समर्पित करे। २।

भाव—ब्रह्मजाया यहाँ यह सब आलङ्कारिक वर्णन है। वेद विद्या-वैदिक क्रिया, ही ब्रह्मवित पुरुष की जाया अर्थात् पत्नी है। किसी प्रमाद में पड़ कर अच्छे प्रकार न विचार कर वैदिक क्रिया का त्यागना ही यहाँ स्वपत्नी का त्याग है। पत्नीवत् वैदिकी क्रिया ब्रह्मवित् को नाना सुख पहुँचाती है अतः यह ब्रह्मजाया कहाती। इसमें पत्नीत्व का आरोप करके यह सब वर्णन आया है। अब मानो, कि वैदिक क्रिया में दोष देख ब्रह्मवित् उसे त्याग देता है। पश्चात् सब मिल के निश्चय करते हैं कि इस में कोई दोष नहीं अज्ञानी पुरुषों के कारण इसमें जो दोष आ गये हैं उन्हें दूर करना चाहिये। अर्थात् वैदिक आज्ञा

के अतिरिक्त जो अंश व्यर्थ अधिक बढ़ाए गये हैं उनको इससे निकाल इसको शुद्ध कर लो मानो, इस प्रकार विचार उस वैदिक क्रियारूपा जाया को शुद्ध कर सब कोई मिल के पुनः ब्रह्मवित् के हाथ में समर्पित करते हैं। समर्पणकर्त्ता सोम=सर्वप्रिय और राजा=सभाध्यक्ष हो और उनके अनुमोदन करने हारे अन्यान्य पुरुष हों। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि किसी को वैदिकी क्रिया से घृणा हो और घृणा के वास्तविक हेतु कहता हो तो उस पर विचार किया जाये और जो बाहर से दोष आगये हों और घृणा के जो-जो कारण हों उन्हें दूर करे। पुनः उनके ही हाथ में समर्पित करें। जैसे बुद्ध के समय में वैदिकी क्रिया में उत्पन्न घृणा के कारणों को दूर न करने से अनेक बाधाएँ उपस्थित हो विविध आपत्तियाँ भारत पर आई। यदि इस पर पूरा विचार होता तो ऐसी दुर्घटना उपस्थित न होती।

एवं यहाँ पर यह भी जानना चाहिये कि सोम, वरुण, मित्र आदि जो नाम आते हैं ये अन्य अर्थ के सूचक हैं। इन ही नामों के द्वारा ईश्वर की प्रार्थना होती है और सोम का सोमलता, सोम याग इत्यादि, वरुण का रात्रि, मित्र का दिन, अग्नि का भौतिक अग्नि आदि भी अर्थ होता है। इन्हीं दिन रात्रियों में इसी अग्नि द्वारा सोमादिक यज्ञ का अनुष्ठान होता है अतः मानो, ये देवता भी क्रिया के त्याग से व्याकुल हो जाते और सभा कर ब्रह्मजाया ब्राह्मण को निर्दोष ठहरा पुनः ब्रह्मवित् पुरुषों को समर्पित करते हैं। यह आलंकारिक भाव भी ज्ञातव्य है। इस अवस्था में सोम को अलज्जमान हो के अग्रसर होना उचित ही है क्योंकि यज्ञों में मुख्य सोमयाग ही है। मानो, इसी को अधिक हानि पहुँचती है। अतः यह अलज्जमान होता हुआ, पुनः ब्रह्मजाया को समर्पित करता है। इत्यादि भाव भी ऊहनीय हैं।

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। ३।

पुनः ब्रह्मवित् पुरुष से कहें कि (अस्याः+आधिः+हस्तेन ग्राह्य+एव) इस वैदिक क्रियारूप ब्रह्मजाया का शरीर हस्त से अवश्य ग्रहणीय है। (इयम्+ब्रह्मजाया+इति+अवोचम्) यह ब्रह्मजाया सर्वथा निर्दोषा निष्कलङ्का है ऐसा सब ही प्रख्यात करें। (एषा+प्रह्ये+दूताय+न+तस्थे) यह ब्रह्मवित् को छोड़ किसी अन्य नियोज्य दूत के समीप अपने को प्रकाशित नहीं करती। (क्षत्रियस्य+गुपितं+राष्ट्रं+तथा) जैसे क्षत्रिय का रक्षित राज्य अन्यत्र नहीं जाता। तद्वत् यह ब्रह्मजाया केवल ब्रह्मवित् के ही निकट रहती है। आधिः=शरीरम् (सा०) यहाँ सबने ही प्रायः इसका अर्थ शरीर किया है। जिसमें अच्छे गुण

स्थापित हों वह आधिः "आधीयन्ते गुणा अस्मिन्" तस्थ=प्रकाशन स्थेयाख्याश्चमनेपदम्। ३।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्। ४।

(पूर्वे+देवाः+एतस्याम्+अवदन्त) चिरन्तन विद्वान् इसके विषय में कहते हैं कि यह पापरहिता है। (ये+सप्त+ऋषयः+तपसे+नि+सेदुः) ये सर्पणशील और इतस्ततः विचरणशील ऋषिगण जो सदा तपश्चरण में लगे हुए रहते हैं वे भी इस ब्रह्मजाया को अपापा समझते हैं। (भीमा+जाया+ब्राह्मणस्य+उपनीता) शत्रुभंयकरी यह जाया ब्राह्मण के समीप स्थापित होवे (दुर्धाम्+परमे+व्योमन्+ दधाति) दुःख से धारणायोग्या इसको उत्कृष्ट स्थान में ब्राह्मण स्थापित करे।४।

भाव—यह सब वर्णन सूचित करता है कि वैदिकी क्रिया का ही यहाँ निरूपण है। अन्यथा पूर्व देव और ऋषि किसी की गृहिणी के बिना परीक्षा अपापा वा सपापा क्यों कहेंगे और किसी एक ब्रह्मजाया की शुद्धि के लिए इतना बढ़ा के वेद क्यों वर्णन करेंगे अतः यह प्रकरण किसी महान् अर्थ का द्योतक होना चाहिये। वैदिकी क्रिया की पुनः स्थापना करनी ही महान् अर्थ है। इसी के विषय में ऋषि, मुनि, आचार्य, देव, मनुष्य सब एकत्रित हो निश्चितरूप से शुद्धता का साक्ष्य दे सकते हैं। सप्त ऋषि नाम सप्त प्राणों का भी है। अध्यात्म और अधिदैवत पक्षों की भी योजना हो सकती है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दत् वृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः।५।

(देवाः) हे देवगण! (ब्रह्मचारी+चरति) जो वेदों का तत्त्व जानने हारा और सदा वेदाध्यन में तत्पर रहता है वह सर्वत्र सर्व शुभकर्म में विचरण करता है (वेविषद्) वह व्यापक होता है (विषः) वह अवश्य ही बहुव्यापक हो जाता है (सः+देवानाम्+एकम्+अङ्गम्+भवति) वह विद्वान् और विवेकी पुरुषों में एक अङ्ग होता है। (बृहस्पतिः) वह बृहस्पति हो (तेत+जायाम्+अन्वविन्दत्) वेदाध्ययन के प्रताप से ब्रह्मजाया को प्राप्त करता है। (सोमेन+नीताम्+ जुह्वम्+न) जैसे सोम से नाम यज्ञपात्र को पुनः-पुनः ऋत्विक् प्राप्त करता है तद्वत्।५।

भाव—सोमयज्ञ में जिस जुहू से होम किया जाता है उस समय उसका त्याग किया जाता है। पुनः पश्चात् शुद्ध कर उसको ग्रहण करते हैं। तद्वत् ब्रह्मजाया को शुद्ध कर वेदवित् ग्रहण करते हैं।

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत—

राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः । ६ ।

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्वषम्—

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते । ७ ।

(पुनः+वै+देवाः) उस ब्रह्मजाया जुहू को पुनः देव और मनुष्य मिल कर बृहस्पति अर्थात् वेदविद् पुरुष के हाथ में देते हैं (राजानः) और धर्मरक्षक राजगण इस विषय को सत्य करते हुए पुनः ब्रह्मजाया को देते हैं । ६ । (देवैः) विद्वद्गण (निकिल्विषम्+कृत्वी) सबका निष्किल्विषत्व कर (ब्रह्मजायाम्+ पुनः+दाय) बृहस्पति को ब्रह्मजाया पुनः दे (पृथिव्याः+ऊर्जम्+भक्त्वाय) पृथिवी के रस को बांट (उरुगायम्+उप+आसते) उरुकीर्ति परमात्मा की उपासना किया करते हैं । देवैः प्रथमार्थ में तृतीया है । अथवा जस् के स्थान में तृतीया आदेश है । ७ ।

भाव—जब-जब वैदिकी क्रिया नष्ट होने लगे तब-तब सब को उचित है कि इसकी पुनः स्थापना करें । संभव है कि इसी को ले के वृहस्पति की स्त्री तारा के चन्द्र के द्वारा हरण की कथा चलाई हो । इति । संक्षेपतः ।

वाग् ब्रह्मवादिनी । ३९ ।

अहमष्टौ वागाम्भृणी । सर्वा० ।

अहं रुद्रेभिरित्यस्मिन्नाम्भृणी नाम वागृषिः । बृ० आ० ।

"अहं रुद्रेभिः" इत्यादि अष्टर्च १० । १२५ वें सूक्त की ऋषिका श्रीमती वाग्देवी है । किसी अभृण नाम के महर्षि की दुहिता कही जाती है । शुद्ध, सच्चित्सुखात्मक सर्वगत परमात्मा की महिमा को ही सर्वत्र विस्तृत किया करती थी । १० । १२५ इसका देवता परमात्मा वाग् इसी नाम से पुकारा गया है । क्योंकि सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदय के मध्य इसने वाग् अर्थात् वाणी का प्रकाश किया अतः इसका वाग् नाम है । यहाँ सायण कहते हैं "सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता । तेन हि एषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्व भवामीति स्वात्मानं स्तौति" अर्थात् ऋषिका वाग्देवी परमात्मा से अभिन्नता का अनुभव करती हुई अपने ही आत्मा की स्तुति करती है । यही कात्यायन आदि का भी सिद्धान्त है । परन्तु यह असत् । इन ऋचाओं में "अहम्" स्त्रीलिङ्ग पद के साथ वर्णन देख ऐसा भ्रम उत्पन्न हुआ है । परन्तु यहाँ "अहम्" पद से परमात्मा स्वयं अपनी विभूति प्रकट करता है ताकि अज्ञानी अन्य देवताओं की उपासना कर नष्ट न हो जाये । केवल मेरी उपासना करे जब माता पिता इन दोनों शब्दों से ईश्वर

की प्रार्थना करते हैं तब स्त्रीलिङ्ग पद देकर वर्णन में क्या क्षति। ईश्वर के पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्गि और नपुंसक तीनों नाम है। यथा—ईश्वर, ब्रह्म, अदिति। पुनः संस्कृत भाषा में वाचक के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था है वाच्य के अनुसार नहीं। जैसे दार, कलत्र और अपत्य इत्यादि।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यह मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।

१०।१२५।१।

परमात्म वाच्य वाक् कहती है कि ऐ मनुष्य! तू मेरी उपासना कर। इस सूर्य, चन्द्र, तारका, वायु, अग्नि, विद्युत् आदि सकल पदार्थों को उत्पन्न करने हारी मैं हूँ। मैं इन सब में व्यापक होके उनका धारण पोषण कर रही हूँ। ये जड़ मूर्त और अमूर्त सहस्त्रों ब्रह्माण्ड है इन सब की धात्री विधात्री मुझे जान। केवल मेरी उपासना कर। इसी से तुम्हारा कल्याण है (अहम्०) रुद्रगण, वसुगण, आदित्यगण इत्यादिगणों के साथ विचरण करती हूँ। इनके अतिरिक्त जितने देव हैं उन सब के साथ मैं ही विद्यमाना होके पोषण कर रही हूँ। (अहम्+मित्रावरुणा+उभा+विभर्मि) मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण पोषण करती हूँ। (अहम्+इन्द्राग्नी+उभा+अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि और दिन और रात्रि का धारण पोषण करने हारी हूँ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते। २।

(अहम्+आहनसम्+सोमम्+बिभर्मि) मैं पापनिवारक सोम यज्ञ धारण करती हूँ (अहम्०) त्वष्टा, पूषा, भग की रक्षा करती हूँ। (हविष्मते) सर्वदा हविष्मान् अर्थात् यज्ञार्थ हविष्य वस्तुओं से युक्त (सुप्राव्ये) सुखप्रादक (सुन्वते+यजमानाय) सोमाभिषव करते हुए यजमान के लिए (अहमुद्रविणुम+दधामि) मैं सर्वदा धन रखती हूँ। अतः यजमानो! मेरा यजन करो। २।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूयीवेशयन्तीम्। ३।

(अहम्+राष्ट्री) ऐ मनुष्यो! मैं ही ईश्वरी हूँ (अहम्+वसूनाम् संगमनी) मैं उपासकों को धन पहुँचाने हारी हूँ (चिकितुषी) मैं सर्वज्ञानवती हूँ (यज्ञिया-नाम्+प्रथमा) यज्ञाहं देवों में सर्वश्रेष्ठा हूँ (ताम्+माम्+देवाः+पुरुत्रा+व्यदषुः) उस व्यापिनी जगन्माता मुझको देवगण बहुत स्थानों में उपासना, पूजा करते हैं (भूरिस्थात्राम्) मैं बहुत वस्तुओं में स्थित हूँ (भूरि+आवेशयन्तीम्) समस्त

पदार्थों के यथायोग्य स्थान में निवेश करने हारी मैं हूँ। ३।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईंश्रृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। ४।

(यः+विपश्यति+यः+ईम्+उक्तम्+ श्रृणोति) जो पशु कीट पतङ्गादि प्राणी देखते। जो वृक्षादि केवल श्वास लेते और जो मनुष्य जाति वचन को सुनती (सः+मया+अन्नम्+अति) वह-वह सब ही प्राणी मेरे कारण अन्न खाते और अपने अस्तित्व रखते। परन्तु हे मनुष्यो। (मा+अमन्तवः+ते+उपक्षियन्ति) मुझको न मानने हारे वे नास्तिक सर्वथा क्षीण हो जाते। (श्रुत+श्रुधि) हे श्रोता जीव तू सुन (ते+श्रद्धिवम्+वदामि) तेरे लिये श्रद्धाजनक विज्ञान का उपदेश करती हूँ। ४।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं सुमेधाम्। ५।

(अहम्+एव+स्वयम्+इदम्वदामि) हे मनुष्यो! मैं स्वयं तुम को विज्ञान देती हूँ। (देवेभिः+उत+मानुषेभिः+जुष्टम्) विद्वानों और साधारण मनुष्यों से जो ब्रह्मात्मक सदा सेवित और सेव्य है उसका उपदेश मैं स्वयं देती हूँ। (यम्+कामये) जिस-जिस को मैं चाहती हूँ (तम्+तम्+उग्रम्+कृणोमि) उस-उस को मैं उग्र करती हूँ (तम्+ब्रह्माणम्+तम्+ऋषिम्+तं+ सुमेधाम्) मैं उस-उस को ब्रह्मवित्, उस-उस को ऋषि और उस-उस को सुमेधावी बनाती हूँ। ५।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश। ६।

(अहम्+रुद्राय+धनुः+आतनोमि) दुष्टों के संहारकर्त्ता राजा के अस्त्र शस्त्रों को अच्छे प्रकार मैं ही तानती हूँ (ब्रह्मद्विषे+शरवे+हन्तवे+उ) निश्चय, में ही वेद और ईश्वरद्वेषी के और हिसंक क्रूरपुरुषों के हनन के लिए अस्त्र धारण करती हूँ। (अहम्+जनाय+समदम्+कृणोमि) मैं स्वयं भक्तजन के लिए संग्राम करती हूँ (अहम्+द्यावापृथिवी+आ+विवेश) मैं द्यावा पृथिवी में सर्वत्र व्यापिनी हूँ। ६।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वा उतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि। ७।

''द्यौः पिता'' इस श्रुति से सिद्ध है कि द्युलोक का नाम पिता है (अस्य+मूर्धन+पितरम्+अहम्+सुवे) इसके ऊपर द्युलोक को मैं बनाती हूँ

(आसु:+अन्त:+समुद्रे) व्यापक आकाश और समस्त जगत् में (मम+योनि:) मेरा निवास स्थान है। (तत:+भुवना+अनु-वि+तिष्ठे) और मैं सम्पूर्ण भुवन में अनुप्रविष्टा होके स्थिता हूँ (उत+अमूम+द्याम्+वर्ष्मणा+ उपस्पृशामि) और मैं इस द्युलोक को लेकर निखिल जगत् का शरीर से स्पर्श कर रही हूँ। आप=यह नाम आकाश का भी है। निघण्टु १। ३। देखो। समुद्र=समभिद्रवतीति समुद्रः, इस दौड़ते हुए सम्पूर्ण जगत् का नाम समुद्र है। ७

अहमेव वातइव प्र वामिआरभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्या एतावती महिना सं बभूव। ८।

(विश्वा+भुवनानि+आरभमाणा) सम्पूर्ण भुवनों को आरम्भ करती हुई (अहम्+एव+वात:+इव+प्रवामि) मैं ही वायु के समान सर्वत्र विशेषरूप से स्थिता हूँ। (दिवा+पर:+एना+पृथिव्या+पर:) द्युलोक से परे और इस पृथिवी से परे वर्तमाना होके स्थिता हूँ (महिना+एतावती+सम्+वभूव) महान् महिमा से मैं एतावती सर्वत्र विद्यमाना हूँ।

ऐ मनुष्यो! देखो, कभी पृथिवी पर ऐसी ब्रह्मवादिनी थी जो ईदृग गूढ़ विषय का उपदेश किया करती थी। इति संक्षेपत।

रात्री ब्रह्मवादिनी। ४०।

रात्री कुशकः सौभरो रात्रिर्बा भारद्वाजी रात्रिस्तवं गायत्रम्। सर्वा०। रात्री व्यख्यदिति स्वस्मिन् सौभरः कुशिको मुनिः। भरद्वाजसुता रात्रि रथवा गम्यतामृषि। बृह०। अ०

''रात्री व्यख्यत्'' इत्यादि अष्टर्च १०। १२७ वें सूक्त के ऋषि सोभरिपुत्र कुशिक ऋषि हैं। यद्वा, भरद्वाज की दुहिता रात्रि है। इस सूक्त का रात्रि देवता है। अर्थात् इस सम्पूर्ण सूक्त में रात्रि का वर्णन और गायत्री छन्द में लिखित है। इसी कारण इसकी प्रचारिका का भी नाम रात्रि है। इसमें से केवल एक ऋचा का अर्थ लिखता हूँ।

यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये—
अथा नः सुतरा भव १०। १२७। १।

(ऊर्म्ये) हे रात्रिव्यापिनी जगन्माता! (वृकयम्+यावय) दुष्टा वृकी को हमसे पृथक् करो (वृकम्) दुष्ट वृक को (स्तेनम्+यवय) और चोर को पृथक् करो। (अथ+न:+सुतरा+भव) पश्चात् सुख से क्षेमकारिणी होओ। मैंने वाम्वार कहा है कि वृक पाप अर्थ में प्रयुक्त होता है। पापिनी स्त्री, पापी पुरुष और चोर प्रभृति दुष्टजन रात्रि में प्रबल होते हैं। उनसे बचाने की इसमें प्रार्थना की

गई है। इति।

गोधा ब्रह्मवादिनी। ४१।

इहोत्तमा मथाध्यर्द्धा गोधा नारी ददर्श ह। वृह०। आ०।

१०। १३४ वें सूक्त की सप्तमी ऋचा की ब्रह्मवादिनी गोधा ऋषिका है। वह यह ऋचा है—

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि—

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।

पक्षेभिरपिकक्षभिरत्राभि सं भरामहे। ७।

(देवा:+नकि:+मिनीमसि) ऐ विद्वान् विवेकी पुरुषो! हम नारियाँ पुरुषों का कुछ नहीं बिगाड़तीं (नकि+आ+योपयामसि) और आपको अपने दुष्ट आचरणों से कभी मोह में नहीं डालती किन्तु (मन्त्रश्रुत्यम्+चरामसि) वेदों में जैसा सुना गया है तदनुकूल आचरण करती रहती हूँ (पक्षेभि:+अपिकक्षेभिपि:) पक्ष=वेदों के जो ज्ञान, कर्म, उपासना प्रभृति विविध समयोपयोगी सिद्धान्त हैं। अपिकक्ष=ज्ञानविज्ञानात्मक विविध शास्त्र=इन पक्षों और अपिकक्षों से युक्ता हो के हम नारियाँ (अत्र+अभि+संभरामहे) इस यज्ञ में सब प्रकार से कार्य कर रही हैं। ७।

हे पुरुषो। ऐसी निरपराधिनी स्त्रियों के सच्चरित्र को क्यों नष्ट कर रहे हो इस ऋचा की ध्वनि है। यह ऋचा बहुत ही उच्च शिक्षा देती है। ऐसे ही उच्चभाव को श्रीमती ब्रह्मवादिनी गोधा नारी सर्वत्र विस्तृत किया करती थी। इति।

इन्द्राणी-ब्रह्मवादिनी। ४२।

इन्द्राणीमां खनाम्यृषि:। बृ०। आ०

"इमां खनाम्योषधिम्" इत्यादि षड्च १०। १४५ वें सूक्त की ऋषिका इन्द्राणी है। इसकी चर्चा पूर्व में भी देखो। बुद्धि का नाम इन्द्राणी है। अब बारम्बार लिखने की आवश्यकता नहीं कि वेद रूपकमय हैं। काम और क्रोध को क्रमश: कपोत्त और उलूक, दिन और रात्रि को दो श्वान, पाप को वृक, अज्ञानान्धकार को वृत्र, दु:ख क्लेश को कूप समुद्र आदि, गर्भस्थान को भी कूप, नदी, समुद्र आदि कहा है। इसी प्रकार इस सूक्त में विद्या, सुमेधा, विचारशीलता, सत्यपरोपकारिता आदि अज्ञानविनाशयित्री शक्ति का नाम औषधि और अमति, दुर्म्मति, पापचिन्ता, पापपरायणता, दुष्कृति, कुक्रिया आदि का नाम सपत्नी रखा है। क्योंकि इस देही जीवात्मा की अति प्रबला दो स्त्रियाँ हैं।

एक सुबुद्धि दूसरी दुर्बुद्धि। इन दोनों में स्वभावत: अनादिकाल से बैर चला आता है। कभी सुबुद्धि के और कभी दुर्बुद्धि के जय पराजय होते ही रहते हैं। जैसे औषधियों से देहघातक निखिल रोगों का वैसे ही विद्या से अविद्या का विनाश होता है। अत: यहाँ औषधि शब्द का प्रयोग है। यदि विचारशील पुरुष गत इन्द्राणी और वृषाकपि प्रकरण को अच्छे प्रकार अध्ययन करेंगे तो इस सूक्त के अर्थ में सन्देह नहीं रहेगा। वहाँ वृषाकपि अर्थात् अवैदिक कर्म के ऊपर इन्द्राणी का कितना ज्वलन्त क्रोध है। और वहाँ जब अकर्म का नाम वृषाकपि अर्थात् बैल और वानर देख आश्चर्य नहीं तो यहाँ विद्या का नाम औषधि खननादि क्रिया देख चकित न होवेंगे। अब सूक्तार्थ की मीमांसा कर अविद्या को जड़ से उखाड़ने का पूरा प्रयत्न कीजिये।

इमां खनाम्योषधि वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्। १०। १४५। १।
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नी मे परा धम पति मे केवल कुरु। २।

(वीरुधम्+बलवत्तमाम्+इमाम्+ओषधिम्) अविद्या अविवेकरूपा आधि-व्याधि को विशेष रूप से रोकने हारी विद्यारूपा इस ओषधि को (खनामि) मैं खोजता हूँ। (यया+सपत्नीम्+बाधते) जिससे सब पत्नी का बाधा करती है और (पतिम्+सम्+विन्दते) पति को प्राप्त करती है। वीरुधम्=विशेषण रुणद्धि या वीरुत। १। (उत्तानपर्णे+सुभगे+देवजूते+सहस्वति) हे उत्तानपर्णा! हे सौभाग्यवती! देव प्रेरिता! हे तेजस्विनी विद्यारूपा ओषधि! (मे+सपत्नीम्+पराधम) मेरी सपत्नी को दूर करो और (पतिम+मे+केवलम्+कुरु) पति को केवल मेरा ही बनाओ अर्थात् यह मेरा ही पति हो दूसरी का नहीं। उत्तानपर्णे=नाना शास्त्र ही पत्रवत् है। उद्भूत हैं नाना शास्त्र जिसमें वह उत्तानपर्णा ''उत्तानानि उद्भूतानि नाना शास्त्र रूपाणि पर्णानि यस्याम्'' देवजूते=देवप्रेरिते। आचार्यदेव और निज परिश्रम देव की कृपा से विद्या प्राप्त होती है। अत: यह देवजूता है। सहस्वति=सहस्=तेज। विद्या तेजस्विनी है इसमें सन्देह ही क्या है?। सपत्नी-विद्या और अविद्या दोनों आत्मा की ही स्त्रियाँ हैं। अत: ''समान एक: पतिर्यस्या: सा सपत्नी'' ये दोनों सपत्नी कहलाती हैं। २।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्य:।
अथा सपत्नी या ममाधरा साधराभ्य:। ३।
नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन्रमते जने।

परामेव परावतं सपत्नी गमयामसि। ४।

(उत्तरे+अहम्+उत्तरा) हे उत्कृष्टतरा विद्या! मैं आपकी कृपा से उत्कृष्टतरा होऊँ। (उतराभ्य+उत्तरा+इत्) उत्कृष्टताओं में भी उत्कृष्टा होऊँ। (अथ+या+मम+सपत्नी+सा+अधराभ्यः+अधरा) और जो मेरी सपत्नी=अविद्या है वह अधमाओं से भी अधमा है। ३। (अस्याः+नाम+नहि+गृभ्णामि) इसका नाम भी मैं ग्रहण नहीं करती (अस्मिन्+जने+नो+रमते) इस सपत्नीजन में कोई भी अरक्ता नहीं होती (सपत्नीम्+पराम्+परावतम्+गमयामसि) सपत्नी को अति दूर देश ही भेजती हैं। ४।

अहमस्मि सहमानाथ त्वमसि सासहिः।

उभे सहस्वती भुत्वी सपत्नीं मे सहावहै।

हे सुविद्ये! (अहम्+सहमना+अस्मि) मैं यद्यपि स्वयं अभिभवित्री हूँ तथापि तेरी सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकती। (अथ+त्वम्+सासहिः+असि)तू भी अतिशय अभिभवकारिणी है (उभे+सहस्वती+भूत्वी) हम दोनों अपने-अपने साधनों से मनस्विनी होके (मे+सपत्नीम्+सहावहे) मेरी सपत्नी का अभिभव करें।

उप तेऽधां सहमानामभि त्वा धां सहीयसा।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव—

धावतु पथा वारिव धावतु। ६।

अब इन्द्राणी आत्मा से कहती है कि हे स्वामिन्! जीवात्मन्! (सहमानाम्+ते+उप+अधाम्) इस निखिल दुरितनिवारिणी विद्यारूपा ओषधि को आपके निकट रखती हूँ (सहीयसा+त्वाम्+अभि+अधाम्) इस अतिशय अज्ञाननाशक उपाय से मैं आपको सब तरह से धारण पोषण करना चाहती हूँ। (ते+मनः+माम्+अनु+प्र+धावतु) आपका मन मेरी ओर दोड़ आवे। (वत्सम्+ गौः+इव) जैसे वत्स की ओर गौ। और (वाः+पथा+इव) जैसे जल अपने पथ से अभीष्ट देश की ओर दौड़ता है। तद्वत् आपका मन मेरी ओर प्रधावित हो। ६।

यह सूक्त विद्या-वर्णन परक है इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि इसकी ऋषिका इन्द्राणी है ऋषि और ऋषिकाओं के नाम पदवी सूचक हैं यह पूर्व में लिख चुका हूँ। अब इस सूक्त की प्रचारिका को इन्द्राणी ऐसी पदवी क्यों दी गई इसका भी कोई कारण होना चाहिये। यदि केवल लौकिक सपत्नी बाधन में इसको लगावें तो इस ऋषि का नाम सपत्नी होना उचित था क्योंकि सपत्नी होने से स्त्री को क्या-क्या कष्ट होता है इस विषय की शिक्षिका का नाम ऋषि

नाम के नियम के अनुसार सपत्नी ही होता। परन्तु यहाँ इन्द्राणी नाम है। यह बुद्धि का नाम है यह निश्चय है। अब बुद्धि की सपत्नी, निश्चय, अविद्या ही है। इसका विनाश केवल विद्यारूपा ओषधि से ही हो सकता है। एवं द्वितीया ऋचा में देवजूता और सहस्वती ये दोनों विशेषण भी विद्या के ही हो सकते हैं। इस सूक्त का विनियोग जो आपस्तम्ब आदिकों ने लिखा है, वह सर्वथा वेदाशय-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है।

शिक्षा—जैसे विद्या और अविद्या दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं। तद्वत् दोनों सपत्नियों को समझिये। जो अज्ञानी पुरुष ऐसा दुष्कर्म करे उसको सर्वथा समाज से पृथक् कर दे। यदि कोई कहे कि प्राप्तौ सत्याँ निषेधः पूर्व समय में अनेक स्त्रियों को ब्याह कर रखते होंगे अतः किसी स्त्री ने पीड़िता हो यह प्रार्थना लिखी होगी ? उत्तर—वेद मनुष्यस्वभाव का वर्णनपरक है यह मैं बार-बार लिख आया हूँ। यह भी एक स्वाभाविक प्रार्थनामात्र है। मानवचरित्र का तत्त्ववित् परमात्मा क्या ईदृग् वाक्य का प्रकाश करने में असमर्थ है ? जब तक तत्ववित् पुरुष पदार्थ की परीक्षा से भविष्यत् सम्पूर्ण वृत्तान्त लिख सकता है। तब क्या त्रिकालज्ञ परमात्मा उसे नहीं कर सकता। प्रथम तो मनुष्य सम्बन्धी यह वर्णन ही नहीं। दूसरी बात यह है कि आज वेद और सभ्यता रहने पर भी ऐसे अनेक विवाह करने हारे पामर हैं ? अच्छे बुरे मनुष्य सब काल में होते हैं। अतः यदि किसी का पति दूसरी स्त्री करना चाहे तो वह समझाया जाये यह भी इससे शिक्षा दी जाती है। इसमें वेद की कोई क्षति नहीं। प्रत्युत वेद ने यह दिखलाया और निषेध किया कि कोई पुरुष दो स्त्रियाँ न रखे। क्योंकि इससे तीनों का आत्मा दूषित हो कभी सुखी नहीं होता। और एक पुरुष के कारण जो दो स्त्रियों का हृदय मलिन होता है इसके अपरा में पुरुष का कभी निस्तार नहीं। इति संक्षेपतः।

श्रद्धा ब्रह्मवादिनी। ४३।

यह ब्रह्मवादिनी श्रद्धा की प्रचारिका थी अतः इसी नाम से प्रसिद्ध हुई। १०।१५१ वें सूक्त की यह प्रचारिका थी। इसमें पांच ऋचाएँ हैं। इनमें से—

''श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।१।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।५।''
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः॥

प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि। २।
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माक मुदित कृधि। ३।
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदयया कूत्या श्रद्धया विन्दते वसु। ४।

(श्रद्धे+ददत:+प्रियम्+श्रद्धे+दिदासत:+प्रियम्) हे श्रद्धे! दु:खित को जो देता है उसको प्रिय हो। हे श्रद्धे। जो देने का भी इच्छुक है उसको भी प्रिय हो। (भोजेषु+यज्वसु+प्रियम्) परमदानी और यजमानों में प्रिय हो (मे+इदम्+उदितम्+कृधि) मुझ उपासिका के लिए भी यह उक्त प्रिय कीजिये। श्रद्धे=यहाँ श्रद्धा में भी चेतनत्व का आरोप करके वर्णन है। वेद की यह शैली सदा स्मरणीया है। इस तत्व को न जान वेदार्थ करने में बड़ी भूलें करते हैं। २। (यथा+उग्रेषु+असुरेषु+देवा:+श्रद्धाम्-चक्रिरे) जैसा उग्र, दुष्ट, राक्षस अवश्य हन्तव्य हैं और इनको पृथिवी पर से दूर करने के लिए ये विद्वान् और धार्मिक शूरवीर सदा श्रद्धा करते रहते हैं। (एवम्+अस्माकम्+भोजेषु+यज्वसु+ उदितम्+कृधि) ऐसी ही श्रद्धा हमारे दानी और यजमानों में स्थापित कर अभीष्ट फल कीजिये। ३। (वायुगोपा:+देवा:+यजमाना:+श्रद्धाम्+उपासते) वायुगोप अर्थात् ईश्वररक्षित देव और यजमान श्रद्धा की ही उपासना करते हैं (हृदयया+आकूत्या+श्रद्धाम्) हार्दिक संकल्प द्वारा श्रद्धा की ही उपासना करते हैं। क्योंकि (श्रद्धया+वसु+विन्दते) श्रद्धा से अभीष्ट वित्त पाता है। ४। इति।

इन्द्र माताएँ। ४४।

इन्द्रस्य मातरो यास्ता ऋषयो देवजामय:।
ईङ्खयन्ती रितित्वस्य सोमो वैवस्वती यमी। बृ० आ०।

"ईङ्खयन्ती:" इत्यादि पाँच ऋचाओं से युक्त १०। १५३ वें सूक्त की ऋषिका इन्द्र माताएँ हैं। जो देवों की बहनें कहलाती हैं। इन्द्र नाम जीवात्मा का है। जब यह आत्मा शरीर धारण करे। उस समय से इसकी कैसी सेवा और शिक्षा, और खेलाने के समय क्या-क्या उपदेश होने चाहिये इत्यादि विषय इस सूक्त से निर्धारित होते हैं। इसी कारण इस विषय की प्रचारिकाओं के नाम इन्द्र माताएँ है। शिशु को लाड़ प्यार करती हुई मूर्खा माताएँ बहुत सी अलीक, अश्राव्य, मिथ्या, ग्राम्य कथाएँ सुनाया करती हैं और यह कुसंस्कार शिशु के चित्त में ऐसा खचित हो जाता है कि आजीवन नहीं मिटता। अत: माताओं को उचित है कि उस शैशवावस्था में भी सन्तान के निकट उत्तमोत्तम

बात ही की चर्चा किया करें। इस सूक्त की प्रथमा ऋचा यह है—

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।

भेजानासः सुवीर्यम्। १०। १५३। १।

(ईङ्खयन्ती) विविध प्रकार के लाड़ प्यार करती हुई (अपस्युवः) सन्तुष्ट पोषणरूप कर्म में तत्परा (भेजानासः) मातृस्नेह से आर्द्रहृदया माताएँ (सुवीर्यम्+जातम्+इन्द्रम्+उपासते) सुवीर्यापित और उत्पन्न जीव अर्थात् शिशु की उपासना कर रही हैं। १। इति।

यमी ब्रह्मवादिनी। ४५।

सोमो वैवस्वती यमी। बृ० आ०।

"सोम एकेभ्यः पवते" इत्यादि पञ्चर्च १०। १५४ वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मवादिनी यमी थी। जो विवस्वान् की दुहिता कहलाती है। यह सर्वदा यम नियम की वैदिक आशय द्वारा शिक्षा दिया करती थी। और आप्त धार्मिक पुरुषों का आचरण अनुकरणीय है और विद्वान् आदरणीय हैं इत्यादि विषयों को सर्वत्र विस्तृत किया करती थी। अतः यमी नाम से प्रसिद्धा हैं इस सूक्त की द्वितीया और चतुर्थी ऋचा यह है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्। २।

येचित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।

पितृनतपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतातः। ४।

ऐ संयम नियमकारी पुरुष! (ये+तपसा) जो जन तपोयुक्त हैं (अनाधृष्याः) दुष्कर्म पापादिकों से अघर्षणीय हैं। (ये+तपसा+स्वः+ययुः) जो सत्यादि तपोव्रत से सुखस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हैं (ये+महः+तपः+चक्रिरे) जो महान् तप कर गये और जो कर रहे हैं (तान्+चिद्+एव+अपि+गच्छतात्) उनको ही तुम भी प्राप्त होओ। अर्थात् उनके ही अनुकूल तुम भी चलो। २। (यम) हे यमनियमधारी पुरुष (ये+चित्+पूर्वे+ऋतसापः) जो पूर्वज ऋतस्पर्शी (ऋतावानः+ ऋतावृधः) सत्युक्त, सत्यान्वेषी, सत्योपदेशक, सत्यवर्धक हुए हैं और जो हैं (तपस्वतः+पितृन्) और जो तपस्वी पितृगण हैं (तान्+चित्०) उनका ही अनुकरण करो। ४। इति।

शची-ब्रह्मवादिनी। ४६।

उदसौ त्वस्य पौलोमी शची नाम मुनिः स्मृतः। बृ० आ०

"उदसौ सूर्यो अगाद्" इत्यादि छह ऋचाओं से युक्त १०। १५९ वें सूक्त की ऋषिका श्रीमती शची देवी हैं। शची यह नाम वैदिक क्रिया और बुद्धि का है। निघण्टु २। १। और ३। ९ देखो। कर्म कैसा महान् है इस विषय की शिक्षा दिया करती थीं अतः यह शची नाम से प्रसिद्ध हुई। इस सूक्त की तृतीया ऋचा यह है—

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो दुहिता विराट्।

उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः। ३।

क्रिया देवी कहती है (मम-पुत्राः+शत्रुहणः) मेर पुत्र शत्रु हन्ता होते हैं (अथ+मे+दुहिता+विराट्) और मेरी कन्या विशेष प्रकार से शोभित होती है (उत+अहम्+संजया+अस्मि) और मैं सर्वत्र विजयकारिणी होती हूँ (पत्यौ+मे+श्लोकः+उत्तमः) अपने स्वामी जीवात्मा के निकट मेरा यश उत्तम है। इससे यह भी सूचित किया है कि प्रत्येक स्त्री वैदिक क्रिया परायणा हो के ऐसी आशा करे। इति।

सार्पराज्ञी-ब्रह्मवादिनी। ४७।

आयं गौरिति सूक्तस्य सार्पराज्ञी मुनिः स्मृतः।

"आयंगौः" इत्यादि तृच (तीन ऋचाओं से युक्त) १०। १८९ वें सूक्त की प्रचारिका श्रीमती सार्पराज्ञी हैं। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये सब ही चल रहे हैं अतः इनको सर्प कहते हैं "सर्पन्तीति सर्पाः" पृथिवी, सूर्य आदि की गति किस और कितनी है किस आधार पर ये ठहरे हुए हैं इत्यादि विषय के तत्त्व जानने हारी स्त्री का नाम "सर्पराज्ञी" है। जिस कारण ऐसे विषय की प्रचारिका यह थी अतः सार्पराज्ञी नाम से प्रख्याता हुई। इस सूक्त की प्रथमा ऋचा यह है—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।

इसका अर्थ आगे लिखूँगा। यद्यपि एक प्रकार से यह प्रकरण समाप्त हो गया। तथापि इस सम्बन्ध में जो विविध शंकाएँ करते हैं। उनका भी कुछ समाधान करके इन प्रकरणों को समाप्त करूँगा।

ऋषि और ब्रह्मवादिनी ऋषिकाएँ। ४८।

शंका—अमुक मन्त्र का अमुक ऋषि वा ऋषिका है। इसका अमुक और अमुक देवता है। इत्यादि का निर्णय कैसे हो सकता है। उत्तर-छन्द और देवता का निर्णय कठिन नहीं किन्तु ऋषि का निर्णय कठिन है इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि वैदिक छन्दों के ज्ञान के लिए पिंगलादि कृत ग्रन्थ पूर्ण हैं और

जिस मन्त्र में जिस अर्थ का वर्णन हो वह उसका देवता होता है "या तेनोच्यते सा देवता" इस नियम के अनुसार देवता का भी निर्णय होना कठिन नहीं। परन्तु ऋषियों का निर्णय करना अति कठिन कार्य है। यह इतिहास से सम्बन्ध रखता है। कौन-कौन ऋषि और ऋषिकाएँ वेदों को जगत् में विस्तृत करते गये और किस समय में और कहाँ-कहाँ वेदों का प्रचार किया एतत्सम्बन्धी इतिहास आज अलभ्य है। वेदों के पश्चाद्भव अति प्राचीन ऐतरेय, शतपथ, गोपथ और ताण्ड्य महाब्रह्मण आदिक ग्रन्थों में ऋषि ऋषिकाओं की चर्चा बहुधा आती है। उन ग्रन्थों के अनेक स्थलों में कहा गया है कि यहाँ पर वामदेवदृष्ट साम गाना चाहिये। यहाँ वसिष्ठ-दृष्ट ऋचाओं से हवन करे। यहाँ सार्पराज्ञी दृष्ट ऋचाओं से उपस्थित होवे। बहु प्राचीन महर्षि पाणिनि ने भी व्याकरण शास्त्र में मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की चर्चा की है। इन सबसे प्रतीत होता है कि ऋषि सम्बन्धी कोई बृहद् ग्रन्थ प्राचीन काल में अवश्य था। पुनः एक आश्चर्य देखते हैं कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में जहाँ तहाँ प्रसङ्गवश अनेक ऋषियों के अपूर्ण इतिहास आते हैं, उससे भी प्रतीत होता है कि ऋषि सम्बन्धी कोई बड़ा इतिहास ग्रंथ था जिससे लेके जहाँ तहाँ कहीं-कहीं थोड़े बहुत वाक्य प्रसङ्गानुकूल उद्धृत हैं। और वेदों की ऐतिहासिक ऋचाओं पर भी प्राचीन काल के कोई अति वृहत् ग्रन्थ अथवा अनेक ग्रन्थ थे। क्योंकि जहाँ तहाँ विविध काल्पनिक इतिहास पाए जाते हैं। जैसा कि मैंने इस ग्रन्थ में शतपथादिकों से कई एक इतिहास उद्धृत किये हैं।

आजकल ऋग्वेद के ऋषियों के परिचर्याय सुप्रसिद्ध दो ग्रन्थ मिलते हैं १—एक तो कात्यायन विरचित सर्वानुक्रमणी। सूत्र रूप में यह ग्रन्थ यद्यपि बहुत लघु है तथापि इसमें छन्दों, देवताओं, ऋषियों और ऋषिकाओं का पूर्ण वर्णन आ गया है। इसके ऊपर षड्गुरु-शिष्य कृत-"वेदार्थदीपिका" नाम की उत्तम वृत्ति है। २—दूसरा शौनक विरचित बृहद्देवता नाम का ग्रंथ अनुष्टुप् छन्दों में लिखित है। कहीं-कहीं अन्यान्य छन्द भी हैं। इसके कई एक नाम हैं। १—बृहद्देवता २—आर्षानुक्रमणी ३—छन्दोऽनुक्रमणी ४—अनुवाकानुक्रमणी। इन चार भागों से यह युक्त है। ये दोनों ग्रंथ भी बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं। सायण ने इन ही दोनों ग्रंथों के विशेष कर सर्वानुक्रमणी के आधार पर ऋषि, छन्द आदिकों का अवधारण किया है। चतुर्वेद भाष्यकर्त्ता सायण प्रत्येक सूक्त के आरम्भ में सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋषि, देवता छन्द लिख देते हैं।

परन्तु यहाँ मुझे लिखना पड़ता है कि कात्यायन और शौनकाचार्य ऋषियों के नाम लिखने में कहीं-कहीं भूल कर गये हैं। इन दोनों की ही नहीं किन्तु

यास्काचार्य की भी सम्मति इस विषय में सर्वदा त्याज्य है। कात्यायन प्रभृति की "यस्य वाक्यं स ऋषिः" जिसका वाक्य है वह उसका ऋषि है। इस बात को यदि मान भी लें तो संगति नहीं लगती है। सर्वथा अस्वाभाविक वर्णन करते हैं। मैं यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। यम यमी सूक्त को लीजिये। जो-जो ऋचा यम की उक्ति है उस-उस का ऋषि यम और जो-जो ऋचा यमी की उक्ति है उस-उस की ऋषिका यमी है। ऐसा ये सब मानते हैं। क्या यमी ने यम से ऋचा बना कर पूछा और यम ने भी ऋचा बना के उत्तर दिया? क्या ये दोनों ऋचाओं को बना-बना वार्तालाप किया करते थे। १। एकान्तस्थल में जाके इन्होंने जो दो चार बातें की थीं क्या उनको इन दोनों ने पृथक्-पृथक् लिख लिया और जगत् में प्रसिद्ध किया कि हम भाई बहनों में इस प्रकार अश्लील वार्ता हुई है आप सब श्रवण करें और साक्षी रहें। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा कथन सर्वथा अस्वाभाविक होगा। थोड़ी देर तक मान लिया जाये कि वेद ऋषियों के प्रणीत हैं। इस अवस्था में भी यमी और यम की उक्ति को लेके कथा के तौर पर कोई एक पुरुष प्रकाशित करे ऐसा सम्भव है। और आजकल भी ऐसा होता है। इसलिये यमी सूक्त का रचयिता कोई एक अन्य कवि ही होना चाहिये। क्या महाभारत आदिक ग्रंथों में जो नाना संवाद हैं उस-उस संवाद का वा वाक्य का रचयिता वही-वही वक्ता पुरुष है?। १। कदापि नहीं। पुनः मण्डूक, मत्स्य, कपोत आदिक जलचर नभचर आदि प्राणी भी इनके सिद्धान्तों के अनुसार ऋषि हैं। शोक की बात है कि ऐसी-ऐसी असंभव बातें ये माध्यमिक आचार्यगण लिख कर वेद को कलंकित कर गये। अतः इस विषय में ये सब आचार्य त्याज्य हैं। और जो कतिपय वेदाभिज्ञ पुरुष—

"स्त्रीशूदौ नाधीयाताम्। स्त्री शूद्रद्विजबन्धूनाँ त्रयी न श्रुति गोचरा"

इत्यादि कपोलकल्पित वाक्यों को सुना स्त्री जाति को मूर्खा और पशु बना मूर्खता और पशुता फैला रहे हैं, वे पूर्वाक्त श्रुतियों को विचारें। ब्रह्मवादिनी श्रीमती रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, यमी, उर्वशी, गोधा, इन्द्राणी, इन्द्र माताएँ, श्रद्धा, सर्वराज्ञी आदि परम विदुषी और वेद की ऋषिकाओं को देख अपनी-अपनी अनभिज्ञता को दूर करें। वास्तव में इन बेचारों का दोष नहीं क्योंकि वेद तक ये सब पहुँचे नहीं थे। वेदों का पढ़ना पढ़ाना लुप्त हो गया था अतः इस महान्धकार के समय में जिसको जो मन में आया वह बकता गया। मैं यहाँ बोधार्थ और पुनः निश्चयार्थ बृहद्देवता से उन श्लोकों को उद्धृत कर देता हूँ जो ऋषिकाओं से सम्बन्ध रखते हैं—

तद्भार्या रोमशा नामो-पोत्तमस्या उपोत्तमे। आ० १। २२।
पूर्वीरितिच सूक्तस्य-सम्वादस्य द्विऋचास्त्रयः।
लोपामुद्रा द्वचे पूर्वे अगस्त्यो मध्यमे द्वचे। ३०।
समिद्धो अग्नि रित्यस्मिन् विश्ववाराऽत्रिगोत्रजा। १। १४।
प्रयोगपुत्र आसङ्ग स्तस्य पत्नी तु शश्वती।
अन्वस्यस्थूर मित्यस्याः सा च त्वङ्गिरसः सुता। ८। ६।
अपाला नाम कन्येति सूक्तस्यात्रेः सुता मुनिः। ८। ३९।
ओचित्सूक्ते ष्वयु क्ष्वृक्षु ष्ठ्या सह मुनिर्यमी। १०। ४।
यो वां परिज्या सूक्तस्य-रथ मित्युत्तरस्य च।
कक्षीवतः सुता घोषा ह्यृषिकेत्यत्र कीर्तिता। १०। १५।
सत्येनोत्तभिता सूक्तं सूर्या सावित्री त्यार्षं तत्। १०। ३३।
विहीत सूक्त मिन्द्राण्या इन्द्रस्यच वृषाकषेः। १०। ३४।
उर्वशी च हये सूक्ते मुनिरैलः पुरूरवाः। १०। ४२।
उदसौ स्वस्य पौलोमी शचौनाम मुनिः स्मृतः। १०। ८१।
आयं गौरिति सूक्तस्य सार्पराज्ञी मुनिः स्मृतः। १०। ९८।
गोधा घोषा विश्ववाराऽपालोपनिघन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्य स्वसादितिः।
इन्द्रणी चैन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती।
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।

आर्यानुक्रमणी। अ० १०। श्लोक १००-१०२

पूर्व लिखे प्रमाणों में यहाँ बहुत से नहीं लिखे गये हैं। अतः पाठक तत्-तत् स्थान देख लेवें।

इसके अतिरिक्त वेदों की ऋचा में आए हुए स्त्रीलिङ्ग पद सूचित करते हैं कि सब प्रार्थनाएँ स्त्री जाति के लिए हैं। यथा—

१—सर्वाहमस्मि रोमशा

२—पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा। घीरमधीरा धयति श्वसन्तम्।

३—इयं वा मह्वे शृणुतं मे अश्विना

पुनः—कुमारी कन्या की प्रार्थनाः—

तदुहापि कुमार्थ्यः परीयुः ।......तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम्।

उर्वारुकमिवबन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।शतपथ।२।६।२।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि कुमारी कन्याओं को भी उचित है कि वे ईश्वर की प्रार्थना उपासना और मानसिक परिक्रमा करें। उन कुमारियों के लिए यह भी मन्त्र हैं। अथ मन्त्रार्थ—(त्र्यम्बकम्+यजामहे) हम कुमारी कन्याएँ त्रिलोक-पिता परमात्मा का यजन करें (सुगन्धिम्) जो विविध सुख, आमोद प्रमोद के देने हारा और निखिल दुःख रूप दुर्गन्धियों को निवारण करने हारा है (पतिदेवनम्) जिसकी कृपा से स्त्रियों को अच्छे-अच्छे पति मिलते हैं उस परमात्मा की कृपा से (बन्धनात्+उर्वारुकम्+इव+इतः+मुक्षीय) जैसे बन्धन से उर्वारुक नाम का फल पृथक् होता हैं। वैसे हम कन्याएँ इस पितृ-कुल से पृथक् होवें परन्तु (अमुतः+मा) उस भविष्यत् पतिकुल से कदापि पृथक् न होवें। हे परमात्मा! आपके अनुग्रह से हम कन्याएँ भावी पतियों के गृह में सुख से निवास करें, यह आशीर्वाद दो।

यह मन्त्र केवल कन्याओं के लिए है। क्योंकि एक तो यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रंथ कहता है और दूसरा ''पतिवेदन'' यह शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। जो आधुनिक धर्मशास्त्री कन्याओं के लिए ब्रह्मचर्य का निषेध करते हैं वे इन मन्त्रों पर ध्यान देवें पुनः—

स्त्रियों की प्रार्थना

पिता नोऽसि पिता नो बोधि।

नमस्तेऽअस्तु मा-मा हिंसी।

त्वष्टमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान्पशून् मयि धेहि।

प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम्।

यजुः। ३७। २०।

(नः+पिता+असि+पिता+नः+बोधि) हे परमात्मन्! आप हम स्त्रियों के पिता हैं पिता के समान हमको समझाइये। (नमस्ते+अस्तु)आपको बारम्बार नमस्कार हो। हमको दुष्ट कर्मों में प्रेरिता कर पतिता न बनावें। (त्वष्टमन्तः+त्वा+सपेमः) दृढ़व्रता हम स्त्रियाँ आपको मन से स्पर्श करती हैं (पुत्रान्+पशून+मयि+वेहि) हमारे निकट पुत्र और पशुओं की वृद्धि कीजिये (अस्मासु+प्रज्याम्+धेहि) हमारे समीप वंशवृद्धि कीजिये (पत्या+सह+अहम्+अरिष्टा

भूयासम्) पति के साथ में अहिंसिता होऊँ अर्थात् यावज्जीवन भर्तृमती होऊँ। इसी प्रकार सर्व स्त्रियाँ भर्तृमती होवें। हे भगवन्! यह हम स्त्रियों की प्रार्थना है। स्वीकार करो।

यहाँ ''अरिष्टाहं सहपत्या भूयासम्'' यह वाक्य ही दिखलाता है कि स्त्रियों के लिए प्रार्थना है। ''त्वष्टृमन्तः'' यह वैदिक प्रयोग है। अर्थात् ''त्वष्टृमन्त्यः'' की जगह में वैसा है। पुनः—

स्त्री को यज्ञ करने की आज्ञा

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्य याऽऽशिरा।८।३१।५।
प्रति प्राशव्यौ इतः सम्यञ्चा बहिराशाते—
न ता वाजेषु वायतः।६।
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः—
श्रवो बृहद् विवासतः।७।

इन ऋचाओं का देवता ''दम्पती'' स्त्री पुरुष हैं। अर्थात् जाया और पति के कर्त्तव्य का वर्णन है (देवासः) हे विद्वान पुरुषो! (या+दम्पती) जो पत्नी और पति (समनसा+सुनुतः) एक मन हो के साथ यज्ञ करते हैं (च+आ+धावतः) और स्तुति प्रार्थना उपासना के द्वारा निकट दौड़ते हैं (नित्यया+आशिरा) नित्य ईश्वर के आश्रय से सब कार्य करते हैं। वे कदापि दुःख क्लेश को नहीं पाते हैं।५। (प्राशव्यान्+प्रति+इतः) वे दोनों प्राशव्य अर्थात् नाना भोगों को पाते हैं जो (सम्यञ्चा+बहिः+आशाते) सदा सम्मिलित हो यज्ञ का सम्पादन करते हैं। (ता+वाजेषु+न+वायतः) वे दोनों के लिए इधर उधर नहीं जाते हैं। अर्थात् विविध सुखों से सदा पूर्ण रहते हैं।६। (देवानाम्+न+अपि+हनुतः) जो दम्पती विद्वानों के उपदेशों को और देव भागों को नहीं छिपाते (सुमतिम्+न+जुगुक्षतः) शोभन मति को कभी गुप्त करना नहीं चाहते (बृहत्+श्रवः+विवासतः) जो अपने शुभ कर्मोपार्जन द्वारा महान् यश को सर्वत्र विस्तृत करते हैं, वे कदापि दुःख के भागी नहीं होते। आशिरा=आश्रय, आशीर्वाद, प्राशव्य=भक्ष्यपदार्थ। अन्नप्राशन शब्द की तुलना करो। वायतः= वयतिर्गत्यर्थः (सा०) ह्नुतः=ह्नुङ्=अपनयने। जुगुक्षत=गुहू सम्वरणे।७।

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः—
उभा हिरण्यपेशसा।८।
वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्ताऽमृताय कम्—

समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुता दुवः। ९।

(ता) वे यज्ञ करने हारे पत्नी और पति (पुत्रिणा) पुत्र पुत्रीवान् होते हैं (कुमारिणा) कुमार कुमारियों से सदा युक्त रहते हैं (विश्वम्+आयुः+व्यश्नुतः) पूर्ण आयु को भोगते (उभा+हिरण्यपेशसा) और दोनों जगत् में निष्कलङ्क रह के सदा सच्चरित्ररूप सुवर्ण भूषणों से देदीप्यमान होते हैं। ८। (वीतिहोत्रा) जिन दोनों को अग्निहोत्र कर्म प्रिय हैं। (कृतद्वसू) जो धर्मरूप धनों से सम्पन्न हों (दशस्यन्ता) जो परम उदार दानी हों ऐसे दम्पती (अमृताय+कम्) अन्त में मोक्ष के योग्य होते हैं एवं ये दोनों (ऊधः+रोमशम्) बहुत ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करते हुए (संहतः) सदा सम्मिलित रहते हैं अर्थात् इनमें वियोग नहीं होता (देवेषु+दुवः+कृणुतः) ऐसे ही दम्पती विद्वानों के मध्य सेवा भी कर सकते हैं। ९।

यहाँ "दम्पती" "सम्यञ्चा" आदि शब्द ही सिद्ध करते हैं कि दोनों स्त्री पुरुष सम्मिलित हो यज्ञादि शुभकर्म करें।

स्वयम्वर की आज्ञा

कियती योषा मर्यतो वधूयोः—
परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः—
स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। १०। २७। १२।

(कियती+योषा) कितनी ही स्त्री (वधूयोः) वनिताभिलाषी (मर्यतः) मनुष्य की (वार्येण+पन्यसा) उत्तमोत्तम स्तुति द्वारा (परिप्रीता) अति प्रसन्ना होती है अर्थात् बहुत सी स्त्री वनिताभिलाषी विद्वान् पुरुष की प्रार्थना सुन परमप्रीता हो उससे विवाह कर लेती हैं (यत्+वधूः+भद्रा+सुपेशाः+भवति) जो वधू कल्याणी और शोभनरूपा होती है (सा+स्वयम्+जने+ चित्+मित्रम्+ वनुते) वह स्वयं मनुष्य समूह में मित्र=पति को चुन लेती है।

इससे विस्पष्ट है कि कन्या स्वयं वर को चुने। यह परिपाटी भारतवर्ष में सदा से चली आती थी। सीता और द्रोपदी का स्वयंवर अति प्रसिद्ध है। मुहम्मदीय राज्य की स्थापनाकाल से यह परिपाटी बन्द हो गई। मिथिला-देश में अभी तक सौराठ ग्राम में विवाहेच्छुक मैथिल ब्राह्मण कुमार सहस्त्रों एकत्रित होते हैं। वहाँ कन्याओं के पिता भ्राता आदि सम्बन्धिक जाके वर चुन लाते हैं। इससे अनुमान होता है कि कभी समय रहा होगा जब कन्यायें भी एक ओर आती रही होंगी और विविध प्रकार के खेल कौतुक होते रहे होंगे जिनसे

कन्याओं को वर देखने और परीक्षा करने का अवसर मिलता रहा होगा। निश्चय, मुसलमानों के अत्याचार के कारण यह व्यवहार बन्द कर दिया गया होगा।

स्त्रियों को सर्वाङ्ग ढाकना

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।

मा ते कशप्लकौ दृशन् त् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।८।३३।१९।

(अधः+पश्यस्व) ऐ स्त्री! नीचे देखो (मा+उपरि) ऊपर मत देखो। अर्थात् चलने के समय नीचे देखती हुई चलो इधर-उधर और ऊपर मत देखो। (पादकौ+सन्तराम्+हर) दोनों पैरों को मिला के सभ्यता पूर्वक उठाओ (ते+ कशप्लकौ+ मा+दृशन्) तुम्हारे वक्षस्थल कोई न देख सके वैसा सुगढ़ वस्त्र धारण करो (हि+स्त्री+ब्रह्मा+बभूविथ) क्योंकि तुम स्त्री जाति ब्रह्मचारिणी ब्रह्मवादिनी परमसभ्या हुआ करती हैं ऐसा न हो कि पुरुष असभ्यता के ऊपर हास्य किया करें।

विवाह के समय का निर्धारण

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं—

तपसो जातं तपसो विभूतम्।

इह प्रजामिह रयि रराणः—

प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम।१०।१८३।१।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां—

स्वायां तनू ऋत्वथे नाधमानाम्।

उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः—

प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे।२।

विवाह के अनन्तर स्त्री पुरुष दोनों मिल कर वार्तालाप करने के ये दो मन्त्र हैं। प्रथम पत्नी कहती है कि हे स्वामिन! (त्वा+मनसा+अपश्यम्) आपको मैने मन से ऐसा जाना है कि आप (चेकितानम्) बड़े ज्ञानी मानी, कर्म-कुशल और सर्वव्यवहार-ज्ञाता हैं (तपसः+जातम्) ब्रह्मचर्य, सत्य-पालनादि तप से आप उत्पन्न हुए हैं अर्थात् आप शूरवीर परम तपस्वी और सर्वत्र विख्यात हैं (तपसः+विभूतम्) ब्रह्मचर्यादि तप से आप सर्वत्र सुप्रसिद्ध हैं। (पुत्रकाम) हे पुत्र-काम! स्वामिन्! जिस हेतु आप पुत्र-पुत्री-सन्तान की कामना कर रहे हैं अतः (इह+प्रजाम्+इह+रयिम्+रराणः) इस मुझमें सन्तति और इस लोक में वित्त को उत्पन्न कर विविध भोग विलास करते हुए आप (प्रजया+ प्रजायेस्व)

सन्तति के साथ प्रकृष्ट होइए अर्थात् प्रजा उत्पन्न कर सुखी होइए। १।

पति कहता है कि हे पत्नि! अयि सुन्दरि! मनोरमे! (त्वा+मनसा+अपश्यम्) आपको मैंने मन से अच्छी तरह से ऐसा जाना है कि आप (दीध्यानाम्) ब्रह्मचर्य से देदीप्यमान हैं शुद्धा और परम पवित्रा हैं (स्वयाम्+तनू+ऋत्वये+नाधमानम्) और आप मेरे द्वारा अपने शरीर में ऋतु धर्म स्थापनार्थ याचना अच्छी तरह कर रही हैं। (माम्+उप+उच्चा+युवतिः+बभूयाः) मेरे समीप आप उच्च युवती प्रतीता होती हैं अतः (पुत्रकामे) अयि पुत्रकामे! प्रिये! जिस कारण पुत्र-पुत्री-सन्तानों की आप कामना कर रही हैं अतः (प्रजया+प्रजायस्व) आप भी प्रजा के साथ प्रकृष्ट होइए। परमात्मा हम दोनों का मनोरथ सिद्ध करें। ओं तत् सत्।

इस वार्तालाप से सिद्ध है कि पूर्ण यौवनावस्था में विवाह हो एवं मन्त्र में ''युवती'' यह पद भी यहाँ है। जहाँ-जहाँ विवाह की चर्चा आई है वहाँ-वहाँ ''युवती'' ''योषा'' आदि पद आए हैं जो युवावस्था के विवाह के प्रदर्शक हैं ''जनिष्ट योषा पतयत् कनीनकः। युवाह यद् युवत्याः क्षेति योनिषु'' १०। ३९। युवति शब्दार्थ प्रसिद्ध ही है परन्तु योषा और योषित आदि शब्द का भी युवति अर्थ है। क्योंकि सेवार्थक युष धातु से योषा और योषित बनते हैं। जो सन्तानार्थ सेविता हो वह योषा। बहुत मैं क्या लिखूँ। स्वयम्वर-विधि, विवाह काल का वार्त्तालाप एवं ब्रह्मचर्यादि सेवन इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि कदापि भी बाल्यावस्था में पाणिग्रहण नहीं होना चाहिये। युवावस्था कब होती है इसका परिज्ञान वैद्यक और शारीरिक-शास्त्र द्वारा हो सकता है। इति।

स्त्री कर्तृक युद्ध।

चरित्रं हि वेरिवाऽच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जंघांमायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्।

ऋ० १। ११६। १५।

यद्यपि यह अन्यार्थ-परक ऋचा है, तथापि, विश्पला यह स्त्रीलिङ्ग नाम दे के वेद भगवान् इङ्गित करते हैं कि स्त्री जाति भी आपत्तिकाल में संग्राम करे। पुनः मुद्गल और मुद्गलानी की वार्ता से भी यह सिद्ध होता है। इस सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या आगे लिखूँगा यहाँ केवल एक ऋचा अर्थ सहित लिखता हूँ।

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथ यदजयत्सहस्रम्।
रथीरभून् मुद्गलानी गविष्टौ। भरेकृतं व्यचेदिन्द्रसेना।

१०।१०।२।

मुद्गल और मुद्गलानी उसको कहते हैं जो मुद्गर नाम का अस्त्र धारण करे। अर्थात् जो स्त्री पुरुष अस्त्र धारण कर धर्मरक्षार्थ असुर विनाशार्थ संग्राम करते हैं उन्हें मुद्गल और मुद्गलानी कहते हैं। यहाँ युद्धक्षेत्र का वर्णन करते हैं (मुद्गलानी) यदि किसी वीर की पत्नी भी सुवीरा, निर्भया, विविध अस्त्र शस्त्रों की ज्ञाता हो और पति की मानो, साक्षात् सेना वा सेनानी हो तो (रथी:) ऐसी स्त्री रथी अर्थात् रथारूढा हो के (इन्द्रसेना+अभूत्) अपने पति की सेनाओं में से वह भी एक सेना वा सेनानी अर्थात् सेनानेत्री होवे और (भरे+कृतम+व्यचेत्) संग्राम में सुकृत लेवे अर्थात् धार्मिक युद्ध कर यशोभागिनी होवे। (यद्+अधिरथम्+सहस्रम्+अजयत्) जब ऐसी वीर पत्नी सुवीरा स्त्री रथ पर बैठ विविध संग्रामों को विजय करती है तब (अस्य:+वाह:+वात:+उद्वहति+स्म) इसके वस्त्र को वायु संचालित करता है। अर्थात्, वायु देव भी प्रसन्न हो इस स्त्री के वस्त्रसंचालन छल से, मानो, पंखा करते रहते हैं।

इससे विस्पष्ट सिद्ध है कि युद्ध क्षेत्र में स्त्री जा सकती है। इस प्रकार वेद भगवान् स्त्री जाति को आदरान्विता, ही बनाने के लिए विविध प्रकार से उपदेश देते हैं। यदि भारत-वासी वेद की आज्ञा पर चलते रहते तो यहाँ की शुद्धा पवित्रतमा स्त्रियों की यह दशा नहीं होती। वेदों में स्त्रीजाति के अनुपम महान् महत्त्व का वर्णन रहने पर भी बहुत से पण्डित जो आक्षेप करते हैं उनके सिद्धान्त का संक्षेप में निराकरण करूँगा।

एक भार्यत्व, बहुभार्यत्व, बहुपतित्व आदि विषय।

कतिपय स्वदेशी और विदेशी आधुनिक पण्डित बहुभार्यत्व और बहुपतित्व का भी दोष वेदों पर मढ़ते हैं। बारम्बार उन पण्डितों के नामोल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। प्राय: गतशताब्दी और इस शताब्दी के वेदों पर जितने टीका टिप्पणी करने हारे हैं; उनमें से प्राय: सब ही अपने:अपने ग्रन्थों में लिखते गये हैं कि १—वैदिक समय में स्त्रियों का उतना आदर नहीं था। २—एक पुरुष अनेक भार्या कर लिया करता था। ३—कभी-कभी एक ही स्त्री के अनेक पति भी हुआ करते थे। ४—पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना है। कन्या लाभार्थ नहीं। इत्यादि। मैं यहाँ प्रथम दो विदेशी पण्डितों की सम्मति लिख पुन: विचार करूँगा। श्रीयुत मोरिस फिलिप्स (Maurice Phillips) लिखते हैं—

Though monogamy was doubtless the prevailing custom in the Vedic age, polygamy is often spoken of without any disapprobation. We have seen before that the Rishi Kakshivan married the ten daughters of Raja Swayana. And we are told that when the sage Chyavana had grown old, and had then forsaken, that the asvins divested him of his decrepit body, prolonged his life, restored him to youth, and made him "the husband of maidens." Soma is said to have made the dawns bright at their birth, and to have formed them the wives of a glorious husband Indra had two wives, Indrani and Prasaha. The sage Yajnavalkya had two wives, Maitreya and Katyayani. One Rishi exclaims, "The Magnificent lord, the protector of the virtuous.... has given me fifty wives" "The following are a specimens of many passages which allude with approbation to the possession of more than one wife, "Powerful Indra, their minds adher to thee, as affectionate wives to a loving husband". Indra took to him all the cities as one common husband his wives". "Thou dwellest with thy glories like a Raja with his wives"." Even polyandry is hinted at in the fact that two Asvins had one wife in common and Rodasi was the common wife of Maruts.

Still, though monogamy seem to have been the normal state of matters, there are to be found without any accompanying note of reprobation or disapprovel, traces of Polygamy. There is allusion to "the husband of many maidens, with approbation. In one hymn the Asvins are praised: 'You stripped off from the aged Chayvana his entire skin, as if it had been a coat of mail, you reversed the life of the sage who was without kindred and constituted him the husband of many maidens'. The same idea seems to underlie the words addressed to Indra; 'Powerful Indra, the minds (of the pious and wise) adhere to thee as affectionate wives to a loving husband. The collective divinities (Visvadevas) are addressed by a Rishi in misery: "The ribs of the well close round me. Like the rival wives (of one husband) cares consume me, although thy worshipper, as a rat gnaws a weaver 'sthreds'. There are certain hymns addressed to the Dawn, which the Rig-Vidhana directs the worshipper to repeat as by so doing he will obtain, among other things male offspring and wives, an expression suggestive of polygamy. The 75th hyms of the 7th Book is

one of these hymns. One Rishi exclaims, 'the magnificent lord, the protector of the virtuous..............has given me five hundred wives. The following verse addressed to Indra is suggestive a recognised and permitted cruelty to wives as well as of polygamy—more especially when we consider the feeilings with which Dasyas, Asuras, and Rakshasas were regarded, as we shall see below:-May Indra, equal to the task, and unaided, possess all the cities (of the Asuras) as a husband his wives. He is also addressed: "Thou dwellest with thy glories like a Raja with his wives. Praising the liberality of Sudas, the donor of two hundred cows, and two chariots with two wives. The gods are generally represented with only one wife each, but there are expression of doubtful interpretation. such as 'Agni and Sarasvati with Saraovatas: may the three goddesses sit down before us upon this sacred garss.' It is difficult to understand what Agni has to do here among the goddesses. The expression 'Wives of the gods' occur pretty often, though in some cases human wives would be more in keeping with the context, 'May Swashtri with the wives of the gods be with us for our happiness, and hear us at this solemnity.' May the pious couple (the Yajamana and his wife) conjointly appreciate the beauty of the sacrifice' The same couple are referred to in the words. The pious pair like two riders in a chariot, follow the pathe of the ceremony. Ushas (Dawn) and Night are represented as 'manifesting themselves variously and going to promote the first invocation' like two wives, I suppose, of one man.

पुनः आगे चल कर कक्षीवान् का निर्देशन देते हुए पण्डित मैकडेनल्ड कहते हैं कि:—

The story, if true, and truly interpretep, proves not only that polygamy existed, but also that marriages were celebrated between Brahmins and Kshatriyas.

But not only was polygamy tolerated, it would appears that polyandry, a still more disgusting crime (yet prevalent among some of the aboriginal tribes of India alike in the North and in the South), was also acknowledged among the India Aryan.

१ वैदिक समय में स्त्रियों का आदर—

विदेशी और विदेशियों के शिष्य एतद्देशी पण्डितवर वेदों का अभी

तक अच्छे प्रकार विचार नहीं करते और इनके हृदय में पत्थर की लकीर के समान यह बात खचित है कि वेद जांगलिक समय का ग्रंथ होने से उच्चभाव की बातें इसमें हो ही नहीं सकतीं। (उ०) एवमस्तु। अब सुनिये। आप भी स्वीकार करते हैं या स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय स्त्रियाँ ऋषिकाएँ होती थीं। देश विदेश में जाकर वैदिक शिक्षा विस्तृत किया करती थीं। वेदवेदाङ्ग पढ़ के नाना ग्रंथ बनाती थीं। पति के साथ रथ पर चढ़ कर भ्रमण करती थीं। प्रत्येक शुभकर्म में स्त्री सम्मिलिता होती थीं। बालक और बालिकाएँ दोनों ही गुरु के समीप पढ़ते, और पढ़ाई जाती थीं। पूर्ण युवावस्था प्राप्त होने पर वर कन्या चुन कर विवाह किया करते थे। पुरुष-सभा में भी व्याख्यान देती थीं। न्याय करती थीं। न्याय-सभा में न्याय करवाने के लिए भी जाती थीं। अपनी सम्मति से देश का राजा चुनती थीं। यज्ञ में पुरुषवत् आसन पर बैठ यज्ञ करती और करवाती थीं। गृह की रानी होती थी। पति को भी सुमार्ग पर चलाने हारी थी। सामाजिक सभ्यता का मूल कारण स्त्री जाति ही थी। ईश्वर में श्रद्धा, विश्वास और सुबुद्धि की प्रचारिका ये ही थी। मैं कहाँ तक लिखूँ ब्रह्मवादिनी प्रकरण को अच्छे प्रकार अध्ययन कीजिये इसी से बहुत कुछ परिचय हो जायेगा। दो एक बातें यहाँ और भी वक्तव्य हैं। ''दम्पति'' ''जायापती'' आदि शब्द वेद और संस्कृत साहित्य में बहुधा प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ जाया शब्द पति शब्द के पहले आया है। यह जाया शब्द का पूर्वनिपात ही स्त्री जाति का आदरातिशयसूचक है। पुन: ''पत्नी'' शब्द ''पत्युर्नो-यज्ञयंयोगे'' इस सूत्रानुसार दिखलाता है कि पत्नी बिना पति का यज्ञादि शुभ कर्म करना अनुचित माना जाता था। अब इससे बढ़ कर आदर क्या हो सकता है। स्वयं पण्डितवर विचारें।

२ एक पुरुष अनेक भार्याएँ कर लिया करता था।

बहुभार्यत्व की सिद्धि में प्राय: सब कोई कक्षीवान्, च्यवन, सोभरि और सुदासादि कर्तृक अनेक स्त्रियों के दान प्रभृतियों को साक्षी में प्रस्तुत करते हैं। सोभरि की कथा का तात्पर्य यहाँ लिखूँगा और सुदास आदि की वार्ता दानप्रकरण में रहेगी।

सोभरी ऋषि की गाथा। ४८।

महाभारत, वृहद्देवता, विष्णुपुराण, श्रीमद् भागवत और सांख्यशास्त्र प्रभृति अनेक ग्रंथों में इस बह्वृच ऋषि की गाथा भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पित हुई हैं। वे कहते हैं कि ये सोभरी ऋषि जल में निमग्न हो द्वादश वर्ष तपश्चरण करते रहे। एक समय संमद नाम का मीनराज विविध दार, पुत्र पौत्र, प्रपौत्र,

दुहिता, दौहित्र, बन्धु, बान्धव आदि परिवारों से अन्वित हो अनेक जल क्रीडाएँ करता हुआ इस ऋषि के निकट आ रहने लगा। ऋषि की समाधि में प्रतिदिन किञ्चित्-किञ्चित् विघ्न होने लगा। मत्स्यराज की क्रीड़ा को ऋषि प्रतिदिवस देखते-देखते एक दिन मन में विचार करने लगे कि अहोभाग्य इस मीनराज का, कैसे उत्तम इसके परिवार हैं। किस आनन्द से यह जीवनयापन कर रहा है। न इसे शोक और न दुःख है। यह समुद्र भी इसको बहुत स्थान और सम्पत्ति देता है। मैं भी यदि इस मीन के समान भोग-भोगूँ तो कैसे आनन्द से दिन व्यतीत हों।

यद्यपि ऋषि की जरावस्था विवाह का निषेध करती रही थी, स्त्री योग्य गुण अब नहीं रहा था, तथापि विवाहार्थी हो राजा मान्धाता के निकट पहुँचे। मान्धाता के पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द तीन पुत्र और ५० पञ्चाशत् कन्याएँ थीं। प्रथम राजा ने विधिपूर्वक ऋषि का सम्मान कर आगमन का कारण पूछा। ऋषि का मनोरथ सुन कर मान्धाता इस बात पर पश्चात्ताप करने लगा कि मेरी कोई कन्या इन्हें न वरेगी। बलात्कार कन्या देना शास्त्रनिषिद्ध है और यदि अस्वीकार करता हूँ तो कदापि ऋषि ही कोपित हो शाप देवें। इस असमंजस में कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार शून्य हो रहा हूँ। राजा बहुत देर तक इसी चिन्ता में ग्रस्त हो कुछ उत्तर शीघ्र न दे सका। ऋषि को नृप का भाव कुछ प्रकट हो गया। राजा ने बहुत सोच विचार कर कहा कि मेरे कुल की यह व्यवस्था है कि सुन्दर अभिजनवान् वर को स्वयं कन्या वर लेती है। बलात्कार कन्याओं का विवाह नहीं होता। आप इस मर्यादा को जैसी समझे सो कीजिये।

ऋषि ने कहा राजन्! आपका आशय मैं समझ गया हूँ आप मुझे अन्तःपुर भेज दीजिये। यदि कन्या स्वयं वर चुन लेगी तो मैं पाणिग्रहण करूँगा। अन्यथा अतीत काल में विवाह से क्या प्रयोजन। मान्धाता को यह सम्मति पसन्द आई। इनको कन्याओं के निकट अन्तःपुर भेज दिया। ऋषि भी योगबल से तरुण हो स्त्री-योग्य मनोहर सौन्दर्य धारण कर वहाँ पहुँचे। ऋषि की महोन्मादक शोभा को देख कर ५० पचासों कन्याएँ कहने लगीं कि मैं इनको वरूँगी। अन्तपुर में मैं का कोलाहल होने लगा। यह दृश्य देख विवश हो राजा ने उन ५० पचासों कन्याओं का ऋषि के साथ विवाह कर दिया और राजोचित सत्कार और यौतक दे जामाता को विदा किया। ऋषि भी वन में जा योगबल से प्रत्येक पत्नी के लिए भिन्न-भिन्न प्रासाद बना भोग सामग्री एक से एक उत्तमोत्तम संचित कर मीन राजवत् क्रीड़ा में प्रवृत्त हुए: और उन स्त्रियों से १५० पचास अपत्य हुए। परन्तु यह ऋषि थे। किसी कारण च्युत हो गये।

अतः बहुत दिनों के पश्चात् पुनः सब बातें स्मरण आने लगीं, पश्चात्ताप होने लगा, विचारने लगे कि मैं वेदाध्ययन छोड़ कैसी अनुचित रीति से भोगविलास में निगड़ित हुआ। अब भी इसे त्याग उस परमात्मा में मनोयोग लगाऊँ। इस प्रकार विचार भार्या सहित पुनः पूर्ववत् तपश्चरण में लग गये। ऋषि के पश्चात्ताप को कवियों ने सुन्दर शिक्षाप्रद श्लोकों में लिखा है। इनमें से कतिपय श्लोक ये हैं।

आ मृत्युतों नैव मनोरथानाम् अन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासंगि परस्य चित्तम् न जायते वै परमार्थसांगे। १।
पद्भ्यांगता यौवनिन श्च जाता दारैश्च संयोगमिताः प्रसूताः।
दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिम् द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा। २।
द्रक्ष्यामि तेषा मपि चेत्प्रसूतिम् मनोरथो मे भविता ततोऽन्यः।
पूर्णेऽपितत्राप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्य। ३।
समस्तभूतादमला दनन्तात् सर्वेश्वरा दन्यवनादिमध्यात्।
यस्मान्न किञ्चित् तमहं गुरूणाम् परं गुरूं संश्रयमेमि विष्णुम्। ४।

प्रथम तो गाथा ही आलंकारिक है। क्योंकि क्या जल में डूब कर कभी तपस्या कर सकता है? अथवा क्या सूखी भूमि पर उन्हें कोई तपस्या के लिए स्थान नहीं मिला जो जल में तपश्चरण किया करते थे! पुनः जल में मग्न हो कौन सा तपश्चरण कौन कर सकता है! पुनः सम्मद नाम के मीनराज कौन थे! क्या जलचर मत्स्य प्रभृतियों की भी नामावली इन ऐतिहासिकों के गृह में लिखी रहती थी! क्या इनके भी नामकरण संस्कार हुआ करते थे! इत्यादि अलौकिक वर्णन सोभरि की गाथा को अन्यार्थ परक सूचित करता है। इसका आशय आगे देखिये। महाभारत आदि तक वैदिक गाथा आती-आती सर्वथा रूपान्तरित हो गई इसमें सन्देह नहीं। इस हेतु महाभारत आदि पर न विश्वास कर मूल को देख विद्वानों को निर्णय करना उचित है।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के १९ वें २० वें २१ वें २२ वें सूक्त के वे ऋषि हैं। और इनके अग्नि, आदित्य, मरुत्, इन्द्र और अश्विद्वय देवता हैं। इसके अतिरिक्त त्रसदस्यु और चित्रस्थ राजाओं की दान स्तुति भी देवताएँ हैं। जिन राजाओं से सोभरि को दान मिलते हैं। अब जिन दो ऋचाओं से गाथा कल्पित हुई वे ये हैं।

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः। ८। १९। ३६।

(मंहिष्ठः) अतिदानी, (अर्यः) प्राप्य, वा स्वामी (सत्पतिः) सत्पति (पौरुकुत्स्यः) पुरुकुत्स जो जीवात्मा उसका हितकारी (त्रसदस्युः) जो त्रसदस्यु अर्थात् कर्मपुंज हैं वह (वधूनाम्+पञ्चाशतम्) बन्धन कारिणी ५० स्त्रियाँ (मे) मुझको (अदात्) देता है।

उत मे प्रतियो र्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।

तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः। ३७।

(सुवास्त्वः+अधि तुग्वानि) सुवास्तु=सुन्दरनिवास योग्या जो गर्भरूपा नदी है उसके तट पर अर्थात् गर्भ में निवास करते हुए (मे) मुझको (श्यावः) मनोरूप श्याव अश्व, वा बैल प्राप्त होता है (प्रयियो) जो मैं अति गमनकारी हूँ (वयियोः) कर्मरूप वस्त्रों को बुननेवाला हूँ। उस मुझको एक श्यावाश्व प्राप्त होता है। और वह अश्व कैसा है जो (तिसृणाम्+सप्ततीनाम्) तीन सप्तति अर्थात् २१० दो सौ दश इन्द्रिय रूप घोड़ियों वा गौवों का (प्रणेता) नायक है (भुवद्+वसुः) उत्पद्यमान इन्द्रिय व्यापारों के वश करने वाला है (दियानां+ पतिः) इन्द्रियों का अधिपति है।

भाव—५० और ३ गुणा ७० ये संख्याएँ ही सिद्ध करती हैं कि यह अन्यार्थपरक वर्णन है। मैं कक्षीवान् के प्रकरण में संक्षेप से लिख आया हूँ कि उद्योगी ज्ञानी विज्ञानी पुरुष के इन्द्रिय दश गुण होते हैं। इनको शरीर, मन, नयन आदि इन्द्रिय दशगुण अधिक होते हैं। क्योंकि ये साधारण पुरुष की अपेक्षा दश गुण कार्य अधिक करते हैं। कभी-कभी शतगुण और सहस्र गुण अधिक कार्य करते हैं। अतः ऐसे उद्योगी पुरुष के उद्देश्य से दश गुणित, शत गुणित, अथवा सहस्रगुणित अधिक वर्णन आता है। वास्तव में इनके शरीरादि की संख्या अधिक नहीं किन्तु कार्याधिक्य करने से ऐसा कहा जाता है। अब इन संख्याओं पर दृष्टि दीजिये। यह बारम्बार कहा गया है कि दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और एक जिह्वा ये सात प्राण हैं। इनको १० से गुणा करने पर ये ७० होते हैं और उत्तम, मध्यम और अधम भेद से पुनः ये २१० दो सौ दश हो जाएँगे अर्थात् ७ गुणा १० गुणा ३ =२१० यह तो द्वितीया ऋचा की संख्या का हिसाब है। प्रथमा ऋचा में ५० हैं। ज्ञानेन्द्रिय पांच हैं इनको भी दश से गुणन करे। गुणन से ५० होंगे। इस प्रकार ये दोनों संख्याएँ सिद्ध करती हैं कि यह अध्यात्म वर्णन है। यदि ऐसा न माना जाये तो मैं पूछता हूँ कि तीन और सप्तति का क्या सम्बन्ध हो सकता है। तीन सप्तति (७०) का नायक कौनसा घोड़ा, वा बैल है ? इतने ही के क्यों ? अतः बुद्धिमान् और वैदिक पुरुषों को उचित है कि नियत संख्या का ग्रहण करें अनियत का नहीं। शरीर में स्थान

भेद से सप्त-प्राण और क्रिया भेद से पञ्चज्ञानेन्द्रिय विद्यमान हैं अत इनका ही ग्रहण करना समुचित है।

श्याव प्रणेता जब ३ गुणा ७० इस संख्या से सिद्ध है कि यह अध्यात्म वर्णन है तब इसका श्यावनायक कौन है ? इसका भी निर्णय कठिन नहीं। मन ही श्यावनायक है। क्योंकि इन्द्रियों का नायक यही है। एवं इसके विशेषण में ''दियानाम् पतिः'' शब्द आया है इसका अथ ''इन्द्रियाणा मिधपतिः'' है। इन्द्रिय शब्द के इ, न, र, को लुप्त कर केवल ''दिय'' शब्द का यहाँ प्रयोग है। इन्द्रियाधिपति मन ही है। इस शब्द से भी सिद्ध है कि यह इन्द्रियों का निरूपण है।

सुवास्त्वाः+अधितुग्वनि+यास्क और सायण आदि कहते हैं कि सुवास्तु नाम नदी का है और तुग्व नाम तीर्थ का है। परन्तु इन्होंने यह नहीं समझा है कि यह कौनसी नदी और तीर्थ है ? यह शरीर ही सुवास्तु अर्थात् सुन्दर वसने योग्य नदी है। इसी के तट पर इन्द्रियों को दान मिलता है प्रयियु, वयियु=ये दोनों उद्योग सूचक शब्द हैं। ''प्रकर्षेण पुनः-पुनः यातीति प्रयियुः। पुनः वयतीति वयियुः'' जो बहुत चले वह प्रयियु। और जो बहुत बुने वह वयियु। अर्थात् जो इन्द्रियों को वश कर ज्ञानोपार्जन में आगे बढ़ा जा रहा है एवं जो ज्ञान विज्ञान रूप वस्त्रों के बुनने में परत वृद्धि कर रहा है वह प्रयियु और वयियु है।

५० वधू-अब पूर्वोक्त लेख से सिद्ध है कि ५० वधू शब्द से ज्ञानेन्द्रिय का ग्रहण है। ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय विद्वान् पुरुष को वधू के समान आमोद प्रमोद देते हैं अतः इनको वधू कहा है। ज्ञानी का प्रत्येक इन्द्रिय दशगुणित होता है अतः ५ गुणा १०=५० कहा है।

पौरुकुत्स्य+त्रसदस्यु-पुरुकुत्स=नाम जीवात्मा का है। कुत्स नाम वज्र का है। ''दिद्युत्'' नेमि, इति, हेति, नमः। पवि....कुत्स, कुलिश इत्यादि १८ नाम वज्र के हैं। निघण्टु २। २० देखो ''पुरवो बहवः कुत्सा वज्रा यस्य स पुरुकुत्सः'' जिसके समीप बहुत वज्र हों वह पुरुकुत्स। जिस आत्मा के निकट दुष्टेन्द्रियरूप असुरों के हननार्थ अनेक वज्र हैं वही विजयी होता है और वही आत्मा उपासकों को बहुत दान भी दे सकता है। उस आत्म सम्बन्धी जो कर्म वह पौरुकुत्स्य। यहाँ कर्म का नाम ''त्रसदस्यु'' रखा है यह उचित ही है। जिससे शत्रु डरें वह त्रसदस्यु। ''त्रसा स्त्रसिता दस्यवो येन स त्रसदस्युः'' जिस आत्मा के निकट अनेक वज्र होंगे उसके कर्म भी भयंकर ही होंगे। अतः यहाँ उस कर्म का नाम त्रसदस्यु है।

अब दोनों ऋचाओं का भाव यह हुआ।

पुरुषार्थी उद्योगी पुरुष अपनी सफलता पर ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ कहता है कि हे परमपिता जगदीश! आप धन्य हैं! आपने बड़ी कृपा कर मुझे शुद्ध दुष्टं संहारी आत्मा दिया है। यह आत्मा कर्मरूप शुद्ध सन्तान उत्पन्न करता है। इसका संतान भी त्रसदस्यु है। हे भगवन् यह बड़ा दानी सत्पति और अर्य=धन का स्वामी है। अतएव मुझसे इसने १० गुणित इन्द्रिय दिए हैं अर्थात् दश गुणित् इन्द्रियों के बल दिए हैं। पुनः इस कर्म ने उद्योगी, पुरुषार्थी मुझको इस शरीर रूप तीर्थ पर ३ गुणा ७० दो सौ दश अश्व दिए हैं और इसका एक नायक मन भी दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषार्थी को ही ऐसा दश गुणित दान मिलता है। यहाँ पुरुषार्थ सूचक प्रयियु और वयियु शब्द विद्यमान हैं। मैं कक्षीवान् के उदाहरण में १० दश गुण दान का वर्णन कर चुका हूँ। पुनः उसको एवं आगे भी दान का प्रकरण देखिये। अब जो कोई इस सोभरि के उदाहरण से बहुत भार्यत्व का दोष वेदों पर लगाते हैं वे वेदों के कैसे ज्ञाता हैं आप समझ सकते हैं। इस सूक्त के ऋषि सोभरि हैं अतः सोभरि सम्बन्धी इतिहास कहा जाता है।

सोभरि शब्दार्थ—सुन्दर रूप से भरण पोषण करना है। जो उपासक अपने जीवात्मा और इन्द्रियों को ज्ञान विज्ञान से और सदा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना रूप सुन्दर शुद्ध अन्न से भरण पोषण करता रहता है उसे सोभरि कहते हैं। इस आत्मा और इन्द्रियों से किस प्रकार उत्तमोत्तम दान मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इस आत्मा का यथार्थ में कौन वस्तु भोजन है। किस वस्तु को खाकर यह जीवात्मा बलिष्ठ होकर उपासक को अनेक वस्तु दान देने में समर्थ होता है इत्यादि वस्तुओं के प्रचार करने के कारण इनको सोभरि यह पदवी दी गई है।

अब मैं इस विषय को यहाँ ही समाप्त करता हूँ। वेद में जितना अंश है उसका निरूपण कर दिया गया है। महाभारत और पुराणादिकों में इसको लेकर जो गाथा गढ़ी गई है वह सर्वथा हेय है। मूल वेद को देख, निश्चय कर, वेद विरुद्ध सब ही हेय है। इति संक्षेपतः।

इति श्री शिवशङ्कर-निर्मितस्येतितिहासनिर्णयस्य
प्रथमो भागः समाप्तः।

वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय

-पण्डित शिवशङ्कर काव्यतीर्थ

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, 09899651503
e-mail : dp31478@yahoo.com